भारतीय साधना और संत तुलसी

[तुलसी साहब की जीवनी, रचनाओं और पंथ का
विवेचनात्मक अध्ययन]

लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

श्री हरस्वरूप माथुर
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०

प्रकाशक

साहित्य निकेतन, कानपुर।

[मूल्य २०.००

प्रकाशक
साहित्य निकेतन
श्रद्धानन्द पार्क,
कानपर ।

प्रथम संस्करण
सितम्बर १९६५
मूल्य २०.०० रु०

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ड़ चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार ।
त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि विकार ॥

—गोस्वामी तुलसीदास

तुलसी साहब की जीवनी, रचनाएं और पंथ का

विषय पर

अनुसंधान कार्य की प्रेरणा एवं आज्ञा

डा० दीनदयाल गुप्त

एम०ए०, एल-एल० बी०, डी०लिट्०

अध्यक्ष

हिन्दी-विभाग,

लखनऊ—विश्वविद्यालय

से प्राप्त हुई

लेखक उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता

है—

प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य में मध्ययुगीन निर्गुण काव्य का बड़ा महत्व है। इसके अध्ययन की प्रक्रिया में कबीर, सुन्दरदास, एवं दरिया साहब आदि सन्तों की रचनाओं पर विद्वानों द्वारा विचार किया जा चुका है, किन्तु उत्तर मध्यकालीन सन्तों में मुख्य सन्त तुलसी साहब (हाथरस) की कृतियों की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। तुलसी साहब के समस्त ग्रंथों को प्रकाशित हुए लगभग चालीस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, किन्तु इनकी रचनाओं के अध्ययन का कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं हुआ। निर्गुण काव्य के अध्येता विद्वानों ने तुलसी साहब का संक्षिप्त उल्लेख मात्र ही किया है।

उत्तरमध्यकालीन सन्तों में तुलसी साहब का विशिष्ट स्थान है। तुलसी साहब की कृतियों में एक ओर तो कबीर 'दादू' नानक के द्वारा प्रस्थापित सन्त काव्य के मौलिक सिद्धांत उपलब्ध हैं, दूसरी ओर सन्त मत की साम्प्रदायिक विचारधारा का पूर्ण प्रभाव भी उन पर पड़ा है। अतएव उनके काव्य में सन्तों की मौलिक एवं साम्प्रदायिक विचारधारा के समस्त महत्वपूर्ण तत्व विद्यमान हैं। यदि किसी एक सन्त कवि के अध्ययन द्वारा सन्त काव्य के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध के विकास को भली भांति हृदयंगम किया जा सकता है, तो हमारे मत से वह सन्त तुलसी हैं। सन्त तुलसी की रचनाओं में निर्गुण कवियों की विचारधारा के वे समस्त तत्व उपलब्ध हैं जिनको सामूहिक रूप से सन्त मत कहा जाता है। इस प्रकार सन्त मत के सम्यक् अध्ययन की दृष्टि से तुलसी साहब की कृतियों का महत्व अनुपेक्षणीय है। आध्यात्मिक विचारधारा के अतिरिक्त काव्य दृष्टि से भी तुलसी साहब की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनकी रचनाओं में आत्मा और परमात्मा के विरह सम्बन्धी वियोग शृंगार की उक्तियां बड़ी मार्मिक हैं एवं सम्पूर्ण मध्यकालीन निर्गुण

काव्य की तद्विषयक रचना में उल्लेखनीय स्थान रखती हैं । इस प्रकार तुलसी साहब की कृतियों में अध्यात्म और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण काव्य को सन्त तुलसी की देन महत्वपूर्ण है । प्रस्तुत ग्रन्थ में तुलसी साहब के जीवन चरित्र, रचनाओं, एवं पन्थ पर सविस्तार विचार किया गया है । प्रस्तुत ग्रंथ के विषय का अध्ययन आठ परिच्छेदों में सम्पन्न हुआ है । ये परिच्छेद निम्नलिखित हैं—

(१) तुलसी साहब का जीवन चरित्र
(२) तुलसी साहब का युग
(३) तुलसी साहब के ग्रंथ
(४) तुलसी साहब के दार्शनिक विचार
(५) तुलसी साहब की योग साधना
[६] तुलसी साहब का पंथ परिचय
[७] तुलसी साहब की काव्य कला
[८] तुलसी साहब प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द
उपसंहार ।

इसके अतिरिक्त परिशिष्ट में संत तुलसी के पूर्व जन्म चरित्र संबंधी प्रवाद का खण्डन तथा आवा पंथ से उनके संबंध की संभावना पर विचार किया गया है।

प्रथम परिच्छेद का शीर्षक है 'तुलसी साहब का जीवन चरित्र'। इस परिच्छेद में तुलसी साहब के जीवन चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। इसमें उनकी जीवनी से संबंधित उपलब्ध सामग्री की परीक्षा करके यह सिद्ध किया गया है कि उनका लोक प्रचलित जीवन चरित्र प्रामाणिक नहीं है । इतिहास की कसौटी पर उनका पेशवा परिवार का व्यक्ति होना निर्मूल सिद्ध होता है। इस परिच्छेद में लेखक ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से प्रस्थापित किया है कि संत तुलसी पेशवा राज्यवंश से संबंधित नहीं थे। यह सम्पूर्ण परिच्छेद लेखक का मौलिक प्रयत्न है एवं उसके परिश्रम व अनुसंधान पर आश्रित है।

द्वितीय परिच्छेद का शीर्षक है—'तुलसी साहब का युग' इस परिच्छेद में तुलसी साहब के युग का परिचय प्रस्तुत किया गया है । इसमें उनकी

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों, उनके काव्य पर प्रभाव व प्रतिक्रिया का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तुलसी साहब की परिस्थितियों के अध्ययन का इतना व्यापक प्रयत्न इसके पूर्व कभी नहीं किया गया। इसकी समस्त सामग्री लेखक ने बड़े परिश्रम से अनेक इतिहास ग्रंथों तथा तुलसी साहब की रचनाओं में प्राप्त अन्तस्साक्ष्य की सहायता से प्राप्त की और उसको व्यवस्थित रूप प्रदान किया। यह सम्पूर्ण परिच्छेद लेखक के अध्ययन, परिश्रम एवं स्वतन्त्र अनुसंधान का फल है।

तृतीय परिच्छेद का शीर्षक है-'तुलसी साहब के ग्रंथ'। इस परिच्छेद में तुलसी साहब की कृतियों पर विचार किया गया है। इसमें तुलसी साहब के ग्रंथों का परिचय, ग्रंथों की प्रमाणिकता, ग्रंथों का रचना काल, ग्रंथों का रचना क्रम, ग्रंथों के वर्गीकरण एवं ग्रंथों के महत्व पर सविस्तार विचार किया गया है। यह परिच्छेद लेखक के परिश्रम एवं अनुसंधान का फल है एवं इसके विषय प्रतिपादन और विवेचन में लेखक की मौलिकता दृष्टिगत होगी।

चतुर्थ परिच्छेद का शीर्षक है—'तुलसी साहब के दार्शनिक विचार'। इस परिच्छेद में तुलसी साहब के ब्रह्म माया, जीव जगत, सृष्टिक्रम, जीव मुक्ति, मन, काल, कर्म, ज्ञान, भक्ति एवं अवतार सम्बन्धी दार्शनिक विचारों का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने उपनिषद्, गीता सांख्य, योग, नाथ सम्प्रदाय, पूर्ववर्ती निर्गुण काव्य में इन दार्शनिक विचारों का विकास अंकित करते हुए तुलसी साहब के दार्शनिक विचारों की सम्यक व्याख्या की है और पूर्ववर्ती साधना से उसका तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। इस परिच्छेद में बड़े परिश्रमपूर्वक लेखक ने तुलसी साहब के दार्शनिक विचारों को व्यवस्था प्रदान की है। यह सम्पूर्ण परिच्छेद लेखक के व्यापक अध्ययन एवं परिश्रम का फल है।

पंचम परिच्छेद 'योग साधना' है। इस परिच्छेद में योग साधना का महत्व 'योग की प्राचीनता' उपनिषदों, गीता, पातंजल योग, नाथसम्प्रदाय एवं निर्गुण काव्य में योग के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए तुलसी साहब के योग वर्णन का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने तुलसी साहब के योग वर्णन का प्रतिपादन करते समय पूर्ववर्ती योग-साधना से उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उसने परम्परागत योग भावना के अतिरिक्त सन्तों के सुरति-शब्द योग तथा पिंड और ब्रह्माण्ड के रहस्यों की भी विस्तृत व्याख्या की है और प्रतिपादित किया है कि यह संत तुलसी की अन्तर्मुखी योग साधना का विशिष्ट अंग है।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय 1

तुलसी साहब का जीवन-चरित्र

जीवन—चरित्र पर प्रकाश डालने वाले विद्वान—पाश्चात्य—भारतीय अंग्रेजी के लेखक—हिन्दी के लेखक—साम्प्रदायिक लेखक—जीवनी पर प्रकाश डालने वाली संत तुलसी के ग्रन्थों की भूमिकाएं—जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने वाला अन्त: साक्ष्य—हमारे अध्ययन के आधार—घटरामायण एवं शब्दा-वली की भूमिका में प्राप्त जीवन चरित्र—इसका आधार—इस जीवन चरित्र की परीक्षा—रत्नसागर की भूमिका में प्राप्त जीवन चरित्र—इसका आधार—इस जीवन चरित्र की परीक्षा—निष्कर्ष।

तुलसी साहब का विस्तृत जीवन—चरित्र—समय—अन्त: साक्ष्य के आधार पर समय निर्धारण—तुलसी साहब की मृत्यु—तिथि— तुलसी साहब की जन्म—तिथि—जन्म स्थान—माता-पिता—नाम—जाति—बाल्यावस्था-शिक्षा-दीक्षा—गुरु—गृहस्थ-जीवन—वैराग्य—उपाधि—स्वभाव—आदर्श—भ्रमण—ख्याति—महाप्रस्थान।

द्वितीय अध्याय 44

तुलसी साहब का युग

राजनीतिक परिस्थिति—राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव—राजनीतिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया। आर्थिक परिस्थिति—आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव—आर्थिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया। सामाजिक परिस्थिति—सामाजिक परि-स्थिति का प्रभाव—सामाजिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया। धार्मिक परिस्थिति—धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव—धार्मिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया। सांस्कृतिक

परिस्थिति—सांस्कृतिक परिस्थिति का प्रभाव—सांस्कृतिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया—निष्कर्ष।

तृतीय अध्याय ८७

तुलसी साहब के ग्रंथ

तुलसी साहब के ग्रन्थों का उल्लेख करने वाले विद्वान–पाश्चात्य—भारतीय–अंग्रेजी के लेखक–हिंदी के लेखक–सम्प्रदाय के लेखक–हमारा अभिमत। ग्रन्थों का परिचय–घटरामायण—ग्रन्थ का शीर्षक–वर्ण्य—विषय—भावपक्ष—कला-पक्ष—महत्व। रत्न सागर—ग्रन्थ का शीर्षक–वर्ण्य–विषय—भावपक्ष—कलापक्ष—महत्व। शब्दावली—ग्रन्थ का शीर्षक—वर्ण्य विषय—भावपक्ष—कलापक्ष—महत्व। पद्मसागर—ग्रन्थ का शीर्षक—वर्ण्य विषय—भावपक्ष—कलापक्ष—महत्व। ग्रन्थों की प्राथमिकता—विद्वानों द्वारा मान्यता—पंथ में मान्यता—नाम की छाप—भावपक्ष की एकरूपता—विचारों में तारतम्यता—शैली में एकरूपता। ग्रन्थों का रचनाकाल। ग्रन्थों का रचना क्रम। ग्रन्थों का वर्गीकरण–योगप्रमुख ग्रन्थ—वेदान्त प्रमुख ग्रन्थ—योग—वेदान्त—मिश्रित ग्रन्थ। ग्रन्थों का महत्व।

चतुर्थ अध्याय १०९

तुलसी साहब के दार्शनिक विचार

ब्रह्म-उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप—गीता में ब्रह्म भावना—सांख्य में पुरुष का स्वरूप—नाथ सम्प्रदाय में ब्रह्म भावना—निर्गुण काव्य में ब्रह्म। तुलसी साहब का ब्रह्म वर्णन—एक ब्रह्म—निर्गुण-निरुपाधि—ब्रह्म—शून्य ब्रह्म गगन ब्रह्म—शब्द ब्रह्म—परात्पर ब्रह्म—सर्वात्म ब्रह्म। १०९

माया—उपनिषदों में माया का स्वरूप—गीता में माया का स्वरूप। सांख्य में प्रकृति की धारणा—नाथ सम्प्रदाय में शक्ति भावना—निर्गुण काव्य में माया का स्वरूप। तुलसी साहब का माया वर्णन—माया और ब्रह्म—माया और मन—माया और कर्म—त्रिगुणात्मक माया—माया बेलि—माया की असीम प्रभुता—सर्व भक्षक माया। १४८

जीवात्मा—उपनिषदों में जीवात्मा का स्वरूप—गीता में जीवात्मा का स्वरूप—सांख्य में पुरुष—नाथ सम्प्रदाय में जीव तत्व—निर्गुण काव्य में जीवात्मा का स्वरूप। तुलसी साहब का जीवात्मा वर्णन—ब्रह्म और जीव—माया और जीव–जीव का मोक्ष। १६

जगत—उपनिषदों में जगत भावना—गीता में जगत का स्वरूप—सांख्य में जगत का विवेचन—नाथ सम्प्रदाय में जगत भावना—निर्गुण काव्य में जगत भावना। तुलसी साहब का जगत वर्णन—ब्रह्म और जगत—माया और जगत–जगत की अश्वत्थ भावना–जगत भावना के अनेक रूप। १८६

सृष्टि क्रम—उपनिषदों में सृष्टि क्रम—सांख्य में सृष्टि क्रम-शैव तन्त्र में सृष्टि क्रम-–निर्गुण काव्य में सृष्टि क्रम। तुलसी साहब का सृष्टिक्रम—उपनिषदीय सृष्टि क्रम का वर्णन—साम्प्रदायिक सृष्टि–क्रम का वर्णन—तुलसी साहब के साम्प्रदायिक सृष्टि-क्रम का वर्णन--तुलसी साहब के साम्प्रदायिक सृष्टि क्रम की व्याख्या लय--क्रम। २०६

जीवन्मुक्ति–उपनिषदों में जीवन्मुक्ति—गीता में जीवन्मुक्ति-सांख्य में जीवन्मुक्ति—नाथ सम्प्रदाय में जीवन्मुक्ति-निर्गुण काव्य में जीवन्मुक्ति। तुलसी साहब की जीवन्मुक्ति धारणा—मन नियंत्रण से जीवन्मुक्ति—पंच भूत बन्धन से परित्राण जीवन्मुक्ति—आत्म साक्षात्कार से जीवन्मुक्ति—मृत्यु के उपरांत मोक्ष अमान्य। २२०

मन—उपनिषदों में मन का स्वरूप—गीता में मन का स्वरूप—सांख्य में मन की धारणा–नाथ सम्प्रदाय में मन की भावना--निर्गुणकाव्य में मन की भावना—तुलसी साहब का मन-वर्णन–मन निरंजन है—मन और कामना--मन के नाना रूप–मन से परित्राण। २३२

काल—उपनिषदों में मृत्यु भावना—गीता में काल भावना—नाथ सम्प्रदाय में काल-तत्व—निर्गुण काव्य में काल का स्वरूप। तुलसी साहब का काल वर्णन—काल निरंजन—त्रिलोक व्यापी काल—सर्व संहारक काल। २४४

कर्म—उपनिषदों में कर्म—भावना—गीता में कर्म–सिद्धांत—योग में कर्मभावना—नाथ सम्प्रदाय में ज्ञान का स्वरूप–निर्गुण काव्य में कर्म निरूपण। तुलसी साहब का कर्म वर्णन—कर्म बन्धन का कारण—कर्म से पुनर्जन्म—कर्मानुसार फल—कर्म फल अनित्य—कर्मनाश से मुक्ति। २५४

ज्ञान—उपनिषदों में ज्ञान भावना—गीता में ज्ञान भावना—सांख्य में ज्ञान स्वरूप—नाथ सम्प्रदाय में ज्ञान का स्वरूप—निर्गुण काव्य में ज्ञान भावना। तुलसी साहब का ज्ञान वर्णन—ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्म ज्ञान—ज्ञान से अज्ञान नाश—शास्त्रज्ञान आत्म ज्ञान में बाधक। २६५

भक्ति—उपनिषदों में भक्ति का उल्लेख—गीता में भक्ति का स्वरूप-भागवत में भक्ति का स्वरूप—निर्गुण काव्य में भक्ति का स्वरूप। तुलसी

साहब की भक्ति भावना—भक्ति का महत्व—भक्ति का स्वरूप—भक्ति और प्रपत्ति—भक्ति और ज्ञान। २७३

अवतार—गीता में अवतार की धारणा—भागवत में अवतार का स्वरूप—परवर्ती साहित्य में अवतारों की संख्या—नाथ सम्प्रदाय में अवतार का खण्डन—निर्गुण काव्य में अवतार। तुलसी साहब की अवतार सम्बन्धी धारणा—अवतार ब्रह्म नहीं निरंजन के हैं—अवतार त्रिगुण हैं—अवतार कालाधीन हैं—अवतार की कर्मानुसार गति—अवतार भोगलिप्त—रामावतार का खण्डन—कृष्णावतार का खण्डन। २८३

पंचम—अध्याय २९६

योग—साधना

योग का महत्व—योग शब्द का अर्थ—योग की प्राचीनता—उपनिषदों में योग—गीता में योग—पातंजल योग—योग उपनिषदों में योग—नाथ सम्प्रदाय में योग—निर्गुण काव्य में योग। तुलसी साहब का योग वर्णन—योग के अधिष्ठाता शिव-अष्टाँग-योग-नाद-मुद्रा नाड़ी संस्थान-त्रिवेणी-चक्र-चतुर्विध योग--सुरति शब्द योग। पिंड और ब्रह्मांड का वर्णन—पिंडमें समस्त ब्रह्मांड की अवस्थिति—पिण्ड में चार गुरु-पिंड में छत्तीस नीर—पिंड में पचासी पवन—सोलह गगन-पिंड में ६ भंवर गुफा-पिंड में ६ त्रिकुटी-पिंड में ३२ नाल-पिंड में सोलहद्वार-पिंड में बहत्तर कोठे--पिंड में चौरासी सिद्ध-पिंड में पचीस प्रकृतियां, पिंड में पंचवायु—पिंड में नौ नाड़ियां, पिंड में बाइस शून्य। पिंड में ब्रह्माण्ड का वर्णन तुलसी साहब की अन्तर्मुखी योग साधना का अंग।

षष्ठ अध्याय ४०७

पंथ—परिचय

पंथ का नाम—पंथ का महत्व—पंथ का प्रसार क्षेत्र—पंथ के अनुयायी एवं उनकी संख्या—स्थापना तिथि—आचार विचार के नियम—दीक्षा-विधि विशेष उत्सव—वेशभूषा—साधना--उपासना-प्रणाम पद्धति—विशिष्ट व्यक्तित्व-विशिष्ट स्थान सहित पंथ की अन्य पंथों से तुलना-पंथ की आचार्य परम्परा।

सप्तम अध्याय ४२१

काव्य कला

भारतीय काव्यादर्श—पाश्चात्य काव्यादर्श—सन्तों का काव्यादर्श—तुलसी साहब की काव्यकला—वर्ण्य विषय—काव्य में नवरस—तुलसी साहब द्वारा प्रयुक्त

रस—शांत, शृंगार, विरह की उक्तियां—संयोग का वर्णन—काव्य में गुण का स्थान—तुलसी साहब के काव्य में गुण तत्व माधुर्य—प्रसाद। अलंकार का काव्य में स्थान—तुलसी साहब द्वारा प्रयुक्त अलंकार—शब्दालंकार—अनुप्रास—श्लेष, यमक, लाटानुप्राय, पुनरुक्ति प्रकाश। अर्थालंकार,—रूपक, सांग रूपक, उदाहरण, उपमा, विभावना। भाषा अभिव्यक्ति का साधन है—संत काव्य की भाषा अव्यवस्थित—तुलसी साहब की भाषा भी परम्परागत संत काव्य के प्रभाव से पूर्ण—भाषा में शब्दावली की दृष्टि से अनेकरूपता—संस्कृत शब्दावली का प्रभाव-राजस्थानी शब्दावली का प्रभाव—पंजाबी शब्दावली का प्रभाव—अरबी फारसी शब्दावली का प्रभाव—क्रियापदों में अनेकरूपता। व्याकरण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण किन्तु अभिव्यक्ति में असफल नहीं। भाषा को पुष्ट करने वाले प्रयोग—मुहावरे, कहावतें, शब्द चित्र।

अष्टम अध्याय ४५३

तुलसी साहब प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द

निरंजन—नाथ सम्प्रदाय में निरंजन—रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में निरंजन—निर्गुण काव्य में निरंजन—तुलसी साहब की रचनाओं में निरंजन—निर्गुण काव्य में निरंजन-तुलसी साहब की रचनाओं में निरंजन का अर्थ—सृष्टि कर्ता, काल और मन। ४५३

शून्य—विष्णु सहस्रनाम में शून्य का प्रयोग—बौद्धमत में शून्य—सिद्धमत में शून्य—नाथमत में शून्य—रामानंद का हिन्दी रचनाओं में शून्य—निर्गुण काव्य में शून्य—तुलसी साहब द्वारा शून्य का प्रयोग--परम तत्व के अर्थ में—शब्द ब्रह्म के स्थान के रूप में एवं योगियों के सहस्रार के लिए। ४५८

गगन—नाथ मत में गगन का प्रयोग—रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में गगन का अभिप्राय—निर्गुण काव्य में गगन का प्रयोग—तुलसी साहब द्वारा गगन का प्रयोग—ब्रह्म के अर्थ में। ४६५

खसम—सिद्धमत में खसम का प्रयोग—नाथमत में खसम भाव-निर्गुण काव्य में खसम—तुलसी साहब का खसम प्रयोग—ब्रह्म और पति के अर्थ में। ४६९

भ्रमर-गुहा—नाथमत में भ्रमर गुहा—निर्गुण मत में भ्रमर गुहा सी साहब द्वारा भ्रमर गुहा का प्रयोग—ब्रह्मरन्ध्र या ब्रह्म के प्रतीक में। ४७२

औंधा कूप—नाथमत में औंधा कूप—निर्गुण मत में औंधा कूप-तुलसी हब द्वारा औंधा कूप का प्रयोग—ब्रह्म भाव का द्योतक। ४७५

नाद विन्दु—नाथमत में नाद विन्दु—रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में नाद विन्दु—निर्गुण काव्य में नाद विन्दु—तुलसी साहब की रचनाओं में नाद विन्दु का अर्थ—नाद सूक्ष्म शब्द तत्व का क्रियमाण स्वरूप—विन्दु क्रियमाण शक्ति—इनके संयोग से सृष्टि। ४७८

सुरति—निरति—सिद्धमत में सुरति—नाथमत में सुरति निरति का प्रयोग—निर्गुणमत में सुरति-निरति का अर्थ—तुलसी साहब द्वारा सुरति निरति का प्रयोग—सुरति जीवात्मा, निरति उसकी मोक्षावस्था। ४८२

अजपा—नाथमत में अजपा—निर्गुणमत में अजपा—तुलसी साहब द्वारा अजपा का प्रयोग—क्रियाहीन एवं स्वतः होने वाला जप। ४८७

वंकनाल—नाथमत में वंकनाल—रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में वंकनाल—निर्गुण मत में वंकनाल—तुलसी साहब द्वारा वंकनाल का प्रयोग सुषुम्ना एवं कुण्डलिनी के अर्थ में। ४९०

उपसंहार ४९५

भारतीय धर्म साधना में सन्त कवियों का महत्व— तुलसी साहब की विशिष्टता—तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण कार्य—सहज धर्म का प्रचार—अध्यात्म का पूर्ण विवेचन—काव्य में स्वतः उत्पन्न सौन्दर्य—लोक कल्याण एवं मानवतावाद की प्रतिष्ठा।

परिशिष्ट—[१] पूर्व जन्म चरित्र का खण्डन ४९९
[२] तुलसी साहब और आवा पन्थ ५०६
[३] विद्वानों से पत्र व्यवहार की प्रतिलिपियां ५०९
[४] सहायक ग्रन्थ। ५१४

प्रथम अध्याय

तुलसी साहब का जीवन-चरित्र

निर्गुण-सम्प्रदाय के संत कवियों के प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रायः उपलब्ध नहीं हैं। कबीर, नानक इत्यादि प्रमुख संतों के अतिरिक्त अन्य संत-कवियों की जीवनी की प्रामाणिक रूपरेखा पाना भी दुर्लभ रहा है। इन संत कवियों के धर्म-सम्प्रदायों में भी किंवदन्तियों पर आधारित इनके चमत्कार-पूर्ण जीवन-चरित्र ही प्रचलित हैं जिन पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में तर्क और प्रमाण पर आधारित शोध कार्य करने वाले व्यक्ति के सामने बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। किंवदन्तियों, चमत्कारपूर्ण घटनाओं, अलौकिक प्रसंगों, अन्धविश्वास की कथाओं के झाड़-झंखाड़ से वास्तविक जीवन-चरित्र का अनुसंधान करना सरल कार्य नहीं है। बड़े धैर्य्य, परिश्रम और अध्यवसाय के उपरान्त ही इन कवियों के जीवन-चरित्र की रूप रेखा मिल पाती है। इसके लिए इतिहास की सामग्री से लेकर इनके लोक-प्रचलित जीवन-चरित्रों तक की भलीभांति खोज-बीन करनी पड़ती है।

तुलसी साहब निर्गुण-सम्प्रदाय के अन्तिम महत्वपूर्ण संत कवि थे। इनका भी प्रामाणिक जीवन-चरित्र उपलब्ध नहीं है। इनके विभिन्न ग्रन्थों के प्रारम्भ में जो जीवनी मुद्रित है, वह प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। इन जीवनियों में कहीं तो इनका सम्बन्ध इतिहास के व्यक्तियों के साथ जोड़ा गया है और कहीं चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया गया है। इनके धर्म-सम्प्रदाय में भी यही जीवनियां मान्य हैं। इसीलिये इनके जीवन-चरित्र का शोध-कार्य और भी जटिल हो गया है। तथापि इस सम्बन्ध के उपलब्ध साहित्य के परीक्षण के उपरान्त, उसकी प्रामाणिकता और अप्रमाणिकता पर विचार करके, यथा संभव इनके जीवन-चरित्र की एक विश्वासनीय रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न इस ग्रन्थ में किया गया है।

१— जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाले विद्वान

संत तुलसी के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाले विद्वानों की संख्या अधिक नहीं है। कतिपय विद्वानों ने तुलसी साहब के जीवन-चरित्र पर केवल

प्रासंगिक रूप से ही विचार किया है। किसी विद्वान ने भी संत तुलसी के जीवन-चरित्र को अपने वर्ण्य विषय का मुख्य अंग नहीं माना है। अतएव इनके ग्रन्थों में उपलब्ध तुलसी साहब का जीवन-चरित्र अत्यन्त संक्षिप्त है। तुलसी साहब के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाले विद्वानों का परिचय इस प्रकार है—

(क) पाश्चात्य—पाश्चात्य विद्वानों ने हिन्दी के संत कवियों के जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इन विद्वानों में विलसन, ग्रियर्सन, जेम्स हेस्टिंग्स् और फर्कुहर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु उपर्युक्त विद्वानों में से किसी एक ने भी तुलसी साहब के जीवन-चरित्र की चर्चा नहीं की है। वास्तविकता यह है कि इनके ग्रन्थों में तुलसी साहब का उल्लेख ही नहीं है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि अन्य संत काव्यकारों की अपेक्षा तुलसी साहब कम प्रसिद्ध हुए एवं उनका प्रभाव क्षेत्र भी सीमित था।

(ख) भारतीय-तुलसी साहब के जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने वाले भारतीय विद्वानों की संख्या भी कम है। भारतीय विद्वानों के इस समूह को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) अंग्रेजी के लेखक—तुलसी साहब के जीवन-चरित्र पर अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थ द्वारा प्रकाश डालने वाले एकमात्र भारतीय विद्वान आचार्य क्षितिमोहन सेन हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ "मेडीविल मिस्टिसिज्म" में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से संत तुलसी के जीवन-चरित्र की चर्चा की है[1]। इस ग्रन्थ में सेन महोदय ने लोक-प्रचलित संत तुलसी के जीवन-चरित्र को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार तुलसी साहब का जन्म सन् १७६० में हुआ था, जाति से ब्राह्मण थे और पेशवा वंश में उत्पन्न हुए थे।[2] इनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई था जिसके द्वारा इनको एक पुत्र प्राप्त हुआ था।[3] जिस समय राज्य संचालन का दायित्व इन पर आया उसी समय इन्होंने सांसारिकता का परित्याग कर दिया।[4] इतिहास प्रसिद्ध बाजीराव द्वितीय इनका अनुज था और इससे तुलसी साहब ने विठूर में भेंट की थी।[5] सेन महोदय ने संत तुलसी की मृत्यु-तिथि सन् १८४२ मानी है।[6]

१—मेडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६०—१६१।
२—मेडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६१।
३—मेडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६०।
४—मेडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६०।
५—मेडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६०।
६—मेडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६१।

(२) हिन्दी के लेखक—संत तुलसी के जीवन-चरित्र पर विचार करने वाले हिन्दी भाषा के मुख्य विद्वान स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पंडित परशुराम चतुर्वेदी और डा० रामकुमार वर्मा हैं।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में तुलसी साहब के संक्षिप्त जीवन-चरित्र की चर्चा की है।[1] इसके अनुसार संत तुलसी पेशवा रघुनाथ राव के ज्येष्ठ पुत्र एवं बाजीराव द्वितीय के ज्येष्ठ भ्राता थे।[2] इन्होंने राज्य त्याग कर संत-मार्ग ग्रहण किया और हाथरस को अपना निवास स्थान बनाया।[3] इनका वास्तविक नाम श्यामराव था और बिठूर में एक बार इनकी भेंट बाजीराव द्वितीय से हुई थी।[4]

पंडित परशुराम जी चतुर्वेदी हिन्दी के प्रथम विद्वान हैं जिन्होंने तुलसी साहब के जीवन-चरित्र को कुछ विस्तृत रूप देने का प्रयत्न किया है।[5] पर उनके द्वारा 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में प्रस्तुत तुलसी साहब की जीवनी परम्परागत तथ्यों पर ही आधारित हैं। यह क्षितिमोहन सेन एवं डा० बड़थवाल द्वारा प्रस्तावित जीवन-चरित्र से अधिक भिन्न भी नहीं है। वस्तुतः इन विद्वानों के तथ्य समान हैं; परशुराम जी चतुर्वेदी की विशेषता यह है कि उन्होंने इन तथ्यों पर प्रथम बार ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने की चेष्टा की है। पर यह प्रयत्न महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता और इसके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष भी अपूर्ण एवं असम्बद्ध हैं। 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' के अनुसार तुलसी साहब जाति से ब्राह्मण थे; पूना के राजा के ज्येष्ठ पुत्र थे और इनकी पत्नी का नाम लक्ष्मी बाई था।[6] सिंहासनारोहण के समय इन्होंने गृह त्याग किया और बयालीस वर्ष के उपरान्त अपने अनुज बाजीराव द्वितीय से इनकी भेंट बिठूर में हुई।[7] चतुर्वेदी जी ने संत तुलसी की जीवन-चर्या, स्वभाव इत्यादि पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। आचार्य क्षितिमोहन सेन का अनुमोदन करते हुए इनका जन्मकाल सन् १७६० एवं देहावसान काल सन् १८४२ माना है।[8]

१—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ८९।
२—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ८९।
३—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ८९।
४—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ८९।
५—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६४३—६५०।
६—उत्तरी भारत की संत मरम्परा, पृ० ६४४।
७—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६४४—६४५।
८—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६५०।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' के अन्तर्गत बहुत संक्षेप में तुलसी साहब के जीवन-चरित्र पर विचार किया है।[1] डा० वर्मा द्वारा प्रस्तुत संत तुलसी की जीवनी के तत्व आचार्य सेन, डा० बड़थ्वाल एवं पं० परशुराम चतुर्वेदी के द्वारा प्रस्तुत तथ्यों से सर्वथा भिन्न हैं। डा० वर्मा ने अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित संत तुलसी के जीवन चरित्र में उनका पेशवा परिवार से सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। वर्माजी के अनुसार तुलसी साहब का जन्म सं० १८४५ में हुआ था।[2] इनकी जाति ब्राह्मण थी और बाल्यकाल से ही यह भक्ति भावना में लीन रहते थे। डा० वर्मा के मत से तुलसी साहब का समस्त जीवन हाथरस में ही व्यतीत हुआ और वहीं उनकी जीवन लीला समाप्त हुई।[3] वर्मा जी ने तुलसी साहब की मृत्यु तिथि के सम्बन्ध में मौन ग्रहण किया है।

(ग) <u>साम्प्रदायिक</u>—तुलसी साहब के सम्प्रदाय का प्रभाव अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा कम है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों की तुलना में उसका संगठन भी व्यापक नहीं है। अपने धर्मगुरु के यथार्थ जीवन के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासा भी तीव्र नहीं है। अतएव संत तुलसी की जीवनी के सम्बन्ध में सम्प्रदायिक ग्रन्थों में विशेष विचार नहीं किया गया है। हाथरस, मुरादाबाद आदि साहिब-पंथ के मुख्य स्थानों पर लेखक को जो साम्प्रदायिक साहित्य उपलब्ध हुआ, उसमें से केवल दो ग्रन्थों में तुलसी साहब के जीवन-चरित्र की संक्षिप्त चर्चा है। इन ग्रन्थों के नाम हैं—'तुलसी संध्या वन्दन' एवं 'परम संत बाबा देवी साहिब का जीवन-चरित्र'। इन ग्रन्थों के लेखकों का नाम क्रम से महंत प्रकाशदास और बाबा नन्दनदास है।

महंत प्रकाशदास ने 'तुलसी संध्या वन्दन' पुस्तक की भूमिका में तुलसी साहब के जीवन-चरित्र की चर्चा की है। इनके मत से तुलसी साहब 'दक्षिणी ब्राह्मण' थे और अपने पिता महाराजाधिराज के युवराज थे।[4] इनका वास्तविक नाम श्यामराव था।[5] तुलसी साहब जेठ सुदी २, सं० १९०० में परलोकगामी हुए।[6] वस्तुतः संत तुलसी की जीवनी में ये सूत्र अत्यन्त अल्प हैं। इन तत्वों में

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
४—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १ और ३।
५—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १।
६—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १।
[illegible]—[illegible]सी [illegible] वन्दन, [illegible]मिका पृ० ३।

और आचार्य क्षितिमोहन सेन, डा० बड़थ्वाल एवं पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत जीवनी के तथ्यों में बड़ा साम्य है।

बाबा नन्दनदास ने संत तुलसी के सुप्रसिद्ध शिष्य देवी साहब के जीवन चरित्र में कुछ स्थलों पर संत तुलसी का सामान्य उल्लेख किया है। इस उल्लेख से तुलसी साहब के जीवन-चरित्र पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। बाबा नन्दनदास के अनुसार तुलसी साहब 'दक्षिण देश से आकर हाथरस के पास किसी कुटी में रहा करते थे और परम सन्त तुलसी साहब के नाम से प्रसिद्ध थे'।[1] इस ग्रन्थ से उपर्युक्त उल्लेख के अतिरिक्त यह और ज्ञात होता है कि तुलसी साहब सन् १८४१ तक अवश्य वर्तमान थे।[2] इन विषयों के अतिरिक्त बाबा नन्दनदास प्रणीत देवी साहिब के जीवन-चरित्र से तुलसी साहब की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले अन्य तथ्य हमें ज्ञात नहीं होते हैं।

२—जीवनी पर प्रकाश डालने वाली संत तुलसी के ग्रन्थों की भूमिकायें

बेलवेडियर प्रेस के द्वारा प्रकाशित तुलसी साहब के ग्रन्थों में मुद्रित भूमिकाओं में प्राप्त उनके जीवन-चरित्र की सामग्री उल्लेखनीय है। इसका उल्लेख इसलिए आवश्यक नहीं है कि यह प्रामाणिक है, अपितु इसलिए कि तुलसी साहब के जीवन-चरित्र सम्बन्धी समस्त प्रवादों का मूल स्रोत इन भूमिकाओं में मुद्रित जीवन-चरित्र ही हैं। यथास्थान हमने इनकी प्रामाणिकता-अप्रमाणिकता पर सविस्तार विचार किया है, यहां केवल संक्षेप में इन जीवनियों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) 'घटरामायण' की भूमिका में मुद्रित जीवनी तुलसी साहब का पेशवा वंश से सम्बन्ध स्थापित करती है।[3] इसके अनुसार तुलसी साहब की जाति ब्राह्मण, नाम श्यामराव और पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई था।[4] इसमें तुलसी साहब को पूना के राजा का युवराज और बाजीराव द्वितीय का ज्येष्ठ भ्राता कहा गया है।[5] इसी भूमिका में उनकी आयु अस्सी वर्ष प्रतिपादित की गई है और जन्म तिथि सं० १८२० एवं मृत्यु तिथि सं० १९०० के निकट प्रस्तावित की गयी है।[6]

१—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १।
२—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १—२।
४—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
५—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
६—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' के अन्तर्गत बहुत संक्षेप में तुलसी साहब के जीवन-चरित्र पर विचार किया है।[१] डा० वर्मा द्वारा प्रस्तुत संत तुलसी की जीवनी के तत्व आचार्य सेन, डा० बड़थ्वाल एवं पं० परशुराम चतुर्वेदी के द्वारा प्रस्तुत तथ्यों से सर्वथा भिन्न हैं। डा० वर्मा ने अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित संत तुलसी के जीवन चरित्र में उनका पेशवा परिवार से सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। वर्माजी के अनुसार तुलसी साहब का जन्म सं० १८४५ में हुआ था।[२] इनकी जति ब्राह्मण थी और बाल्यकाल से ही यह भक्ति भावना में लीन रहते थे। डा० वर्मा के मत से तुलसी साहब का समस्त जीवन हाथरस में ही व्यतीत हुआ और वहीं उनकी जीवन लीला समाप्त हुई।[३] वर्मा जी ने तुलसी साहब की मृत्यु तिथि के सम्बन्ध में मौन ग्रहण किया है।

(ग) <u>साम्प्रदायिक</u>—तुलसी साहब के सम्प्रदाय का प्रभाव अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा कम है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों की तुलना में उसका संगठन भी व्यापक नहीं है। अपने धर्मगुरु के यथार्थ जीवन के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासा भी तीव्र नहीं है। अतएव संत तुलसी की जीवनी के सम्बन्ध में सम्प्रदायिक ग्रन्थों में विशेष विचार नहीं किया गया है। हाथरस, मुरादाबाद आदि साहिब-पंथ के मुख्य स्थानों पर लेखक को जो साम्प्रदायिक साहित्य उपलब्ध हुआ, उसमें से केवल दो ग्रन्थों में तुलसी साहब के जीवन–चरित्र की संक्षिप्त चर्चा है। इन ग्रन्थों के नाम हैं—'तुलसी संध्या वन्दन' एवं 'परम संत बाबा देवी साहिब का जीवन-चरित्र'। इन ग्रन्थों के लेखकों का नाम क्रम से मंहत प्रकाशदास और बाबा नन्दनदास है।

महंत प्रकाशदास ने 'तुलसी संध्या वन्दन' पुस्तक की भूमिका में तुलसी साहब के जीवन-चरित्र की चर्चा की है। इनके मत से तुलसी साहब 'दक्षिणी ब्राह्मण' थे और अपने पिता महाराजाधिराज के युवराज थे।[४] इनका वास्तविक नाम श्यामराव था।[५] तुलसी साहब जेठ सुदी २, सं० १९०० में परलोकगामी हुए।[७] वस्तुतः संत तुलसी की जीवनी में ये सूत्र अत्यन्त अल्प हैं। इन तत्वों में

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
४—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १ और ३।
५—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १।
६—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १।
७—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० ३।

और आचार्य क्षितिमोहन सेन, डा० बड़थ्वाल एवं पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत जीवनी के तथ्यों में बड़ा साम्य है।

बाबा नन्दनदास ने संत तुलसी के सुप्रसिद्ध शिष्य देवी साहब के जीवन चरित्र में कुछ स्थलों पर संत तुलसी का सामान्य उल्लेख किया है। इस उल्लेख से तुलसी साहब के जीवन-चरित्र पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। बाबा नन्दनदास के अनुसार तुलसी साहब 'दक्षिण देश से आकर हाथरस के पास किसी कुटी में रहा करते थे और परम सन्त तुलसी साहब के नाम से प्रसिद्ध थे'।[1] इस ग्रन्थ से उपर्युक्त उल्लेख के अतिरिक्त यह और ज्ञात होता है कि तुलसी साहब सन् १८४१ तक अवश्य वर्तमान थे।[2] इन विषयों के अतिरिक्त बाबा नन्दनदास प्रणीत देवी साहिब के जीवन-चरित्र से तुलसी साहब की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले अन्य तथ्य हमें ज्ञात नहीं होते हैं।

२— जीवनी पर प्रकाश डालने वाली संत तुलसी के ग्रन्थों की भूमिकायें

बेलवेडियर प्रेस के द्वारा प्रकाशित तुलसी साहब के ग्रन्थों में मुद्रित भूमिकाओं में प्राप्त उनके जीवन-चरित्र की सामग्री उल्लेखनीय है। इसका उल्लेख इसलिए आवश्यक नहीं है कि यह प्रामाणिक है, अपितु इसलिए कि तुलसी साहब के जीवन-चरित्र सम्बन्धी समस्त प्रवादों का मूल स्रोत इन भूमिकाओं में मुद्रित जीवन-चरित्र ही हैं। यथास्थान हमने इनकी प्रामाणिकता-अप्रमाणिकता पर सविस्तार विचार किया है, यहां केवल संक्षेप में इन जीवनियों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) 'घटरामायण' की भूमिका में मुद्रित जीवनी तुलसी साहब का पेशवा वंश से सम्बन्ध स्थापित करती हैं।[3] इसके अनुसार तुलसी साहब की जाति ब्राह्मण, नाम श्यामराव और पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई था।[4] इसमें तुलसी साहब को पूना के राजा का युवराज और बाजीराव द्वितीय का ज्येष्ठ भ्राता कहा गया है।[5] इसी भूमिका में उनकी आयु अस्सी वर्ष प्रतिपादित की गई है और जन्म तिथि सं० १८२० एवं मृत्यु तिथि सं० १९०० के निकट प्रस्तावित की गयी है।[6]

१—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १।
२—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १—२।
४—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
५—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
६—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २।

(ख) 'शब्दावली' की भूमिका में मुद्रित जीवन-चरित्र शब्द प्रति-शब्द 'घटरामायण' की भूमिका में मुद्रित जीवनी की प्रतिलिपि है। अतएव इसका पृथक परिचय आवश्यक नहीं।

(ग) 'रत्नसागर' की भूमिका में मुद्रित जीवन चरित्र 'घटरायायण' की भूमिका में विज्ञापित जीवनी से भिन्न ही नहीं अपितु संक्षिप्त भी है।[1] इसमें तुलसी साहब का पेशवा परिवार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। 'रत्नसागर' की भूमिका के अनुसार संत तुलसी की जाति ब्राह्मण थी और इन्होंने बाल्यावस्था से ही वैराग्य धारण कर लिया था।[2] इनकी आयु साठ वर्ष की थी; तदनुसार जन्म सं० १८४५ एवं देहान्त सं० १९०५ में हुआ।[3]

३— जीवन–चरित्र पर प्रकाश डालने वाला अन्तस्साक्ष्य

तुलसी साहब की रचनाओं में उनके जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाला अन्तस्साक्ष्य बहुत अल्प है। अन्तस्साक्ष्य के द्वारा उनकी जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं पर किसी प्रकार का स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। उनकी जन्म एवं मृत्यु तिथि के निर्धारण में भी अन्तस्साक्ष्य सहायक नहीं होता। 'शब्दावली', 'घटरामायण', 'रत्नसागर', और 'पद्मसागर', में उपलब्ध अन्तस्साक्ष्य बहुत महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके द्वारा निश्चित निष्कर्ष निकालने में विशेष सहायता नहीं प्राप्त होती।

संत तुलसी की रचनाओं में उपलब्ध अन्तस्साक्ष्य समय, जाति, वैराग्य, गुरु, उपाधि, आदर्श और भ्रमण इत्यादि प्रसंगों से सम्बन्ध रखता है। अन्तस्साक्ष्य की इस सामग्री को निम्नांकित पंक्तियों में व्यवस्थित किया गया है—

समय

(क) वा घर का कोइ भरम न जाने। नानक दास कबीर बखाने॥
दादू और दरिया रैदासा। नाभा मीरा अगम विलासा॥[4]

१—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
३—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५९।

(ख) दादू मीरा नाभा भाई। नानक दरिया सूर सुनाई॥
अरु कबीर पुनि भाखा भाई। और अनेक संतन विधि गाई॥[१]

(ग) नानक और दादू दरिया साधू। मीरा सूर कबीर कही॥
नाभा नभ जानी भाखि बखानी, सुरति समानी पार गई॥[२]

(घ) और कबीर दादू रैदासा। दरिया नानक अगम तमासा॥
सूरदास नाभा अरु मीरा। औरो संत अगम मति धीरा॥[३]

(ङ) एरी ईसा अंगरेज कहावे, सब में इक ब्रह्म बतावे॥
इनसाफ जो साफ सुनावै, जो गुनह करे सोई पावे॥
ये मियां एक अनीती भावे, जीव जीवह् करै सोइ खावे॥
तुलसी तन बूझ न लावे, ये बेइनसाफ कहावे॥[४]

जाति

(क) तुलसी ब्राह्मन साध, गंगा जी पर रहतु है।
निंदित सिम्रित वेद, यह अभेद गति कहतु है[५]॥

वैराग्य

(क) खोटी कुभंडी चाल जग से, भाग कर गुरु को गहूँ।
अस कुटिल कांट करील जग लखि, लोग से भाग्यों महूं॥[६]

गुरु

(क) बार बार विनती करूं सत गुरु चरन निवास।
सतगुर चरन निवास बास मोहिं दीन लखाई॥[७]

(ख) बार बार सरनाय चरन घर धारूं धूरी।
सतगुर की बलहारि दीन सतगत मत पूरी॥
आदि अन्त गत मूल फूल पत कंवल लखाई॥[८]

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ५।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ११।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० २९।
४—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३०।
५—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ७४।
६—रत्नसागर, पृ० ३९।
७—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४०।
८—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४०।

(ग) गुर ज्ञान में कही । घट बोल ब्रह्म यही ॥[1]
(घ) मैं लोहा जड़ कीट समाना । गुरु पारस संग कनक कहाना ॥
तुलसी सतगुरु पारस कीन्हा । लोहा सुगम अगम लखि लीन्हा ॥[2]

उपाधि

(क) अस्थावर नर देह अलेखा । भइ कस साहब कहो विसेखा ॥[3]
(ख) नर की नर घर देही पाई । सो साहब कहो बरनि सुनाइ ॥[4]
(ग) अस अस बरनि कही सब बानी । सो साहब मोहि कहो निसानी ॥[5]
(घ) यह तो समझि परी सहदानी । साहब के कहने से जानी ॥[6]
(ङ) सुनियो तुलसी दास गुसांई । कहि पुरान सोइ साखि सुनाई ॥[7]
(च) फूल दास भोरहिं चलि आई । पूछत कुटिया तुलसी गोंसाईं ॥[8]
(छ) सब जग लूटि लूटि कर खाई । अब नहि छोड़ै तुलसी गुसांई ॥[9]
(ज) संत चरन परसादी पाई । ता से सब कहै तुलसि गुसांईं ॥[10]
(झ) मैं तो गरीब कछू गुन नाहीं, मो को कहत गुसाईं ।
जो कुछ कीन्ह कीन्ह करुनामय, मैं उनकी सरनाई ॥[11]

आदर्श

(क) सहज भाव से जो कुछ आवै, क्या रुखी क्या साग ।
भोजन भाव सहज की भिक्षा, नहि कोई से कुछ मांग ॥[12]
(ख) खाय पिये पल्ले नहिं बांधे । पैसा न पोट उठावे कांधे ।[13]
(ग) खाय पिये उतना रखे, बाकी रखे न पास ।
और आस व्यापे नहीं, सतगुरु का विस्वास ॥[14]

१—पद्मावली, प्रथम भाग पृ० ७९ ।
२—'घटरामायण' द्वितीय भाग, पृ० १९१ ।
३—रत्नसागर, पृ० ५८ ।
४—रत्नसागर, पृ० ६५ ।
५—रत्नसागर, पृ० ६५ ।
६—रत्नसागर, पृ० १४४ ।
७—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ९६ ।
८—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६९ ।
९—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १३९ ।
१०—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८१ ।
११—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ५ ।
१२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२९ ।
१३—रत्नसागर, पृ० ११० ।
१४—रत्नसागर, पृ० ११० ।

(घ) हिरदे गरीबी दीनता, दृढ़ साध को निस्चै सही।
खोटी खरी कोई कहन कहे, जिनकी नहीं मन में लही ॥[1]

(ङ) अपनी रहनि रस रीति को, आठो पहर जांचे रही।
सतगुर बचन मुख बाक बानी, जानि सोइ समझे सही ॥[2]

भ्रमण

(क) गदला पानी बंधन सोई। बहता सदा निर्मला होई ॥[3]

(ख) देस देसन्तर के हम बासी। दीपक दृग नैनन पर चासी ॥[4]

(ग) पिरथम परमट घाट पे, नाव लगावे जाय।
जीव जुगात चुकाइ के, सूरत देय पठाय ॥[5]

उपर्युक्त अन्तस्साक्ष्य के अतिरिक्त तुलसी साहब की कृतियों में अन्य अन्तस्साक्ष्य सम्बन्धी सामग्री अनुपलब्ध है। अंतस्साक्ष्य की उपलब्ध सामग्री का प्रयोग संत तुलसी के विस्तृत जीवन चरित्र-निर्माण में यथा स्थान किया जायगा।

४—हमारे अध्ययन के आधार

तुलसी साहब के जीवन सम्बन्धी जिस सामग्री का उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है, उसमें से अन्तस्साक्ष्य के अतिरिक्त हमारे अध्ययन का आधार बनने योग्य सामग्री केवल बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित तुलसी साहब के ग्रन्थों में मुद्रित भूमिकाएं हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं—

(क) जिस विस्तार से संत तुलसी के ग्रन्थों की इन भूमिकाओं में उनका चरित्र उपलब्ध है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होता। वस्तुतः तुलसी साहब का जीवन चरित्र यदि कहीं भी मुद्रित एवं व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है तो इन भूमिकाओं ही में।

(ख) भूमिकाओं में प्राप्त जीवन-चरित्र के आधार पर ही हिन्दी के विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में तुलसी साहब की जीवनी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए डा० बड़थ्वाल और पं० परशुराम चतुर्वेदी का उल्लेख पर्याप्त होगा। स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' के अन्तर्गत स्वीकार किया है कि उनके द्वारा प्रस्तुत तुलसी साहब की जीवनी का आधार बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित संतबानी माला में मुद्रित जीवन-चरित्र ही है।[6] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने भी "उत्तरी भारत की

---

१ – रत्नसागर, पृ० ११०।
२—रत्नसागर पृ० ११०।
३ – रत्नसागर, पृ१ ११०।
४—रत्नसागर, पृ० ९६।
५—पद्मसागर, पृ० ८।
६—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय -पृ० ८९।

(ग) गुर ज्ञान में कही। घट बोल ब्रह्म यही ॥[१]

(घ) मैं लोहा जड़ कीट समाना। गुरु पारस संग कनक कहाना ॥
तुलसी सतगुरु पारस कीन्हा। लोहा सुगम अगम लखि लीन्हा ॥[२]

उपाधि

(क) अस्थावर नर देह अलेखा। भइ कस साहब कहो बिसेखा ॥[३]

(ख) नर की नर घर देही पाई। सो साहब कहो बरनि सुनाइ ॥[४]

(ग) अस अस बरनि कही सब बानी। सो साहब मोहिं कहो निसानी ॥[५]

(घ) यह तो समझि परी सहदानी। साहब के कहने से जानी ॥[६]

(ङ) सुनियो तुलसी दास गुसांई। कहि पुरान सोइ साखि सुनाई ॥[७]

(च) फूल दास भोरहिं चलि आई। पूछत कुटयिा तुलसी गोंसाईं ॥[८]

(छ) सब जग लूटि लूटि कर खाई। अब नहि छोडे तुलसी गुसाँई ॥[९]

(ज) संत चरन परसादी पाई। ता से सब कहै तुलसि गुसांई ॥[१०]

(झ) मैं तो गरीब कछू गुन नाहीं, मो को कहत गुसाईं।
जो कुछ कीन्ह कीन्ह करुनामय, मैं उनकी सरनाई ॥[११]

आदर्श

(क) सहज भाव से जो कुछ आवै, क्या रूखी क्या साग।
भोजन भाव सहज की भिक्षा, नहि कोई से कुछ मांग ॥[१२]

(ख) खाय पिये पल्ले नहि बांधे। पैसा न पोट उठावे कांधे।[१३]

(ग) खाय पिये उतना रखे, बाकी रखे न पास।
और आस व्यापे नहीं, सतगुरु का बिस्वास ॥[१४]

१—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० ७९।

२—'घटरामायण' द्वितीय भाग, पृ० १९१।

३—रत्नसागर, पृ० ५८।

४—रत्नसागर, पृ० ६५।

५—रत्नसागर, पृ० ६५।

६—रत्नसागर, पृ० १४४।

७—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ९६।

८—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६९।

९—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १३९

१०—घटरामायण, प्रथम भाग, प

११—घटरामायण, द्वितीय

१२—शब्दावली, प्रथम

१३—रत्नसागर, पृ

१४—रत्नसागर,

(घ) हिरदे गरीबी दीनता, दृढ़ साध को निस्चै सही।
खोटी खरी कोई कहन कहे, जिनकी नहीं मन में लही ॥[1]

(ङ) अपनी रहनि रस रीति को, आठो पहर जांचे रही।
सतगुर वचन मुख वाक बानी, जानि सोइ समझे सही ॥[2]

भ्रमण

(क) गदला पानी बंधन सोई। बहता सदा निर्मला होई ॥[3]

(ख) देस देसन्तर के हम बासी। दीपक दृग नैनन पर चासी ॥[4]

(ग) पिरथम परमट घाट पे, नाव लगावे जाय।
जीव जुगात चुकाइ के, सूरत देय पठाय ॥[5]

उपर्युक्त अन्तस्साक्ष्य के अतिरिक्त तुलसी साहब की कृतियों में अन्य अन्तस्साक्ष्य सम्बन्धी सामग्री अनुपलब्ध है। अंतस्साक्ष्य की उपलब्ध सामग्री का प्रयोग संत तुलसी के विस्तृत जीवन चरित्र-निर्माण में यथा स्थान किया जायगा।

४—हमारे अध्ययन के आधार

तुलसी साहब के जीवन सम्बन्धी जिस सामग्री का उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है, उसमें से अन्तस्साक्ष्य के अतिरिक्त हमारे अध्ययन का आधार बनने योग्य सामग्री केवल वेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित तुलसी साहब के ग्रन्थों में मुद्रित भूमिकाएं हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं—

(क) जिस विस्तार से संत तुलसी के ग्रन्थों की इन भूमिकाओं में उनका चरित्र उपलब्ध है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होता। वस्तुतः तुलसी साहब का जीवन चरित्र यदि कहीं भी मुद्रित एवं व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है तो इन भूमिकाओं ही में।

(ख) भूमिकाओं में प्राप्त जीवन-चरित्र के आधार पर ही हिन्दी के विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में तुलसी साहब की जीवनी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए डा० बड़थ्वाल और पं० परशुराम चतुर्वेदी का उल्लेख पर्याप्त होगा। स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' के अन्तर्गत स्वीकार किया है कि उनके द्वारा प्रस्तुत तुलसी साहब की जीवनी का आधार बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित संतबानी माला में मुद्रित जीवन-चरित्र ही है।[6] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने भी "उत्तरी भारत की

१—रत्नसागर, पृ० ११०।
२—रत्नसागर पृ० ११०।
३—रत्नसागर, पृ० ११०।
४—रत्नसागर, पृ० ९६।
५—पद्मसागर, पृ० ८।
६—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ८९।

संन्त परम्परा" में स्पष्ट रूप से तुलसी साहब के ग्रन्थों के प्रारम्भ में मुद्रित भूमिकाओं के जीवन-चरित्र से सहायता ली है।[1]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि बेलवेडियर प्रेस के द्वारा प्रकाशित संतवानी माला के अन्तर्गत प्रस्तुत तुलसी साहब के 'घटरामायण' 'रत्नसागर' आदि ग्रन्थों की भूमिकाओं के रूप में मुद्रित उनकी जीवनी का महत्व मान्य है। पर इसके पूर्व कि हम इस जीवन चरित्र की सामग्री का महत्व स्वीकार करें, हमारे लिये आवश्यक है कि इसकी प्रमाणिकता-अप्रमाणिकता की परीक्षा कर लें।

५—'घटरामायण' एवं 'शब्दावली' की भूमिका में प्राप्त संत तुलसी का जीवन चरित्र।[2]

'घटरामायण' प्रथम भाग के प्रारम्भ में तुलसी साहब का एक चरित्र उपलब्ध है। इसके अनुसार—

(क) तुलसी साहब पूना के राजा के युवराज अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र थे इनके छोटे भाई का नाम बाजीराव था जो पदच्युत किए जाने पर बिठूर भेज दिया गया था।[3]

(ख) तुलसी साहब का वास्तविक नाम श्यामराव था।[4]

(ग) इनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई था। तुलसी साहब के पिता ने इनकी इच्छा के विरुद्ध इनका विवाह कराया था।[5]

(घ) तुलसी साहब के पिता स्वयं भक्त थे।[6]

(ङ) तुलसी साहब के विरक्त होने के उपरान्त उन्होंने राज्य त्याग दिया और अपने कनिष्ठ पुत्र बाजीराव को सिंहासन पर बैठाया।[7]

(च) संत तुलसी ने लगभग अस्सी वर्ष की आयु में जेठ सुदी २, विक्रमी सम्वत् १८९९ या १९०० में शरीर त्यागा। इससे उनके जन्म की तिथि सम्वत् १८२० के लगभग निर्धारित होती है।[8]

१—उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ६४३–६४४।

२—"घटरामायण" एवं "शब्दावली" की भूमिकाओं में मुद्रित जीवन चरित्र शब्द-प्रति-शब्द एक से हैं। अतएव लेखक ने विचारार्थ इनमें से केवल घटरामायण का उल्लेख किया है।

३—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

४—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

५—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

६—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

७—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

८—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।

६—उपर्युक्त जीवन-चरित्र का आधार

'घटरामायण' की भूमिका में प्राप्त इस जीवन-चरित्र का आधार क्या है? इस जीवनी के लेखक ने किसी स्थल पर भी स्पष्टतः इसके आधार की चर्चा नहीं की है, किन्तु यह जीवन-चरित्र किसी 'सुरत विलास' 'ग्रन्थ के आधार पर लिखा ज्ञात होता है। इस जीवन-चरित्र का लेखक घटनाओं और व्यक्तियों के वर्णन में पुनः पुनः 'सुरत विलास' का साक्ष्य उपस्थित करता है,[१] इससे यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि इस जीवन का मूल्य स्रोत यही ग्रन्थ है।

'सुरत विलास' को प्राप्त करने के निमित इस प्रबन्ध के लेखक ने अनेक स्थानों की यात्राएं कीं और पत्र व्यवहार किए। पर फल कुछ न हुआ। हाथरस के महन्त प्रकाश दास ने भी इसके दर्शन नहीं किए हैं। इसके विद्यमान होने की कोई सूचना भी उनके पास नहीं हैं। वस्तुतः यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है, अतएव इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि यह ग्रन्थ जीवनीकार के रचनात्मक मस्तिष्क की कल्पना मात्र हो।

७—उपर्युक्त जीवन-चरित्र की इतिहास की दृष्टि से परीक्षा

(क) इस जीवन चरित्र में तुलसी साहब को राजा का युवराज अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र बताया गया है, किन्तु पूना के राजा का नाम नहीं स्पष्ट किया गया है। इससे यह ज्ञात होना असम्भव हो जाता है कि उनके पिता का क्या नाम था सौभाग्यवश जीवनीकार ने तुलसी साहब के कनिष्ठ भ्राता का नाम बाजीराव बताया है और यह महत्वपूर्ण उल्लेख किया है कि अपदस्थ किए जाने के उपरान्त वह विठूर भेज दिया गया था।[२] इससे यह प्रमाणित होता है कि यह बाजीराव द्वितीय था जिसको अंग्रेजों ने पराजित करने के उपरान्त पेंशन देकर पूना से विठूर भेज दिया था।[३] बाजीराव द्वितीय के पिता का नाम पेशवा रघुनाथराव राघोवा था।[४] अतएव बाजीराव के ज्येष्ठ भ्राता तुलसी साहब का पिता भी रघुनाथराव ही हुआ। पर क्या वास्तव में तुलसी साहब रघुनाथराव के ज्येष्ठ पुत्र थे। निम्नलिखित पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जायेगा।

(ख) इसी जीवनी के अनुसार तुलसी साहब बाजीराव द्वितीय के ज्येष्ठ भ्राता एवं रघुनाथ के ज्येष्ठ पुत्र माने गये हैं।[५] इनका नाम श्यामराव बताया

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १ एवं २।
२—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
३—New History of the Marathas, Vol. III, page 500.
४—सरदेसाई के आधार पर।
५—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ १।

गया है।[1] किन्तु इतिहास में रघुनाथराव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम अमृतराव प्राप्त होता है।[2] अमृतराव रघुनाथराव का दत्तक पुत्र था।[3] इस प्रकार 'घटरामायण' की भूमिका में प्राप्त जीवन-चरित्र और इतिहास के तथ्यों में प्रथम विरोध यह उपस्थित होता है कि इतिहास जिस व्यक्ति को 'अमृतराव' के नाम से अभिहित करता है, उसी को इस ग्रन्थ की भूमिका में 'श्यामराव' कहा गया है। इस विरोध का परिहार करने के निमित्त डा० बड़थ्वाल ने इस व्यक्ति के दो नाम श्यामराव एवं अमृतराव होने का अनुमान किया है।[4] किन्तु हम आगे प्रमाणित करेंगे कि यह अनुमान निराधार ही नहीं हैं अपितु इतिहास की दृष्टि से इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है।

इस प्रबन्ध के लेखक ने रघुनाथराव के ज्येष्ठ पुत्र के सम्बन्ध में मराठा इतिहास के विख्यात लेखक श्री गोविन्द सखाराम सरदेसाई से पत्र व्यवहार किया था। सरदेसाई के अनुसार बाजीराव के ज्येष्ठ भ्राता अर्थात् रघुनाथराव पेशवा के दत्तक पुत्र अमृतराव, जिसको "घटरामायण" की भूमिका में श्यामराव का नाम देकर तुलसी साहब प्रस्तावित किया गया है, का पूर्ण इतिहास प्राप्त होता है। यह इस प्रकार है —

रघुनाथराव पेशवा के कोई पुत्र न था। उसने परगोत्र के एक चार साल के बालक को अपना दत्तक बनाया और उसका नाम अमृतराव रखा।[5] अंग्रेजों के साथ युद्ध के समय सन् १८०२—१८०३ में जब बाजीराव द्वितीय बेसिन भाग गया था, तब नवम्बर, सन् १८०२ से अमृतराव कुछ महीनों के लिए पूना में पेशवा पद पर आसीन हुआ था। सन् १८०४ के अन्त में अमृतराव ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली थी और बनारस में रहते हुए सन् १८२४ में वह दिवंगत हुआ। उसकी मृत्य के उपरान्त उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका पुत्र विनायकराव हुआ।[6]

यह रघुनाथ के ज्येष्ठ पुत्र और बाजीराव द्वितीय के ज्येष्ठ भ्राता अमृतराव का प्रामाणिक इतिहास है। सर देसाई ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "न्यु हिस्ट्री आफ दि मराठाज्" में अमृत के राजनीतिक जीवन का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है।[7]

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

२—New History of the Marathas, Vol. II, Page 525.

३—New History of the Marathas, Vol. II, Page 525.

४—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ८९।

५—New History of the Marathas, Vol. II, Page 525.

६—सरदेसाई के पत्र के आधार पर।

७—New History of the Marathas Vol. III, Page 331 and 513.

अतएव 'घटरामायण' की भूमिका में इसी व्यक्ति का नाम परिवर्तन करके तुलसी साहब प्रस्तावित किया जाना एवं नाम के विरोध का परिहार करने के लिए डा० बड़थ्वाल का इसके दो नामों का अनुमान करना, नितान्त भ्रामक है। वस्तुतः रघुनाथराव के ज्येष्ठ पुत्र एवं बाजीराव द्वितीय के ज्येष्ठ भ्राता अमृतराव ने पूर्णतया सांसारिक जीवन व्यतीत किया था। उसके संत या साधु होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अमृतराव को गोद लेने के उपरान्त रघुनाथराव की पत्नी आनन्दी बाई ने दो पुत्रों को जन्म दिया। प्रथम पुत्र बाजीराव था। यह कालान्तर में बाजीराव द्वितीय के नाम से पेशवा पद पर आसीन हुआ। दूसरा पुत्र चिम्मन जी अप्पा था। यह पिता की मृत्यु के उपरान्त उत्पन्न हुआ था।[1] इस बाजीराव को ही अपदस्थ करके अंग्रेजों ने बिठूर भेजा था। इसी के बड़े भाई एवं रघुनाथराव के ज्येष्ठ पुत्र को संत तुलसी कहा गया है जो अमृतराव ही हो सकता है। पर अमृतराव का पूर्ण इतिहास प्राप्त होता है। उसने सांसारिकता का परित्याग नहीं किया था, अतएव वह किस प्रकार संत तुलसी हो सकता है? वस्तुतः रघुनाथराव राघोबा का कोई भी पुत्र संसार के आकर्षणों से विरक्त नहीं हुआ था। अतएव "घटरामायण" की भूमिका का यह मन्तव्य कि रघुनाथराव पेशवा का ज्येष्ठ पुत्र संत तुलसी के रूप में विख्यात हुआ, ऐतिहासिक अनुसंधान की कसौटी पर मिथ्या सिद्ध होता है।

(ग) मुद्रित जीवन-चरित्र में तुलसी साहब की पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई वर्णित है।[2] रघुनाथराव के दत्तक ज्येष्ठ पुत्र की पत्नी के सम्बन्ध में इतिहास मौन है।[3] मराठा इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान सरदेसाई के अनुसार इनकी प्रथम पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम विनायक राव था।[4] 'प्रथम पत्नी' प्रयोग से यह अनुमान करना असंगत न होगा कि मराठों की तत्कालीन प्रथा के अनुसार रघुनाथराव के ज्येष्ठ पुत्र के कई पत्नियाँ थीं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख पर्याप्त होगा कि इनके अनुज बाजीराव द्वितीय के ग्यारह पत्नियां थीं।[5] अतएव जीवनीकार का यह कथन कि तुलसी साहब की इच्छा के विरुद्ध पिता ने विवाह करा दिया और युवा होने पर भी ब्रह्मचर्य

१—सर देसाई के पत्र के आधार पर।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

३—सर देसाई के पत्र के आधार पर।

४—सर देसाई के पत्र के आधार पर।

५—सर देसाई के पत्र के आधार पर।

में निष्ठित रह कर अपनी पत्नी से पृथक रहें[1] उनके काल्पनिक चरित्र को प्रभावात्मक करने की चेष्टा मात्र है। इसका तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(घ) 'घटरामायण' की भूमिका में विज्ञापित तुलसी साहब की इस जीवनी में कहा गया है कि 'साहब जी के पिता भी बड़े भक्त थे अब उनकी इच्छा हुई उनको राजगद्दी देकर आप एकान्त में रहकर मालिक की बंदगी करें'।[2] पर इतिहास द्वारा प्रमाणित रघुनाथराव का चरित्र इस कथन के सर्वथा विपरीत है। वस्तुतः रघुनाथराव के भक्त होने की सभमवना ही नहीं उठती। अधिकार प्राप्ति के निमित्त वह निरन्तर षडयन्त्र करता रहा और षडयन्त्र के द्वारा उसने अपने भतीजे नारायणराव पेशवा की हत्या कराई थी।[3] रघुनाथराव का इतिहास-सिद्ध-चरित्र मनुष्य एवं राजनीतिज्ञ की दृष्टि से स्वार्थ तथा षडयन्त्र का समन्वय है। उसके भक्त या 'बड़े भक्त' होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

(ङ) उपर्युक्तजीवन-चरित्र में कहा कहा गया है कि जब तुलसी साहब घर का परित्याग करके चले गये तो उनके पिता अर्थात् रघुनाथराव ने 'अति उदास व निरास होकर राज्य को त्याग दिया और अपने छोटे कुंवर बाजीराव को गद्दी पर बैठाया।' यह वर्णन भी इतिहास विरुद्ध है क्योंकि रघुनाथराव की मृत्यु के कई वर्ष उपरान्त अन्य मराठा सरदारों के समर्थन से बाजीराव को पेशवा पद प्राप्त हुआ था।[4] अतएव रघुनाथराव द्वारा राज्य त्यागने और बाजीराव को गद्दी पर बैठाने का विवरण अप्रामाणिक है।

(च) तुलसी साहब की देहावसान तिथि का उल्लेख उपर्युक्त जीवनी में करते हुये जीवनीकार ने लिखा है कि 'उन्होने अस्सी वर्ष की अवस्था में जेठ सुदी २, विक्रमी सम्वत् १८९९ या १९०० (सन १८४२-१८४३) में चोला छोड़ा,[6] जबकि अमृतराव की मृत्यु तिथि सन् १८२४ है।[7] इस विरोध अथवा असंगति से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि बाजीराव द्वितीय का ज्येष्ठ भ्राता निश्चय ही तुलसीसाहब नही थे।

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
२—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
३—New History of the Marathas Vol: III, Page 22-27.
४—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
५—New History of the Marathas Vol. III, Page 323.
६—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।
७—सर देसाई के पत्र के आधार पर।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब का पेशवा परिवार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। वे न तो पूना के शासक के युवराज थे और न बाजीराव द्वितीय के ज्येष्ठ भ्राता। 'घटरामायण' की भूमिका में मुद्रित जीवन-चरित्र का प्रमुख प्रतिपाद्य यही है कि वे पेशवा परिवार के व्यक्ति थे। पर हमने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया है कि उनके जीवन को पेशवा वंश से अनुस्यूत करना इस जीवनी के लेखक की कल्पना मात्र हैं। व्यक्ति, चरित्र, घटना और तिथि की दृष्टि से यह जीवन चरित्र निराधार, कल्पित और भ्रमात्मक है। अतएव अग्राह्य है।

८—'रत्नसागर' की भूमिका में प्राप्त तुलसी साहब का जीवन चरित्र

'रत्नसागर' की भूमिका में संत तुलसी का जीवन 'घटरामायण' की भूमिका में प्राप्त जीवन-चरित्र से भिन्न है। 'रत्नसागर' की भूमिका के अनुसार -

(क) तुलसी साहब जाति के ब्राह्मण थे।[१]

(ख) बाल्यावस्था में ही इन्हें तीव्र वैराग्य हुआ जिसके कारण गृह त्याग कर विरक्त हो गए।[२]

(ग) तत्पश्चात हाथरस में रहने लगे और वहीं शरीर त्याग किया।[३]

(घ) देहान्त के समय इनकी अवस्था लगभग साठ वर्ष की थी। इनकी जन्म तिथि सम्वत् १८४५ (सन् १७८८) और देहान्त सम्वत् १९०५ (सन् १८४८) में अथवा 'दो एक वर्ष आगे पीछे ठहरता है'।[४]

९—उपर्युक्त जीवन—चरित्र का आधार

'रत्नसागर' की भूमिका में इस जीवनी के आधार की कोई चर्चा या संकेत नहीं प्राप्त होता है। अतएव इस जीवन चरित्र के आधार के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। लेखक का अनुमान यह है कि इस जीवन चरित्र के तत्व ग्रन्थ के प्रकाशक को किसी मौखिक परम्परा से प्राप्त हुए, जिनके आधार पर इस जीवनी का निर्माण हुआ। प्रायः संत और महात्माओं के जीवन चरित्र उनके शिष्य—प्रशिष्यों की स्मृति में सुरक्षित रहते है और भक्तों के सम्मुख उनकी चर्चा होने पर लोक में प्रचलित हो

१—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
३—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
४—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

साहब के जीवन चरित्र पर विस्तार से विचार करते समय हमने प्रमाणों के लिए जहां अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है वहीं 'रत्नसागर' की भूमिका का उल्लेख भी आवश्यक माना है और अनेक प्रसंगों में उसे अन्य साक्ष्यों की तुलना में अधिक महत्व प्रदान किया है। इसका कारण यही है कि संक्षिप्त होते हुए भी यह जीवनी अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय प्रमाणित हुई है।

तुलसी साहब का विस्तृत जीवन चरित्र

संत तुलसी के जीवन-चरित्र की सामग्री और अपने अध्ययन के आधारभूत ग्रन्थों की परीक्षा करने के उपरान्त अब हम उनके जीवन-चरित्र पर विस्तार से विचार करने का प्रयत्न करेंगे। उनकी जीवनी के विभिन्न तत्वों पर विचार करने के पूर्व उनके समय का निर्धारण आवश्यक है। निम्नांकित पंक्तियों में विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर उनके समय का निश्चय किया गया है।

समय

तुलसी साहब के जीवन-काल के सम्बन्ध में दो परम्पराएं प्राप्त हैं—

(क) प्रथम परम्परा 'रत्नसागर' की भूमिका में मुद्रित संत तुलसी के जीवन चरित्र में प्राप्त है। इसके अनुसार तुलसी साहब का जन्म सम्वत् १८४५ अर्थात सन् १७८८ में हुआ था और मृत्यु सम्वत् १९०५ अर्थात सन् १८४८ के निकट हुई।[१] इस परम्परा के अनुसार तुलसी साहब की आयु साठ वर्ष के लगभग मानी गई है।[२]

(ख) द्वितीय परम्परा 'घटरामायण' की भूमिका में मुद्रित संत तुलसी के जीवन-चरित्र में उपलब्ध होती है। इसके अनुसार इनका जन्म सम्वत् १८२० अर्थात् सन् १७६३ में हुआ और मृत्यु सम्वत् १९०० के निकट हुई।[३] इस परम्परा के अनुसार तुलसी साहब की आयु अस्सी वर्ष अनुमानित की गई है।[४]

'रत्नसागर' एवं 'घटरामायण' की भूमिकाओं में तुलसी साहब के जीवन काल की इन तिथियों का निम्नलिखित आधार बताया गया है:—

(क) 'रत्नसागर' की भूमिका से ज्ञात होता है कि जिस समय इसका प्रकाशन हुआ, उस समय संत तुलसी को दिवंगत हुए साठ वर्ष हो चुके थे।

१—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

३—"घटरामायण", प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।

४—"घटरामायण", प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।

इसकी प्रकाशन तिथि ग्रन्थ में सन् १९१९ मुद्रित है और यह भी उल्लिखित है कि मृत्यु के समय तुलसी साहब की अवस्था साठ वर्ष की थी। इसी आधार पर उनके जन्म एवं मृत्यु काल की तिथियाँ निर्धारित की गई हैं।[1]

(ख) 'घटरामायण' की भूमिका में प्राप्त तिथियों का आधार "सुरति विलास" ग्रन्थ बताया गया है जिसमें तुलसी साहब की मृत्यु तिथि जेठ सुदी २, विक्रमी सम्वत् १८९९ या १९०० दी गई है। इसमें यह भी कहा गया है कि मृत्यु के समय अनुमानतः उनकी आयु अस्सी वर्ष की थी। इसी आधार पर भूमिका के लेखक ने उनके जन्म की तिथि सम्वत् १८२० के निकट निश्चित की है।[2]

"घटरामायण" की भूमिका में "सुरति विलास" के आधार पर मुद्रित जीवन-चरित्र को, उस पर विचार करते समय, हम निराधार, एवं काल्पनिक प्रमाणित कर चुके हैं। अतएव उसमें उल्लिखित तिथियों को हम मान्यता देने के पक्ष में नहीं हैं। "रत्नसागर" की भूमिका में मुद्रित जीवन चरित्र के अन्तर्गत प्राप्त तुलसी साहब की जन्म एवं मृत्यु सम्बन्धी तिथियां सत्य के अधिक निकट ज्ञात होती हैं। पर ये तिथियां भी तब ही ग्रहण की जा सकती हैं, जब अन्य साक्ष्यों के प्रकाश में उन पर भली भांति विचार किया जाय। तुलसी साहब की जन्म एवं मृत्यु तिथियों पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि अन्तस्साक्ष्य के आधार पर उनके समय का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय। इससे जन्म एवं मृत्यु तिथि के निर्णय में सहायता प्राप्त होगी।

तुलसी साहब ने ग्रन्थों में उनके समय का आभास देने वाला अन्तः साक्ष्य इतना कम है कि उसके आधार पर निष्कर्ष स्थापित करना बहुत युक्ति-युक्त न होगा। पर इस अन्तःसाक्ष्य से उनके समय का अनुमान अवश्य प्राप्त हो जायगा। निम्नलिखित पंक्तियों में हम उनके विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होनेवाले अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उनके समय को निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे।

(अ) तुलसी साहब ने अपनी कृतियों में प्रायः अपने पूर्ववर्ती साधकों का उल्लेख किया है। यह उल्लेख विशेष रूप से 'घटरामायण' के कई स्थलों पर प्राप्त है :—

(क) वा घर का कोई भरम न जाने। नानक दास कबीर बखाने॥
दादू और दरिया रैदासा। नाभा मीरा अगम बिलासा॥[3]

१—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
२—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५९।

(ख) दादू मीरा नाभा भाई। नानक दरिया सूर सुहाई॥
अरु कबीर पुनि भाखा भाई। और अनेक संत विधि गाई॥[1]

(ग) नानक और दादू दरिया साधू, मीरा सूर कबीर कही
नाभा नभ जानी भाखि बखानी, सुरति समानी पार गई॥[2]

(घ) और कबीर दादू रैदासा। दरिया नानक अगम तमासा
सूर दास, नाभा अरु मीरा। औरो संत अगम मति धीरा॥[3]

इन उद्धरणों में जिन संत या भक्त कवियों का उल्लेख किया गया है, उन्हें काल क्रम से इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है :—

(क) कबीर (सम्वत् १४२५—सम्वत् १५०५)[4]
(ख) रैदास (सम्वत् १५००—सम्वत् १५८५)[5]
(ग) नानक (सम्वत् १५२६—सम्वत् १५९५)[6]
(घ) मीरा (सम्वत् १५५५—सम्वत् १६०३)[7]
(ङ) सूर (सम्वत् १५४०—सम्वत् १६४२)[8]
(च) दादू (सम्वत् १६०१—सम्वत् १६६०)[9]
(छ) नाभा (सम्वत् १६७५ के निकट वर्तमान)[10]
(ज) दरिया (मारवाड़ी)—(सम्वत् १७३३—सम्वत् १८१५)[11]
(झ) दरिया (विहारी)—(सम्वत् १७३१—सम्वत् १८३७)[12]

उपर्युक्त कवियों में काल क्रम की दृष्टि से दरिया साहब सबसे उपरांत में हुए हैं। तुलसी साहब ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि उनके द्वारा उल्लिखित दरिया साहब मारवाड़ी दरिया हैं या विहारी दरिया। पर इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि दरिया द्वय का आविर्भाव काल लगभग एक ही है। यह

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५।
२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ११।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० २९।
४—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० १३९।
५—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० २४०।
६—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० २८९ एवं २९६।
७—मीराबाई की पदावली, पृ० १५ एवं २२।
८—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५२३।
९—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ४११।
१०—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२७।
११—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ५७८।
१२—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ५६८—५६९।

तथ्य उपर्युक्त तालिका में अंकित उनके समय को देखने से स्पष्ट हो जायगा। मारवाड़ी दरिया की अपेक्षा बिहारी दरिया की प्रसिद्धि अधिक है। बिहारी दरिया के अनुयाइयों की संख्या भी मारवाड़ी दरिया साहब की अपेक्षा अधिक है। इस दृष्टि से हमारा यह अनुमान करना असंगत न होगा कि सन्त तुलसी द्वारा उल्लिखित दरिया बिहारी हैं। उपर्युक्त तालिका में बिहारी दरिया का समय सम्वत् १७३१-१८३७ दिया गया है। दूसरे शब्दों में, उनकी देहावसान तिथि सन् १७८० है। इस प्रकार यह अनुमान करना असंगत न होगा कि सन्त तुलसी का आविर्भाव इस तिथि के पश्चात ही हुआ होगा।

अतएव विभिन्न सन्त कवियों के नामोल्लेख के इस अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तुलसी साहब का अभ्युदय सन् १७८० के उपरान्त हुआ।

(आ) सन्त तुलसी ने अपनी रचनाओं में एक स्थल पर प्रसंगवश अंग्रेजी न्याय की प्रसंशा की है—

> एरी ईसा अंगरेज कहावै, सब में इक ब्रह्मबतावे ।।
> इनसाफ जो साफ सुनावे, जो गुनह् करे सोइ पावे ।।
> ये मियां एक अनीती भावे, जीव जिबह् करे सोइ खावे ।।
> तुलसी तन बूझ न लावे, ये बेइनसाफ कहावे ।।[१]

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सन्त तुलसी का अभ्युदय अंग्रेजी शासन के प्रतिष्ठित होने के समय हुआ। हमारा अभिप्राय यह है कि शासन की प्रतिष्ठा के साथ ही न्याय प्रतिष्ठित होता है और तभी उसके भले-बुरे पक्ष को परखने का अवसर प्राप्त होता है। हाथरस और उसके निकटवर्ती पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर सन् १८०३ में ही लार्ड वेल्जली के समय अंग्रेजो का अधिकार हो गया था।[२] सन् १८०३ में ही अंग्रेजों ने अलीगढ़ को मराठों से जीत लिया था।[३] सन् १८१६ में हाथरस को अंग्रेजों ने हस्तगत कर लिया।[४] इसी समय सन् १८३५ में हाथरस में अंग्रेजी न्यायालय प्रतिष्ठित हुए।[५] इस आधार पर यह अनुमान करना असंगत न होगा कि सन् १८३५ के आस-पास तुलसी साहब अवश्य वर्तमान थे और उन्होंने अंग्रेजी न्यायपद्धति

१—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३०।

२—Ishwari Prasad and Subedar : A History of Modern India, page 119.

३—Aligarh Gazetteer, Page 97.

४—Aligarh Gazetteer, Page 97.

५—Aligarh Gazetteer, Page 121.

को न्याय प्रिय पाया था। इस सम्बन्ध में यह अनुमान भी किया जा सकता है कि सन् १८३५ के निकट उनकी अवस्था इतनी प्रौढ़ और परिपक्व रही होगी कि विदेशी न्याय प्रणाली के गुण-दोष परख सकें।

इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष निम्नलिखित हैं :—

(क) सन्त तुलसी का आविर्भाव सन्त कवि दरिया (विहार) के उपरान्त अर्थात् सन् १६८० के पश्चात् हुआ।

(ख) सन्त तुलसी पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अंग्रेजी न्यायालयों के प्रतिष्ठित होने के समय सन् १८३३ के निकट अवश्य वर्तमान थे।

सन् १७८० एवं सन् १८३३ के समय भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन प्रारम्भ और प्रतिष्ठत हुआ था। अतएव अन्तःसाक्ष्य पर आधारित इस शोध के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनका आविर्भाव ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय हुआ था। तुलसी साहब की जन्म एवं मृत्यु तिथि का निश्चय करते समय हम देखेंगे कि अन्य साक्ष्य भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि सन्त तुलसी ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में विद्यमान थे।

२—तुलसी साहब की मृत्यु तिथि

(अ) सन्त तुलसी की मृत्यु-तिथि निश्चत करने के उपरान्त ही इनकी जन्म तिथि का निर्णय करना उचित होगा। इसके दो कारण हैं :—

(क) तुलसी साहब की मृत्यु तिथि का उल्लेख प्रायः सब जीवनीकारों ने किया है। साम्प्रदायिक-असाम्प्रदायिक ग्रन्थों में समान रूप से उनकी देहावसान की तिथि का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में विवेचन करते समय हम लक्ष्य करेंगे कि उनकी मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में विशेष मतभेद नहीं है।

(ख) सन्तों की मृत्यु तिथि को उनके अनुयायी धार्मिक महत्व की दृष्टि से देखते हैं। अतएव उनके साम्प्रदाय में इस सम्बन्ध में प्रचलित मत में अधिक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन की सम्भावना कम है।

तुलसी साहब के समय पर विचार करने के प्रारम्भ में हमने उनकी जन्म एवं मृत्यु-तिथियों की दो परम्पराओं का उल्लेख किया है। उनके आधार पर यहाँ संक्षेप में संत तुलसी की देहावसान तिथियां प्रस्तुत हैं :—

(क) 'रत्नसागर' की भूमिका में प्राप्त मृत्यु तिथि, सम्वत् १९०५ के निकट तुलसी साहब के दिवंगत होने का परिचय देती है।[1]

(ख) 'घटरामायण' की भूमिका में प्राप्त मृत्यु तिथि, सम्वत् १९०० के निकट तुलसी साहब के दिवंगत होने का उल्लेख करती है।[2]

'घटरामायण' की भूमिका में उल्लिखित सम्वत् १९०० में तुलसी साहब की मृत्यु का समर्थन तुलसी मंदिर, हाथरस में स्थापित सन्त तुलसी की समाधि द्वारा होता है। इस समाधि पर निम्नलिखित पंक्ति उत्कीर्ण है —

"तुलसी साहब ने सम्वत् १९०० मिती जेठ सुदी व्रिसपत वार के दिन सम्माद ली जिसके ऊपर छत्री बनी है"

समाधि पर अंकित यह तिथि स्पष्ट रूप से "घटरामायण" की भूमिका में दी मृत्यु तिथि सम्वत् १९०० का समर्थन करती है। तुलसी साहब के अनुयायियों में यही तिथि मान्य है। हाथरस में स्थापित तुलसी मन्दिर के आचार्य महन्त प्रकाशदास भी संत तुलसी की मृत्यु तिथि सम्वत १९०० मानते हैं। किन्तु हमको यह तिथि मान्य नहीं है। इसके दो कारण हैं —

(क) 'घटरामायण' की भूमिका में प्राप्त जीवन चरित्र की अप्रमाणिकता हम प्रारम्भ में ही उक्त जीवनी की परीक्षा के समय सिद्ध कर चुके हैं। अतएव उसमें उल्लिखित तुलसी साहब के देहावसान की सम्वत् १९०० तिथि हमको मान्य नहीं हो सकती।

(ख) समाधि पर उत्कीर्ण तिथि 'घटरामायण' की भूमिका में प्राप्त तिथि का समर्थन अवश्य करती है। पर कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे यह निश्चित ज्ञात होता है कि सम्वत् १९०० के पश्चात भी सन्त तुलसी जीवित थे। इन प्रमाणों के रहते हुये, सम्वत् १९०० की मृत्यु-तिथि ग्राह्य नहीं हो सकती।

(आ) उपर्युक्त उल्लिखित प्रमाणों का परिचय

तुलसी साहब के एक प्रसिद्ध शिष्य मुन्शी देवीसाहब हुए हैं। इनका जीवन चरित्र 'परम सन्त बाबा देवी साहिब का जीवन चरित्र' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में कतिपय ऐसे प्रसंग हैं जिनपर सूक्ष्मता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब सम्वत् १९०० के पश्चात भी वर्तमान थे। निम्नलिखित विवेचन पर ध्यान देने से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा —

१—रत्नसागर भूमिका, पृ० १।
२—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।
३—तुलसी संध्या वन्दन: भूमिका, पृ० ३।

(क) 'देवी साहिब के जीवन चरित्र' में कहा गया है कि संत तुलसी के आर्शीवाद से सन् १८४१ में देवी साहब का जन्म हुआ था।[1] इस ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि चार वर्ष की अवस्था में देवी साहब माता-पिता के साथ तुलसी साहब के दर्शन करके गए थे एवं संत तुलसी स्वयं उनके दीक्षागुरु बने।[2] इस प्रकार सन् १८४१ या देवी साहिब की जन्म तिथि में उनकी आयु के चार वर्ष जोड़ देने से तुलसी साहब के उनका दीक्षगुरू बनने की तिथि सन् १८४५ निश्चित होती है। इस आधार से सन् १८४५ या सम्वत् १९०२ तक संत तुलसी के जीवित रहने का निश्चित प्रमाण प्राप्त होता है।

(ख) 'देवी साहिब के जीवन चरित्र' से ही ज्ञात होता है कि चौदह वर्ष की अवस्था के उपरान्त जब देवीसाहिब आगरा में राधास्वामी मत के राय शालिग्राम से मिले, उस अवसर पर संत तुलसी का उल्लेख मृत व्यक्ति के रूप में किया गया था। कुछ ही पूर्व हमने इसी प्रसंग में उल्लेख किया है कि देवी साहिब का जन्म सन् १८४१ में हुआ था। इस तिथि में उनकी आयु के चौदह वर्ष का योग करने से सन्१८५५ प्राप्त होता है, जब देवीसाहिब राधास्वामी सत्संग के राय शालिग्राम से मिले थे और तुलसी साहब का उल्लेख मृत व्यक्ति के रूप में किया गया था। इससे यह प्रकट होता है कि सन् १८५'५ या सम्वत् १९१२ तक संत तुलसी दिवंगत हो गये थे। इसी प्रसंग में हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं कि सम्वत् १९०२ तक तुलसी साहब के जीवित रहने का पक्का प्रमाण प्राप्त होता है। अतएव उनकी मृत्यु तिथि सम्वत् १९०२ एवं १९१२ के मध्य होनी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'घटरामायण' की भूमिका में एवं तुलसी साहब की समाधि पर उत्कीर्ण सम्वत् १९०० की मृत्यु तिथि स्वीकार नहीं की जा सकती। उपर्युक्त प्रमाणों के द्वारा उनका सम्वत् १९०२ तक शरीर धारण करना सिद्ध होता है।

(इ) निष्कर्ष

इस विवेचन में हमारी यह स्थापना है कि तुलसी शाहब की मृत्यु तिथि सम्वत् १९०२ के पश्चात् एवं सम्वत् १९१२ के पूर्व होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में 'रत्नसागर' की भूमिका का यह उल्लेख यथेष्ट सांकेतिक है कि

१—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १,२ एवं ३।
२—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० ३ एवं ४।
३—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १०—१२।

तुलसी साहब के दिवंगत होने की तिथि सम्वत् १९०५ के आस पास है।[१] 'रत्नसागर' की भूमिका में प्राप्त जीवन चरित्र की परीक्षा करते समय यह स्पष्ट हो गया था कि तुलसी साहब के अन्य जीवन चरित्रों की अपेक्षा यह जीवनी सत्य के अधिक निकट है। इसमें वर्णित सम्वत् १९०५ की मृत्यु तिथि सम्वत् १९०२ के पश्चात और १९१२ के पूर्व पड़ती भी है। इस आधार पर इस तिथि को मान्यता प्रदान करने में कोई बाधा नहीं दृष्टिगत होती। अतएव तुलसी साहब की मृत्यु तिथि सम्वत् १९०५ के निकट मानना ही युक्तियुक्त ज्ञात होता है।

(अ) तुलसी साहब की आयु के सम्बन्ध में भी दो मत प्रचलित हैं—

(क) 'रत्नसागर' की भूमिका के अनुसार इनकी आयु साठ वर्ष की थी।[२]

(ख) 'घटरामायण' की भूमिका के अनुसार तुलसी साहब की आयु अस्सी वर्ष की थी।[३]

निर्गुण काव्य के विद्वानों ने प्रायः 'घटरामायण' में प्रतिपादित अस्सी वर्ष के आयु काल को कुछ हेर फेर के साथ मान्यता प्रदान की है। पंडित परशुराम जी चतुर्वेदी[४] एवं आचार्य क्षितिमोहन सेन[५] ने 'घटरामायण' की भूमिका में प्रस्तावित अस्सी वर्ष की आयु का ही समर्थन किया है। पर 'घटरामायण' की भूमिका में वर्णित जीवन-चरित्र की परीक्षा करते समय उनकी अप्रामाणिकता हम सिद्ध कर चुके हैं। अतएव उसमें प्रतिपादित उनका आयु-काल स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(आ) आयु सम्बन्धी अन्य साक्ष्य—

(क) हमने संत तुलसी की मृत्यु-तिथि सम्बत् १९०५ के निकट प्रतिपादित की है। इस तिथि के लगभग सात वर्ष पूर्व का एक वृत्तान्त "देवी साहब के जीवन चरित्र" में प्राप्त होता है जिसके अनुसार सम्बत् १८९८ के निकट तुलसी साहब परिभ्रमण के निमित चार वर्ष तक हाथरस के बाहर रहे थे।[६] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय उनकी आयु बहुत अधिक न रही होगी। कितने भी पहुंचे हुये सिद्ध, संत अथवा महात्मा क्यों न हों

१—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
३—घटरामायण, भूमिका, पृ० २।
४—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६५०।
५—मेडिवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६०—१६१।
६—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० २—३।

आयु का प्रभाव उन पर भी पड़ता है। अधिक आयु में वे इधर-उधर भ्रमण न करके अपने केन्द्र पर ही सत्संग करते हैं। स्वयं देवी साहब इसके उदाहरण हैं। उन्होंने भारत के सीमावर्ती प्रदेशों तक भ्रमण किया था किन्तु आयु अधिक होने पर अपने केन्द्र पर ही सत्संग करने लगे थे।[1] यदि तुलसी साहब की आयु अस्सी वर्ष मानी जाय, तो भ्रमण के समय उनकी अवस्था ७३-७६ वर्ष के बीच पड़ती है। इतनी अधिक अवस्था में चार-चार वर्षों तक निरन्तर परिभ्रमण बहुत संभव नहीं ज्ञात होता। भ्रमण के समय निश्चय ही उनकी आयु ऐसी रही होगी, जिसमें दीर्घकालीन भ्रमण के कष्टों को सहने की सामर्थ्य हो।

(ख) तुलसी साहब के कई चित्र तुलसी मन्दिर, हाथरस में सुरक्षित हैं। लेखक ने इन चित्रों का अध्ययन किया है। इन चित्रों से उनकी आयु अधिक प्रकट नहीं होती है। तुलसी मन्दिर, हाथरस में साठ वर्ष से अधिक आयु व्यक्त करनेवाला एक भी चित्र नहीं है। इस तथ्य से यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इनकी आयु अधिक न थी। इस सम्बन्ध में यह स्मरण कराना युक्तियुक्त होगा कि संत महात्माओं के अधिकतर वे चित्र ही लोक में प्रचलित होते हैं, जिससे उनकी सिद्धावस्था या जीवन के अन्तिम समय का सम्बन्ध रहता है।

उपर्युक्त साक्ष्य के आधार पर यह निश्चित होता है कि तुलसी साहब की आयु अधिक नहीं थी। इस साक्ष्यों के सम्मुख उनकी अस्सी वर्ष की आयु का अनुमान निराधार ज्ञात होता है। इन कारणों से इस प्रबन्ध का लेखक "रत्नसागर" की भूमिका में मुद्रित उनकी साठ वर्ष की आयु का अनुमोदन करता है।

(ई) निष्कर्ष

'रत्नसागर' की भूमिका में तुलसी साहब की आयु साठ वर्ष मानी गई है।[2] 'रत्नसागर' की भूमिका में मुद्रित तुलसी साहब की देहावसान तिथि सम्वत् १९०५ को अनेक प्रमाणों के आधार पर हमने मान्यता प्रदान की है। तुलसी साहब की मृत्यु तिथि पर विचार करते समय इसकी आलोचना की गई है। अतएव इनकी मृत्यु तिथि सम्वत् १९०५ से इनके साठ वर्ष के आयु काल को घटा देने पर इनकी जन्म तिथि सम्वत् १८४५ प्रप्त होती है। "रत्नसागर" की भूकिका में भी इनका जन्मकाल सम्वत् १८४५ के निकट निर्धारित किया

१—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० ९६।

२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १.।

गया है।[२] डा० रामकुमार वर्मा ने भी संत तुलसी का जन्म सम्वत् १८४५ में माना है।[३]

इस प्रकार संत तुलसी का जन्म सम्वत् १८४५ के निकट और मृत्यु सम्वत् १९०५ के निकट निर्धारित होती है। इस तिथि-निर्णय से अन्तःसाक्ष्य के वे निष्कर्ष भी पुष्ट हो जाते हैं जिनके अनुसार संत तुलसी का अभ्युदय सन् १७८० अथवा सम्वत् १८३७ के उपरान्त प्रमाणित होता है और सन् १८३३ के निकट ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय उनका वर्तमान रहना सिद्ध होता है।

जन्म स्थान

संत तुलसी के जन्म स्थान के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक बात कहना संभव नहीं है। इनके अनुयायियों एवं हाथरस के महन्त का इस सम्बन्ध में ज्ञान शून्यवत् है। डा० राकुमार वर्मा ने अपने इतिहास में तुलसी साहब के सम्बन्ध में लिखा है—'इन्होंने अपना समस्त जीवन हाथरस में ही व्यतीत किया।' इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि डा० वर्मा इनका जन्म स्थान हाथरस मानते हैं। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं है। पर इनके ग्रन्थों के अध्ययन से मेरा अनुमान है कि इनका जन्म स्थान संभवतः पश्चिमी उत्तर प्रदेश या पूर्वी राजस्थान का कोई स्थान रहा होगा। इनकी रचनाओं में उक्त प्रदेशों की सामाजिक स्थिति एवं रीति नीति का सूक्ष्म वर्णन प्राप्त होता है। इसके आधार पर यह अनुमान निराधार नहीं ज्ञात होता किन्तु इसमें निश्चयात्मकता भी नहीं है। अतएव इनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में निश्चित निर्देश संभव नहीं है।

माता पिता

बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'घटरामायण' की भूमिका में मुद्रित जीवन चरित्र के अनुसार पूना के राजा इनके पिता थे।[४] ऐतिहासिक दृष्टि से इस तथ्य का समर्थन करने पर इनके पिता का नाम रघुनाथराव पेशवा और माता का नाम आनन्दी बाई होना चहिये।[५] पर उक्त जीवनी पर विचार करते समय हम यह प्रमाणित कर चुके हैं कि तुलसी साहब रघुनाथराव के ज्येष्ठ पुत्र नही थे अतएव रघुनाथराव एवं आनन्दी बाई इनके माता-पिता नहीं थे। अन्तःसाक्ष्य के द्वारा भी इनके मात-पिता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं

१—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० २९०।
४ - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिसास, पृ० २९०
४—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
५—सरदेसाई के पत्र के आधार पर।

होता। संत काव्य पर विचार करने वाले किसी विद्वान ने भी इस विषय पर कुछ प्रकाश नही डाला है। हाथरस के महंत प्रकाशदास भी इस सम्बन्ध में मौन रहे। वस्तुतः संत तुलसी के मात-पिता के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा का उत्तर उपलब्ध साहित्य में कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

नाम

'घटारामायण' की भूमिका में संत तुलसी का वास्तविक नाम श्यामराव बताया गया है।[1] उक्त ग्रन्थ में मुद्रित चरित्र की परीक्षा करते समय हमने इसे निराधार प्रमाणित किया है। 'रत्नासागर' की भूमिका में मुद्रित जीवन चरित्र में इनका वास्तविक नाम उल्लिखित नहीं है।[2] अन्तः साक्ष्य भी इनके वास्तविक नाम की चर्चा नहीं करता। निर्गुण काव्य की समीक्षा करने वाले किसी विद्वान ने इनके नाम के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। हाथरस के महंत प्रकाशदास और उनके अनुयायियों ने इस सम्बन्ध में मेरी जिज्ञासा का कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दिया। महंत प्रकाशदास ने 'तुलसी संध्या वन्दन' -ग्रंथ की भूमिका में इनका नाम श्यामराव बताया है।[3] यह उनका परिनिष्ठित ज्ञान नहीं है अपितु पेशवा परिवार से संत तुलसी के सम्बन्वित प्रवाद की पुनरावृत्ति मात्र है।[4] यथार्थ यह है कि तुलसी साहब का वास्तविक नाम पुरातन के अन्धकारमय गर्त में समा गया है और कई वर्षों के अनवरत प्रयत्न द्वारा भी प्रकाश में नहीं आ सका है।

इनका वास्तविक नाम जो भी रहा हो, किन्तु विरक्त होने के उपरान्त तुलसी साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए।[5] इनकी रचनाओं में इनके नाम के कई रूप 'तुलसि', 'तुलसी, 'और तुलसी दास' प्राप्त हैं, जिनका रूप-परिवर्तन तुक की आवश्यकता के अनुसार हुआ करता है। यह अनुमान करना असंगत न होगा कि उनका यह नाम दीक्षा के समय गुरु ने रखा होगा। संतों और भक्तों में यह प्रथा सी है कि सांसारिक जब ज्ञान लाभ के लिए गुरु धारण करता है, तब उसे नया नाम दिया जाता है।

जाति

"घटरामायण" की भूमिका में तुलसी साहब को दक्षिणी ब्राह्मण

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १–२।

३—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १

४—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १।

५—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १।

निर्दिष्ट किया गया है।[1] इसका आधार इनका पेशवा परिवार से सम्बन्ध रखना है। पर पेशवा परिवार से सम्बन्ध रखने वाले जीवन चरित्र को हम अप्रामाणिक सिद्ध कर चुके हैं। अतएव उक्त जीवनी के आधार पर संत तुलसी के दक्षिणी ब्राह्मण होने को मान्यता नहीं दी जा सकती। 'रत्नसागर' की भूमिका में तुलसी साहब को ब्राह्मण कहा गया है।[2] अन्तः साक्ष्य के द्वारा इस मत का समर्थन हो जाता है। 'घटरामायण' में इनके ब्राह्मण होने का स्पष्ट उल्लेख है —

तुलसी बाम्हन साध, गंगा जी पर रहतु है।
निंदत सिम्रित वेद, यह अभेद गति कहतु है॥[3]

आचार्य क्षितिमोहन सेन महोदय[4] एवं डा० रामकुमार वर्मा[5] ने भी संत तुलसी को ब्राह्मण माना है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इनकी जाति के सम्बन्ध में जितने उल्लेख प्राप्त होते हैं, सब में तुलसी साहब को ब्राह्मण बताया गया है। अन्तःसाक्ष्य के द्वारा भी ये ब्राह्मण ही प्रमाणित होते हैं। अतएव इनकी जाति ब्राह्मण थी।

बाल्यावस्था

तुलसी साहब की बाल्यावस्था के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत कम है। 'रत्नसागर' की भूमिका में बाल्यकाल से ही इनके भक्त होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[6] अन्तःसाक्ष्य से इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। डा० राम कुमार वर्मा ने अपने इतिहास में यह उल्लेख अवश्य किया है कि बाल्य काल से ही संत तुलसी भक्ति भाव में लीन रहते थे।[7] इन सामान्य उल्लेखों के अतिरिक्त संत तुलसी के बाल्यकाल के सम्बन्ध में अन्य सामग्री उपलब्ध नहीं है। अतएव इनके बाल्यकाल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना संभव नहीं है।

शिक्षा दीक्षा

संत तुलसी को जीवन के किस काल में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई, इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं होता। उनके प्रकाशित एवं

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
२— रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ७४।
४—मेडिवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६०।
५—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
६—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १
७—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०

विज्ञापित जीवन चरित्र में इस विषय की कोई चर्चा नहीं है। अन्तःसाक्ष्य से भी इससे सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री प्राप्त नहीं होती है। निर्गुण काव्य पर अनुसंधान करने वाले किसी विद्वान ने इस विषय की चर्चा नहीं की है। संत तुलसी के अनुयायियों एवं हाथरस के महंत प्रकाशदास का इस सम्बन्ध में ज्ञान शून्य है। अतएव उनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निष्कर्ष देना युक्तियुक्त न होगा।

गुरु

'घटरामायण' एवं 'रत्नसागर' की भूमिका में मुद्रित जीवन चरित्र में तुलसी साहब के गुरु का कोइ उल्लेख नहीं है। संत काव्य के अध्येता विद्वानों ने भी तुलसी साहब के गुरु के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। तुलसी साहब के अनुयायियों के मत से संत तुलसी सर्व समर्थ थे, अतएव उनके लिए गुरु धारण करने की आवश्कता न थी। उनका यह मन्तव्य है कि तुलसी साहब ने किसी व्यक्ति को अपना गुरु नहीं बनाया था।[1] तुलसी मन्दिर, हाथरस के महंत प्रकाशदास भी इसी विचार के समर्थक हैं कि तुलसी साहब ने गुरु नहीं ग्रहण किया था। इस प्रसंग में उन्होंने 'घटरामायण' की निम्नांकित पंक्ति उद्धृत की—

एक विधि चिति रहौं सम्हारे। मिलै कोइ संत फिरौं तेहि लारे ॥[2]

'घट रामायण' के इसी स्थल पर स्पष्ट शब्दों द्वारा तुलसी साहब के मुख से यह कहलाया गया है कि उन्हें देहधारी गुरु से कुछ प्राप्त नहीं हुआ, उनका पथ-प्रदर्शन तो 'कंज गुरु' ने किया था—

कंज गुरु ने राह बताई। देह गुरु से कुछ नहिं पाई ॥[3]

इस आधार पर इनके अनुयायियों का कथन है कि संत तुलसी ने 'कंज गुरु' अथवा कमल में स्थित ब्रह्म को गुरुवत माना था, लोक में रहनेवाले किसी व्यक्ति को अपना गुरु नहीं बनाया था। किन्तु यह मत निराधार है। निम्नलिखित कारणों से यह स्पष्ट हो जायगा :—

(क) उपर्युक्त पंक्तियाँ 'घटरामायण' के अन्त में दिए "तुलसी साहब के पूर्व जन्म का हाल" प्रकरण की हैं, जिसे परिशिष्ट में हम पूर्णतया कल्पित एवं प्रक्षिप्त प्रमाणित कर चुके हैं। अतएव इन पंक्तियों का महत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता और न इनके आधार पर प्राप्त निष्कर्षों को को मान्यता दी जा सकती है।

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।

२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८६।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८७

(ख) तुलसी साहब की यह अस्वीकारोक्ति कि उन्हें देह धारी गुरु से ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, उनकी अन्य किसी रचना में तो है ही नहीं, 'घट-रामायण' के अन्य स्थलों में भी कहीं नहीं है।

(ग) 'घटरामायण' में ऐसी पंक्तियां अवश्य प्राप्त होती हैं जहाँ इन्होंने देहधारी गुरु का प्रत्याख्यान किया है।[1] और 'गगन गुरु' या 'धुर गुरु' की साधना पर बल दिया है।[2] पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनका कोई गुरु था ही नहीं। वस्तुतः तुलसी साहब ने जहाँ लोक गुरु का खंडन और अलोक गुरु का मंडन किया है वहाँ उनका अभिप्राय: 'गुरुवाद' के दूषित प्रभाव से समाज की रक्षा करना एवं अन्त:साधना पर जोर देना है।

(घ) कबीर, दादू आदि लोकविख्यात साधकों को भी मर्यादा पालन के लिए गुरु धारण करना पड़ा था, जब कि अन्य मध्ययुगीन साधकों की अपेक्षा गुरु की आवश्यकता इनको कम थी। इस दृष्टि से विचार करने पर भी यह मत खंडित हो जाता है कि संत तुलसी का कोई गुरु नहीं था। वस्तुतः तुलसी साहब के अनुयायियों ने अन्य संतों की अपेक्षा इनका अधिक उत्कर्ष दिखाने के उद्देश्य से यह प्रवाद प्रचलित किया कि इनका कोई देहधारी गुरू न था।

निम्नलिखित अन्तः साक्ष्य के द्वारा यह प्रमाणित हो जायगा कि तुलसी साहब गुरु धारण करने में विश्वास करते थे और उनका कोई देहधारी गुरु अवश्य था।

तुलसी साहब ने साधक के लिए गुरु की आवश्यकता एवं उसका महत्व स्वीकार किया है—

(क) गुरु मिल मैल कूं. काढ़े। ज्ञान की उग्रता बाढ़े ।।[3]

(ख) सतगुरु से गुर मूर चीन्ह।[4]

१—जग के गुरु भेद नहिं जानैं। ज्यों बनिया कर हाट दुकानै।
जगत गुरु विस्वास न माना। उनहूं सतगुरू राह न जाना ।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १२१।

२—सत्त सोई गुरु गगन प्रकासा। जा से मिटै काल की त्रासा ।।
गगन चढ़ै गुरु परसै आई। चेला से पुनि गुरु कहाई ।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८३।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६०।

४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ८२।

विज्ञापित जीवन चरित्र में इस विषय की कोई चर्चा नहीं है। अन्तःसाक्ष्य से भी इससे सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री प्राप्त नहीं होती है। निर्गुण काव्य पर अनुसंधान करने वाले किसी विद्वान ने इस विषय की चर्चा नहीं की है। संत तुलसी के अनुयायियों एवं हाथरस के महंत प्रकाशदास का इस सम्बन्ध में ज्ञान शून्य है। अतएव उनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निष्कर्ष देना युक्तियुक्त न होगा।

गुरु

'घटरामायण' एवं 'रत्नसागर' की भूमिका में मुद्रित जीवन चरित्र में तुलसी साहब के गुरु का कोई उल्लेख नहीं है। संत काव्य के अध्येता विद्वानों ने भी तुलसी साहब के गुरु के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। तुलसी साहब के अनुयायियों के मत से संत तुलसी सर्व समर्थ थे, अतएव उनके लिए गुरु धारण करने की आवश्कता न थी। उनका यह मन्तव्य है कि तुलसी साहब ने किसी व्यक्ति को अपना गुरु नहीं बनाया था।[1] तुलसी मन्दिर, हाथरस के महंत प्रकाशदास भी इसी विचार के समर्थक हैं कि तुलसी साहब ने गुरु नहीं ग्रहण किया था। इस प्रसंग में उन्होंने 'घटरामायण' की निम्नांकित पंक्ति उद्धृत की—

एक विधि चिति रहौं सम्हारे। मिलै कोइ संत फिरौं तेहि लारे॥[2]

'घट रामायण' के इसी स्थल पर स्पष्ट शब्दों द्वारा तुलसी साहब के मुख से यह कहलाया गया है कि उन्हें देहधारी गुरु से कुछ प्राप्त नहीं हुआ, उनका पथ-प्रदर्शन तो 'कंज गुरु' ने किया था—

कंज गुरु ने राह बताई। देह गुरु से कुछ नहिं पाई॥[3]

इस आधार पर इनके अनुयायियों का कथन है कि संत तुलसी ने 'कंज गुरु' अथवा कमल में स्थित ब्रह्म को गुरुवत माना था, लोक में रहनेवाले किसी व्यक्ति को अपना गुरु नहीं बनाया था। किन्तु यह मत निराधार है। निम्नलिखित कारणों से यह स्पष्ट हो जायगा :—

(क) उपर्युक्त पंक्तियाँ 'घटरामायण' के अन्त में दिए "तुलसी साहब के पूर्व जन्म का हाल" प्रकरण की हैं, जिसे परिशिष्ट में हम पूर्णतया कल्पित एवं प्रक्षिप्त प्रमाणित कर चुके हैं। अतएव इन पंक्तियों का महत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता और न इनके आधार पर प्राप्त निष्कर्षों को को मान्यता दी जा सकती है।

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८६।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८७

(ख) तुलसी साहब की यह अस्वीकारोक्ति कि उन्हें देह धारी गुरु से ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, उनकी अन्य किसी रचना में तो है ही नहीं, 'घट-रामायण' के अन्य स्थलों में भी कहीं नहीं है।

(ग) 'घटरामायण' में ऐसी पंक्तियां अवश्य प्राप्त होती हैं जहाँ इन्होंने देहधारी गुरु का प्रत्याख्यान किया है।[1] और 'गगन गुरु' या 'घुर गुरु' की साधना पर बल दिया है।[2] पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनका कोई गुरु था ही नहीं। वस्तुतः तुलसी साहब ने जहाँ लोक गुरु का खंडन और अलोक गुरु का मंडन किया है वहाँ उनका अभिप्राय: 'गुरुवाद' के दूषित प्रभाव से समाज की रक्षा करना एवं अन्तःसाधना पर जोर देना है।

(घ) कबीर, दादू आदि लोकविख्यात साधकों को भी मर्यादा पालन के लिए गुरु धारण करना पड़ा था, जब कि अन्य मध्ययुगीन साधकों की अपेक्षा गुरु की आवश्यकता इनको कम थी। इस दृष्टि से विचार करने पर भी यह मत खंडित हो जाता है कि संत तुलसी का कोई गुरु नहीं था। वस्तुतः तुलसी साहब के अनुयायियों ने अन्य संतों की अपेक्षा इनका अधिक उत्कर्ष दिखाने के उद्देश्य से यह प्रवाद प्रचलित किया कि इनका कोई देहधारी गुरु न था।

निम्नलिखित अन्तः साक्ष्य के द्वारा यह प्रमाणित हो जायगा कि तुलसी साहब गुरु धारण करने में विश्वास करते थे और उनका कोई देहधारी गुरु अवश्य था।

तुलसी साहब ने साधक के लिए गुरु की आवश्यकता एवं उसका महत्व स्वीकार किया है—

(क) गुरु मिल मैल कूं काढ़े। ज्ञान की उग्रता बाढ़े ॥[3]

(ख) सतगुरु से गुर मूर चीन्ह।[4]

१—जग के गुरु भेद नहिं जानें। ज्यों बनिया कर हाट दुकानें।
जगत गुरु विस्वास न माना। उनहूं सतगुरू राह न जाना ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १२१।

२—सत्त सोई गुरु गगन प्रकासा। जा से मिटै काल की त्रासा ॥
गगन चढ़े गुरु परसै आई। चेला से पुनि गुरु कहाई ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८३।

(ग) सतगुरु से लख पावैं आदि ।[1]

(घ) अगर यह समझ को पावै । बिना गुरु ज्ञान नहिं आवै ॥[2]

इन पंक्तियों में अज्ञान के नाश, आदि अनादि ब्रह्म के अनुभव एवं ज्ञान प्राप्ति के निमित्त जिस प्रकार उन्होंने दूसरों को गुरु की आवश्यकता अवगत कराई थी, उसी प्रकार अनुमान किया जा सकता है कि अपने जीवन में भी उन्होंने स्वयं अनुभव की होगी ।

संत तुलसी ने अपने गुरु द्वारा परमात्मा—साक्षात्कार का उल्लेख किया है—

(क) वार वार विनती करूं सत गुर चरन निवास ।
सतगुर चरन निवास वास मोहिं दीन्ह लखाई ॥[3]

(ख) वार वार सरनाय चरन धर धारूं धूरी ।
सतगुर की वलिहारी दीन सत गत मत पूरी ।[4]
आदि अन्त गत मूल फूल पत कंवल लखाई ॥

(ग) गुर ज्ञान में कही । घट बोल ब्रह्म यही ॥[5]

(घ) मैं लोहा जड़ कीट समाना । गुरु पारस संग कनक कहाना ॥
तुलसी सतगुर पारस कीन्हा । लोहा सुगम अगम लखि लीन्हा ॥[6]

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब को ब्रह्म-साक्षात्कार का सुयोग गुरु की कृपा से ही प्राप्त हुआ था । वस्तुतः उन्होने अध्यात्म के प्रसंगों का वर्णन गुरु ज्ञान से ही किया था[7] और संसार की विषमताओं से त्रस्त होने पर गुरु के निकट ही उन्हें आश्रय मिला था ।[8] इस अन्तःसाक्ष्य से यह प्रमाणित हो जाता है कि तुलसी साहब 'निगुरा' नहीं थे ।

'घटरामायण' के एक स्थल पर तुलसी साहब को 'गुरुज्ञानी' कह

१—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० ८३ ।

२—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० ७४ ।

३—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० ५० ।

४—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० ४० ।

५—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० ७९ ।

६—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १९१ ।

७—तुलसी मैं अति नीच निकामा । मैं गुरु विन कछु नाहिं वखाना ।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १३३ ।

८—खोटी कुभंड़ी चाल जग से, भाग कर गुरु को गहूं ॥
—रत्नसागर, पृ० ३९ ।

कर सम्बोधित किया गया है।[1] इससे भी उनके गुरु धारण करने का समर्थन होता है। वस्तुतः सन्त साधकों में 'निगुरा' रहने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इनके धर्म सम्प्रदायों में 'निगुरे' के हाथ का भोजन निषिद्ध है।

'घटरामायण' के एक प्रसंग में स्पष्ट रूप से इनके गुरुमत को छिपाने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ में कबीर पंथी महन्त फूलदास एवं तुलसी साहब के सत्संग का वर्णन है। फूलदास तुलसी साहब से उनके गुरु के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, तब तुलसी साहब उसके इस प्रश्न का उत्तर न देकर विषय परिवर्तन के लिए उससे भिन्न प्रकार के प्रश्न कर उठते हैं। यह यथेष्ट सांकेतिक है। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र एक दूसरे प्रश्नकर्ता को भी बहुत कुछ ऐसा ही उत्तर दिया गया है।[3] इससे अनुमान करना असंगत न होगा कि इन स्थलों पर इनके शिष्यों ने, इनका गुरुमत छिपाकर यह सिद्ध करने के लिए कि इन्होंने कोई गुरु धारण नहीं किया, काट-छांट की है। यह कार्य स्वयं तुलसी साहब का नहीं ज्ञात होता, क्योंकि उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्य से उनकी गुरुनिष्ठा सिद्ध हो चुकी है।

इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि तुलसी साहब के कोई गुरु अवश्य थे, पर उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान शून्यवत् है। उनके नाम और उनकी योग्यता इत्यादि के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। सन्त तुलसी के द्वारा गुरु शब्द के साथ "पद्म" शब्द का प्रायः प्रयोग देखकर[4] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने यह अनुमान किया है कि 'कदाचित कोई पद्मानन्द जैसे नामधारी व्यक्ति इनके गुरु रहे होंगे।[5] किन्तु इस अनुमान के लिए कोई पुष्ट आधार नहीं है, क्योंकि उक्त प्रसंग में पद्म शब्द स्पष्ट ही उस ब्रह्माण्ड स्थित कमल के लिए प्रयुक्त किया गया है जिसमें 'धुर गुर' या ब्रह्म की अवस्थिति मानी गई है।

गृहस्थ जीवन

'घटरामायण' की भूमिका में तुलसी साहब की पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई बताया गया है।[6] इनके सम्बन्ध में कहा गया है कि यह बड़ी पतिव्रता

१—हम संग जीति जाब गुरु ज्ञानी। तुम्हारा साध मता तब जानी॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, १७१।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६९।

३ घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६१।

४—प्रथम पदम प्रनाम धुर गुर, आदि की रचना कही —रत्नसागर, पृ० १।

५—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६४६।

६—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।

थीं और पति की सेवा में दत्तचित रहती थीं।[१] उनकी सेवा से प्रसन्न होकर तुलसी साहब ने उन्हें पुत्र का वरदान दिया था।[२] इस प्रकार 'घटरामायण' की भूमिका में तुलसी साहब को वैराग्य लेने के पूर्व पत्नी एवं पुत्रवान गृहस्थ अंकित किया गया है। किन्तु 'घटरामायण' की भूमिका में प्राप्त जीवनी की अप्रामाणिकता हम प्रारम्भ में ही सिद्ध कर चुके हैं। अतएव तुलसी साहब के गृहस्थ जीवन का यह वृत्तान्त हमको मान्य नहीं है। 'रत्नसागर' की भूमिका में इनके गृहस्थ जीवन की कोई चर्चा नहीं है।[३] निर्गुण काव्य पर विचार करने वाले विद्वानों ने इनके गृहस्थ होने का परिचय नहीं दिया है। आचार्य क्षितिमोहन सेन[४] एवं पंडित परशुराम चतुर्वेदी[५] ने 'घटरामायण' की भूमिका में मुद्रित तथ्यों की पुनरावृति की है। अन्तःसाक्ष्य से भी इनके गृहस्थ जीवन का परिचय प्राप्त करने में सहायता नहीं प्राप्त होती। अतएव इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

वैराग्य

इस सम्बन्ध में 'घटरामायण' की भूमिका में कहा गया है कि विवाह होने एवं पुत्र होने के उपरान्त तुलसी साहब ने गृह त्याग किया।[६] आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार राजनीतिक दायित्व ग्रहण करने के अवसर पर सन्त तुलसी ने ग्रह परित्याग किया।[७] किन्तु उक्त दोनों मत उनके पेशवा वंश के व्यक्ति होने की कल्पना पर आधारित हैं, अतएव अग्राह्य हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने बाल्यकाल से ही उनके भक्त होने की चर्चा करके वैराग्य को जन्मजात गुण माना है।[८] 'रत्नसागर' की भूमिका में विज्ञापित है कि 'बाल अवस्था में ही इनको ऐसा तीव्र वैराग्य और प्रचन्ड भक्ति प्राप्त हुई कि घर बार छोड़ कर भेष ले लिया।'[९] इस कथन से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं—

(क) तुलसी साहब ने बाल्यावस्था में वैराग्य लिया।

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका पृ० १।
२—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका पृ० १।
३—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १—२।
४—मेडिवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६०।
५—उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ६४४।
६—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० १।
७—मेडिवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६०।
८—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
९—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

(ख) वैराग्य एवं भक्ति स्वतः उत्पन्न सिद्धि थी, इसका कोई लौकिक कारण न था।

उपर्युक्त निष्कर्षों का अन्तःसाक्ष्य से प्राप्त सामग्री द्वारा परीक्षा करने पर निराकरण हो जाता है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

सन्त तुलसी ने अपनी रचनाओं के एक स्थल पर कहा है कि जगत में व्याप्त विषमता के कारण भाग कर मैं गुरु की शरण आया। कुटिल और कंटकयुक्त संसार देख कर मैं लोगों से अलग हो गया—

खोटी कुभंडी चाल जग से, भाग कर गुरु को गहूं।
अस कुटिल काँट करील जग लखि, लोक से भाग्यों महूं॥[1]

इस स्वीकृति के उपरान्त वैराग्य इनका जन्म जात गुण नहीं प्रमाणित होता अपितु यह परिस्थितयों से प्रेरित था। संसार की दुष्प्रवृत्तियों एवं कुटिलता से ऊब कर इन्होंने गुरु की शरण ग्रहण की थी। उपर्युक्त उद्धरण में "भाग्यों महूं" उस पलायन की स्वीकृति है जो संसार की वक्र गति के कारण तुलसी साहब का प्राप्तव्य हुआ।

इस उद्धरण से ही संत तुलसी के वैराग्य के समय की अवस्था का भी अनुमान किया जा सकता है। बाल्यावस्था में व्यक्ति को संसार की कंटकपूर्णता एवं कुटिलता का अनुभव प्रायः नहीं हुआ करता। संसार की वक्रगति का अनुभव प्राणी को जीवन में प्रवेश करने के उपरान्त होता है। उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार तुलसी साहब ने संसार की कुटिलता के अनुभव के उपरान्त उसके परित्याग का पथ ग्रहण किया था। इस प्रकार के अनुभव प्रायः बाल्यावस्था के उपरान्त युवावस्था में जीवन में प्रवेश करने के उपरान्त होते हैं। अतएव इस साक्ष्य के आधार पर अनुमान करना कि वैराग्य ग्रहण करने के समय संत तुलसी प्रौढ़ नहीं तो युवा अवश्य थे, एकदम निराधार नहीं है।

उपाधि

संत तुलसी को उनके अनुयायी "साहिब जी" कहते है। हाथरस के महंत प्रकाशदास भी तुलसी साहब के प्रति "साहिब जी" का प्रयोग करते देखे गए हैं। "साहब" शब्द आदर सूचक है और प्रायः कबीर, दरिया इत्यादि संत साधकों के प्रति आदर व्यक्त करके निमित्त 'कबीर साहब', 'दरिया साहब' आदि रूप में प्रयुक्त होता है। पर तुलसी साहब के सम्बन्ध में यह आदर प्रकट करने के अतिरिक्त रूढ़ अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, तुलसी साहब के अनुयायी और शिष्यों की दृष्टि में "साहिब जी" का अर्थ संत तुलसी है। इस उपाधि का

१—रत्नसागर, पृ० ३९।

प्रयाग वे अन्य किसी संत के लिए नहीं करते। इसी रूढ़गत उपाधि के आधार पर तुलसी साहब के पंथ का नाम 'साहिब पंथ' पड़ा है। अन्तःसाक्ष्य के निम्न अवतरणों में संत तुलसी को साहब कहकर सम्बोधित किया गया है :—

(क) अस्थावर नर देह अलेखा। भइ कस साहब कहो विसेखा ।।[1]

(ख) नर की नर घर देही पाई। सो साहब कहो बरनि सुनाई ।।[2]

(ग) अस अस बरनि कही सब बानी। सो साहब मोहिं कहो निसानी ।।[3]

(घ) यह तो समझि पड़ी सहदानी। साहब के कहने से जानी ।।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी साहब को 'साहिब जी' 'के अतिरिक्त' 'गोसाई' की उपाधि से भी विभूषित किया गया था। "घटरामायण" के कतिपय प्रसंगों में तुलसी साहब को "गुसांई" कहकर सम्बोधित किया गया है—

(क) सुनियो तुलसीदास गुसाई। कहि पुरान सोइ साखि सुनाई।[5]

(ख) फूल दास भोरहि चलि आई। पूछत कुटिया तुलसी गोसांई ।।[6]

इन पंक्तियों में अन्य व्यक्तियों के मुख से तुलसी साहब को 'गोसांई' कहा गया है। 'घटरामायण' में ही अन्यत्र तुलसी साहब ने स्वयं अपने लिए 'गोसांई' उपाधि का प्रयोग कई स्थानों पर किया है—

(क) सब जग लूटि लूटि कर खाई। अब नहिं छोड़ै तुलसी गुसांई ।।[7]

(ख) संत चरन परसादी पाई। ता से सब कहैं तुलसी गुंसाई ।।[8]

तुलसी साहब के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रक्षेप 'घटरामायण' में हुआ है। अतएव उपयुक्त उद्धरणों के आधार पर उनकी 'गुंसाई' उपाधि को सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता विशेष रूप से जब 'घटरामायण, ग्रन्थ में ही यह प्रक्षेप प्राप्त होता है कि पूर्व जन्म में तुलसी साहब 'गोसांई तुलसीदास' के अवतार थे।[9] किन्तु 'घटरामायण' के एक स्थल पर, जहाँ इन्होंने स्पष्ट रूप से सगुण रामायण और उसके कर्ता होने का प्रत्याख्यान किया है, संत तुलसी ने कहा है कि लोग मुझे गुसांई कहते हैं—

१—रत्नसागर, पृ० ५८।

२—रत्नसागर, पृ० ६५।

३—रत्नसागर, पृ० ६५।

४—रत्नसागर, पृ० १४४।

५—घटरामामण, प्रथम भाग, पृ० ९६।

६—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६९।

७—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १३९।

८—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८१।

९—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८५–१८८।

मैं तो गरीब कछू गुन नाहीं, मो को कहत गोसाँई ।
जो कुछ कीन्ह कीन्ह करुनामय, मैं उनकी सरनाई ।।
मैं अति हीन दीन दारुन गति, घटरामायन बनाई ।
राम रावन की जुद्धि लड़ाई, सो नहिं कीन्हबनाई ।।'[1]

इस उद्धरण की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। इस अन्त:साक्ष्य के आधार पर ही उनके पूर्वजन्म में गोस्वामी तुलसीदास एवं सगुण रामायण के कर्ता होने के प्रवाद का निराकरण किया गयो है। अतएव उनकी इस उपाधि की प्रमाणिकता संदिग्ध नहीं है।

इस प्रकार अन्त:साक्ष्य के आधार पर संत तुलसी की दो उपाधियाँ—'साहिब जी' एवं 'गोसाँई' प्रमाणित होती हैं।

स्वभाव

डा० बड़थ्वाल ने तुलसी साहब को स्वभाव से अक्खड़ बताया है।[2] 'घटरामायण' की भूमिका से उद्धृत निम्नलिखित कथा के आधार पर उन्होंने यह निर्णय दिया है—

'एक साहूकार ने आपका (तुलसी साहब) बड़ा सत्कार किया। भोग लगाते समय उसने यह वरदान माँगा कि मुझे दया से एक पुत्र बख्शा जाय। तुलसी साहब ने अपना सोंटा उठाया और यह कह कर चलते हुए कि लड़का अपने सगुन इष्ट से मांग, संतों की दया तो यह है कि अगर उनके दास के औलाद मौजूद भी हो तो उठा लें और अपने दास को निर्बन्ध कर दें।''[3]

यह कथा 'घटरामायण' की भूमिका के अन्तर्गत प्रकाशित तुलसी साहब के जीवन चरित्र से उद्धृत की गयी है। तुलसी साहब के इस जीवन चरित्र की अप्रामाणिकता हम प्रारम्भ में ही सिद्ध कर चुके हैं। अतएव विज्ञापित इस कथा को हम मान्यता नहीं दे सकते। इसकी अमान्यता तब और सिद्ध हो जाती है, जब की संत तुलसी के आर्शीवाद के फलस्वरूप देवी साहब के जन्म का प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध है।[4] इसके अतिरिक्त देवी साहब के जन्म पर इनका प्रसन्न होना एवं देवी साहब का दीक्षा गुरु बनना प्रसिद्ध है।[5] तुलसी साहब के वरदान से ही राधास्वामी सम्प्रदाय के आदि पुरुष स्वामी जी महाराज का जन्म

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ५।
२—हिन्दी काव्य में निर्गुण संम्प्रदाय, पृ० ८९।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।
४—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० २।
५—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० ४।

बताया जाता है।[1] इन साक्ष्यों के रहते हुए 'घटरामायण' की भूमिका में उल्लिखित साहूकार की उपर्युक्त कथा सर्वथा अमान्य है और उसके आधार पर संत तुलसी को अक्खड़ स्वभाव बताना युक्तियुक्त नहीं है।

इसके विपरीत संत तुलसी की क्षमाशीलता और नम्रता के प्रमाण प्राप्त हैं। राधास्वामी सम्प्रदाय के धर्मगुरु स्वामी जी महाराज के जीवन चरित्र में इनकी विशालहृदयता एवं क्षमाशीलता को सिद्ध करने वाला निम्नांकित प्रसंग उपलब्ध है—

'एक समय जब तुलसी साहब हाथरस के एक मार्ग से बाजार होकर जा रहे थे कि इनके मूर्तिपूजा खण्डन इत्यादि से चिढ़े हुए लोगों के बालकों ने इनके पीछे तालियाँ बजाना और इनपर कंकड़ पत्थर फेंकना प्रारम्भ कर दिया और एक आध कंकड़ इनके अति निकट भी आ गिरे। इनके शिष्य गिरधारीलाल को अत्यन्त क्रोध आ गया तथा उनकी आँखे लाल-लाल हो गयीं। परन्तु इन्होंने उन्हें क्रोध करने से मना किया और कहा कि दुनियांदारों के लिए यह स्वाभाविक है। तुम्हे ऐसा करना उचित नहीं। लोगों ने तो साधुओं की खाल तक खिचवा ली हैं।[2]

इस कथा से संत तुलसी की क्षमाशीलता का प्रमाण मिल जाता है।

'घटरामायण'ग्रन्थ में इनकी नम्रता के कई प्रसंग प्राप्त होते हैं। इसमें वर्णित है कि शास्त्रार्थ में पराजित प्रतिपक्षी जब इनके पैर छूता है, तब ये भी उसके पैर छूते हैं।[3] पराजित प्रतिपक्षी के चरण स्पर्श करना इनकी नम्रता एवं विशालहृदयता का परिचायक है। 'घटरामायण' के इस प्रसंग को प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनके अनुयायी और शिष्य इनके द्वारा पराजित व्यक्ति के चरण स्पर्श का उल्लेख कभी ग्राह्य न करते।

यह सत्य है कि तुलसी साहब के व्यक्तित्व में एक प्रकार की उग्र आलोचनात्मक प्रखरता है; किन्तु यह वहीं दृष्टिगत होती है, जहां संत तुलसी प्रबल युक्तियों द्वारा प्रतिपक्षी के प्रमाणों का खन्डन करते हैं। अन्यथा ये विशालहृदय

१—महंत प्रकाश दास के पत्र के आधार पर।

२—जीवन चरित्र स्वामी जी महाराज, पृ० ९७–९८।

३—फूलदास कहं स्वामी सूझा। हैं कबीर तुलसी नहिं दूजा।।
मैं महंत मन मान निकामा। मैं मति नीच न तुमको जाना।।
हाथ चरन पर तुरत चलावा। दीन होय सिर चरन गिरावा।।
तुलसी धाइ पांइ को लीन्हा। चरन सीस तेहि आपन दीन्हा।।
तुलसी कहे ऐसी नहिं कीजै। कृपा चरन अपना मोहि दीजै।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८१।

एवं क्षमाशील नम्र साधक के रूप में हृदय को प्रभावित करते हैं।

आदर्श

तुलसी साहब के जीवनादर्श को समझने के लिए वहिर्साक्ष से किसी प्रकार की सहायता नहीं प्राप्त होती। वेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित उनके ग्रन्थों की भूमिकाओं में मुद्रित जीवन-चरित्र इस सम्बन्ध में मौन हैं। हिन्दी में निर्गुण काव्य के समीक्षकों ने तुलसी साहब पर लिखते समय उनके जीवनादर्श पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। पर तुलसी साहब के ग्रन्थों में प्राप्त अन्तस्साक्ष्य इस अभाव की पूर्ति करता है। उपलब्ध अन्तस्साक्ष्य के आधार पर इनके आदर्श को भलीभांति समझा जा सकता है।

संत तुलसी की दृष्टि में साधु जीवन का आदर्श सरलता एवं त्याग है। वे साधु के लिए मुख से मांगने का निषेध करते हैं—'स्वाल करे नहिं मुख से मांगे।'[1] सहज भाव से प्राप्त होने वाले पदार्थ की ग्रहणीयता उन्हें मान्य है—

> सहज भाव से जो कुछ आवैं, क्या रूखी क्या साग।
> भोजन भाव सहज की भिच्छा, नहिं कोई से कुछ मांग॥[2]

तुलसी साहब निर्वाह के निमित्त उतना आवश्यक समझते हैं, जितना शरीर धारण करने के लिए आवश्यक है। अपनी आवश्यकता से अधिक संचय एवं संग्रह करना उनका अभीष्ट न था—

> (क) खाय पिये पल्ले नहिं बांधे। पैसा न पोट उठावे कांधे॥[3]
> (ख) खाय-पिये उतना रखे, बाकी रखे न पास।
> और आस व्यापे नहीं, सतगुरु का विस्वास।[4]

संत तुलसी ने साधु जीवन के आदर्श में दैन्य, दृढ़ता तथा मानापमान-भाव से वियुक्ति आवश्यक मानी है—

> हिरदे गरीवी दीनता, दृढ़ साध को निस्चै सही।
> खोटी खरी कोइ कहन कहे, जिनकी नहीं मन में लही॥[5]

साधु के लिए वे अपनी रहनी के प्रति प्रत्येक क्षण सचेत रहने एवं गुरु में विश्वास रखने का प्रस्ताव करते हैं—

१—रत्नसागर, पृ० ११०।
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२९।
३—रत्नसागर पृ० ११०।
४—रत्नसागर, पृ० ११०।
५—रत्नसागर, पृ० ११०।

अपनी रहनि रस रीति को, आठों पहर जांचे रही।
सतगुरु वचन मुख वाक वानी, जानि सोइ समझे सही॥[1]

यह अनुमान करना असंगत न होगा कि संत तुलसी इन आदर्शों का पालन करते थे और साधुमात्र के लिए उपयोगी समझते थे। उनके विभिन्न ग्रन्थों में उनका जो मानस-व्यक्तित्व हमारे हृदय-नेत्रों के सम्मुख उपस्थित होता है, वह इन आदर्शों का मूर्तिमान प्रतिफल ही ज्ञात होता है।

भ्रमण

तुलसी साहब के उपलब्ध जीवन चरित्र में उनके भ्रमण के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त नहीं होता। 'रत्नसागर' की भूमिका में मुद्रित जीवन चरित्र में केवल यह उल्लेख है कि 'तुलसी साहब बहुधा हाथरस के बाहर एक कम्बल ओढ़े और हाथ में डंडा लिए दूर नगरों तक चले जाया करते थे।'[2] इससे इनकी भ्रमणशील प्रकृति का परिचय अवश्य प्राप्त होता है किन्तु भ्रमण स्थानों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। तुलसी साहब के सम्बन्ध में लिखने वाले विद्वानों ने भी इस प्रसंग पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। पर अन्तस्साक्ष्य एवं अन्य स्रोतों से इनकी भ्रमणप्रिय प्रकृति एवं गन्तव्य स्थानों का कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है।

संत प्रायः एक स्थान पर जम कर नहीं रहते। वे यात्राओं द्वारा अपने विचारों एवं अनुभवों के प्रसार से लोकहित का कार्य सम्पन्न करते हैं। सिद्धान्त रूप में भी वे एक स्थान पर अचल होना पसन्द नहीं करते। तुलसी साहब ने अवरुद्ध एवं सतत प्रवाहित जल का दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट किया है कि अचल की अपेक्षा चल निर्मल रहता है—

गदला पानी बंधन सोई। बहता सदा निर्मला होई॥[3]

संत एक स्थान पर नहीं रहते, इस तथ्य को दृष्टि में रखकर ही तुलसी साहब ने स्वयं को 'देश देशान्तर का निवासी'[4] कहा है। तुलसी साहब ने हाथरस को अपना केन्द्र बनाकर प्रायः भ्रमण द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था। संत होने के कारण भ्रमणशीलता उनके जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गयी थी।

तुलसी साहब के भ्रमण स्थानों के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य बहुत कम है। इनके अनुयायियों में यह प्रसिद्ध है कि संत तुलसी कानपुर गये थे। इसकी पुष्टि 'पद्मसागर' की एक पंक्ति द्वारा होती है जिसमें कहा गया है कि पहले परमट घाट पर नाव लगाना चाहिए—

१—रत्नसागर, पृ० ११०।
२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
३—रत्नसागर, पृ० ११०।
४—रत्नसागर, पृ० ९६।

पिरथम परमट घाट पै, नाव लगावे जाय ।
जीव जुगात चुकाई के, सूरत देय पठाय ।।[१]

कानपुर में परमट घाट ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में बन गया था।[२] कानपुर से गंगा नदी के जल मार्ग द्वारा आगे जाने के लिए आवश्यक था कि कि परमट घाट पर कर चुकाया जाय।[३] कर चुकाने के उपरान्त प्राप्त की गई 'परमिट' के आधार पर ही इस कर-केन्द्र का नाम 'परमट' पड़ गया।[४] इस उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसी साहब कानपुर गए थे और उन्होंने परमट घाट पर स्थापित कर-व्यवस्था को देखा था। उनके कानपुर आने का यह प्रमाण यथेष्ट पुष्ट ज्ञात होता है।

अंत:साक्ष्य के अतिरिक्त कतिपय ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेख से इनके भ्रमण स्थानों का ज्ञान होता है। हाथरस के निकटवर्ती ग्रामों में तुलसी साहब का जाना एवं उपदेश देना बहुत प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में हाथरस से कुछ दूर के जोगिया ग्राम का प्राय: उल्लेख किया जाता है,[५] जहाँ तुलसी साहब ने स्वयं सत्संग प्रारम्भ कराया था। देवी साहब के जीवन चरित्र में इनका दक्षिण की ओर से आकर हाथरस में टिकना प्रसिद्ध है।[६] 'रत्नसागर' की भूमिका में निर्दिष्ट है कि हाथरस को केन्द्र बनाकर ये दूरस्थ नगरों तक चले जाते थे।[७] देवी साहब के जीवन चरित्र से ज्ञात होता है कि एक बार संत तुलसी चार वर्ष के भ्रमण के उपरान्त हाथरस लौट कर आये थे।[८] निश्चय ही इन चार वर्ष में ये अनेक स्थानों पर गये होंगे। तुलसी साहब का प्राय: आगरा जाते रहना तो प्रसिद्ध ही है। ये राधास्वामी सम्प्रदाय के स्वामी जी महाराज के माता-पिता के धर्मगुरु थे। पन्नी गली, आगरा में इनके ठहरने का स्थान अब तक विद्यमान है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि तुलसी साहब अन्य संतों की भाँति ही भ्रमणशील थे और उन्होंने अनेक स्थानों की यात्राएँ की थीं।

१—पद्मसागर, पृ० ८।
२—तवारीखे जिला कानपुर, प्रथम भाग, पृ० १२।
३—Cawnpore Gazetteer, Page 264
४—कानपुर का इतिहास, पृ० १८५।
५—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
६—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १।
७—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
८—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० २ एवं ३।

ख्याति

तुलसी साहब के उपलब्ध जीवन चरित्र में इनकी ख्याति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। इनके सम्बन्ध में लिखने वाले विद्वानों ने भी इनके जीवन के इस प्रसंग की कोई चर्चा नहीं की है। पर इनके अनुयायियों एवं इनके-साहब पंथ—सम्प्रदाय में इनकी बड़ी ख्याति है। अपने सम्प्रदाय में तुलसी साहब 'परम संत' के रूप में विख्यात हैं।[१] हाथरस एवं उसके निकटवर्ती प्रदेश में अपने जीवन काल में ही तुलसी साहब विख्यात हो गए थे। इनके जीवन काल में ही उस प्रदेश के अनेक व्यक्ति इनके शिष्य बन गये थे।[२] इस प्रबन्ध के लेखक का व्यक्तिगत अनुभव है कि आज भी उस प्रदेश में संत तुलसी की प्रसिद्धि अक्षुण्ण है। इस प्रसिद्धि के आधार पर ही तुलसी साहब की अलौकिक शक्ति के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएं प्रचलित हो गईं।[३] अपने सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में भी संत तुलसी उच्चकोटि के साधक के रूप में समादृत हैं राधास्वामी सम्प्रदाय के अनुयायियों से लेखक को विचार विनिमय के समय ज्ञात हुआ कि तुलसी साहब एवं उनके ग्रथों का उक्त सम्प्रदाय में बड़ा सम्मान है।

चित्र

तुलसी मन्दिर हाथरस में तुलसी साहब के कई छोटे बड़े चित्र उपलब्ध हैं। इन चित्रों में आयु और वेशभूषा के परिवर्तन के कारण कुछ अन्तर दृष्टिगत होता है किन्तु किसी भी चित्र में आकृति भेद नहीं है। मूलतः समस्त चित्रों में तुलसी साहब की आकृति एक सी है। इन चित्रों में उज्ज्वल विशाल नेत्र, उन्नत ललाट, सिर के उलझे केश और श्मश्रुयुक्त उनकी प्रभावशाली आकृति अंकित है। छोटे-बड़े, नवीन–प्राचीन, सब चित्रों में आकृति का यह अभेद स्पष्ट है। अतएव इन चित्रों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंका नहीं उत्पन्न होती। देवी साहिब के जीवन चरित्र में मुद्रित तुलसी साहब का चित्र इन चित्रों से पूर्ण साम्य रखता है।[४] इस प्रकार इन चित्रों में तुलसी साहब की आकृति–ऐक्य के कारण किसी प्रकार के मत भेद की संभावना नहीं है।

महाप्रस्थान

संत तुलसी के समय पर विचार करते समय हमने यह प्रतिपादिन किया है कि तुलसी साहब का देहावसान सम्वत् १९०५ अथवा सन् १८४८ के

१—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० १।

२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० २।

३—रत्नसागर, भूमिका, पृ० २।

४—देवी साहिब का जीवन चरित्र, पृ० २ के सामने का चित्र।

निकट हुआ। इनके मृत्यु स्थान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। "रत्नसागर" की भूमिका से ज्ञात होता है कि इन्होंने हाथरस में शरीर त्याग किया।[1] 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में भी हाथरस ही को इनका मृत्यु-स्थान निर्दिष्ट किया गया है।[2] डा० रामकुमार वर्मा ने भी यही विचार प्रकट करते हुये लिखा है कि तुलसी साहब ने हाथरस में अपनी जीवन लीला समाप्त की।[3] इस प्रकार सब परम्पराएं इनके दिवंगत होने का स्थान हाथरस मानती हैं। जिस स्थान पर तुलसी साहब सत्संग कराते थे एवं जहां उन्होंने महाप्रस्थान किया, उस स्थान पर ही उनकी समाधि बनी हुई है।[4] किला दरवाजा, हाथरस में स्थापित संत तुलसी की समाधि के दर्शन का अवसर लेखक को प्राप्त हुआ है।

१—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।
२—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६५४।
३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९०।
४—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० ३।

अध्याय २

तुलसी साहब का युग

राजनीतिक परिस्थिति

प्रत्येक कवि पर उसके युग का प्रभाव पडता है संत कवि भी इसके अपवाद न थे। पर संन्तों का सम्बन्ध राजनीति से न था, धर्म और समाज से था। अतएव उनकी रचनाओं में राजनीतिक पृष्टभूमि की सामग्री बहुत ही कम है। अधिकतर धार्मिक-सामाजिक प्रभावों एवं प्रतिक्रियाओं का वर्णन है। तुलसी साहब के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। उनकी रचनाओं में राजनीतिक आर्थिक इत्यादि प्रतिक्रियाओं एवं प्रभावों का वर्णन नहीं हैं किन्तु धार्मिक, सामाजिक प्रभावों का वर्णन प्राय: मिलता है। इस परिच्छेद में इतिहास के ग्रन्थों एवं उनकी रचनाओं के आधार पर उनके युग की विभिन्न परिस्थितियों का एवं उनके प्रभाव तथा प्रतिक्रियाओं का विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

सन् १७८८ से १८४८ का समय भारत में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के अभ्युदय और प्रसार की कथा है। इस काल में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के कई शासक हुए जिन्होंने मुगलों की ह्रास दशा[1] और मराठों के पारस्परिक वैमनस्य[2] से लाभ उठाकर छल-बल द्वारा भारत में कम्पनी सरकार की जड़े जमाईं। इस कार्य में विदेशी सत्ता को निजी शक्ति के अतिरिक्त भारत की अन्य प्रादेशिक राज शक्तियों से सहायता प्राप्त होती रही। उदारहण के लिए राजस्थान के राजपूत राज्यों का उल्लेख किया जा सकता है जो कभी मराठों के अनुगत थे तो कभी अंग्रेजों के। तुलसी साहब के देहावसान के लगभग तीस वर्ष पूर्व सन् १८१८ में मराठा शक्ति का सूर्य अस्त हो गया। तत्पश्चात् ये देशी राज्य पूर्णरूपेण अंग्रेजों के अनुगामी हो गए।

1.—Sarkar and Dutta : Modern Indian History Part I, Page 9-10.

2.—Sarkar and Dutta : Moderu Indsan History PartI, Page 6 and 22.

संत तुलसी की जन्म तिथि सन् १७८८ है। सन्१७८८ में ईस्ट इन्डिया कम्पनी कीओर से लार्ड कार्नवालिश शासन कर रहे थे। उनका कार्यकाल सन् १७८६ से सन् १७९३ के सात वर्षों तक सीमित है। इस अवधि में मैसूर के तृतीय युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई युद्ध नही हुआ।[१] इनके शासन काल में अंग्रेजी राज्य की सीमा का विस्तार दक्षिण की ओर हुआ जहाँ सन् १७९२ में श्रीरंगपट्टम की संधि द्वारा पराजित टीपू सुलतान से कम्पनी सरकार को मलाबार और कुर्ग के प्रदेश एवं सुदूर दक्षिण में दिन्दुगल और उसके निकटवर्ती प्रदेश मिले।[२] इस संधि के द्वारा कम्पनी सरकार का प्रभाव दक्षिण में बढ़ गया और मैसूर का शासक चारों ओर से इस प्रकार घिर गया कि भविष्य में उसके शक्तिशाली होने की सम्भावना कम हो गई। राजनीतिक दृष्टि से कार्नवालिस की यह सफलता विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि इससे दक्षिण में अंग्रेजी सत्ता का प्रसार निश्चित हो गया।[३]

लार्ड कार्नवालिस के उपरांत अल्प समय के लिए सर जान शोर गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किए गए। इनका शासन काल सन्१७९३-१७९८ है। राजनीतिक परिवर्तन की दृष्टि से इनके शासन काल में कोई उल्लेख्य घटना नहीं हुई। वस्तुत: कार्नवालिस की भाँति ही सर जांन शोर की नीति भी यथासम्भव देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करना था।[४]

सर जान शोर के पश्चात् सन् १७९८ से सन् १८०५ तब लार्ड वेलेजली गवर्नर-जनरल पद पर रहे।[५] इनका शासन काल अंग्रेजों के प्रभुत्व को बढ़ने और अंग्रेजों को प्रथम शक्ति के रूप में प्रस्थापित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना गया हैं।[६] उस समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ भी वेलजली की प्रसार नीति (expansionist policy) के अनुकूल थीं। टीपू सुल्तान की शक्ति क्षीण हो चली थी, निजाम अंग्रेजों के पक्ष में होता जा रहा था और परस्पर ईर्ष्या और विद्वेष के कारण मराठे शक्तिहीन हो गये थे। उनका शक्तिशाली संघ (Maratha Confedcracy) भी टूट चुका था और पारस्परिक कलह से

1. Iswari Prasad and Subedar : A History of Modern India, Page 72.
2. Iswari Prasad aud Subedar: A History of Modern India, P.96.
3. " " " " P. 105
4. " " " " P. 105
5. " " " " P. 105
6. " " " " P. 106

उनकी शक्ति नष्ट हो रही थी। लार्ड वेलजली ने इस स्थिति से पूर्ण लाभ उठाया और अंग्रेजी सत्ता को सुदृढ़ किया।

सन् १७९८ में उसने निजाम के साथ एक संधि की जिसके अनुसार निजाम को भविष्य के संधि-विग्रह में अंग्रेजों पर ही निर्भर रहना था।[1] सन् १८०० में निजाम को वेलजली ने एक दूसरी सन्धि के लिए बाध्य किया जिसके फलस्वरूप निजाम वस्तुतः अंग्रेजों के अधीन हो गया।[2] निजाम को आधीन करने के अतिरिक्त वेलजली ने मैसूर के चौथे युद्ध में टीपू को पूर्णतया पराजित कर दिया[3] और इस प्रकार दक्षिण में अंग्रेजों के सबसे प्रबल शत्रु का नाश करके विदेशी सत्ता की जड़ें शक्तिशाली कर दीं। मैसूर के अतिरिक्त कर्नाटक पर वेलजली की वक्र दृष्टि पड़ी। उसने छल एवं प्रपञ्च के द्वारा कर्नाटक राज्य को अधिकृत किया।[4] वेलजली ने अवध के नवाब को एक सन्धि के द्वारा सन् १८०१ में रोहेलखण्ड और दोआबा देने के लिए अन्यायपूर्वक बाध्य किया।[5] सन् १८०२ में बेसिन की सन्धि द्वारा उसने पेशवा को भी अंग्रेजी प्रभाव के अन्तर्गत कर लिया और सन १८०३ के युद्ध द्वारा दिल्ली अलीगढ़ और आगरा के प्रदेश हस्तगत कर लिए। दिल्ली की विजय द्वारा वृद्ध और अन्धे मुगल सम्राट शाह आलम पर भी उसका अधिकार हो गया और उत्तरी भारत पर भी अंग्रेजी सत्ता का प्रभुत्व छा गया।[6]

सन् १८०५ में वेलजली अवकाश ग्रहण करके इंग्लैण्ड चले गये। उनके स्थान पर पुनः लार्ड कार्नवालिस की नियुक्ति हुई किन्तु उनकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई।[7] कार्नवालिस के उपरान्त सर जार्ज वार्लो गवर्नर जनरल

---

1. Iswari Parsad and Snbedar: A Hi story of Modern India, P.107
2. "The removal of Tipu from the political field encouraged Welleslay to complete the subordination of Nizam who was cajoled into making another treaty in October 1800, the terms of which reduced the Nizam from a position of equality to subordination."
   —A History of Modern India, Page 103.
Iswari Prasad and Subedar: A History of Modern India p. 109.
" " " " p. 112
"That the agreement was highly beneficial to the company is undoubted. It isolated the Nawab, reduced his military power, increased British territory and resources. That it was high-handed and unjust is equally undoubted. The claims of Justice had always sat lightly on the English Governor General". —A History of Modern India, Page. 114.
wari Prasad and Subedar: A History of Modern India, P. 119
" " " " P.121

मनोनीत हुए। उन्होंने मराठों के साथ संधि करके कुछ समय के लिए अंग्रेजी शासन का उत्तरी भारत में और अधिक प्रसार स्थगित कर दिया।[1] बार्लो की नियुक्ति अल्प समय के लिए थी, अतएव उसके स्थान पर लार्ड मिन्टो को भेजा गया। मिन्टो का कार्य-काल सन् १८०७-१८१३ है।[2] इन्होंने सन् १८०९ में अमृतसर की सन्धि द्वारा पंजाब के सिक्खों की बढ़ती हुई शक्ति को रोका एवं कम्पनी सरकार की सीमा को सतलज नदी तक बढ़ा दिया।[3] इनके कार्यकाल में और कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ।

लार्ड मिन्टो के स्थान पर मारक्युस आफ हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। इनका कार्य-काल सन् १८१३ से सन् १८२३ है।[4] इनके कार्यकाल में पुनः अंग्रेजी सत्ता ने आक्रामक का रूप धारण कर लिया था। सन् १८१५ में हेस्टिंगस् ने नेपाली सेना को परास्त करके सिगोधली की संधि द्वारा गढ़वाल एवं कुमायूं के प्रदेश प्राप्त किए और इस प्रकार अंग्रेजी शासन के प्रभाव को उत्तरी पर्वत-प्रदेश तक फैला दिया।[5] इसी प्रकार हेस्टिंग्स् ने सन् १८१७ की सन्धि के लिए बाध्य करके पेशवा बाजीराव द्वितीय की शक्ति को क्षीण कर दिया तथा सिंधिया को भी अंग्रेजों के अनुकूल सन्धि के लिए बाध्य किया।[5] सन्१८१८ में युद्ध छिड़ जाने पर पेशवा को पराजित करके कानपुर के निकट विठूर भेज दिया और पेशवाई प्रथा को समाप्त करके हेस्टिंग्स ने मराठा शक्ति के प्रतीक को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया।[6] पेशवा के अतिरिक्त नागपुर के भोंसले और होल्कर को भी हेस्टिंग्स् के हाथों पराजित होकर उसका अनुगत होना पड़ा तथा अपने राज्य के विशाल भूभागों से हाथ धोना पड़ा। वस्तुतः सन् १८१८ के समाप्त होते होते सिन्ध और पंजाब को छोड़कर भारत का प्रायः प्रत्येक भाग

1. Iswari Prasad and Subedar: A History of Modern India, P.121
2. " " " " P. 124
3. " " " " P. 127
4. " " " " P. 132 & 146
5. "By this treaty the English got the districts of Garhwal and Kumaun ..The gains of the war extended British dominions right up to the mountains."

—A History of Modern India, page 135.

6. Iswari Prasad and Subedar: A History of Modern India, P· 141-42
7. " " " " P. 144.

अंग्रेजी सत्ता के प्रभाव में आ गया था और कम्पनी सरकार की सर्वमान्यता प्रतिष्ठित हो गई थी।[1]

सन् १८२३ में हेस्टिंग्स् के इंगलैण्ड लौट जाने पर अल्प समय के लिए जान एडम्स गवर्नर-जनरल मनोनीत हुये। इनकी शासन अवधि में कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ। इनके उपरान्त लार्ड ऐम्हरेस्ट गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजे गए। इनके समय में प्रथम वर्मी युद्ध हुआ। इस युद्ध का अन्त एक सन्धि द्वारा हुआ जिसके अनुसार अंग्रेजों को अराकान एवं तेनासिरिम के प्रदेश प्राप्त हुए तथा उनके राज्य की उत्तरी-पूर्वी सीमा यथेष्ठ सुरक्षित हो गई।[2] लार्ड ऐम्हरेस्ट के शासन काल में ही पश्चिमी उत्तर प्रदेश की सीमा के निकट स्थित भरतपुर राज्य को अंग्रेजों ने अधिकृत कर लिया था।

सन् १८२८ में लार्ड एम्हरेस्ट के इंगलैण्ड चले जाने के बाद लार्ड विलियमवेन्टिक (सन् १८२८-१८३९) भारत भेजे गये।[3] इस गवर्नर जनरल के शासक काल में आन्तरिक सुधारों की प्रबलता रही। इसके शासन काल में कोई उल्लेख करने योग्य राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ, जो तत्कालीन परिस्थतियों को प्रभावित करता। वास्तविक स्थिति यह थी कि वेन्टिक के समय तक प्रायः सब महत्वपूर्ण युद्धों का अन्त अंग्रेजों के पक्ष में हो चुका था, तथापि अवसर प्राप्त होने पर वेन्टिक ने पूर्ववर्ती शासकों से भिन्न पथ का अनुगमन नहीं किया और और कुर्ग एवं मैसूर को अधिकृत करने में किसी प्रकार की दुविधा का परिचय नहीं दिया।[4]

वेन्टिक के उपरांत कुछ समय तक सर चार्ल्स मेटकाफ गवनर जनरल के स्थान पर कार्य करते रहे। उसके बाद लार्ड आकलैण्ड गवर्नर जनरल नियुक्त करके भारत भेजे गए। इनका शासन काल सन् १८३९-१८४२ है।[5] आकलैण्ड की शासन अवधि की उल्लेखनीय घटना अफगानिस्तान का मामला था जिसमें कि प्रचुर हानि हुई।[6] इसके पश्चात सन् १८४२ से १८४४ के अल्पकाल में

1, By the end of 1818 the guns had fired their last shots...... No state in India, with the exception of Sindh and Punjab, remained out side the British dominions. The supremecy of the Company was no longer in doubt."

—A History of Modern India, Page 145.

2. Iswari Prasad and Subedar: A History of Modern India, P,150

3. ,, ,, ,, ,, P.152
4. ,, ,, ,, ,, P.151
5. ,, ,, ,, ,, P.166
6. ,, ,, ,, ,, P.120

लार्ड ऐलेनबरो गवर्नर जनरल बनाए गए।[1] इनके शासन काल में अंग्रेजी सेना ने काबुल को तहस नहस किया और सन् १८४३ में सिंध के अमीरों को पराजित करके इस प्रदेश को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया।[2]

सन् १८४४ में ऐलेनबरो के इंगलैण्ड लौट जाने पर लार्ड हार्डिंग गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। इनके समय सन् १८४५ में प्रथम सिक्ख युद्ध हुआ जिसमें अंग्रेजी सेना ने युद्ध में सिक्खों को परास्त करके सन् १८४९ की सन्धि द्वारा विजसतलज के प्रदेश, जालंधर और हजारा के भूभाग प्राप्त किए।[3] इस प्रकार हार्डिंग ने तत्कालीन उत्तरी भारत के सबसे शक्तिशाली राज्य को अंग्रेजी प्रभाव के अधीन कर लिया। सन् १८४८ में लार्ड डलहौजी हार्डिंग के स्थान पर गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजे गए।[4] इनके शासन काल में सन्१८४८ में द्वितीय सिक्ख युद्ध हुआ जिसमें सिक्खों को पूर्णतया पराजित करके सन् १८४९ में पंजाब का सिक्ख राज्य अंग्रेजी शासन में मिला लिया गया।[5]

सन् १७८८ से १८४८ के उपर्युक्त विवरण द्वारा संत तुलसी की राजनीतिक परिस्थितियों का परिचय प्राप्त हो जाता है। सन् १७८८ में तुलसी साहब के जन्म के समय देश की जो राजनीतिक दशा थी, वह सन् १८४८ में उनकी मृत्यु के समय पूर्णतया परिवर्तित हो गई थी। उनके जन्म के समय पूर्वी भारत में कम्पनी सरकार प्रस्थापित थी, दक्षिण में हैदराबाद और मैसूर स्वतन्त्र राज्य थे, मध्यभारत और पश्चिमी भारत में मराठे प्रतिष्ठित थे और उनकी अधीनता में उत्तरी भारत के केन्द्र दिल्ली में मुगल सम्राट शाह आलम राज्य कर रहा था।[6] पर संत तुलसी के जीवन के साठ वर्ष पूर्ण होते-होते देश की राजनीति में आमूल परिवर्तन हो गया। समस्त स्वतन्त्र राज्य शक्ति और छल-बल द्वारा अंग्रेजों के अनुगत बनाए गए। अंग्रेजों ने दक्षिण को अपने अधीन किया, उत्तरी भारत में दिल्ली के मुगल साम्राट को अपना अनुगत बनाया, मध्य एवं पश्चिमी भारत से मराठा शक्ति का उन्मूलन किया, पंजाब व सिंध को जीता तथा सुदूर उत्तर में नेपाल तक अपना प्रभाव फैलाया। इस प्रकार प्रायः समस्त भारत पर उनका अधिकार हो गया। अतएव यह कहा जा सकता

---

1. Iswari Prasad and Subedar: A History of Modern India, P.177
2. " " " " P.163
3. " " " " P.189-199
4. " " " " P.201
5. " " " " P.202-203
6. Sarkar and Dutta : Modern India History, page 10

हैं कि तुलसी साहब के अभ्युदय के साठ वर्षों में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अंग्रेजी शासन का प्रभुत्व सम्पूर्ण देश में फैल गया था ।

प्रभाव

प्रत्येक व्यक्ति अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित होता है । संत कवि भी इसके अपवाद नहीं हैं । पर राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव प्रकट रूप से उनपर प्रायः नहीं पड़ा है । वस्तुतः संत लोक की राजनीति से उदासीन रहने वाले साधक थे । उनका लक्ष्य अध्यात्म था, राजनीतिक परिवर्तनों का स्पष्ट प्रभाव उन पर अंकित दृष्टिगत नहीं होता । राजनीतिक परिस्थितियों के उपर्युक्त विवरण से यह प्रकट हो जाता है कि तुलसी साहब के युग की राजनीति बड़ी विषम थी और कई परिवर्तनों के मध्य से देश निकल रहा था । इन द्रुतगामी परिवर्तनों का कोई प्रभाव संत तुलसी की रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता । वस्तुतः राजनीति से सम्बन्ध रखने वाली एक भी पंक्ति उनकी कृतियों में प्राप्त नहीं होती । अतएव तुलसी साहब पर राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव अंकित करना सम्भव नहीं है ।

प्रतिक्रिया

तुलसी साहब पर उनके समसामयिक जीवन की राजनीति का कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता । अतएव इसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया के अध्ययन का कोई साधन हमारे पास नहीं है । केवल 'शब्दावली' में प्रसंगवश उन्होंने अंग्रेजी शासन के न्याय की प्रशंसा की है ।[१] संभव है कि उनके युग में अस्थिर राजनीति एवं नित्य परिवर्तित होने वाले शासन-विधानों के कारण न्याय और नीति दुर्व्यवस्था और दुर्नीति से ग्रस्त हो गये हों तथा उनकी तुलना में संत तुलसी को अंग्रेजी न्यायलयों के 'जो गुनह करे सो पावे' फलित होता दृष्टिगत हुआ हो । वस्तुतः जिस युग में भारतीय शासकों की इच्छा मात्र से किसी भी व्यक्ति को हाथी के पैरों कुचला डालना, सिर उड़वा देना, खाल खींच लेना आदि अमानुषीय पद्धतियों से काम लिया जाता था, उसमें व्यवस्थित ढंग से कचहरियों में न्याय प्रदान करने की प्रथा प्रारम्भ करके यदि अंग्रेजों ने तुलसी साहब ऐसे निश्छल साधकों से प्रसंशा प्राप्त की हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

आर्थिक परिस्थति

संत तुलसी के युग की आर्थिक दशा समुन्नत न थी । मुगल साम्राज्य की अवनति का प्रभाव देश की आर्थिक दशा पर भी पड़ा था मुगल साम्राज्य के भंग होने

१—एरी ईसा अंगरेज कहावे, सब में एक ब्रह्म बतावे ॥१॥
इनसाफ जो साफ सुनावे, जो गुनह करे सोइ पावे ॥२॥
—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३० ।

एवं तत्कालीन राज शक्तियों के परस्पर संघर्ष के कारण आर्थिक स्थिति में किसी प्रकार के उत्कर्ष की सम्भावना न रही। अशान्ति एवं अव्यवस्था के उस युग में उद्योग धन्धों एवं कृषि की उन्नति शासकों का अभिप्रेत लक्ष्य न था। देश के शासन का आधिपत्य प्राप्त करके अंग्रेजी शासक ने व्यवस्था और शान्ति की स्थापना की किन्तु तब भी आर्थिक दृष्टि से देश का उत्कर्ष नहीं हुआ। इसका कारण था विदेशी शासकों द्वारा अत्यधिक भूमि-कर लेना एवं यहां के वाणिज्य को प्रश्रय न देकर उनकी संभावनाओं को निर्मूल करना। हमारा मन्तव्य निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

तत्कालीन सरकार को राज्य-संचालन के निमित्त भूमिकर पर निर्भर रहना पड़ता था क्योंकि यही सरकार का प्रमुख वित्तीय आधार था।[1] उस समय भूमिकर निश्चित करने की तीन मुख्य पद्धतियाँ प्रचलित थीं—जमीन्दारी रैय्यतवारी तथा महलवारी।[2] जमीन्दारी में कर भूमि के अधिकारी व्यक्ति पर निश्चित किया जाता था, रैय्यतवारी में छोटे छोटे खेतों को जोतने वाले बिना किसी मध्यस्थ के सरकार को कर देते थे एवं महलवारी में सम्मिलित ग्रामों के उस भू भाग पर जिसे उत्तरी भारत में महल कहते हैं, कर निश्चित किया जाता था[3] बंगाल, बनारस तथा मद्रास प्रेसीडेन्सी के उत्तरी भाग सन् १७९३ से १८०२ के मध्य स्थायी जमीनदारी प्रथा के अन्तर्गत आ गये थे, मद्रास के अन्य भाग तथा बम्बई में सन् १८४७ के लगभग रैय्यतवारी पद्धति प्रचलित हो गई थी और सन् १८३३-१८४८ के निकट उत्तरी भारत के आगरा इत्यादि प्रदेशों में महलवारी कर व्यवस्था को मान्यता प्राप्त हो गई थी।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में भूमि-कर की उपर्युक्त पद्धतियाँ देश के विभिन्न भागों में प्रचलित थीं।

स्थायी जमीनदारी प्रथा से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसका प्रभाव कृषक वर्ग पर अच्छा नहीं पड़ा। भूमि कर की इस आर्थिक व्यवस्था में कृषकों के अधिकारों की पूर्ण अवहेलना की गई।[5] इस व्यवस्था के पूर्व जमीन्दारों के भूमि पर वंश परम्परागत एवं साम्पत्तिक

1. Sarkar and Dutta: Modern Indian History, Part II, P. 1-2.
2. ,, ,, ,, ,, ,, P. 8
3. Economic History of British India, Page 193.
4. ,, ,, ,, ,, Page 196.
5. Sarkar and Dutta : Modern Indian History Part II, Page 6.

अधिकार न थे।[1] स्थायी भूमिकर पद्धति के प्रचलन से उनका भूमि पर अधिकार मान लिया गया और इस प्रकार उन्हें नवीन अधिकार प्राप्त हुये।[2] वस्तुत: जमीनदारी प्रथा जो कि प्रारम्भ में कर एकत्र करने की एक परम्परागत भूमि व्यवस्था थी, कार्नवालिस के स्थायी प्रबन्ध से भूमिस्वामित्व के रूप में बदल गई।[3] इससे जमीनदारों की स्थिति अवश्य अच्छी हो गई किन्तु कृषकों के अधिकार पर कुठाराघात हुआ एवं उनका भूमि पर से अधिकार चला गया।[4] वे जमीनदारों की दया पर छोड़ दिए गए तथा जमीनदारों को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वे कृषकों से मनमानी शर्तों पर कर तय करें।[5] सरकार ने कृषकों के हित के निमित्त नियम बनाने का अधिकार सुरक्षित रक्खा था, पर ये नियम कभी बनाए नहीं गये अपितु सन् १७९९ के सातवें रेगूलेशन (Regulation vii of 1799) द्वारा जमीनदारोंको अधिकार प्राप्त हुआ कि वे कर प्राप्त करने के लिए वे बिना किसी न्यायालय को सूचना किए कृषक की सम्पत्ति कुर्क करा सकते थे।[6] इस व्यवस्था का फल यह हुआ कि जमीनदारों का वर्ग तो सम्पन्न हो गया किन्तु असंख्य कृषकों की आर्थिक दशा दिन प्रति दिन अवनत होती गई।

भूमि कर की द्वितीय पद्धति रैय्यतवारी थी।[7] रैय्यतवारी प्रथा में सरकार एवं कर देने वाले के बीच किसी मध्यस्थ की आवश्यकता न थी। इससे यह आशा की जा सकती है कि इस प्रथा में कृषकों का शोषण अपेक्षाकृत कम होता होगा। पर उस समय अस्थायी पद्धति पर प्रचलित रैय्यतवारी प्रथा के कारण कृषकों की आर्थिक दशा दुरावस्था के रूप में परिणत हो गई थी। रैय्यतवारी प्रथा एवं उसके आर्थिक प्रभाव का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध विद्वान रमेश दत्त ने 'ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास' में लिखा है–'बहुधा

1. Sarkar and Dutta : Modern Indian History Part II, Page 5.
2. ,, ,, ,, page5.
3. ,, ,, ,, Page 5.
4. ,, ,, ,, Page 6.
5. ,, ,, ,, Page 7.
6. Government indeed reserved to itself the power of legislating in favour of the tenants, but no such regulation has ever taken place, on the contrary Regulation VII of 1799 empowered the zamindars to distrain the property of their tenants for rent without sending notice to any Court of Justice."
—Modern Indian History Part II, Page 7.
7. Economic History of British India, Page 135.

तहसीलदार एवं शिरिस्तादार के द्वारा रैय्यतवारी कर व्यवस्था वर्ष भर के लिए तय की जाती थी, पर व्यवस्था सामान्यतः कृषि तैय्यार होने पर ही सुनिश्चित की जाती थी। कार्यपद्धति के अनुसार कृषकों से अधिक से अधिक कर प्राप्त करने की दृष्टि से व्यवस्था की जाती थी। यदि कृषि अच्छी होती थी, तो सर्वे के अधीन कृषक की जितनी अधिक से अधिक कर देने की क्षमता होती थी उतना कर माँगा जाता था ओर यदि खेती खराब होती थी तब भी कृषक से अन्तिम कौड़ी तक माँगी जाती थी।[1] यदि कृषक आर्थिक दुरावस्था निवृत्ति पाने के लिए कहीं भाग जाता था, तो उसे बलपूर्वक वापस लाकर पुनः कृषि में लगाया जाता था और कृषि तैयार होने पर अनियमित कर लिया जाता था।[2] वास्तविकता यह थी कि उस युग में जमीनदारी प्रथा की भाँति ही रैय्यतवारी कर प्रथा से शासक वर्ग समुन्नत हो रहा था किन्तु कृषक आदि सामान्य जनता की आर्थिक विपन्नता बढ़ती जा रही थी।

महलवारी भूमि-कर-पद्धति का लोक जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव उपर्युक्त प्रभावों की भाँति ही निराशामय था। इसके अन्तर्गत कृषकों के साथ साथ जमीनदारों की आर्थिक दशा भी अवनत हो गई एवं किसी प्रकार का घन संग्रह व जनता की भौतिक उन्नति असम्भव ही गई।[3]

वस्तुतः भूमिकर की उपयुक्त पद्धतियों से जनता की आर्थिक दशा में निरन्तर अपकर्ष होता रहा। इसका मुख्य कारण था कि उस समय अंग्रेजी

---

1. The Ryotwari settlement in fact was made annually frequently by the Tehsildars and Sheristadars, and was not in general concluded until after the crop had been raised; the system then was to make as high a settlement as it was practicable to realise. If the crop was good, the demand was raised high within the survey rates as the means of the Ryots would admit; if the crop was bad the last farthing was not withstanding demanded."

—Economic History of British India page 147-148

2. Economic History of British India, page 149.

3. "The Mahalwari system swept away virtually the whole of the rental of the country, leaving land lords and cultivators equally impoverished. It made any accumulation of wealth and any improvement in the material condition of the people impossiblee."

—Economic History of Brittsh India, Page 194.

शासन ने भूमिकर की जो दर निश्चित की थी, नितान्त अनुचित थीं। अंग्रेजी राज्य के पूर्व शासन व्यवस्था का उपज में प्रायः एक तिहाई भाग निश्चित था।[1] अनेक स्थानों पर यह सम्पूर्ण उपज के पाँचवें छटवें एवं दसवें भाग से भी कम था।[2] इसके अतिरिक्त शासन व्यवस्था की ओर से नहरें, कुएँ एवं तालाब इत्यादि की व्यवस्था द्वारा कृषकों को सिंचाई में सहायता प्रदान की जाती थी। इस प्रथा के विरुद्ध अंग्रेजी शासन ने कर की दर तो बढ़ा दी पर जनता को कृषि उपयोगी साधनों से सहायता न की। उसका उद्देश्य कृषकों से अधिक से अधिक भूमि-कर प्राप्त करना था।[3] विदेशी राज्य की शोषण नीति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १८२२ के निकट उत्तरी भारत में अंग्रेजी शासन की ओर से अस्सी प्रतिशत भूमि-कर लिया जा रहा था।[4] इससे यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक न होगा कि उस युग का सामान्य जन जीवन आर्थिक विपन्नता में जीवित था।

'ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीय जनता का एक बड़ा भाग अनेक प्रकार के उद्योग धन्धों में व्यस्त था। बुनाई का उद्योग उत्तरी व दक्षिणी भारत में समान रूप से प्रतिष्ठित था एवं बड़ी संख्या में स्त्री-पुरुष कातने एवं बुनने के उद्योग में लगे थे।[5] नीची जाति के कृषकों की स्त्रियाँ सूत कातने की कला में दक्ष होती थीं।[6] वस्तुतः कृषि के उपरान्त सूत कातने एवं कपड़ा बुनने के उद्योग सर्वाधिक थे।[7] कपड़ा बुनने के उद्योग के साथ कपड़ा रंगने का व्यवसाय भी प्रचलित था।[8] इसके अतिरिक्त कागज, चमड़ा, ईंट, चूना, मिट्टी के बर्तन, इत्र इत्यादि बनाने के उद्योग भी प्रचलित थे और सोने चांदी की वस्तुओं का व्यापार भी होता था।[9] बढ़ई, कुम्हार एवं लुहार के द्वारा निर्मित लकड़ी, मिट्टी एवं लोहे की वस्तुओं का व्यवसाय होता था एवं अनेक प्रकार के अनाजो का उद्योग भी किया जाता है।[10]

---

1. Economic Histyry of British India, Page 126.
2. ,, ,, ,, Page 126.
3. ,, ,, ,, Page 181.
4. ,, ,, ,, Page 384.
5. ,, ,, ,, Page 206.
6. ,, ,, ,, Page 217.
7. ,, ,, ,, Page 235.
8. ,, ,, ,, Page 249.
9. ,, ,, ,, Page 239.
10. ,, ,, ,, Page 242-243.

इस विवरण से ज्ञात होता है कि उद्योग-धन्धों की दृष्टि से तत्कालीन दशा अवनत न थी। उपर्युक्त उद्योगों में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक इस देश का बहुत बड़ा जनसमुदाय संलग्न था, किन्तु भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग को उन्नत करना ईस्ट इन्डिया कम्पनी का ध्येय न था।[6] ईस्ट इन्डिया कम्पनी का उद्देश्य था कि किस प्रकार भारत में निर्मित वस्तुओं के स्थान पर इंगलैंड में निर्मित वस्तुएँ प्रचलित की जांय और किस प्रकार भारतीय उद्योग को नष्ट करके अंग्रेजी उद्योग बढ़ाया जाय।[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम्पनी सरकार ने अनेक साधनों से भारत में इगलैंड-निर्मित वस्तुयें भेजना प्रारम्भ किया तथा भारत से इंगलैंड जाने वाली वस्तुओं पर भारी कर द्वारा रोक लगा दी।[2] इसका फल यह हुआ कि भारतीय उद्योग पनप न सके और देश केवल कृषि प्रधान बना रहा।[3] भारतीय उद्योगों का ह्रास प्रारम्भ हो गया और जब सन् १८१३ में भारतीय वाणिज्य ईस्टइंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर अंग्रेज व्यापारियों के हाथ आया, तब भी भारतीय उद्योगों की क्रमशः समाप्ति का क्रम चलता रहा।[4] इस प्रकार कृषि-कर के शोषण से संत्रस्त भारतीय जनता उद्योग धन्धों के नष्ट होने पर पूर्ण आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त हो गई। विदेशी शासन की इस स्वार्थपूर्ण अर्थनीति की आलोचना करते हुये यूसुफ अली ने ठीक ही लिखा है कि देश का कुटीर उद्योग नष्ट हो गया जिससे कला कृतियाँ भी प्राप्त होती थी एवं जनता की नित्य आवश्यकताओं की वस्तुओं का सृजन भी होता था। निर्मित वस्तुओं के व्यवसाय को विदेशी आयात व्यापार ने अधिकृत कर लिया[5] और इस प्रक्रिया में देश निर्धन हो चला।

जिस युग में संत तुलसी का आविर्भाव हुआ, उसमें सामान्य जनता का जीवन सुखी न था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासकों की भूमि-कर सम्बन्धी

---

1. Economic History of British India Page 256.
2. „ „ „ Page 257.
3. „ „ „ Page 257.
4. „ „ „ Page 262.
5. „ „ „ Page 202-293.
6. "The hand industries succumbed; both those wich had supplied art products and those which had supplied the daily needs of the people. Manufactures became more and more the monopoly of the foreign import trade."
—Cultural History of British India Page 158.

शासन ने भूमिकर की जो दर निश्चित की थी, नितान्त अनुचित थीं। अंग्रेजी राज्य के पूर्व शासन व्यवस्था का उपज में प्राय: एक तिहाई भाग निश्चित था।[१] अनेक स्थानों पर यह सम्पूर्ण उपज के पांचवें छटवें एवं दसवें भाग से भी कम था।[२] इसके अतिरिक्त शासन व्यवस्था की ओर से नहरें, कुएँ एवं तालाव इत्यादि की व्यवस्था द्वारा कृपकों को सिंचाई में सहायता प्रदान की जाती थी। इस प्रथा के विरुद्ध अंग्रेजी शासन ने कर की दर तो बढ़ा दी पर जनता को कृषि उपयोगी साधनों से सहायता न की। उसका उद्देश्य कृपकों से अधिक से अधिक भूमि-कर प्राप्त करना था।[३] विदेशी राज्य की शोषण नीति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १८२२ के निकट उत्तरी भारत में अंग्रेजी शासन की ओर से अस्सी प्रतिशत भूमि-कर लिया जा रहा था।[४] इससे यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक न होगा कि उस युग का सामान्य जन जीवन आर्थिक विपन्नता में जीवित था।

'ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीय जनता का एक बड़ा भाग अनेक प्रकार के उद्योग धन्धों में व्यस्त था। बुनाई का उद्योग उत्तरी व दक्षिणी भारत में समान रूप से प्रतिष्ठित था एवं बड़ी संख्या में स्त्री-पुरुष कातने एवं बुनने के उद्योग में लगे थे।[५] नीची जाति के कृपकों की स्त्रियाँ सूत कातने की कला में दक्ष होती थीं।[६] वस्तुत: कृषि के उपरान्त सूत कातने एवं कपड़ा बुनने के उद्योग सर्वाधिक थे।[७] कपड़ा बुनने के उद्योग के साथ कपड़ा रंगने का व्यवसाय भी प्रचलित था।[८] इसके अतिरिक्त कागज, चमड़ा, ईंट, चूना, मिट्टी के बर्तन, इत्र इत्यादि बनाने के उद्योग भी प्रचलित थे और सोने चांदी की वस्तुओं का व्यापार भी होता था।[९] बढ़ई, कुम्हार एवं लुहार के द्वारा निर्मित लकड़ी, मिट्टी एवं लोहे की वस्तुओं का व्यवसाय होता था एवं अनेक प्रकार के अनाजों का उद्योग भी किया जाता है।[१०]

---

1. Economic Histyry of British India, Page 126.
2. ,, ,, ,, Page 126.
3. ,, ,, ,, Page 181.
4. ,, ,, ,, Page 384.
5. ,, ,, ,, Page 206.
6. ,, ,, ,, Page 217.
7. ,, ,, ,, Page 235.
8. ,, ,, ,, Page 249.
9. ,, ,, ,, Page 239.
10. ,, ,, ,, Page 242-243.

इस विवरण से ज्ञात होता है कि उद्योग-धन्धों की दृष्टि से तत्कालीन दशा अवनत न थी। उपर्युक्त उद्योगों में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक इस देश का बहुत बड़ा जनसमुदाय संलग्न था, किन्तु भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग को उन्नत करना ईस्ट इन्डिया कम्पनी का ध्येय न था।[6] ईस्ट इन्डिया कम्पनी का उद्देश्य था कि किस प्रकार भारत में निर्मित वस्तुओं के स्थान पर इंगलैंड में निर्मित वस्तुएँ प्रचलित की जांय और किस प्रकार भारतीय उद्योग को नष्ट करके अंग्रेजी उद्योग बढ़ाया जाय।[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम्पनी सरकार ने अनेक साधनों से भारत में इगलैंड-निर्मित वस्तुयें भेजना प्रारम्भ किया तथा भारत से इंगलैंड जाने वाली वस्तुओं पर भारी कर द्वारा रोक लगा दी।[2] इसका फल यह हुआ कि भारतीय उद्योग पनप न सके और देश केवल कृषि प्रधान बना रहा।[3] भारतीय उद्योगों का ह्रास प्रारम्भ हो गया और जब सन् १८१३ में भारतीय वाणिज्य ईस्टइंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर अंग्रेज व्यापारियों के हाथ आया, तब भी भारतीय उद्योगों की क्रमशः समाप्ति का क्रम चलता रहा।[4] इस प्रकार कृषि-कर के शोषण से संत्रस्त भारतीय जनता उद्योग धन्धों के नष्ट होने पर पूर्ण आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त हो गई। विदेशी शासन की इस स्वार्थपूर्ण अर्थनीति की आलोचना करते हुये यूसुफ अली ने ठीक ही लिखा है कि देश का कुटीर उद्योग नष्ट हो गया जिससे कला कृतियाँ भी प्राप्त होती थी एवं जनता की नित्य आवश्यकताओं की वस्तुओं का सृजन भी होता था। निर्मित वस्तुओं के व्यवसाय को विदेशी आयात व्यापार ने अधिकृत कर लिया[5] और इस प्रक्रिया में देश निर्धन हो चला।

जिस युग में संत तुलसी का आविर्भाव हुआ, उसमें सामान्य जनता का जीवन सुखी न था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासकों की भूमि-कर सम्बन्धी

1. Economic History of British India Page 256.
2. " " " Page 257.
3. " " " Page 257.
4. " " " Page 262.
5. " " " Page 202-293.
6. "The hand industries succumbed; both those wich had supplied art products and those which had supplied the daily needs of the people. Manufactures became more and more the monopoly of the foreign import trade."
—Cultural History of British India Page 158.

कृपक की आर्थिक दशा विषम कर दी थी। इसी प्रकार विदेशी शासन ने यहाँ के उद्योग धन्धों को नष्ट करके जनता के एक बहुत बड़े भाग को निर्धन कर दिया। तत्कालीन जन जीवन की आर्थिक दुरावस्था का परिचय इतिहास के ग्रन्थों में अंकित है जिससे ज्ञात होता है कि कम्पनी सरकार के शासन में कृपकों की निर्धनता सर्वाधिक थी।[1] तत्कालीन ग्राम जीवन की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में ईस्ट इंडिया कम्पनी के कोलब्रुक नामक अंग्रेज पदाधिकारी ने जो कुछ लिखा है उससे यह ज्ञात होता है कि विधवाओं तथा अनाथ स्त्रियों के बीमार हो जाने के कारण खेत में काम करने में अक्षम होने पर अथवा परिवार के लिए धन अर्जित करने वाले पुरुप के कार्य योग न रहने पर स्त्रियों के पास सूत कात कर जीवका उपार्जन के अतिरिक्त अन्य कोई साधन न था।[2] एक अंग्रेज के द्वारा भारतीयों के आर्थिक कष्ट का यह उल्लेख प्रकट करता है कि तत्कालीन जनता नितान्त अभाव का जीवन व्यतीत कर रही थी। वस्तुतः नगरों में रहनेवाले कुछ सम्पन्न व्यापारियों के अतिरिक्त अधिकांश जनता निर्धनता एवं दुरावस्थाग्रस्त अभाव के मध्य रहती थी।[3] इसी को लक्ष्य करके कोलब्रुक ने इसके कष्ट को समझा था[4] एवं सहानुभूति प्रकट की थी। पर ईस्ट इंडिया कम्पनी की नीति देश के आर्थिक शोपण से सम्बद्ध थी, अतएव उसने उदार अंग्रेज अधिकारियों के विचार पर ध्यान नहीं किया।

उपयुक्त पंक्तियों से तुलसी साहब के युग की आर्थिक परिस्थिति का परिचय प्राप्त होता है। यह आर्थिक अपकर्ष और अवनीति का परिचय है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन ने देश को आर्थिक दृष्टि से पंगु कर दिया था। जीविका के मुख्य आधार कृषि को अनुचित भूमि करों से कुंठित करने के साथ

---

1. Economic History of British India, page 370.
2, "*No public provision exists to relieve the wants of the poor* and helpless. The only employment in which widows and female orphans incapacitated for field labour by sickness or by their rank, can earn a subsistance, is by spinning, and it is the only employment to which the females of the family can apply themselves to maintain the men, if these be disqualified for labour by infirmity or by any other cause.

—Cultural History of British India, page 41.

3. Sarkar and Dutta : Modern Indian,History, part II, P. 1.
4 Cultural History of British India, page 41.

ही कम्पनी सरकार ने तत्कालीन उद्योगों को नष्ट करने की पूर्ण चेष्टा की। फलस्वरूप आर्थिक दुरावस्था एवं विपन्नता ही अवशिष्ट रही।

प्रभाव

तुलसी साहब की रचनाओं में आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। राजनीतिक परिस्थिति की भांति ही आर्थिक परिस्थिति के सम्बन्ध में संत तुलसी ने कुछ नहीं लिखा है। वस्तुतः साधक जिस प्रकार देश की परिवर्तित होने वाली राजनीति के प्रति जागरूक नहीं होते, उसी प्रकार आर्थिक जीवन के अध्ययन में सचेष्ट नहीं रहते। राजनीति एवं अर्थनीति समान रूप से उनका प्रतिपाद्य नहीं है। तुलसी साहब की रचनाओं में आर्थिक परिस्थिति के प्रभाव की अनुपलब्धि का कारण यही है।

प्रतिक्रिया

संत तुलसी पर आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव अंकित करना संभव नहीं है क्योंकि इससे सम्बंधित किसी प्रकार का उल्लेख उनकी रचनाओं में अप्राप्य है। आर्थिक परिस्थिति के प्रभाव की भांति ही उन पर इसकी प्रतिक्रिया अंकित करना भी संभव नहीं है। तत्कालीन आर्थिक जीवन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का स्वरूप निश्चित करना असंभव है, क्योंकि इस सम्बन्ध का कोई उल्लेख उनकी कृतियों में प्राप्त नहीं होता।

३—सामाजिक परिस्थितियाँ

जिस युग में संत तुलसी आविर्भूत हुए, राजनीतिक परतंत्रता एवं आर्थिक विपन्नता के कारण वह भारतीय समाज की अवनति का युग था। इन परिस्थितियों में समाज विकास के पथ पर नहीं चलता है। वस्तुतः विकास का प्रश्न ही नहीं उठता, संरक्षण की भावना भी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों से जड़ित हो उठी थी। समाज के प्राचीन मूल्य परम्परा के रूप में जड़ समाज की सम्पत्ति मात्र थे। गुण कर्म के आधार पर जिस वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात हुआ था, वह अपने लक्ष्य से विरत होकर सम्पूर्ण समाज को भेदवादी नीति का बाह्याडम्बर बनाये हुए थी। अभेदत्व के उपासक संत कवियों को भेद-प्रभेद को प्रश्रय देने वाली इस समाज व्यवस्था पर दृष्टि पड़े विना रह नहीं सकती थी। उन्होंने यथासंभव इसका प्रत्याख्यान किया।

तत्कालीन समाज में परम्परागत आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जातियां समादृत थी। तुलसी साहब ने एक स्थान पर इन जातियों का

१—छत्री और ब्राह्मण वंस अपावन। सूद्र मती छर छार भई॥

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४०।

उल्लेख किया है [1] निश्चय ही श्रेष्ठ जातियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की गणना होती होगी और शूद्र आदि की गणना नीची जातियों में। उस समय उच्च एवं नीच जातियों के मध्य मध्यस्तर की कई जातियां प्रतिष्ठित हो चुकी थीं जिनमे कायस्थ और खत्री उल्लेख्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में माँस सेवन के लिए खत्री एवं कायस्थ कुख्यात थे। तुलसी साहब ने मांसाहारी जातियों में कायस्थ एवं खत्री का उल्लेख किया है और इस कला में इनको गुरु एवं शिष्य बताया है।[1] मध्य श्रेणी की इन जातियों के अतिरिक्त निम्नस्तर की जातियों में कलवार [2] चमार,[3] लुहार[4], केवट[5] इत्यादि का प्रसंगवश उल्लेख तुलसी साहब ने किया है। उन्होंने नौतिया, नाउत आदि निम्नवर्गीय उन जातियों की भी चर्चा की है जो धार्मिक अवसर पर पशु बलि करते थे।[6] इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि नाउत इत्यादि जातियां निम्नवर्गीय समाज के धार्मिक विधानों तथा कृत्यों के सम्पादन का प्रवन्ध करती थीं।

उस युग में अस्पर्श--स्पर्श की भावना गृहस्थों तक ही सीमित न थी अपितु आध्यात्म के क्षेत्र में विचरण करने वाले विरक्त उपासक भी भोजन के सम्वन्ध में आचार का पालन करते थे। तुलसी साहब ने 'डंडी' साधक का उल्लेख किया है, जो ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य किसी जाति के हाथ का भोजन नहीं करते थे।[7] छुआ--छूत का विचार मनुष्यों के मध्य तो प्रचलित ही था, मन्दिरों

१—आप खाइ और सबै सिखावै। कायथ या से गुरु कहावै॥
और खत्री सुन सिष्य सुनाई। मास खानि कीन्ही गुरुवाई॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५२।

२—रत्नसागर, पृ० ३२।

३—रत्नसागर, पृ० १२८।

४—रत्नसागर, पृ० १४।

५—रत्नसागर, पृ० २३।

६—छवन सुवरी फेर नौतिया से कहा।
मारे जाय चढ़ाइ नहीं उसके दया॥
नाउत नीची जाति जिम करते रहे।
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ९०।

७—डंडी दंड कमंडल लीन्हा। लकरी बांधि जनेऊ कीन्हा॥
बाम्हन हाथ प्रसादी पावै। और जाति का छुवा न खावै॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९८

में भी प्रत्येक व्यक्ति का प्रवेश निषिद्ध था तथा वहां की साज सामग्री का स्पर्श वर्जित था।[१] संत-सम्प्रदाय के महात्माओं ने इस कुसंस्कार को मिटाने की पूर्ण चेष्टा की। उन्होंने सब जातियों में प्रतिष्ठित आत्मतत्त्व के आधार पर इस भेदभाव का खण्डन किया।

तत्कालीन ह्रासोन्मुख समाज व्यवस्था में एक कुरीति या कुसंस्कार नहीं था। छुआ-छूत से भी अधिक अमानुषीय कुरीतियां प्रचलित थीं। लड़कियों के जन्म पर उन्हें मार डाला जाता था।[२] यह प्रथा जाटों एवं क्षत्रियों में प्रचलित थी। तुलसी साहब ने जाटों के द्वारा पुत्रीवध काउल्लेख किया है।[३] एक स्थान पर ब्राह्मण की शुद्धता एवं पवित्रता पर प्रहार करते हुए संत तुलसी ने कहा है कि क्षत्रिय अपनी पुत्रियों का बध करके भूमि में गाड़ देते थे, इस तथ्य से अभिज्ञ पुरोहित उसी स्थान पर बैठ कर भोजन करते थे जहां लड़की का शव गाड़ दिया गया था।[4] इतिहास के ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है कि उस युग में पुत्री हत्या की प्रथा जाटों एवं क्षत्रियों में प्रचलित थीं।[५] यह कुरीति संत तुलसी को ही अमानुषीय ज्ञात नहीं हुयी अपितु कम्पनी सरकार ने भी विक्षुब्ध होकर सन् १७९५ एवं सन् १८०२ के नियमों द्वारा इसका निषेध कर दिया।[६] पर यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इन नियमों से यह दुष्कृत्य पूर्णतया समाप्त

१—मंदिर में कोई जान न पावै। वरतन कपड़ा छुवा न जावै ॥
—घटरामायण, द्वितीण भाग, पृ० ६५।

२—लकड़ी मारि करैं क अजगूता। यस हत्या आतम होइ मता ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १४७।

३—सुनि साहिव जाटों की रीति। लकड़ी मारि जो करैं अनीति ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग पृ० १५२

४—विटिया छत्री मार प्रोहित की भोजन भूमि जहां लड़की गड़ी ॥
तुलसी कौन कौन सो गाऊं, जुग जौनी नहि नरक कढ़ी ॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११०

5. A History of Modern India, page 192.

6. "The first great social reform carried out by the company's Government was the abolition of the curious practice of the infanticide.........this was prohibited by the Regulations XXI of 1795 and Regulation vi of 1802."—Evolution of Indian culture, page 508.

उल्लेख किया है[1] निश्चय ही श्रेष्ठ जातियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की गणना होती होगी और शूद्र आदि की गणना नीची जातियों में। उस समय उच्च एवं नीच जातियों के मध्य मध्यस्तर की कई जातियां प्रतिष्ठित हो चुकी थीं जिनमे कायस्थ और खत्री उल्लेख्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में मांस सेवन के लिए खत्री एवं कायस्थ कुख्यात थे। तुलसी साहब ने मांसाहारी जातियों में कायस्थ एवं खत्री का उल्लेख किया है और इस कला में इनको गुरु एवं शिष्य बताया है।[2] मध्य श्रेणी की इन जातियों के अतिरिक्त निम्नस्तर की जातियों में कलवार[2] चमार,[3] लुहार[4], केवट[5] इत्यादि का प्रसंगवश उल्लेख तुलसी साहब ने किया है। उन्होंने नौतिया, नाउत आदि निम्नवर्गीय उन जातियों की भी चर्चा की है जो धार्मिक अवसर पर पशु बलि करते थे।[6] इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि नाउत इत्यादि जातियां निम्नवर्गीय समाज के धार्मिक विधानों तथा कृत्यों के सम्पादन का प्रबन्ध करती थीं।

उस युग में अस्पर्श-स्पर्श की भावना गृहस्थों तक ही सीमित न थी अपितु आध्यात्म के क्षेत्र में विचरण करने वाले विरक्त उपासक भी भोजन के सम्बन्ध में आचार का पालन करते थे। तुलसी साहब ने 'डंडी' साधक का उल्लेख किया है, जो ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य किसी जाति के हाथ का भोजन नहीं करते थे।[7] छुआ-छूत का विचार मनुष्यों के मध्य तो प्रचलित ही था, मन्दिरों

१—आप खाइ और सबै सिखावै। कायथ या से गुरु कहावै॥
और खत्री सुन सिष्य सुनाई। मास खानि कीन्ही गुरुवाई॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५२।

२—रत्नसागर, पृ० ३२।

३—रत्नसागर, पृ० १२८।

४—रत्नसागर, पृ० १४।

५—रत्नसागर, पृ० २३।

६—छवन सुवरी फेर नौतिया से कहा।
मारे जाय चढ़ाइ नहीं उसके दया॥
नाउत नीची जाति जिन करते रहे।
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ९०।

७—डंडी दंड कमंडल लीन्हा। लकरी बांधि जनेऊ कीन्हा॥
बाम्हन हाथ प्रसादी पावै। और जाति का छुवा न खावै॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९८

में भी प्रत्येक व्यक्ति का प्रवेश निषिद्ध था तथा वहां की साज सामग्री का स्पर्श वर्जित था।[1] संत-सम्प्रदाय के महात्माओं ने इस कुसंस्कार को मिटाने की पूर्ण चेष्टा की। उन्होंने सब जातियों में प्रतिष्ठित आत्मतत्त्व के आधार पर इस भेदभाव का खण्डन किया।

तत्कालीन ह्रासोन्मुख समाज व्यवस्था में एक कुरीति या कुसंस्कार नहीं था। छुआ-छूत से भी अधिक अमानुषीय कुरीतियां प्रचलित थीं। लड़कियों के जन्म पर उन्हें मार डाला जाता था।[2] यह प्रथा जाटों एवं क्षत्रियों में प्रचलित थी। तुलसी साहब ने जाटों के द्वारा पुत्रीवध का उल्लेख किया है।[3] एक स्थान पर ब्राह्मण की शुद्धता एवं पवित्रता पर प्रहार करते हुए संत तुलसी ने कहा है कि क्षत्रिय अपनी पुत्रियों का वध करके भूमि में गाड़ देते थे, इस तथ्य से अभिज्ञ पुरोहित उसी स्थान पर बैठ कर भोजन करते थे जहां लड़की का शव गाड़ दिया गया था।[4] इतिहास के ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है कि उस युग में पुत्री हत्या की प्रथा जाटों एवं क्षत्रियों में प्रचलित थीं।[5] यह कुरीति संत तुलसी को ही अमानुषीय ज्ञात नहीं हुयी अपितु कम्पनी सरकार ने भी विक्षुब्ध होकर सन् १७९५ एवं सन् १८०२ के नियमों द्वारा इसका निषेध कर दिया।[6] पर यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इन नियमों से यह दुष्कृत्य पूर्णतया समाप्त

१—मंदिर में कोई जान न पावै। बरतन कपड़ा छुवा न जावै॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६५।

२—लकड़ी मारि करें क अजगूता। यस हत्या आतम होइ मता॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १४७।

३—सुनि साहिब जाटों की रीति। लकड़ी मारि जो करें अनीति॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग पृ० १५२

४—बिटिया छत्री मार प्रोहित की भोजन भूमि जहां लड़की गड़ी॥
तुलसी कौन कौन सो गाऊं, जुग जौनी नहि नरक कढ़ी॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११०

5. A History of Modern India, page 192.

6. "The first great social reform carried out by the company's Government was the abolition of the curious practice of the infanticide.........this was prohibited by the Regulations XXI of 1795 and Regulation vi of 1802."—Evolution of Indian culture, page 508.

नहीं हुआ और लड़की को मार कर नदी इत्यादि में फेंकने [1] के स्थान पर उसे घर की भूमि में गाड़ा जाने लगा।

जिस समाज में पुत्री का जन्म अमांगलिक माना जाता हो [2] और परिमार्जन के निमित्त उसकी हत्या विधेय हो, वहां स्त्रियों की सामाजिक दशा का अनुमान करना कठिन नहीं है। यदि कोई स्त्री पति की अनुमति के विना संत महात्माओं के दर्शन के निमित्त जाती थी, तो उसका पति यह समझता था कि पत्नी के इस कृत्य से उसकी सामाजिक मर्यादा नष्ट हुई है एवं उसके सम्मान पर आघात हुआ है।[3] इसके प्रतिकार स्वरूप पड़ोसियों की सम्मति के अनुसार वह पत्नी के वाहर जानेपर प्रतिवन्ध लगा देता था।[4] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि आज कल की भांति ही तुलसी साहब के समय लोग अपने पड़ोसियों में तीव्र रुचि रखते थे। अपनी पत्नी को सामान्य अवहेलना पर प्रपीड़ित करने वाले व्यक्तियों की प्रधानता अवश्य थी किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो पत्नी को परमार्थ-पथ पर चलते देख कर हर्षित होते थे।[5] इसी प्रकार स्त्रियों को दन्ड देने का ढंग भी उनकी मर्यादा का अतिक्रमण करता था। दोषी सिद्ध होने पर उसका सिर मुड़ा दिया जाता था।[6] उपयुक्त प्रमाणों से यह प्रकट होता है कि तत्कालीन

1, Evolution of Indian Culture, page 508.
2. A History of Modern India, page 892.

३—करिया संग सखी एक जैनी। ता कर नाम रहे पुनि सैनी॥
तुलसी दरस गई दरवारा। पुरुष भेद सुनि पायौ सारा॥
पुरुष नाम है काल्‌ जेही। नग्र लोग कहि वरनत तेही॥
काल्‌ नारि धाइ धमकाई। ये फकीर ढिग जान न पाई॥
काल्‌ कहैं मीर दुखदाई। जक्त लोग थूकै मुख माहीं॥
मोरी पाग आव तैं खोवा। अस कहि धाइ धाइ कै रोवा॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १०९

४—पाड़ पड़ोसन अस समझावैं। अव यह कहूं जान नहिं पावैं॥
सव घर टेरि कह दीन्हा। घर वाहर इन जान न दीन्हा॥
निकर सकै नहिं वाहर जाई। घर मे वैठी हिये दुख माई॥ ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग पृ० १०९

५—कमां नारि पूरुख विख्याता। कहो कहां गई कोने साथा॥
तव करिया वरतंत सुनावा। तुलसी वरनन विधी वतावा॥
सुनि कमां मन भयो अनंदा। अव तोर छूट काल कर फंदा।
—घटरामायण, प्रथम भाग पृ १०९

नारी की सामाजिक स्थिति अच्छी न थी। वह धर्म एवं समाज के कड़े नियन्त्रण में रहती थी।

स्त्रियों में सती प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा का प्रभाव सम्पूर्ण देश एवं समाज के समस्त स्तरों पर पड़ चुका था। उस समय सतियों के मेले होते थे जिसमें जनता बड़े उत्साह से सम्मिलित होती थी।[1] सती होने के लिए स्त्री की इच्छा अनिच्छा की प्रत्येक समय चिन्ता नहीं की जाती थी और अनेक अवसरों पर उसे सती बनने के लिए बाध्य किया जाता था। अंग्रेजी शासन में भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर विचार करते समय ए० युसुफअली ने सन् १८२५ की एक ऐसी ही घटना का उल्लेख किया है जिसमें एक स्त्री को सती बनने के लिए अमानुषीय ढंग से बाध्य किया गया था।[2] वस्तुतः इस युग में सती होना नारी की इच्छा अनिच्छा पर कम निर्भर था; यह प्रथा सामाजिक व्यवस्था पालन के रूप में अधिक प्रचलित थी। इस कुप्रथा की ओर विदेशी शासन का ध्यान गया एवं लार्ड विलियम वेन्टिक ने सन् १८२९ में कानून द्वारा इसका निषेध किया।[3]

Foot note of Previous page

६—माल म गाय राज ने लीन्हा। तुरत विदा उरगाना कीन्हा।
तिरिया केर मूड़ मुड़वाया। सांच बनन उरगाना पाया॥

—रत्नसागर पृ० १३७।

Foot note of this page.

१—सरदेसाई भारत वर्ष का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १५८।

2. "A young man having died of Cholera his widow resolved to mount the funeral pile, The fire was lighted and when the flame reached her, however, she lost courage and amid a volume of smoke and deafening screams of the mob, tom toms, drums etc. she contrived to slip down unperceived and gained a neighbouring jungle. When the smoke subsided, it was discovered that she was not on the pile, the mob became furious, and ran into the Jungle to look for the unfortunate youhg creature, dragged her down to the river, put her into a dingy end shoved off to the middle of the stream, where they forced her violently overboard, and she sunk to rise no more."

—Cultural History of British Indla, p. 169.

3. Sarkar and Dutt : Modern Indian History : page 198.

नहीं हुआ और लड़की को मार कर नदी इत्यादि में फेंकने [1] के स्थान पर उसे घर की भूमि में गाड़ा जाने लगा।

जिस समाज में पुत्री का जन्म अमांगलिक माना जाता हो [2] और परिमार्जन के निमित्त उसकी हत्या विधेय हो, वहां स्त्रियों की सामाजिक दशा का अनुमान करना कठिन नहीं है। यदि कोई स्त्री पति की अनुमति के बिना संत महात्माओं के दर्शन के निमित्त जाती थी, तो उसका पति यह समझता था कि पत्नी के इस कृत्य से उसकी सामाजिक मर्यादा नष्ट हुई है एवं उसके सम्मान पर आघात हुआ है।[3] इसके प्रतिकार स्वरूप पड़ोसियों की सम्मति के अनुसार वह पत्नी के बाहर जानेपर प्रतिबन्ध लगा देता था।[4] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि आज कल की भांति ही तुलसी साहब के समय लोग अपने पड़ोसियों में तीव्र रुचि रखते थे। अपनी पत्नी को सामान्य अवहेलना पर प्रपीड़ित करने वाले व्यक्तियों की प्रधानता अवश्य थी किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो पत्नी को परमार्थ-पथ पर चलते देख कर हर्षित होते थे।[5] इसी प्रकार स्त्रियों को दन्ड देने का ढंग भी उनकी मर्यादा का अतिक्रमण करता था। दोषी सिद्ध होने पर उसका सिर मुड़ा दिया जाता था।[6] उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रकट होता है कि तत्कालीन

1, Evolution of Indian Culture, page 508.
2. A History of Modern India, page 892.

३—करिया संग सखी एक जैनी। ता कर नाम रहें पुनि सैनी॥
तुलसी दरस गई दरबारा। पुरुष भेद सुनि पायो सारा॥
पुरुष नाम है कालू जेही। नग्र लोग कहि बरनत तेही॥
कालू नारि धाइ धमकाई। ये फकीर ढिग जान न पाई॥
कालू कहैं मीर दुखदाई। जक्त लोग थूकैं मुख माहीं॥
मोरी पाग आब तें खोवा। अस कहि धाइ धाइ कै रोवा॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १०९

४—पाड़ पड़ोसन अस समझावैं। अब यह कहूं जान नहिं पावैं॥
सब घर टेरि कह दीन्हा। घर बाहर इन जान न दीन्हा॥
निकर सकै नहिं बाहर जाई। घर मे भैठी हिये दुख माई॥॥
—घटरामायण, प्रथम भाग पृ० १०९

५— कर्मां नारि पूछ विख्याता। कही कहां गई कोने साथा॥
तब करिया बरतंत सुनावा। तुलसी बरनन बिधी बतावा॥
सुनि कर्मां मन भयो अनंदा। अब तोर छूट काल कर फंदा।
—घटरामायण, प्रथम भाग पृ १०९

नारी की सामाजिक स्थिति अच्छी न थी। वह धर्म एवं समाज के कड़े नियत्रंण में रहती थी।

स्त्रियों में सती प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा का प्रभाव सम्पूर्ण देश एवं समाज के समस्त स्तरों पर पड़ चुका था। उस समय सतियों के मेले होते थे जिसमें जनता बड़े उत्साह से सम्मिलित होती थी।[१] सती होने के लिए स्त्री की इच्छा अनिच्छा की प्रत्येक समय चिन्ता नहीं की जाती थी और अनेक अवसरों पर उसे सती बनने के लिए बाध्य किया जाता था। अंग्रेजी शासन में भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर विचार करते समय ए० युसुफअली ने सन् १८२५ की एक ऐसी ही घटना का उल्लेख किया है जिसमें एक स्त्री को सती बनने के लिए अमानुषीय ढंग से बाध्य किया गया था।[२] वस्तुतः इस युग में सती होना नारी की इच्छा अनिच्छा पर कम निर्भर था; यह प्रथा सामाजिक व्यवस्था पालन के रूप में अधिक प्रचलित थीं। इस कुप्रथा की ओर विदेशी शासन का ध्यान गया एवं लार्ड विलियम बेन्टिक ने सन् १८२९ में कानून द्वारा इसका निषेध किया।[३]

Foot note of Previous page

६—माल मंगाय राज ने लीन्हा। तुरत विदा उरगाना कीन्हा।
तिरिया केर मूड़ मुड़वाया। सांच वचन उरगाना पाया॥
—रत्नसागर पृ० १३७।

Foot note of this page.

१—सरदेसाई भारत वर्ष का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १५८।

2. "A young man having died of Cholera his widow resolved to mount the funeral pile, The fire was lighted and when the flame reached her, however, she lost courage and amid a volume of smoke and deafening screams of the mob, tom toms, drums etc. she contrived to slip down unperceived and gained a neighbouring jungle. When the smoke subsided, it was discovered that she was not on the pile, the mob became furious, and ran into the Jungle to look for the unfortunate youhg creature, dragged her down to the river, put her into a dingy end shoved off to the middle of the stream, where they forced her violently overboard, and she sunk to rise no more."

—Cultural History of British Indla, p. 169.

3. Sarkar and Dutt : Modern Indian History : page 198.

यह तो हुई स्त्रियों की चर्चा, पुरुषों के सम्मुख भी कोई उच्च आदर्श न थे। संत तुलसी ने देखा कि पुरुष वर्ग माया, मोह एवं अभिमान के पाश से जड़ित है।[1] ऐसे पुरुष समाज में किसी प्रकार के प्रयत्न एवं प्रेरणा की संभावना नहीं होती। संत तुलसी ने विषय-वासना को मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट विभूति मानने वाले पुरुष समाज को लक्ष्य करके ही लिखा है—'लोग इन्द्रीसुख, स्वाद, रस-रंग एवं विषय-वासना में लिप्त थे। वे खान, पान और पोशाक के पीछे जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहे थे। स्त्री प्रसंग उन्हें प्रिय था, इसके प्रति वे अनुरक्त थे। वे दिवारात्रि विषय रूपी विष का सेवन करते थे और समाज में मान-बड़ाई की अभिलाषा रखते थे। कुटिल कुविचार से प्रेरित लोग वार्तालाप में कटु शब्दों का प्रयोग करते थे। कुसंग उन्हें प्रिय था, सत्संग से दूर रहते थे।[2] वस्तुतः उनका जीवन निरर्थक था। खा पी और हँस बोल कर वे विधाता के अमूल्य दान, मानव-जीवन को नष्ट कर रहे थे। जिस समाज का पुरुष वर्ग जीवन के ऊँचे मूल्यों की उपेक्षा करके भोग विलास के प्रति अनुरक्त हो, उसके आन्तरिक ह्रास का अनुमान करना कठिन नहीं है।

संत तुलसी के सामयिक समाज में अर्थ उन्हें ही प्रिय न था जो संसार की साधना करते थे अपितु उनको भी प्रिय था जो परमार्थ का प्रपंच रचते थे। इसका उल्लेख करते हुए संत तुलसी ने कहा है कि बड़े ज्ञानी, गुणी कवीश्वर एवं पंडित मायारूपी सम्पत्ति के प्रभाव में थे।[3] गुणी व्यक्ति भी धन

१—मना अभिमान में भूला। माया मद मोह बस फूला॥
विषय रस रीत मद माता। तिमर तन तोर में राता॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६६।

२—इन्द्री सुख स्वाद रस रंगा। विषय बस बास के संगा॥
खान और पान पोसाका। इसक बदबास दुख स्वासा॥
त्रिया रस भोग में राजी। फिरत बेफहम बस पाजी।
सेज नित साज कर सोता। काल नित स्वास को जोता।
बड़ाई मान को चाहैं। विषय विष रैन दिन खावैं॥
जिम्या जास जहर को बानी। कुटिल कुविचार मनमानी॥
सुनत सुसंग उठि भागैं। निरखि कुसंग संग लागैं॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६८।

३—ज्ञानी गुनी कवेसुर होई। पण्डित और भेष सब कोई॥
माया ने चेरा करि राखा। समझे कहा सन्त की भाखा॥
—रत्नसागर, पृ० १०३।

की उपासना में पड़े हुये थे। तुलसी साहब ने बताया है कि गुणी लोक को प्रसन्न करने में संलग्न थे, उनकी दशा उस वेश्या के समान थी जो धन से प्रसन्न रहती है।[1] वस्तुतः जल के अभाव में मीन की जो दशा होती है धन के अभाव में संसार की दशा भी वही थी।[2] इस प्रकार समस्त संसार अर्थ के जाल में जकड़ा था और मनुष्य धन संपत्ति की दुर्निवार अभिलाषा से जड़ित था।

उपर्युक्त विवेचन से तुलसी साहब की सामाजिक परिस्थितियों का परिचय प्राप्त हो जाता है। इन परिस्थितियों में एक भेदवादी समाज अपने बाह्याडम्बर में प्रतिष्ठित था। मनुष्य का जीवन प्रेरणा और प्रयत्न का परित्याग करके परंपरा के अन्ध परिपालन में व्यस्त था। वस्तुतः सम्पूर्ण समाज उच्च आदर्शों से वियुक्त होकर ह्रासोन्मुख हो गया था।

प्रभाव

तुलसी साहब के युग का समाज समुन्नत नहीं था—यह तथ्य उपर्युक्त पंक्तियों में यथेष्ट स्पष्ट हो जाता है। अनेक जातियां जिस भेदवादी समाज-व्यवस्था को रूढ़ कर रही थीं, उस पर अभेददर्शी साधकों की दृष्टि पड़ना स्वाभाविक है। तुलसी साहब ने विभिन्न जातियों का उल्लेख करते समय यह कहा है कि ये सब पेट पालन में लगे थे।[3] उनका अभिप्राय यह था कि समाज वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से तो भेदवादी है किन्तु अर्थ सबका लक्ष्य है। वस्तुतः ग्रहण कराने के अर्थ में तत्कालीन समाज की किसी भी प्रवृत्ति का प्रभाव संत तुलसी पर दृष्टिगत नहीं होता। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था, छुआ-छूत इत्यादि कुरीतियों का प्रत्याख्यान किया है। इसके अतिरिक्त अवनत, ह्रासोन्मुख एवं जड़ समाज के आध्यात्मिक उत्कर्ष के अभिलाषी एवं चैतन्य के उपासक पर प्रभाव पड़ना संभव भी नहीं है।

१—गुनी भेप बहु जक्त रिझाया। बादइ जग में जन्म गंवाया॥
ज्यों बिस्वा पैसे से राजी। या विधि बुद्धि सभी उपराजी॥
रत्नसागर, पृ० १०३।

२—जल बिन मीन भई बेहाला। ज्यों पैसे डालो जग जाला॥
रत्नसागर, पृ० १०३।

३—ब्राह्मन अरु पुनि शूद्र, ये सब बूड़े उद्र को।
बैश्य बसा नौ वास, कस अकास डोरी गहे॥

प्रतिक्रिया

उपर्युक्त सामाजिक परिस्थितियों के प्रति तुलसी साहब की प्रतिक्रिया स्पष्ट रूपसे प्रकट हुई है। तत्कालीन वर्ण व्यवस्था एवं स्पर्श-अस्पर्श के विचारों का खण्डन करने के साथ ही उन्होंने अन्धविश्वासी उपासकों के हिंसात्मक कृत्यों की तीव्र आलोचना की।[1] उन्होंने उस अन्यायमूलक सामाजिक प्रथा की निन्दा की जिसके अनुसार जाट और क्षत्रिय वालिका के जन्म लेने पर उसे मार डालते थे। इस सम्बन्ध में उनकी प्रतिक्रिया यथेष्ट स्पष्ट है। उन्होंने इस दुष्कृत्य को 'अनीति ही नहीं वताया[2] अपितु शिशु की हत्या करने वाले को 'अधम कहकर उसकी निन्दा भी की है।[3] उन्हें इस वात का आश्चर्य था कि कन्या को संसार का पाप समझने वाले व्यक्ति उससे बचने के लिये हत्या का पाप करते थे।[4] इसके अतिरिक्त समाज में अर्थ की वढ़ती महिमा और सद्‌गुणों को त्याग कर विषय में लिप्त रहने वाले व्यक्तियों की आलोचना भी तुलसी साहब ने की।[5] वस्तुतः समाजव्यापी विषमताओं एवं अन्यायमूलक प्रथाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया आलोचनात्मक-खंडनात्मक रूप धारण करके प्रकट हुई है। यह उचित भी था। विषमताओं के विषय में मुखों को निरावरण करके ही उनके कुरूप के प्रति लोक को सचेत किया जा सकता है। संत तुलसी की सामाजिक परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया इसी पद्धति को स्वीकार करती है।

४ धार्मिक परिस्थिति

राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की भांति ही तुलसी

१—वकरा मारि भवानी पूजें, मूड़ टका विन गाज पड़े ॥
यह अनीत आशा तन खोया, पंडित नरक विच नाहिं कढ़े ॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११०।

२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १४७।

३—आज गृहस्थ लड़की जो मारे। ताको जगत अधम करि डारे॥
अस अस अधम काम जिन कीन्हा। जम ने वांधा भये अधीना॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १४७ एवं १५२।

४—कन्या पाप जगत में भारी। सो वे जादों करे विचारी।
अस अस पाप करम की जुगती। सो जादों नहिं पावे मुक्ती॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५२।

५—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६८ एवं ६९।

साहब की धार्मिक परिस्थिति उदात्त न थी। उस युग में धर्म का अभिप्राय सत्यान्वेषण न था अपितु बाह्याचार एवं कर्मकाण्ड धर्म के रूप में समाहृत थे। इससे धार्मिक जीवन में मिथ्याचार तथा पाखण्ड को प्रश्रय प्राप्त हो रहा था। फलतः धर्म की सहज प्रभावात्मक शक्ति का क्षय हो रहा था और जटिलता बढ़ चली थी। धर्म की जटिलता के जंजाल से तत्कालीन धार्मिक जीवन को मुक्त करना असाधारण कार्य था जिसमें अन्य सन्तों की भांति तुलसी साहब ने भी योग दिया था।

जिस युग में सन्त तुलसी का प्रादुर्भाव हुआ, उसमें छोटे-बड़े अनेक धर्ममत देश में प्रतिष्ठित थे। हिन्दू और मुसलमानों के धर्ममतों के अतिरिक्त ईसाई मत का प्रवेश भी भारत में हो गया था। सन् १८१३ से ईसाई धर्म प्रचारकों को भारतवर्ष में अपने मत प्रचार की आज्ञा मिल गई थी।[1] इसके पूर्व भी वे परोक्ष रूप से यह कार्य कर रहे थे किन्तु यहां के धार्मिक जीवन को प्रभावित नहीं कर पाये थे।[2] पर सन् १८१५ से १८३३ के मध्य ईसाई धर्म प्रचारकों ने प्रगति की और अपने प्रयत्नों से देश के तटवर्ती नगरों में ऊँची जाति के शिक्षित भारतीयों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया।[3] किन्तु कतिपय शिक्षित व्यक्तियों के ईसाई हो जाने से यह अनुमान करना कि इस धर्म ने जन जीवन को प्रभावित किया, युक्ति युक्त न होगा। वस्तुतः उस युग में ईसाई धर्म प्रचारकों का भारतीय धर्म पर उल्लेखनीय प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता है।[4] तुलसी साहब की रचनाओं पर भी इस धर्म का प्रभाव लक्षित नहीं होता है किन्तु एक आध स्थलों पर ईसा[5] जिब्राइल[5] आदि ईसाई उपास्यों के नामोल्लेख से यह प्रकट होता है कि यह धर्म भारतीय जीवन में प्रवेश पाने के निमित्त सचेष्ट था।

उपर्युक्त मुख्य धर्म मतवादियों के अतिरिक्त अनेक छोटे-बड़े धर्म

1. Cultural History of British India, Page 131.
2. Cultural History of British India, Page 131.
3. Sarkar and Dutta : Modern India History Part II, Page 195.
4- It cannot be claimed, inspite of a *number* of noble and devoted men who served the missionary cause in India, that their direct influence on Indian religion has been remarkable—Cultural History of British India, Page 132.

५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३०।

सम्प्रदाय अपना अस्तित्व रखते थे और विभिन्न साधना पद्धतियों से तत्कालीन धार्मिक जीवन को जटिल बना रहे थे। इसी को लक्ष्य करके तुलसी साहब ने कहा था कि संसार अन्धाधुन्ध भाव से बढ़ा जा रहा है, यहां कोई मुक्ति-पथ की चिन्ता नहीं करते।[१] इन सम्प्रदायवादियों में जैन[२], योगी[३], वैष्णव[४], डंडी[५], कबीर पंथी[६], दादू पंथी[७], और नानक पंथियों[८] का स्पष्ट उल्लेख तुलसी साहब ने किया है। इनके अतिरिक्त वेदान्त, न्याय, मीमांसा योग, सांख्य एवं वैशेषिक षट्दर्शन के षट्मतवादी भी अपने विचारों से लोक जीवन को आन्दोलित कर रहे थे।[९] इससे यह प्रकट होता है कि तुलसी साहब के युग का धार्मिक जीवन भेद-प्रभेद युक्त था। उस समय अनेक धर्म साधनायें एवं धर्म सम्प्रदाय प्रतिष्ठित थे। अतएव तत्कालीन धार्मिक जीवन निश्चय ही जटिल हो गया होगा।

तुलसी साहब के युग का धार्मिक जीवन वाह्याचार-बहुल था। वाह्याचार एवं कर्मकाण्ड में लोग इतने उलझे थे कि सत्यान्वेषण के यथार्थ लक्ष्य से विमुख हो गये थे और वाह्याचार पालन मात्र को समस्त श्रेय और प्रेय समझने लगे थे। इस वाह्याचार मूलक धर्म का परिचय देते हुए संत तुलसी ने कहा है कि हिन्दू और मुसलमान अभिज्ञ हैं, वे अहंकार में सच्चा स्वरूप भूले हैं। हिन्दू तीर्थ ब्रत में आस्था रखते हैं और मुसलमान रोजा और नमाज में। पर दोनों ही अन्धे हैं क्योंकि वाह्याचार में पड़ने के कारण पिंडस्थ आदि

१—अन्धाधुन्ध जगत व्योहारा। कोउ न मुक्ति की राह विचारा॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १०६।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ८५।

३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३०।

४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९८।

५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९८।

६—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३०।

७—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९९।

८—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९९।

९—वेदान्त कहें जग ब्रह्म मई, सो ईसुर कर्म मीमांसा ने गायो॥
कथन पतांजलि जोग कह्या, सो विसेसिक सार समय जो बतायो॥
न्याय जो गाइ करतार कहैं, सोइ सांख्य ने नीत अनीत सुनायो॥
तुलसी षट रीति प्रपंच करी, सो फर्यो जिन जक्त को जानि बुड़ायो॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १३१।

पुरुष का संधान नहीं करते ।[1] यह बाह्याचार हिन्दू और मुसलमानों तक ही सीमित नहीं था । वस्तुतः सम्पूर्ण एवं समस्त धार्मिक जीवन बाह्याचार प्रधान था । हिन्दुओं की भांति ही जैन मतावलम्बी भी उपासना के बाह्य विधि-विधानों में आस्था रखते थे एवं अर्चना में फूल, फल, आदि का प्रयोग बड़े विधि विधान से करते थे ।[2] कर्मकाण्ड और बाह्याचार कबीर, दादू एवं नानक के अनुयायियों तक में प्रविष्ट हो गया था ।[3] यह विरोधमूलक तथ्य था कि कर्मकाण्ड एवं बाह्याचार का प्रत्याख्यान करने वाले संतों के अनुयायी बड़े

१—फहमीद तुर्क हिंदू नही, भूले अपनपौ आप में ॥
रोजा निमाजों मे तुरुक । हिंदू बरत तीरथ करै ॥
दोनों दीद बंद देखते । अन्दर अलिफ चीन्हा नहीं ॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५८–५९

२—बेल फूल चमेलि चंपा । काम कमोदिनि केतकी ॥
तास परमल बास सूँघौ । अगर आगद सेवती ॥
नारियल लौंग केला । प्रभु जी के चरन चढ़ाइया ॥
मोरी इतनी बिनती दयाल कौ । पारस नाथ के गुन गाइया ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १२

३—पंथ कबीर का भाखि सुनाइ । पंथ राह उनहू नहिं पाई ॥
संत कबीर मुख भाखेउ बैना । उन सब कही अगम की सैना ॥
पंथी सैन लखी नहिं भाई । पंथ राह की जाति चलाई ॥
नानक संत जो भेये अगाधू । चौथा पद पाये उन आदू ॥
उन भाखा कढ़िया परसादी । इन कढ़ाव हलुवे की बांधी ॥
दादू पंथ जो भये अनासी । वे कहि गये अगम की बानी ॥
पंथी मत उनका नहिं जानी । राम रमा सब कहत बखानी ॥
पंथ चलाइ बढ़ाई साखा । सास्तर वेद मते में राखा ॥
—घटरामायण [illegible]

समारोह से अर्चना के वाह्यविधानों का प्रतिपालन कर रहे थे।[1] वस्तुतः पंथवाद के प्रवाह में कबीर आदि के उपदेश विस्मृत होने लगे थे। इसी को लक्ष्य में रख कर तुलसी साहब ने कहा था कि पंथवादी संतमत को नहीं समझते हैं, और इसी अज्ञान के कारण आदि संतों की नीति के विरुद्ध अनीति करते हैं।[2]

उस युग में धार्मिक अन्धविश्वास प्रबल था और इसके कारण कतिपय धर्म सम्प्रदाय जीवहत्या तक को धर्मकृत्य की संज्ञा से अभिहित कर रहे थे। ऐसे सम्प्रदायों में शाक्त मतावलम्बी अग्रणी थे जो भूत भवानी की उपासना करते और जीव बलि द्वारा देव अर्चना में विश्वास करते थे।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि देवी-दुर्गा एवं भूत भवानी की पूजन प्रथा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक प्रचलित थी, क्योंकि इसकी आलोचना करते समय तुलसी साहब ने स्त्रियों को लक्ष्य करके कहा है कि जीव हत्या के पाप के फल से स्त्री निर्वंस हो जाती है।[4] मुसलमान धार्मिकों में भी अन्धविश्वास कम न था। वे बाँस की छड़ी को कागज से मढ़कर ताजिया बनाते थे, दस रोज धूम-धाम से मुहर्रम मनाते और बांस के उस बुत को लेकर सिर पीट और छाती कूट कर रोते चिल्लाते थे। वस्तुतः काजी और मुल्ला इतने अन्धविश्वासी थे कि उस पचरंग

१—मर्म एक मोरे उपजाई। चौका विधी कहौं समझाई ॥
धर्मदास जस चौका कीन्हा। जस कबीर वा को कहि दीन्हा ॥
तुलसीदास सुनौ तुम काना। चौके का मैं कहौं विधाना ॥
निज भाव आरति सुनौ खेवसरि, तोहि कहौं समझाइकै।
मिष्टान पान कपूर केरा, अष्ट मेवा लाइ कै ॥
पांच वासन सेत वस्तर कदली पत्र अछेदना।
नारियर और पुहुप सेतहि, सेत चौका चंदना ॥

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १७१।

२—कोइ पंथी कोइ धर्म चलावा। संत मते की कोइ नहिं पावा।
सुन हिरदे यह ऐसी रीती। धर्म पंथ ने करी अनीती ॥

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९९।

३—देवी दुरगा भूत भवानी पूजती। काटि गला बलि देइ आंखि नहिं सूझती।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ९०।

४—वह औरत निरवंस जुगन जुग में रहै। प्राछित हत्या पाप पुत्रकाजै सहै।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ९०।

कागज के लिए रुदन करते तथा चालीस दिन तक शोक मनाते थे ।[1] हिन्दुओं में भी अन्धविश्वास और अज्ञान जड़ जमाये था । वे शरीरस्थ आत्मदेव की उपासना न करके पत्थर की पूजा करते थे ।[2] अज्ञान और अन्धविश्वास के कारण वे मन्दिर में मूर्ति प्रतिष्ठित करते थे और अपने ही शास्त्र एवं पुराणों के तत्ववाद की अवहेलना करके पत्थर पानी की उपासना करते ।[3] उनका अन्धविश्वास इतना बढ़ा हुआ था कि वे तीर्थ स्थान पर नदियों के जल से शरीर का मैल धोकर मुक्ति की आशा रखते थे, जिस पत्थर को पैर के तले रौंदते थे, उसी की मूर्ति प्रतिष्ठित करके पूजा करते किन्तु कभी पिंडस्थ चैतन्य आत्मतत्व की

१—करते ईमान हसन हुसन ताजिया ।
बांस पंच छोल कागदों से मढ़ लिया ॥
मुहर्रम दस रोज बाज गाज मतलबी ।
नौमी तारीख चांद रात कतल की ॥
भ्याने उठ फेर सहर पानी डारैं ।
रोवैं सिर कूट कूट छाती मारैं ॥
बांसों का बना वूत कागद केरा ।
करते चालीस रोज सोग घनेरा ॥
ऐसे बेहोस बात बूझैं नाहीं ।
कागद संग पंच रंग रोवैं भाई ॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २० ।

२—तन के तत मंदर को देखौ जाइ ।
आतम सा देव जाहि पूजौ भाई ॥
पाहन की मूरत का झूठ पसारा ।
तुलसी पूजे बेहोस जन्म बिगारा ॥

३—पाहन गढ़ि गढ़न संवारा सिला बट मठ जाइकै ॥
सास्तर पुनि पुरान बतावा तन बीच ब्रम्हण्ड लखावा ॥
आतम वस बंधन राखौ भाखे अस गाइकै ॥
ता को तजि पूजैं पानी पाहन मति बुधि हैरानी ॥
पंडित जग रारा बैरागी पागे पद्द पाइकैं ॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ९८ ।

मानते थे ।[1] इनके पास रथ, गाड़ी, बैल गाय, भैंस, खेती, शिष्य–समुदाय एवं गावों की महन्ती थी ।[2] ये द्रव्य और उत्तम भोजन के निमित्त शिष्य बनाते थे, ज्ञान प्रदान करने के लिए नहीं ।[3] वस्तुतः तत्कालीन धार्मिकता पाखण्ड को प्रश्रय दे रही थी और यह पाखण्ड लोक.जीवन को सत्–पथ से विलग कर रहा था ।

तत्कालीन धार्मिकता व्यवसायिकता बन गई थी । साधु कहलाने वाले व्यक्ति खेती; बैल, महल संग्रह करते, व्याज बट्टा अर्थात सूद पर धन उधार देते और भूमि खोद कर धन गाड़ते थे ।[4] यह व्यवसायी साधु बड़े लोभी थे । यदि कोई मिठाई लेकर उनके दर्शन करने जाता था तो वे अतिशय प्रसन्न होते थे और सम्पन्न व्यक्तियों के आगमन पर वे स्वयं प्रसाद लेकर उपस्थित हो जाते थे ।[5] यथार्थ यह है कि धर्म अर्थलाभ का साधन बन गया था । इस प्रकार की धार्मिक विकृति के कारण उन मिथ्याचारियों की संख्या बढ़ गई थी जो धन सम्पत्ति अर्जित करने के निमित्त कपट आचरण करते थे । 'रत्नसागर' में ऐसे कपटी धार्मिकों का परिचय प्राप्त होता है जो पथ पर छाया तिलक

१—ये जग रीति जीति नहिं पावै । भेष पंथ सब पोल चलावे ।।
माला कंठी सेली माहीं । भूले पंथ मेष महि राही ।।
जो कोइ मंत्र जंत्र को जाने । उनको बड़े संत करि मानै ।।

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८८ ।

२—जो रथ गाड़ी बैल चलावैं । जग सोइ बड़े साध ठहरावैं ।।
गाय भैंस अरु खेती होई । चेला गाँव महन्ती सोई ।।

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८८ ।

३—चेला करें द्रव्य के काजा । भोजन खान पान कर साजा ।।

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८९ ।

४—खेती बैल महल सब राखे । हम हैं साध कहे अस भाखे ।।
बट्टा व्याज करे दिन राती । खो खांड़े गाड़े बहु भाँती ।।

—रत्नसागर, पृ० १११ ।

५—जो कोई दरसन को जावें । हाथ मिठाई देखि सिरावैं ।।
जो कोई राजा बाबू आवे । ले परसाद सामने जावे ।।

—रत्नसागर, पृ० ११२ ।

सहित माला लेकर बैठते थे किन्तु इनका मन दूसरों की सम्पत्ति पर रहता था।[1] कपड़ा रंगा कर साधु बन जाना एक साधारण सी बात थी क्योंकि इसका परमार्थ ज्ञान एवं वैराग्य से कोई सम्बन्ध न था।[2] ऐसे धर्मगुरु प्रायः अर्थलाभ की दृष्टि से बैरागी बनते थे और यदि कोई सच्चा संत उनसे परमार्थ की चर्चा करता तो वे उसे 'रोजगार बिगाड़ने वाला' कह कर प्रताड़ित करते थे।[3] कबीर आदि के नाम पर चलने वाले पंथों की परम्परा भी इस व्यवसायिकता से प्रभावित हो चुकी थी। पंथ के महन्त गाड़ी, ऊंट रखते थे, शिष्य बनाते थे, स्वाद सुख में लिप्त थे और इन्द्रियों के वशीभूत होकर एक प्रकार से सांसारिकता में पड़े थे।[4] वस्तुतः सम्पूर्ण धार्मिक जीवन में अर्थ का प्रभाव परिव्याप्त था।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि संत तुलसी के युग का धार्मिक-जीवन विकृतिपूर्ण था। समस्त मतवादी बाह्याचार, कर्मकाण्ड और पाखण्ड में पड़े थे। अन्ध विश्वास और अज्ञान का अन्धकार चतुर्दिक व्याप्त था। गुरु शिष्य मे परस्पर सद्भाव और विश्वास नहीं था।[5] भेष की प्रधानता थी और

१—बगुला भक्त बड़ जग माहीं। बैठे जाय राह में जाई॥
छाप तिलक कर माल सुहावे। गठरी काटन को मन चावे॥
—रत्नसागर, पृ० ९७।

२—कपरा रंगे भेष भये साधू। बूझे न वस्तु जो आदि अनादू॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८।

३—दया जानि कोइ भेद बतावे। तौ वह नगर रहन नहिं पावे॥
गृही भेष सब मारि निकारें। कहैं हमरा रुजगार बिगारें॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८।

४—लगत न लाज महंत को॥
गाड़ी ऊंट अटा ले चालत, लानत ऐसे पंथ को॥
चेला करत फिरत घर घर पर, आसा बास दुख अन्त को॥
इंद्री सुख भोजन नित खावत, जम धरि तोड़त दंत को।
काया बस माया संग फूले, भूलि मूल तजि कंत को॥
—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २६३।

५—गुरु बतावें पुरब को, चेला पश्चिम जाय।
अन्दर टाटी कपट की, मिले जो क्योंकर आय॥
—रत्नसागर, पृ० ६७।

मानते थे ।[1] इनके पास रथ, गाड़ी, बैल गाय, भैंस, खेती, शिष्य–समुदाय एवं गावों की महन्ती थी ।[2] ये द्रव्य और उत्तम भोजन के निमित्त शिष्य बनाते थे, ज्ञान प्रदान करने के लिए नहीं ।[3] वस्तुतः तत्कालीन धार्मिकता पाखण्ड को प्रश्रय दे रही थी और यह पाखण्ड लोक.जीवन को सत्–पथ से विलग कर रहा था ।

तत्कालीन धार्मिकता व्यवसायिकता बन गई थी । साधु कहलाने वाले व्यक्ति खेती; बैल, महल संग्रह करते, ब्याज बट्टा अर्थात सूद पर धन उधार देते और भूमि खोद कर धन गाड़ते थे ।[4] यह व्यवसायी साधु बड़े लोभी थे । यदि कोई मिठाई लेकर उनके दर्शन करने जाता था तो वे अतिशय प्रसन्न होते थे और सम्पन्न व्यक्तियों के आगमन पर वे स्वयं प्रसाद लेकर उपस्थित हो जाते थे ।[5] यथार्थ यह है कि धर्म अर्थलाभ का साधन बन गया था । इस प्रकार की धार्मिक विकृति के कारण उन मिथ्याचारियों की संख्या बढ़ गई थी जो धन सम्पत्ति अर्जित करने के निमित्त कपट आचरण करते थे । 'रत्नसागर' में ऐसे कपटी धार्मिकों का परिचय प्राप्त होता है जो पथ पर छाया तिलक

१—ये जग रीति जीति नहि पावै । भेष पंथ सब पोल चलावे ।।
माला कंठी सेली माहीं । भूले पंथ भेष महि राही ।।
जो कोइ मंत्र जंत्र को जाने । उनको बड़े संत करि मानै ।।

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८८ ।

२—जो रथ गाड़ी बैल चलावै । जग सोइ बड़े साध ठहरावै ।।
गाय भैंस अरु खेती होई । चेला गाँव महन्ती सोई ।।

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८८ ।

३—चेला करें द्रव्य के काजा । भोजन खान पान कर साजा ।।

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८९ ।

४—खेती बैल महल सब राखे । हम हैं साध कहे अस भाखे ।।
बट्टा ब्याज करे दिन राती । खो खाँड़े गाड़े बहु भाँती ।।

—रत्नसागर, पृ० १११ ।

५—जो कोई दरसन को जावें । हाथ मिठाई देखि सिरावै ।।
जो कोई राजा बाबू आवे । ले परसाद सामने जावे ।।

—रत्नसागर, पृ० ११२ ।

सहित माला लेकर बैठते थे किन्तु इनका मन दूसरों की सम्पत्ति पर रहता था।[1] कपड़ा रंगा कर साधु बन जाना एक साधारण सी बात थी क्योंकि इसका परमार्थ ज्ञान एवं वैराग्य से कोई सम्बन्ध न था।[2] ऐसे धर्मगुरु प्रायः अर्थलाभ की दृष्टि से वैरागी बनते थे और यदि कोई सच्चा संत उनसे परमार्थ की चर्चा करता तो वे उसे 'रोजगार बिगाड़ने वाला' कह कर प्रताड़ित करते थे।[3] कबीर आदि के नाम पर चलने वाले पंथों की परम्परा भी इस व्यवसायिकता से प्रभावित हो चुकी थी। पंथ के महन्त गाड़ी, ऊंट रखते थे, शिष्य बनाते थे, स्वाद सुख में लिप्त थे और इन्द्रियों के वशीभूत होकर एक प्रकार से सांसारिकता मे पड़े थे।[4] वस्तुतः सम्पूर्ण धार्मिक जीवन में अर्थ का प्रभाव परिव्याप्त था।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि संत तुलसी के युग का धार्मिक-जीवन विकृतिपूर्ण था। समस्त मतवादी बाह्याचार, कर्मकाण्ड और पाखण्ड में पड़े थे। अन्ध विश्वास और अज्ञान का अन्धकार चतुर्दिक व्याप्त था। गुरु शिष्य में परस्पर सद्भाव और विश्वास नहीं था।[5] भेष की प्रधानता थी और

१—बगुला भक्त बड़े जग माहीं। बैठे जाय राह में जाई॥
छाप तिलक कर माल सुहावे। गठरी काटन को मन चावे॥
—रत्नसागर, पृ० ९७।

२—कपरा रंगे भेष भये साधू। बूझै न वस्तु जो आदि अनादू॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८।

३—दया जानि कोइ भेद बतावे। तौ वह नगर रहन नहिं पावै॥
गृही भेष सब मारि निकारें। कहैं हमरा रुजगार बिगारें॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८।

४—लगत न लाज महंत को॥
गाड़ी ऊंट लदा ले चालत, लानत ऐसे पंथ को॥
चेला करत फिरत घर घर पर, आसा बास दुख अन्त को॥
इंद्री सुख भोजन नित खावत, जम धरि तोड़त दंत को।
काया बस माया संग फूले, भूलि मूल तजि कंत को॥
—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २६३।

५—गुरू बतावें पुरब को, चेला पश्चिम जाय।
अन्दर टाटी कपट की, मिले जो क्योंकर आय॥
—रत्नसागर, पृ० ६७।

सांस्कृतिक परिस्थिति

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की भांति ही तुलसी साहब की सांस्कृतिक परिस्थिति भी बहुत समुन्नत न थी। संस्कृति का विकास और सम्वर्द्धन राजनीतिक शान्ति और आर्थिक सम्पन्नता में होता है। तुलसी साहब के युग का पूर्वार्द्ध राजनीतिक हलचल और अशान्ति का समय है। उस समय सांस्कृतिक विकास का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि शासक और शासित समान रूप से राजनीतिक अस्थिरता एवं अशान्ति से प्रभावित थे। संत तुलसी के युग के उत्तरार्द्ध में अवश्य शिक्षा, साहित्य इत्यादि के क्षेत्र में प्रयत्न हुए, क्योंकि तब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रभुता प्रतिष्ठित हो चुकी थी एवं राजनीतिक अशान्ति का समय समाप्त हो चला था। मुख्य रूप से इस कार्य के आधार पर ही निम्नलिखित पंक्तियों में तुलसी साहब की सांस्कृतिक परिस्थिति का परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण हिन्दू एवं मुसलमान, शिक्षा एवं ज्ञान को समान रूप से हानि पहुंची।[1] उनको शासन से प्राप्त होने वाली सहायता प्रायः बन्द हो गई थी।[2] तथापि छोटे-बड़े शिक्षा केन्द्रों की परम्परा लुप्त नहीं हुई थी। तत्कालीन मिशनरियों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अंग्रेज इस देश पर प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे, तब भी प्राथमिक एवं उच्च शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं की कमी न थी।[3] यहाँ मुख्य रूप से साहित्यिक, धार्मिक तथा दार्शनिक शिक्षा प्रदान की जाती थी।[4] पर सन् १८२१ तक शिक्षा की यह प्राचीन परम्परा प्रायः समाप्त हो चली थी और शिक्षितों की संख्या भी कम हो गई थी।[5]

सन् १८१३ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय जनता में शिक्षा-प्रसार अपना कर्त्तव्य नहीं समझा था।[6] पर उस समय भी कतिपय शक्तियां

---

1. Cultural History of British India, Page 75.
2. " " " " " 75.
3. Sarkar and Dutta : Modern Indian History : Part II. P. 210.
4. " " " " " " P. 210.
5. " " " " " " P. 210.
6. " " " " " " p. 210.

देश में नवीन शिक्षा के लिए प्रयत्नशील थीं। इनमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुछ अधिकारियों के प्रयत्न, ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्य तथा कतिपय शिक्षित एवं उदार-चेता भारतीय की चेष्टाएं उल्लेखनीय हैं।[1] सन् १७९२ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक अधिकारी सर चार्ल्स ग्राण्ट ने एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया जिसमें उनसे भारतीय जनता के मध्य अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का समर्थन किया।[2] इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने भी इस दिशा में कार्य किया किन्तु ईसाई धर्म प्रचारकों के शिक्षा सम्बन्धी प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। इन धर्म प्रचारकों ने श्रीरामपुर में एक प्रेस खोला और बंगला आदि बीस भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद प्रस्तुत किये।[3] अनेक मिशनरियों ने बंगाल में शिक्षा के लिए अथक कार्य किया और सन् १८२० में एक मुख्य मिशनरी संस्था, बिशप कालेज की स्थापना कलकत्ते में हुई।[4] नवीन शिक्षा को जिन भारतीय विद्वानों का समर्थन प्राप्त था, उनमें राजा राम मोहन राय, राधाकान्त देव, महाराजा वर्दवान इत्यादि मुख्य थे जिन्होंने बनारस में अंग्रेजी, फारसी, हिन्दी और बंगला की शिक्षा के लिए एक स्कूल स्थापित किया।[5] सन् १८१६-१८१७ में राजा राम मोहन राय तथा कुछ अंग्रेजी विद्वानों के सहयोग से कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई।[6] राजा राम मोहन राय ने कलकत्ते के सूरीपाड़ा स्थान पर हिन्दू विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने के लिए एक अंग्रेजी स्कूल खोला और नवीन एवं प्राचीन शिक्षा को अनेक प्रकार से संरक्षण प्रदान करते रहे।[7]

सन् १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रथम बार यह स्वीकार किया कि भारतीय जनता की शिक्षा उसका दायित्व है।[8] इसी के साथ यह प्रश्न उठा कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो या भारतीय भाषाएं। राजा राम मोहन

---

1. Sarkar and Dutta : Modern Indian History, Part II, P,211
2. ,, ,, ,, ,, P. 211.
3. Cultural History of British India, Page 86.
4. Sarkar and Dutta : Modern Indian History Part II, P. 212.
5. ,, ,, ,, ,, P. 212.
6. Cultural History of British India, Page 110,
7. Sarkar & Dutta : Modern Indian History, Part II, P. 213.
8. ,, ,, ,, ,, P. 213.

राय ने अंग्रेजी के पक्ष में और संस्कृत के विरुद्ध मत दिया।[1] शिक्षा के विषयों के सम्बन्ध में भी उनका यह मत था कि पाश्चात्य देशों में प्रचलित विज्ञान के विषयों पर नवीन शिक्षा को ध्यान देना चाहिए।[2] प्रारम्भ में सन् १८२४ एवं १८२५ में कलकत्ता एवं दिल्ली में प्राचीन विषयों पर शिक्षा देने की व्यवस्था की गई किन्तु लार्ड मैकाले के प्रयत्न से लार्ड विलियम बेन्टिक के शासन ने सन् १८३५ में यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान का भारतीय जनता को ज्ञान कराना अपना लक्ष्य निश्चित किया।[3] इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन ने भारत में यूरोपीय शिक्षा के प्रसार का निश्चय किया और भारतीय विद्याओं की सहायता से पूर्ण रूपेण हाथ खींच लिया।

उस युग में स्त्रियों की सांस्कृतिक दशा उत्तम नहीं थी और स्त्री शिक्षा का प्रचलन न था, पर उच्च वर्ग के कुछ व्यक्ति अपनी लड़कियों को साधारण ज्ञान की शिक्षा प्रदान करते थे जिसका उद्देश्य स्त्री को संस्कृत करना न था अपितु पति की मृत्यु के उपरान्त उसकी सम्पत्ति की व्यवस्था की योग्यता प्राप्त कराना था।[4] स्त्री शिक्षा को उन्नीसवीं शताब्दी के पुनरुत्थान से नई शक्ति मिली।[5] सरकार के ध्यान देने के पूर्व ईसाई धर्म प्रचारकों एवं राममोहन राय

---

1. "The Sanskrit system of education would be the best calculated to keep the country in darkness ....
   The learning Conceded under this almost impervious veil is far from sufficient to reward the labour of acquiring it......The Sanskrit language is so difficult that almost a life-time is required for its acquisition."
   —Cultural History of British India, P. 111—112.

2. "But as the improvement of the native population is the objectof the Government, *it will* consequently promote a more liberal and enlightened system of instruction, embracing Mathematics, Natural philosophy, Chemistry, Anatomy,with other useful sciences, which may be accomplished with the sums proposed by employing a few gentlemen of talents and learning educated in Europe."
   —Cultural History of British India, Page 112.

3. Sarkar and Dutta : Modern Indian History Part II, Page 214—15.

4. ,, ,, ,, ,, P.222.

5. ,, ,, ,, ,, P.223.

आदि भारतीय विद्वानों ने इस ओर प्रयत्न किया ।[६] सन् १८२१ के निकट ईसाई धर्म प्रचारकों ने स्त्री शिक्षा का श्री गणेश किया किन्तु उच्च जाति एवं वर्ग के लोगों में इनके प्रति सन्देह होने के कारण इनको प्रायः निम्नवर्ग से ही विद्यार्थी प्राप्त होते थे ।[१] अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि स्त्री शिक्षा का प्रयत्न तत्कालीन परिस्थियों में विशेष सफल नहीं हुआ ।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में भारतीय साहित्य प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहा था किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते होते साहित्य में कुछ नवीन प्रयत्न हुए । इस समय वाह्य संसार से बढ़ते हुए सम्वन्ध, प्राचीन संस्कृति के उदात्त अंश को समझने, समाज और जीवन में सुधार की इच्छा तथा देश में नई स्थितियों एवं समस्याओं के उत्पन्न हो जाने से रचनात्मक चेतना को प्रेरणा मिली ।[२] उन्नीसवीं शताव्दी के पूर्वार्द्ध के भारतीय साहित्य को तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों से भी प्रेरणा मिली ।[३] और अंग्रेजों के सम्वन्ध व पश्चिमी शिक्षा का भारतीय साहित्य के विकास में यथेष्ट प्रभाव पड़ा ।[४] अठारहवीं शताब्दी के संघर्षमय समय के उपरान्त उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आते आते राजनीति में स्थिरता आ गई थी, अतएव साहित्य एवं कला की ओर लोगों का ध्यान जाना संभव एवं स्वाभाविक था ।[५] अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ हो जाने के कारण लेखकों का नवीन विचारों तथा नवीन नैतिकता से परिचय हुआ ।[६] इसी मध्य प्रेस के स्थापित हो जाने से पुस्तकों के प्रकाशन एवं प्रचार में सुविधा हुई ।[७] साहित्य के विविध क्षेत्रों में कुछ कार्य हुआ एवं कविता, कहानी, निवन्ध, नाटक, गद्य की रचनाएं प्रस्तुत की गईं । वंगला, हिन्दी, उर्दू गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में नये प्रयत्न हुए ।

इस युग में श्रीरामपुर के मिशनरी ओर फोर्ट विलियम कालेज के पंडित व मुन्शी वंगला गद्य में रचना का प्रयत्न कर रहे थे । इनमें ईसाई धर्मप्रचारकों

1.—Sarkar and Dutta : Modern Indian History Part II, Page 223.
2. ,, ,, ,, ,, P.227
3. ,, ,, ,, ,, P. 227.
4. ,, ,, ,, ,, P. 228.
5. ,, ,, ,, ,, P. 228.
6. ,, ,, ,, ,, P. 228.
[illegible] History of British India Page 83—84.

का कार्य अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि उन्होंने भाषा को व्यवस्थित करने के साथ ही बंगला टाइप के निर्माण और मुद्रण की व्यवस्था की थी।[1] उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के निकट राजा राम मोहनराय ने बंगला गद्य का सशक्त रूप प्रस्तुत किया जिससे उन्हें आधुनिक बंगला गद्य का जनक कहा जाता है।[2] सन् १८४० के निकट ईश्वरचन्द गुप्त ने अपनी कविता में भाषा की नवीन संभावनाओं को प्रकटकिया और इसी समय ब्रह्मसमाज के कुछ सुधारकों ने दर्शन और धर्म पर रचनाएं कीं।[3]

हिन्दी साहित्य में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में मध्ययुगीन शैली पर काव्य रचना ही रही थी किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्दी गद्य के निर्माण की ओर ध्यान दिया जाने लगा और सन् १८०३ के निकट लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' एवं सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' प्रस्तुत किया।[4] इसी समय के आस पास ईसाई धर्म प्रचारकों ने सन् १८०९ में न्यूटेस्टामेन्ट और सन्१८१८में पूर्ण बाइबिल का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया।[5] सन्१८३७ में दिल्ली में प्रेस की व्यवस्था हो जाने से हिन्दी में विविध प्रकार की पुस्तकों का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया।[6] इन नई रचनाओं के साथ हिन्दी में प्राचीन परम्परा पर भी लिखा जा रहा था। संस्कृत काव्य-शास्त्र की पद्धति पर हिन्दी में काव्य-शास्त्र की कई पुस्तकें लिखी गई।[7] इस समय प्राचीन काव्य शैली पर लिखने वालों में 'जगदविनोद' के पदमाकर भट्ट और सन१८२९ में 'महाभारत' का हिन्दी अनुवाद करने वाले गोकुलनाथ का नाम उल्लेखनीय है।[8] इस समय के आस पास हिन्दी साहित्य में मध्यकालीन अनुकृति और परम्परा से वियुक्त होकर साहित्य सृजन के चिन्ह भी दृष्टिगत होते हैं,[9] जिनका विकास आगे चलकर भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों में हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उर्दू काव्य में कतिपय लोकप्रिय कवि

1. Cultural History of British India, Page 85.
2. Sarkar and Dutta : Modern Indian History, Part II, P. 228.
3. ,, ,, ,, ,, P. 228—229
4. ,, ,, ,, ,, P. 232
5. ,, ,, ,, ,, P. 262.
6. ,, ,, ,, ,, P. 282.
7. ,, ,, ,, ,, P. 232.
8. ,, ,, ,, ,, P. 233.
9. ,, ,, ,, ,, P. 232

हुए जिन्होंने लखनऊ, दिल्ली आदि स्थानों पर रहकर रचनाएं कीं।[1] इनमें गालिब का नाम विशेष उल्लेखनीय है जो कवि तथा दार्शनिक के रूप में तो प्रसिद्ध ही हैं, मौलिक विचार एवं उत्कृष्ट अभिव्यञ्जना की दृष्टि से भी समादृत हैं।[2] इस काल के अन्य मुसलमान कवियों में सैय्यद इंशा अल्ला खां, और नजीर का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने क्रमशः सुखान्त काव्य और लोक काव्य की रचना की।[3] उर्दू गद्य के प्रचार में ईसाई धर्मप्रचारकों ने योग दिया एवं फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों ने इसे सम्मुन्नत करने का प्रयत्न किया।[4] उर्दू के साथ साथ अरबी-फारसी में भी कुछ रचनाएं हुई। इन लेखकों में तफज्जुल हुसैन खां और अबू तालिब खाँ का नाम उल्लेख्य है जिन्होंने गणित एवं यात्रा पर ग्रन्थ लिखे।[5]

उस युग में पश्चिम एवं दक्षिण के साहित्य में भी नवीन प्रभाव परिलक्षित होते हैं। महाराष्ट्र में अन्ना साहब किरलोसकर ने मराठी नाटक एवं विष्णु शास्त्री ने मराठी गद्य का प्रारम्भ किया।[6] गुजरात में दयाराम ने उच्चकोटि के प्रेम काव्य की रचना की एवं बहराम जी मालाबारी नामक एक पारसी सुधारक ने भी गुजराती भाषा में ग्रन्थ लिखे।[7] इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य लेखक और हुए जिन्होंने उपर्युक्त भाषाओं में रचनायें कीं।

तत्कालीन साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि इस समय भारतीय मस्तिष्क प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित करने के साथ ही

---

1. Sarkar and Dutta : Modern Indian History : *Part II*, Page 233.
2. Some *of the most* famous Urdu poets flourished during this period at Lucknow, Delhi and *other places* : amongst *them may* be specially mentioned Ghalib, a poet and philosopher having originality thought and expression.
   —Modern Indian History, Page 233.
3. Cultural History of British India, Page 99 and 102.
4. Sarkar and Dutta : Modern Indian History, Part II, P. 22—234.
5. Cultural History of British India, Page 74.
6. Sarkar and Dutta : *Modern* Indian History : Part II, Page 234.
7. „ „ „ „ Page. 234.

पश्चिम के विचारों का उसके साथ सामञ्जस्य करने का प्रयास कर रहा था।[1] इस सांस्कृतिक प्रचेष्टा से अपने देश के इतिहास एवं पुरात्व को जानने की जिज्ञासा भी उत्पन्न हुई और ऐशियाटिक सोसाइटी की स्थापना द्वारा भारत की प्राचीन बौद्धिक परम्पराओं को समझने का प्रयत्न कतिपय भारतीय एवं अंग्रेज विद्वानों ने प्रारम्भ किया।[2]

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में मुगल साम्राज्य के भंग होने एवं राजनीतिक अस्थिरता के कारण भारतीय कला का पतन हो चला था।[3] यह राजनीतिक परिवर्तन का समय था, अतएव इस युग में कला के क्षेत्र में रचनात्मक प्रतिभा का ह्रास हुआ।[4] इस समय शिल्प कला की प्राचीन पद्धतियाँ दिल्ली, जयपुर, लखनऊ एवं हैदराबाद के स्थापत्य में अपनी दुर्बल दशा व्यक्त कर रही थीं।[5] पुराने शिल्पियों, स्थापत्यकारों एवं चित्रकारों के वशंजों ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी स्थापत्य कला का अनुकरण करके एक विकृत रुचि का परिचय दिया[6]। विदेशी प्रभुओं की कला एवं संस्कृति का अन्ध-अनुकरण करके इन्होंने अपने देश की कला संस्कृति को हीन कर लिया।[7] लखनऊ में वाजिदअली शाह का कैसरबाग तथा नासिरुद्दीन हैदर की छत्तर मंजिल इस विकृत अनुकृति के प्रमाण हैं।[8] वस्तुतः भारतीय स्थापत्य शिल्प के पतन में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी गण्य हैं।[9]

चित्रकला एवं संगीत कला की भी यही दशा थी। उस युग में राजनीतिक अस्थिरता के कारण जिसप्रकार भारतीय स्थापत्य कला का ह्रास हुआ उसी प्रकार चित्र एवं संगीत कला में किसी प्रकार की उन्नति न हुई। उस समय कोई भी उल्लेख योग्य भारतीय चित्रकार नहीं हुआ, केवल दो चार

---

1. Sarkar and Dutta : Modern Indian History : Part II, Page 235.
2. ,, ,, ,, Page 235-236
3. ,, ,, ,, Page 237.
4. ,, ,, ,, Page 237.
5. ,, ,, ,, Page 237.
6. ,, ,, ,, Page 237.
7. Cultural History of British India, Page 42,
8. Sarkar and Dutta : Modern Indian History : Part II, P. 237-238
9. Cultural History of British India, Page 61.

ऐसे चित्रों की चर्चा अवश्य प्राप्त है जिनके निर्माता अज्ञात भारतीय कलाकार थे।[१] मध्ययुग में संगीत का क्षेत्र राज्य दरबार के पेशेवर गायकों तक ही सीमित हो गया था। वस्तुतः गायकी का पेशा निम्न स्तर तक पहुँच चुका था।[२] उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजा राममोहन राय इत्यादि बंगदेश के विद्वानों ने अन्य कार्यों के साथ संगीत की शुद्धि का प्रयत्न भी किया।[३] इस प्रकार संगीत कला को ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति के पाश से मुक्त करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

भारतीय संस्कृति की आधार शिला धर्म है। अतएव सांस्कृतिक परिस्थितियों के अध्ययन में तत्कालीन धार्मिक पुनरुत्थाम एवं नव जागृति के चिन्हों का अध्ययन अपेक्षित है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के उपरान्त ईसाई धर्म के अनुयायी भारतीय जीवन को अपने धार्मिक विचारों द्वारा प्रभवित करने लगे थे।[४] प्राचीन धार्मिक विश्वास एवं ईसाई धार्मिक विचारों में सामञ्जस्य लाने की दृष्टि से राजाराममोहन राय ने सन् १८२८ में ब्रह्म समाज की स्थापना की।[५] वस्तुतः ब्रह्म समाज में हिन्दू, हिन्दू रहते हुये भी उदार होकर पश्चिमी धार्मिक प्रभाव के प्रति उन्मुख होने के लिए प्रस्तुत था।[६] सन १८४७ के निकट महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने ब्रह्म समाज में उपनिषद वाक्यों के पठन के साथ ईसाई पद्धति पर नियमित प्रार्थना, प्रवचन, धन्यवाद प्रकाश (Thanks Giving) इत्यादि की व्यवस्था की।[७]

देश की तत्कालीन परिस्थितियों में ब्रह्म समाज का सांस्कृतिक महत्व यही है कि इसके द्वारा एक ओर हिन्दू समाज के अन्ध विश्वास एवं रूढ़िवादिता का परित्याग किया गया तथा दूसरी ओर ईसाई धर्म के कुछ बाह्य विधानों एवं आचरणों को ग्रहण करके अपने धार्मिक जीवन को नियमित रूप देने का प्रयत्न किया गया। ब्रह्म समाज में मूर्ति पूजा एवं वर्ण व्यवस्था का खण्डन

---

1. Cultural History of British India, page 60-61.
2. ,, ,, Page 68.
3. Sarkar and Dutta : Modern Indian History: part II, p. 239
4. ,, ,, ,, page 195.
5. Cultural History of British India, Page 139.
6. Sarkar and Dutta: Modern Indian History: part II, P. 182.
7. ,, ,, ,, page 183.

चाहे विदेशी प्रभाव हो किन्तु उसके एकमात्र उपास्य आदि, अज्ञेय एवं अखण्ड ब्रह्म का स्वरूप उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। इस प्रकार ब्रह्म समाज हिन्दुओं की उस नई सांस्कृतिक प्रेरणा का फल था, जो पाश्चात्य ईसाई एवं पौर्वात्य हिन्दू धर्म के सम्मिलन के संक्रान्ति काल में उत्पन्न हुई थीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि तुलसी साहब के युग की सांस्कृतिक परिस्थितियां अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक ह्रासमयी थीं। मुगल राज्य के भंग होने एवं राजनीतिक अस्थिरता के कारण, शिल्प, साहित्य और कला में पतन के चिन्ह प्रकट हो गये थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से कुछ नवीन प्रयत्न हुये किन्तु उक्त शताब्दी के पूर्वार्द्ध के समाप्त होते होते इन प्रयत्नों के स्थायित्व की चेष्टा की गई। वस्तुतः तुलसी साहब के युग में सांस्कृतिक दृष्टि से जो कार्य हुआ, वह नवीन युग के सूत्रपात का संकेत अवश्य था किन्तु उसे स्थायित्व की दृष्टि से बहुत उन्नत और उदात्त नहीं कहा जा सकता।

प्रभाव

सांस्कृतिक परिस्थितियों का संत तुलसी पर कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनायें पद, साखी, सोरठा, दोहा, चौपाई, सवैय्या आदि तत्कालीन प्रचलित काव्य रूपों में प्राप्त होती हैं किन्तु इसे व्यापक अर्थ में प्रभाव नहीं कहा जा सकता। प्रभाव के रूप में यदि कुछ अंकित करना हैं तो यही कहा जा सकता कि परम्परागत निर्गुण साधकों की विचार धारा को उन्होंने ग्रहण किया था। किन्तु संत तुलसी की दृष्टि से यह प्रभाव धार्मिक था, सांस्कृतिक नहीं। तत्कालीन ब्रह्म समाज की धार्मिक-सांस्कृतिक दृष्टि को समझने का उन्हें अवसर भी न था, क्योंकि ब्रह्म समाज सुदूर बंगाल के कतिपय नगरों तक ही सीमित था। वस्तुतः उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव तुलसी साहब पर नहीं पड़ा था। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि संत होने के नाते शिल्प और कला उनके क्षेत्र के बाहर थे। लोक से उदासीन विरक्त साधकों की शिल्प, कला, साहित्य और शिक्षा से उदासीनता अस्वाभाविक नहीं है।

प्रतिक्रिया

तुलसी साहब की रचनाओं में सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रति किसी प्रकार की प्रतिक्रिया प्राप्त नही होती। वस्तुतः प्रभाव के अभाव में प्रतिक्रिया

1. Cultural History of British India, Page 136.

अंकित करना संभव नहीं है। उनके सम्पूर्ण काव्य में सांस्कृतिक परिस्थितियों का कोई उल्लेख अथवा प्रतिक्रिया दृष्टिगत नहीं होती।

६—निष्कर्ष

संत तुलसी के युग की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का उपर्युक्त अध्ययन यह प्रकट करता है कि उस युग में देश समुन्नत न था। राजनीतिक परतन्त्रता, आर्थिक दुरावस्था, सामाजिक विषमता एवं धार्मिक पाखण्ड का वह युग आदर्श नहीं कहा जा सकता। इन परिस्थितियों में प्रादुर्भूत होने वाले मनुष्य के लिए न प्रेरणा थी और न आदर्श। जहाँ अर्थ के प्रभाव में जीवन विपन्न था, मनुष्य के लिए मनुष्य अस्पर्श्य था, शिशु हत्या पाप का परिमार्जन थी, कपट धर्मियों के पाखण्ड का प्रभुत्व था और भोग विलास जीवन का अभिप्राय था, वहां जीवन एक निःशेष विडम्बना थी। पर विधाता जिनको महत कार्यों के लिए बनाता है, वे अन्धकार में प्रकाश की खोज ही नहीं लेते अपितु वे अन्धकार की दुर्भेद प्राचीर में बन्दी मानव-आत्मा को अपरिमेय प्रकाश के प्रशस्त पथ की ओर उन्मुख करते हैं। संत तुलसी ऐसे ही महात्मा थे जिन्होंने अन्धकार के जड़त्व में प्रकाश का आत्मत्व पाया था और इसी के दान से लोक को कृतकृत्य किया।

तृतीय अध्याय

तुलसी साहब के ग्रन्थ

तुलसी साहब के नाम पर उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या चार है। ये 'शब्दावली,' 'रत्नसागर,' 'घटरामायण' और 'पद्मसागर' हैं। तुलसी साहब के अनुयायी यह मानते है कि तुलसी साहब ही पूर्वजन्म में गोस्वामी तुलसीदास के अवतार थे और लोकरञ्जन के निमित्त उन्होंने सगुण रामायण की रचना की थी।[1] प्रमाणों के द्वारा परिशिष्ट में इस मत को निर्मूल सिद्ध किया जा चुका है। अतएव हम 'रामचरितमानस' को उनकी रचना नहीं मान सकते। इसप्रकार 'शब्दावली, 'रत्नसागर, 'घटरामायण' और 'पद्मसागर' के अतिरिक्त उनके अन्य किसी ग्रन्थ का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

१—तुलसी साहब के ग्रन्थों का उल्लेख करने वाले विद्वान

(अ) पाश्चात्य—भारतीय साधना साहित्य पर विचार करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में विलसन, जेम्स हेस्टिंग्स, क्रुक्स, फर्कुहर आदि के नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने संत कवियों की चर्चा करते समय उनकी रचनाओं का यथास्थान उल्लेख किया है, किन्तु इनमें से किसी ने भी तुलसी साहब और उनके ग्रन्थों का कोई विवरण नहीं दिया है।

(आ) भारतीय—कई भारतीय विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में सन्त तुलसी की चर्चा करते समय उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इन विद्वानों में अंग्रेजी के लेखक, हिन्दी के लेखक एवं तुलसी साहब के सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में इनका विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

(क) अंग्रेजी के लेखक-अंग्रेजी भाषा के लेखकों में संत तुलसी के ग्रन्थों का उल्लेख करने वाले एक मात्र विद्वान आचार्य क्षितिमोहन सेन हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ' मेडीवल 'मिस्टीसिज्म' में तुलसी साहब की 'घटरामायण,' 'रत्नसागर, और 'वाणियों' का उल्लेख किया किया है।[2] वाणियों से उसका अभिप्राय 'शब्दावली'

१—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।

2. "His principal works are the 'Ghataramayan' and the 'Ratansaagar'. His Vanis which contain many beautiful stories are very much appreciated."

—Medieval Mysticism, dage 161.

में संग्रहीत रचनाओं से ज्ञात होता है क्योंकि वाणियों में सन्निहित जिन सुन्दर कथाओं की चर्चा उन्होंने की है, वे 'शब्दावली' की रचनाओं में अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होती है।[१] इस प्रकार क्षितिमोहन सेन ने 'पद्मसागर' को छोड़ कर उनकी समस्त कृतियों का उल्लेख किया है। 'पद्मसागर' के उल्लेख न करने का कारण यह हो सकता है कि यह ग्रन्थ अधूरा एवं अप्रसिद्ध है।

(ख) हिन्दी के लेखक—हिन्दी के विद्वानों में डा० बड़थ्वाल, डा० रामकुमर वर्मा एवं पं० परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थों में संत तुलसी की कृतियों का उल्लेख किया है।

डॉ० बड़थ्वाल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में तुलसी साहब की 'शब्दावली,' 'घटरामायण' 'रत्नसागर' और 'पद्मसागर' की चर्चा की है।[२] इस प्रकार उन्होंने संत तुलसी के समस्त ग्रन्थों का उल्लेख किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में 'पद्मसागर' छोड़ कर शेष तीन ग्रन्थों का रचयिता इनको माना है।[३] उन्होंने 'घटरामायण' 'शब्दावली' एवं 'रत्नसागर' का उल्लेख किया है, पर 'पद्मसागर' का नहीं। संभव है कि इस ग्रन्थ की अप्रसिद्धि अथवा अपूर्णता के कारण डा० वर्मा ने इसका उल्लेख न किया हो। डा० बड़थ्वाल एवं डा० वर्मा के अतिरिक्त पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में इनके 'घटरामायण 'शब्दावली' 'रत्नसागर' एवं 'पद्मसागर' ग्रन्थों का उल्लेख किया है और उनका संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया है।[४] इस प्रकार यह प्रकट होता है कि हिन्दी के उपर्युक्त विद्वानों में सामान्यतया सबने तुलसी साहब के ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

(ग) सम्प्रदाय के लेखक—तुलसी साहब के सम्प्रदाय के लेखकों की संख्या अति न्यून है। सम्प्रदाय का साहित्य भी अति अल्प है। अतएव उनके ग्रन्थों के उल्लेख करने वाले साम्प्रदायिक विद्वान एकमात्र तुलसी मन्दिर, हाथरस के महन्त प्रकाशदास हैं, जिन्होंने 'तुलसी संध्या वन्दन' नामक पुस्तक की भूमिका में तुलसी साहब के ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार तुलसी

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६५,७२, ७३।

२—हिन्दी काव्य में निर्गुणसम्प्रदाय, पृ० ९१।

३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २०१।

साहब ने 'घटरामायण' 'रत्नसागर' 'पद्मसागर' एवं 'शब्दावली' की रचना की।[1] इस प्रकार साम्प्रदायिक पुस्तक 'तुलसी संध्या वन्दन' की भूमिका में उनके समस्त ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है।

(इ) हमारा अभिमत—हमारे मत से उपर्युक्त उल्लिखित ग्रन्थ तुलसी साहब के ही हैं। 'शब्दावली', 'घटरामायण', 'रत्नसागर' एवं 'पद्मसागर' के अतिरिक्त उनके अन्य किसी ग्रन्थ के विद्यमान होने की कोई सूचना नहीं है। तुलसी साहब के ग्रन्थों का उल्लेख करने वाले विद्वानों ने इन ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है एवं 'रत्नसागर' की भूमिका में मुद्रित संत तुलसी के जीवन चरित्र से भी इन ग्रन्थों की सूचना ही प्राप्त होती है।[2] उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त संत तुलसी की अन्य कृति का कोई संकेत कहीं नहीं मिलता। अतएव यही ग्रन्थ मान्य हैं।

२—ग्रन्थों का परिचय

संत तुलसी के जिन ग्रन्थों का विद्वानों ने उल्लेख किया है, वे 'घट-रामायण' 'रत्नसागर' 'शब्दावली' एवं 'पद्मसागर' हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

(अ) घटरामायण—तुलसी साहब की समस्त कृतियों में 'घटरामायण' सबसे बड़ी रचना है। इस ग्रन्थ में उनके विचारों का बहुमुखी विधान दृष्टिगत होता है। इसका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है:—

(क) ग्रन्थ का शीर्षक-इस ग्रन्थ का शीर्षक 'घटरामायण'[1] है। पिंड में ब्रह्माण्ड की अवस्थिति के सिद्धान्त के आधार पर संत तुलसी ने समस्त रामायण को घट में समाविष्ट माना है।[3] उनके अनुसार दशरथ, राम, रावण, सीता, मन्दोदरी, भरत, शत्रुघ्न, लक्ष्मण, सुमित्रा, केकई, कौशल्या आदि सगुण रामायण के पात्र पिंड

१—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका पृ० ३।

२—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

३—पिंड माहिं ब्रह्मण्ड बताऊँ। भिन्न भिन्नता को दरसाऊँ॥
जो बाहिर सोइ पिंड दिखाई। देखा जाइ पिंड के माहीं॥
कागभसुंड काया के माहीं। राम रमा मुख पैठा जंई॥
तुलसी ता की गति मति जानी। रासायन में कीन्ह् बखानी॥
यह सब घट में भाखि सुनाई। रामायन घट माहिं बनाई॥
—घटरामायण, प्रथम भाग पृ० ३८।

में विद्यमान हैं।[२] इस प्रकार संत तुलसी रामायण की रचना घट में मानते हैं। इस दृष्टि से ग्रन्थ का नाम अनुपयुक्त नहीं है, किन्तु इस ग्रन्थ में पिंड और ब्रह्माण्ड के सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य विषय भी वर्णित हैं। अतएव सम्पूर्ण ग्रन्थ को "घटरामायण"[१] कहना बहुत युक्ति-युक्त नहीं ज्ञात होता। ग्रन्थ के अवलोकन से यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में तुलसी साहब ने पिंड-ब्रह्माण्ड के सिद्धान्त की सुविस्तृत व्याख्या करने के कारण इसका नाम "घटरामायण" रखा होगा। संभव है कि "रामचरितमानस" के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास के साथ नाम साम्य के कारण तुलसी साहब को अपने ग्रन्थ का नाम "घटरामायण" सूझा हो।

(ख) वर्ण्य-विषय-सतगुरु वन्दना से प्रारम्भ-सत्यपुरुष एवं संतों की वन्दना-पिंड में ब्रह्माण्ड की स्थिति-पिंड में छत्तीस नीर, पचासी पवन, सोलह गगन, छः भंवर गुफा, छः त्रिकुटी, बत्तीस नाल, सोलह द्वार, छः कमल, बहत्तर कोठे, चौरासी सिद्ध, पचीस प्रकृति, नौ नाड़ी, पांच इन्द्रिय एवं बाइस शून्यों का वर्णन-वैराग्य का वर्णन-भक्ति का वर्णन-पञ्चभूत एवं उनके रंगों का विवरण-अगम तत्व की विवेचना-परम तत्व अवर्णनीय है-दशरथ, सीता, भरत शत्रुघ्न घट में हैं-सत्यपुरुष और निरंजन का भेद-निरंजन के पांच नाम-तुलसी साहब का शास्त्रार्थ-शेख तकी के साथ-जैनियों के साथ-माना, नैनू एवं श्यामा पंडितों के साथ-शास्त्रार्थ के प्रसंग में सृष्टि-क्रम, पंचभूत, अवतार, कर्म, पुनर्जन्म इत्यादि की व्याख्या-मानगिरी सन्यासी से शास्त्रार्थ-आत्मा की चार अवस्थाएं-जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन-कबीर पंथी फूलदास के साथ शास्त्रार्थ पंथ एवं महन्त-प्रथा का खण्डन-रामायण की रचना घट ही में है-कुण्डलिनी-योग, एवं समाधि-योग की चर्चा-अवतार का खण्डन-परमतत्व का वर्णन-हृदय अहीर के पुत्र गुनुवाँ के साथ सम्वाद-सृष्टि क्रम का वर्णन-अवतारों का खण्डन-संत महिमा प्रियलाल गोसाँई से शास्त्रार्थ-ब्रह्म का वर्णन-जीवात्मा का बन्धन-इडा पिंगला एवं सुषमना नाड़ियों का विवरण-पलकराम नानक पंथी के साथ शास्त्रार्थ-पंथ के बाह्याचार एवं कर्मकाण्ड का खण्डन-गोपाल गुसांई कबीर पंथी के साथ

२—सीता दशरथ राम कहाये। ये सब घट भीतर दरसाये॥
भरत शत्रुगन लछिमन भाई। यह घट माँहि कहेउ समझाई॥
सुमित्रा केकई कौसिल्या। ये तन भीतर घट में मिलिया॥
रावन कुंभ लंकपति राई। त्रिकुटी ब्रह्म बसे तेहि माहीं॥
मन्दोरी भभीषन नाई। इन्द्रजीत सुत त्रिकुटी माहीं॥
रावन राम सकल परिवारा। ये घट भीतर कीन्ह पसारा॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३८–३९।

सत्संग-मन और माया का वर्णन-वेद का मत खण्डन-पुराण पुरुष की चर्चा-पिंड और ब्रह्माण्ड का भेद-घट में रामायण के राम लक्ष्मण, सीता, दशरथ आदि की अवस्थिति-संत तुलसी का पूर्व जन्म सम्बन्धी प्रक्षिप्त विवरण एवं संत मत का संक्षिप्त परिचय।

(ग) भाव-पक्ष "घटरामायण" का प्रतिपाद्य विषय दर्शन है। इस प्रसंग में कवि ने योग, वैराग्य, सत्संग आदि का वर्णन किया है। इन दार्शनिक विषयों की चर्चा में भाव-सौन्दर्य को प्रकट करने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता। अतएव सामान्यतया लौकिक-काव्य में भाव-सौन्दर्य का जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, वह "घटरामायण" में नहीं है किन्तु दुरूह दार्शनिक विचारों को लोक प्रचलित भाषा में सशक्त और सरल ढंग से व्यक्त करने की कला विद्यमान है। कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं जहां आत्मा-परमात्मा के रहस्योदघाटन में मार्मिकता का परिचय प्राप्त होता है।[1] पर 'घटरामायण' में उनकी संख्या कम है क्योंकि इसकी मुख्य वृत्ति खंडन-मंडन एवं दार्शनिक तत्व-निरूपण है।

(घ) कला पक्ष—'घटरामायण' का रचयिता कृति के कला पक्ष को पुष्ट करने में सचेष्ट नहीं है। इस ग्रन्थ में माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि काव्य गुणों का अभाव सर्वत्र दृष्टिगत होता है। योग के दुरूह विषय-वर्णन में प्रसाद गुण सर्वथा विलुप्त हो गया है। कवि ने शब्दों को इच्छानुसार तोड़ मोड़ कर प्रयोग करने की संतकाव्यीय परम्परा का पूर्ण पालन किया है। रस-परिपाक की दृष्टि से भी शान्त रस का प्रयोग सर्वत्र अनुकरणीय नहीं है। इस ग्रन्थ में शान्त रस ही प्रधान है। अलंकारों का प्रयोग भी सीमित है। तुलसी साहब ने 'घट-रामायण' में मुख्यतया 'अनुप्रास' और 'रूपक' और 'उदाहरण' अलंकारों का प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ में दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है।

(ङ) महत्व—संत तुलसी के शब्दों में 'घटरामायण' का महत्व निम्नांकित है—

घट रामायन अन्त, समझि सूर संतहि लखै।
झकै भेष और पंथ, थकै जगत भौ मिल रहा॥

1—अजब अली एक गगन गली री। सुरति चमक चढ़ि चटक चली री।
विधि विधि पहुप बाग बन देखा। कहर कहीं अलि अगम अलेखा॥
ता बिच कंज कवल मधु राजै। विटप वहत तरु विहंग विराजै।
सोना भूमि अधिक छवि छाई। सिंध बुंद परमातम पाई॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८७।

पंडित ज्ञानी भेष जो, नहिं पावै कोइ अन्त।
ये अनन्त रस अगम है, लखै सूर कोइ संत॥

वस्तुतः 'घटरामायण' का महत्व 'अनन्त अगम' ब्रह्म के प्रतिपादन में है। इस तत्व को अध्यात्म क्षेत्र का सूरमा संत ही ग्रहण कर सकता है। यह पंथ भेष का प्राप्तव्य नहीं है। अतएव इस ग्रन्थ का महत्व इसमें वर्णित ब्रह्म-ज्ञान एवं उससे सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक विचारों के कारण है।

(आ) रत्नसागर—यह तुलसी साहब का द्वितीय महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आकार में यह 'घटरामायण' से संक्षिप्त है किन्तु इसका महत्व उक्त ग्रन्थ से किसी भांति कम नहीं है। इस ग्रन्थ के निम्नांकित संक्षिप्त परिचय से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा—

(क) ग्रन्थ का शीर्षक—इस ग्रन्थ का नाम 'रत्नसागर' है। वास्तव में यह ग्रन्थ अध्यात्म रूपी रत्नों का सागर है। संत तुलसी ने अपने मानसरूपी सागर को मथकर विचाररूपी रत्नों के द्वारा इस ग्रन्थ को सम्पन्न किया है। ग्रन्थ में वर्ण्य विषय पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका 'रत्नसागर' नाम सार्थक है।

(ख) वर्ण्य-विषय—प्रारम्भ में आदि गुरू की वंदना है- सृष्टि का मूल तत्व आत्मा है- मन की उत्पत्ति का वर्णन, वेद रचना का रहस्य, षट्शास्त्र का विवरण, अवतार, कर्म, चौरासी लाख योनियों की चर्चा, पन्चभूतों की उत्पत्ति, क्रम, कर्म सिद्धान्त की विशद व्याख्या, कर्म सृष्टि का सनातन अंश है, कर्म से पुनर्जन्म एवं जन्म मरण का दुःख, सतगुरु और सत्संग के अभाव में आवागमन से निस्तार असम्भव है, सज्जन और असज्जन का भेद, जीव की अस्थावर, उष्मज, अंडज, पिंडज योनियों का वर्णन, असज्जन का रूप और उसके लक्षण, संत की महिमा अपरम्पार है, ज्ञान का भेद, जीवात्मा पुनर्जन्म में आसक्ति के कारण पड़ता है, जगत निःसार और क्षणिक है, मृत्यु के समय सुरति की दशा, जीव सत्यपुरुष का अंश है, काल के प्रभाव का वर्णन, तर्क का स्वरूप, भक्त के लक्षण, अभक्त के लक्षण, सात्विक जीवन के गुण, भेष और पंडित के कर्म-काण्ड का खण्डन, साधु के लक्षण, असाधु के लक्षण, पंथ का अभिप्राय, सत्संग का महत्व, सतयुग एवं कलियुग का वर्णन, अविनाशी का निरूपण, जीवात्मा की भोगवृत्ति, शब्द ब्रह्म की व्याख्या, शास्त्रों के कारण कर्मकाण्ड और जीव का बन्धन, अवतार मायिक है, सिद्ध की कथा द्वारा संत मत के सिद्धान्तों का निरूपण एवं ग्रन्थ के महत्व का प्रतिपादन।

१—घटरामायण, द्वितीय, भाग, पृ० १९४।

[ग] भाव-पक्ष—'रत्नसागर' के भावपक्ष में सरस एवं मार्मिक प्रसंगों का सर्वथा अभाव है। इसका कारण ग्रन्थ का विषय है। इस ग्रन्थ में दार्शनिक विचारों की प्रधानता है। दार्शनिक विचारों एवं वैराग्य प्रेरक विषयों के वर्णन में शान्त रस परिपक्व हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि शम भावाभिव्यंजन में संत तुलसी को अच्छी सफलता मिली है। शान्त रस के आलम्बन में सहायक तत्वों का उन्होंने प्रभावात्मक वर्णन किया है। वस्तुतः 'घटरामायण' की भांति ही 'रत्नसागर' में भाव सौन्दर्य की अपेक्षा विचार सौन्दर्य की प्रस्थापना कवि का अभीष्ट है। इसमें उसकी सफलता तर्क-वितर्क के परे है।

[घ] कला-पक्ष—इस ग्रन्थ का काव्य-गुण प्रसाद है। दार्शनिक विषय के कारण ओज और माधुर्य गुण का कोई प्रसंग ही नहीं उठता। पर दुरूह विषय को लोक प्रचलित भाषा में जिस स्पष्टता से तुलसी साहब ने व्यक्त किया है, वह द्रष्टव्य है। वस्तुतः प्रसाद गुण का अभिप्राय ही यह होता है कि विषय को ग्रहण करने में अतिशय प्रयत्न न करना पड़े। इस दृष्टि से 'रत्नसागर' की सफलता उल्लेख्य है। ब्रह्म, जीव, सृष्टि-क्रम इत्यादि जटिल दार्शनिक विषयों का सरल में स्पष्ट विवेचन 'रत्नसागर' की विशेषता है।

'रत्नसागर' में शान्त रस प्रधान है। शान्त रस की निष्पत्ति में कवि को अच्छी सफलता प्राप्त हुई हैं। इस ग्रन्थ में तुलसी साहब ने 'अनुप्रास' 'रूपक' एवं उदाहरण अलंकारों का मुख्य प्रयोग किया है। इसमें चौपाई, दोहा और सोरठा छन्द प्रयुक्त हुये हैं। भाषा की अभिव्यक्ति को सबल बनाने के निमित्त कवि ने लोकोक्तियों तथा रूढोक्तियों का प्रयोग भी किया है।

[ङ] महत्व—'रत्नसागर' के महत्व के सम्बन्ध में संत तुलसी ने ग्रन्थ के अन्त में कहा है—

रतन जतन सागर मही, कही जो निरनै छान।
ब्यान बरन विख्यान सब, बूझे बचन प्रमान॥

वस्तुतः इस ग्रन्थ में विचार सागर को मथकर सारभूत तत्वों का वर्णन और व्याख्या प्रस्तुत की गई है जिनकी प्रमाणभूत वाक्यों के रूप में प्रतिष्ठा असंदिग्ध है। वस्तुतः तुलसी साहब के आध्यात्मिक विचार जिस स्पष्टता और विशदतापूर्वक इस ग्रन्थ में प्रकट हुये हैं, उस प्रकार अन्यत्र नहीं। 'रत्नसागर' के अभाव में संत तुलसी का आध्यात्मिक व्यक्तित्व पूर्णत्व की प्रभा से प्रतिभासित नहीं होता। इस ग्रन्थ का यही महत्व है।

१—रत्नसागर पृ० १८६।

(इ) शब्दावली—'शब्दावली' में तुलसी साहब की विविध रचनायें हैं। यह ग्रन्थ भी 'घटरामायण की भांति वृहदाकार है। यहां इसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है—

(क) ग्रन्थ का शीर्षक—इस ग्रन्थ का नाम 'शब्दावली' है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रन्थ में तुलसी साहब के शब्द, या पदों का संग्रह होगा। वस्तुस्थिति यह नहीं है। इस ग्रन्थ में शब्द, साखी, कुण्डलियाँ, सवैया इत्यादि में लिखी गई उनकी रचनायें संग्रहीत हैं। वस्तुतः यह ग्रन्थ तुलसी साहब की विविध वाणियों का संग्रह है। इस दृष्टि से यदि इस ग्रन्थ का शीर्षक 'तुलसी साहब की वाणी,' होता तो अधिक युक्तियुक्त था। इसे 'शब्दावली' कहने का यह कारण अवश्य हो सकता है कि अन्य काव्यरूपों की अपेक्षा इसमें शब्द या पदों की संख्या अधिक है।

(ख) वर्ण्य विषय—सतगुरु-विरह और प्रेम-प्रियतम परमपुरुष की अलौकिक विभूति—वाह्याचार और कर्मकाण्ड का खण्डन—माया ने मकड़ी के जाले की भांति दृश्य जगत की सृष्टि की है—अवतार मायिक और कर्मबन्धन में है—ब्रह्म की दुर्विज्ञयता—संसार मिथ्या है—शरीरस्थ कमलों का वर्णन—योग का वर्णन—काल की प्रबलता—माया का त्रैलोक्य व्यापी प्रभाव—जीव जगत में आसक्त है—कुण्डलिनी योग का वर्णन—सतगुरु का महत्व—संत की दीनता—उद्बोधन—जीव ब्रह्म का अंश है—जीवन्मुक्ति—वेदान्त और मीमांसा का खण्डन—सुरति—शब्द योग—हठयोग का वर्णन—पन्चमहाभूत एवं उनके वर्ण—सहज समाधि योग का वर्णन—शाक्त आदि पशुबलि करने वाले साधकों की निंदा—ब्रह्म सर्व—समर्थ है—माया का बेल रूप में वर्णन—जीव की चार योनियों की चर्चा—परात्पर ब्रह्म का वर्णन—हठयोग का वर्णन—मन का प्रभाव—मन ही अज्ञान का कारण है—अवतार का विशद खण्डन—अवतार ब्रह्म नहीं है—अवतार कर्मवश हैं—प्रेम और विरह का वर्णन—मन और माया के कारण द्वैत भाव—जीवात्मा काल और कर्म के अधीन हैं—उत्कट विरहानुभूति का वर्णन—ब्रह्म के पूर्ण पद का वर्णन—नाम महिमा—सतसंग और सतगुरु के महत्व की चर्चा—माया का उल्लेख—त्रिगुण का वर्णन—पञ्चमहाभूत से वैराट की रचना—माया का नारी रूप में वर्णन—माया के अधीन जीव की निर्लज्जता का विवरण—निर्गुण—निरुपाधि ब्रह्म का वर्णन—वैराग्य—कर्मकाण्डी जगत का वर्णन—जीवात्मा परमात्मा से वियुक्त होकर संसार में पड़ा है—सतगुरु के बिना उद्धार असंभव—ज्ञान और भक्ति का उल्लेख परमतत्व का वर्णन—ब्राह्मण, जैन, कबीर पंथ आदि विभिन्न मतों की

आलोचना—वाणी द्वारा ब्रह्म का वर्णन असंभव है—अनाहत नाद का वर्णन—अविनाशी तत्व का निरूपण—जीवात्मा की विरह दशा—ब्रह्मनिष्ठ जीव के तादात्म्य का वर्णन।

(ग) भाव-पक्ष–भाव सौन्दर्य की दृष्टि से 'शब्दावली' का संत तुलसी के ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ में दार्शनिक विचारों के साथ आध्यात्मिक अनुभूति की उत्कृष्ट व्यञ्जना उपलब्ध है। अनेक पदों में प्रेम और विरह की गहरी अनुभूति व्यक्त हुई है। विरहानुभूति की उक्तियां उनकी अन्तरालवर्ती आत्मविह्वलता से परिपूर्ण हैं।[1] 'शब्दावली' में विरह-भाव की उत्कट-व्यञ्जना करने वाले पदों की संख्या अन्य पदों की तुलना में कम नहीं है। प्रेम और विरह की भावना से ओत-प्रोत इन पदों में अनुभूति की पूर्ण प्रेक्षणीयता हैं। आत्मा परमात्मा के मिलन एवं विरह की उक्तियों में प्रेम की अनेक दशाओं की मर्मस्पर्शी व्यञ्जना दृष्टिगत होती है। वस्तुतः दर्शन को मार्मिक अनुभूति से सरस रूप प्रदान करने की कला में तुलसी साहब को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है।

(घ) कला-पक्ष—तुलसी साहब के अन्य ग्रन्थों की तुलना में 'शब्दावली' के कलापक्ष में विविधता एवं पुष्टता है। इसमें माधुर्य गुण उपलब्ध है। श्रृङ्गार के स्थलों में माधुर्यगुण पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित है। प्रसाद गुण का 'शब्दावली' में अभाव नहीं है किन्तु विषय की दुरूहता के कारण वह प्रस्फुटित नहीं हो पाया है। इस ग्रन्थ में शान्त एवं श्रृंगार रस का प्रतिपादन हुआ है। श्रृङ्गार के वियोग और संयोग पक्षों का वर्णन किया गया है। रस परिपाक की दृष्टि से विरह श्रृङ्गार के वर्णन में कवि को उलेखनीय सफलता प्राप्त हुई है। तुलसी साहब ने इस ग्रन्थ में 'अनुप्रास' 'सांग रूपक' 'रूपक' एवं 'उदाहरण' अलंकारों का प्रयोग किया है। छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से भी

१—प्रतिम पीर पिरानी, दरद कोइ विरले जानी ॥

डस. भुवंग चढ़त सननननन, लहर लहर लहरानी।१।

।नन घनन घन्नाटी आवे, भावे अन्न न पानी।२।

भंवर चक्र की उठत घुमेरें, फिरें दसो दिश आनी।३।

अंदर हाल विहाल हलावत, दुरगम प्रीति निभानी।४।

तुलसी यह मारग मुस्किल का, घड़ विन सीस विकानी।५।

—शब्दावली. द्वितीय भाग, पृ० २५१।

संत तुलसी के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इस ग्रन्थ में विविधता हैं । इसमें पद, सवैय्या, कुण्डलियां, गजल, रेखता छन्द का प्रयोग किया गया है ।

(ङ) महत्व—'शब्दावली' का संत तुलसी की रचनाओं में विशिष्ट स्थान है । इस ग्रन्थ के समान उनकी अन्य कोई अनुभूतियमय रचना प्राप्त नहीं होती है । इसमें दुरूह दार्शनिक विषयों को सरस बना कर व्यक्त किया गया हैं इस कृति में तुलसी साहब की आध्यात्मिक वाणी को काव्योचित वैदग्ध दृष्टव्य है । 'घटरामायण' एवं 'रत्नसागर' में शास्त्रीय विवेचन–पद्धति ग्रहण की गई और 'शब्दावली' में काव्य की रस–पद्धति या भाव-पद्धति के आधार पर विचार व्यक्त किये गए हैं । इसीलिए इस ग्रन्थ में लोक–मानस को प्रभावित करने की बड़ी क्षमता है ।

(ई) पद्‌मसागर (अपूर्ण) यह संत तुलसी का अधूरा ग्रन्थ है । इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं–

(क) शीर्षक—इव ग्रन्थ का नाम 'पद्मसागर' है । अपूर्ण ग्रन्थ के शीर्षक की सार्थकता एवं निरर्थकता पर विचार करना बहुत युक्तियुक्त नही है किन्तु यह अनुभान किया जा सकता है कि ब्रह्माण्ड-स्थिति पद्‌म या कमल में स्थित ब्रह्म-भावना के कारण इस ग्रन्थ को यह नाम प्राप्त हुआ ।

(ख) वर्ण्य-विषय—प्रारम्भ में गुरु वन्दना—सतगुरु एवं संत की महिमा अनन्त है–असीम तत्व का वर्णन–ब्रह्म संत कृपा से प्राप्त होता हैं–योग की चर्चा–जड़ चेतन की ग्रन्थि छूटे विना परमार्थ प्राप्ति असंभत--नाम महिमा —निर्गुण निराकार ब्रह्म का प्रतिपादन--जीवन्मुक्ति–ब्रह्म का स्थान कमल में है ।

(ग) भाव-पक्ष---'पद्‌म सागर' में अनुभूति की अपेक्षा विचार-प्रतिपादन मुख्य है । इसे भाव सौन्दर्य की कृति न कहकर विचार--सौन्दर्य की रचना कहा जा सकता है । 'घटरामायण,' एवं 'रत्नसागर की' भांति ही ब्रह्म-जीव निरूपण इसका प्रतिपाद्य विपय है । इस ग्रन्थ में दार्शनिक विचारों को 'रत्नसागर की पद्धति पर प्रकट करने का प्रयास लक्षित होता है ।

(घ) कला-पक्ष—रस रचना में माधुर्य एवं ओज गुण अनुपलब्ध हैं, गुण भी सर्वत्र नहीं है । शान्त रस मुख्य है । अलंकारों में अनुप्रास प्रमुख है । इस ग्रन्थ में दोहा, चौपाई एनं सोरठा छन्द प्रयुक्त हुये हैं ।

(ड) महत्व—'पद्म सागर' का महत्व प्रतिपादन करने वाली पंक्तियां अन्तस्साक्ष्य से प्राप्त हैं—

पद्मसार सागर सुनो, बेहद वचन बयान।
ज्ञान उदै हिये में उठे, सुन हिरदे निज कान ॥[1]

वस्तुतः इस ग्रन्थ का महत्व यही है कि इसमें असीम ब्रह्म का वर्णन हैं जिसके अनुशीलन से हृदय में ज्ञान उत्पन्न होता हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है। इससे उनकी विभिन्न कृतियों के वर्ण्य-विषय, भाव-पक्ष, कला-पक्ष एवं महत्व से सम्बन्धित विशेषताओं का विवरण प्राप्त हो जाता है।

ग्रन्थों की प्रामाणिकता

हमने तुलसी साहब के 'घटरामायण' 'रत्नसागर' 'शब्दावली' एवं 'पद्मसागर' ग्रन्थों का उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में किया है। अब हम इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार करेंगे निम्नलिखित पंक्तियों में इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता के आधार का विवरण प्रस्तुत किया गया हैं—

(अ) विद्वानों द्वारा मान्यता—तुलसी साहब के ग्रन्थों को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान इस प्रकार हैं—

(क) अंग्रेजी के विद्वान-अंग्रेजी के विद्वानों में एक मात्र आचार्य क्षितिमोहन सेन महोदय ने संत तुलसी के ग्रन्थों की चर्चा की है। इन्होंने 'मेडीवल मिस्टीसिज्म' ग्रन्थ में तुलसी साहब को 'घटरामायण' 'रत्नसागर' और 'शब्दावली' आदि ग्रन्थों का रचयिता माना है।[2]

(ख) हिन्दी के विद्वान—हिन्दी लेखकों में तुलसी साहब की चर्चा करने वाले विद्वानों ने समान रूप से संत तुलसी के ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्वीकार की है। इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में परस्पर कोई मतभेद नहीं है। डा० बड़थ्वाल ने तुलसी साहब को 'घटरामायण' 'रत्नसागर' 'पद्मसागर' एवं 'शब्दावली' का रचयिता स्वीकार किया है।[3] डा०

१—पद्म सागर पृ० ३।
२—मेडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १६१,
३—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ९१।

रामकुमार वर्मा ने संत तुलसी को 'घटरामायण' 'रत्नसागर' एवं 'शब्दावली' का रचयिता माना है।[१] पं० परशुराम जी चतुर्वेदी जी ने इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में 'घटरामायण' 'रत्नसागर' 'शब्दावली' एवं 'पद्मसागर' का ही उल्लेख किया है।[२]

इस प्रकार तुलसी साहब के उपर्युक्त उल्लिखित ग्रन्थों की प्रामाणिकता विद्वानों को मान्य है। केवल 'घटरामायण' के एक अंश को मान्यता नहीं प्राप्त है। 'घटरामायण' के अन्त में तुलसी साहब के पूर्वजन्म का प्रसंग उठाया गया है और प्रतिपादित किया गया है कि पूर्व जन्म में तुलसी साहब गोस्वामी तुलसी दास के अवतार थे एवं उन्होंने सगुण रामायण की रचना की थी।[३] डा० बड़थ्वाल ने इस प्रसंग को प्रक्षिप्त माना है।[४] पं० परशुराम जी चतुर्वेदी ने भी इसकी चर्चा की है किन्तु अपना स्पष्ट मत नहीं दिया है।[५] 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के एक लेख में इस अंश को तुलसी साहब के किसी शिष्य की रचना माना गया है।[६] वस्तुतः 'घटरामायण' का यह अंश निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। हमने 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत तुलसी साहब के पूर्वजन्म खन्डन में 'घटरामायण' के इस अंश को पूर्णतया निराधार प्रक्षिप्त एवं अप्रामाणिक सिद्ध किया है। इस अंश की अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में दो मत होने की कोई सम्भावना नहीं है।

अतएव 'घटरामायण' के पूर्वजन्म प्रकरण को छोड़कर तुलसी साहब की समस्त रचनायें विद्वानों द्वारा प्रामाणिक मानी गई हैं।

(आ) पंथ में मान्यता—तुलसी साहब के पंथ में उपर्युक्त ग्रन्थ समान रूप से समादृत हैं। इनकी मान्यता के सम्बन्ध में महन्त और पंथानुयायियों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है—

(क) महंत द्वारा मान्यता—तुलसी साहब की समाधि पर निर्मित तुलसी मन्दिर, हाथरस के वर्तमान महन्त सन्त प्रकाशदास हैं। महन्त प्रकाशदास तुलसी साहब के इन ग्रन्थों को पूर्णरूपेण प्रामाणिक मानते हैं। उन्होंने

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २९१।
२—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६५०।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८५-१८८।
४—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ९०।
५—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६४८।
६—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १५, पृ० ९२।

'तुलसी सन्ध्या वन्दन' नामक सम्प्रदाय के ग्रन्थ की भूमिका में 'घटरामायण' 'रत्नसागर', 'पद्मसागर' एवं 'शब्दावली' ग्रन्थों को तुलसी साहब की रचना माना है।[1] वे 'घटरामायण' के अन्त में मुद्रित पूर्व जन्म-चरित्र को भी तुलसी साहब द्वारा प्रणीत एवं प्रमाणित मानते हैं।[2] वस्तुतः उनकी धर्मनिष्ठा एवं श्रद्धा इस अंश को प्रामाणिक मानती है, तार्किकता नहीं। अतएव यह स्पष्ट होता है कि पंथ के वर्तमान आचार्य महंत प्रकाशदास के अनुसार संत तुलसी के चारों ग्रन्थ प्रामाणिक हैं।

(ख) अनुयायियों द्वारा मान्यता—तुलसी साहब के अनुयायी 'साहिब-पंथी' कहलाते हैं। साहिब पंथियों में तुलसी साहब के 'घटरामायण', 'रत्न-सागर', 'शब्दावली' और 'पद्मसागर' ग्रन्थों को पूर्ण प्रामाणिक माना जाता है। लेखक पंथानुयायियों से इस सम्बन्ध में चर्चा करके इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि तुलसी साहब के अनुयायी उनके उपर्युक्त उल्लिखित चार ग्रन्थों को पूर्ण प्रामाणिक मानते हैं एवं उनके किसी अंश को संदिग्धता की दृष्टि से देखना पसन्द नहीं करते।

इससे यह सिद्ध होता है कि तुलसी साहब के ग्रन्थों को पंथ द्वारा प्रामाणिक माना जाता है महंत एवं अनुयायी समान रूप से इन ग्रन्थों को संत तुलसी की रचना मानते हैं।

(इ) नाम की छाप—तुलसी साहब के समस्त ग्रन्थों में उनके नाम की छाप पड़ी है। निम्नलिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा।

(क) 'घटरामायण' में नाम की छाप—'घटरामायण' के प्रत्येक स्थल पर तुलसी साहब का नाम अंकित है। वस्तुतः ग्रन्थ का एक पृष्ठ भी ऐसा नहीं है जिसमें उसका नाम न आया हो। सच तो यह है कि 'घटरामायण' के प्रायः प्रत्येक दोहे, चौपाई और सोरठे में तुलसी साहब के नाम की छाप पड़ी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी इसे तुलसी साहब कृत कहा गया है।[3]

(ख) 'रत्नसागर' में नाम की छाप—'रत्नसागर' तुलसी साहब का द्वितीय महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना प्रश्न और उत्तर के रूप में होने से प्रत्येक पृष्ठ पर उनका नाम अंकित नहीं है किन्तु प्रश्नकर्ता द्वारा ग्रन्थ के

१—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० ३।
२—तुलसी संध्या वन्दन, भूमिका, पृ० १।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १।

रचयिता को तुलसी कहा गया है।[१] और रचयिता के उत्तर को 'तुलसी वाच' शीर्षक दिया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अनेक स्थलों पर संत तुलसी का नाम अंकित है। 'रत्नसागर' के प्रारम्भ में इस ग्रन्थ को 'तुलसी साहब कृत' बताया गया है।[२]

(ग) 'शब्दावली' में नाम की छाप—'शब्दावली' में तुलसी साहब की विविधि रचनायें संग्रहीत हैं। इसमें मुद्रित प्रायः प्रत्येक शब्द, साखी, गजल, रेखता, कुण्डलियां, सवैया में तुलसी साहब का नाम अंकित है। वस्तुतः शब्दावली का एक भी पृष्ठ ऐसा नहीं है जिसमें तुलसी का नाम न आया हो। 'शब्दावली' के प्रारम्भ में इसे तुलसी साहब कृत बताया भी गया है।[३]

(घ) 'पद्मसागर' में नाम की छाप—'पद्मसागर' की रचना भी 'रत्न सागर' की भांति प्रश्न और उत्तर शैली में की गई हैं। ग्रन्थकार के उत्तर को 'तुलसी वाच' शीर्षक दिया गया है। इसके अतिरिक्त रचना के कई स्थलों पर तुलसी साहब का नाम अंकित है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में इसके तुलसी कृत होने का उल्लेख कर दिया गया है।[४]

अतएव यह सिद्ध होता है कि संत तुलसी की प्रत्येक कृति पर उनके नाम की छाप पड़ी है। उनके ग्रन्थों के प्रारम्भ में भी उनको रचयिता बताया गया है एवं रचनाओं के अन्दर उनका नाम प्रचुर रूप से अंकित है। इससे इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता पुष्ट होती है।

(ई) भाव-पक्ष की एकरूपता—तुलसी साहब के ग्रन्थों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका प्रतिपाद्य विषय परमार्थ है; अतएव रस-दृष्टि से शान्त रस उनका प्रतिपाद्य हैं। वर्ण-विषय, भाव एवं रस की दृष्टि से उनके समस्त ग्रन्थों में एकरूपता होने के कारण उनकी प्रामाणिकता मान्य हो जाती है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा—

(क) वर्ण्य-विषय की समानता—तुलसी साहब के समस्त ग्रन्थों में वर्ण्य विषय एकरूप है। उन्होंने 'घटरामायण', 'शब्दावली', एवं 'पदमसागर' में

१—रत्नसागर, पृ० १।

२—रत्नसागर, पृ० १।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १।

४—पद्मसागर, पृ० १।

समानरूप से ब्रह्म, जीव, जगत माया, कर्म, पुनर्जन्म, जीवनन्मुक्ति आदि आध्यात्मिक विषयों की चर्चा की है। वर्ण्य विषय की यह समानता इन ग्रन्थों को उनकी रचनाएँ सिद्ध करने में सहायक हैं।

(ख) भाव एवं रस की प्रधानता—तुलसी साहब के ग्रन्थों का मूलरस शान्त है। उन्होंने शान्त रस के स्थायी भाव शम और उसके आश्रय ब्रह्म का समान रूप से चारों ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है। शान्त रस के 'आलम्बन' के अन्तर्गत उनके 'घटरामायण' 'रत्नसागर' 'शब्दावली' एवं 'पद्मसागर' ग्रन्थों में दुःख मय असार जगत, जीवन की क्षणिकता, अनित्यता इत्यादि से सम्बन्ध रखने वाले उद्गार प्रायः एक सी शब्दावली में प्रकट हुये हैं। शान्त रस के उद्दीपन के अन्तर्गत सतसंग और संत-संग इत्यादि का वर्णन भी उनके सब ग्रन्थों में एक सा प्राप्त होता है। इसी प्रकार शान्त रस के परिपाक में सहयोगी अनुभाव और संचारियों का प्रयोग सब रचनाओं में एक पद्धति पर ही किया गया है। वस्तुतः उनकी समस्त रचनाओं में शान्त रस समान रूप से प्रतिष्ठित है। सब ग्रन्थों में रस की समानता एवं एकरूपता होने से वे तुलसी साहब द्वारा प्रणीत सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार वर्ण्य-विषय, भाव और रस की समानता एवं एकरूपता की दृष्टि से तुलसी साहब के ग्रन्थ प्रामाणिक प्रकट होते हैं।

(ग) विचारों में तारतम्यता-- तुलसी साहब के सब ग्रन्थों में प्रकट विचारों में एक तारतम्यता है जिससे यह सिद्ध होता है कि वे ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की रचना हैं। उनकी खंडन एवं मंडन प्रणाली से सम्बन्धित विचारों के निम्नलिखित विवरण से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

(क) खण्डनात्मक विचारों में तारतम्यता—संत तुलसी के खंडनात्मक विचार उनके समस्त ग्रन्थों में एक रूप प्राप्त होते हैं। 'घटरामायण' में जिस पद्धति पर अवतार का उग्र खंडन किया गया है, उसी पद्धति पर 'रत्नसागर' एवं 'शब्दावली' में किया गया है। भेष और पंथ का खण्डन समान रूप से सब ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड और बाह्याचार के सम्बन्ध में तुलसी साहब के खंडनात्मक विचार सब ग्रन्थों में एक से हैं। 'निरंजन' के अम्हत्व का प्रतिपादन 'घटरामायण' 'रत्नसागर' तथा शब्दावली में समान रूप से किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि संत तुलसी के खंडनात्मक विचार उनके सब ग्रन्थों में समान रूप से समान पद्धति द्वारा व्यक्त हुए हैं। इससे ग्रन्थों की प्रामाणिकता को बड़ा बल मिलता है।

(ख) मंडनात्मक विचारों में तारतम्यता--जिस प्रकार तुलसी साहब के खंडनात्मक विचारों में तारतम्यता है, उसी प्रकार उनके मण्डनात्मक विचार भी सब ग्रन्थों में एक रूप हैं। उन्होंने समान रूप से समस्त रचनाओं में ब्रह्म के निर्गुण, निरुपाधि एवं निर्विशेष भाव का प्रतिपादन किया है। 'घटरामायण', 'रत्नसागर' 'शब्दावली' एवं 'पद्मसागर' में उन्होंने समान भाव से ब्रह्म की सर्वोच्च भावना 'अनाम' द्वारा व्यक्त की है। इसी प्रकार 'पिंड में ब्रह्माण्ड की अवस्थिति का सिद्धान्त उपर्युक्त ग्रन्थों में पुनः पुनः दृष्टिगत होता है। संत मत सम्बन्धी उनकी धारणा सब ग्रन्थों में यत्किंचित शाब्दिक परिवर्तन द्वारा निरन्तर प्रकट हुई है। इससे उनके मण्डनात्मक विचार एकरूप में सब ग्रन्थों के प्रतिपाद्य सिद्ध होते हैं। खंडनात्मक विचारों की भांति मण्डनात्मक विचारों में तारतम्यता ग्रन्थों की प्रामाणिकता के पक्ष में प्रमाण हैं।

अतएव विचारों की तारतम्यता की दृष्टि से भी उनके ग्रन्थों की प्रामाणिकता पुष्ट होती है।

(ऊ) शैली में एकरूपता--ग्रन्थों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए विचारों के साथ शैली की परीक्षा भी आवश्यक है। इसमें एक कठिनाई उत्पन्न होती है। संत कवियों की शैली का सुनिश्चित रूप प्राप्त नहीं होता। प्रायः उसमें अनेक भाषाओं की शब्दावली का प्रयोग रहता है। तुलसी साहब की शैली का रूप भी बहुत कुछ ऐसा हीं है। पर उनकी शैली में दो ऐसी विशेषतायें हैं जिनसे उनके ग्रन्थ प्रामाणिक प्रकट होते हैं।

(क) व्यक्ति प्रधान—तुलसी साहब की शैली व्यक्ति प्रधान है। उनकी शैली पर उनकी आलोचनात्मक एवं खंडनात्मक प्रतिभा का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगत होता है। संत तुलसी की समस्त कृतियों में उनकी विचारशीलता एवं बौद्धिक आलोचना पद्धति की प्रखरता प्रतिष्ठित है। उनकी बौद्धिक आलोचना पद्धति 'घटरामायण' 'रत्नसागर' 'शब्दावली' एवं 'पद्मसागर' में समान रूप से अंकित है। अवतारों के खण्डन के प्रसंग में इस शैली का वास्तविक रूप उनके ग्रन्थों में देखा जा सकता है। इस समानता के आधार पर उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

(ख) आख्यायिकायुक्त—तुलसी साहब की शैली की दूसरी विशेषता है उसका आख्यायिकायुक्त होना। अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये उन्होंने सब ग्रन्थों में पौराणिक एवं काल्पनिक आख्यान प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः यह उनकी शैली की निजी विशेषता हैं जो 'घटरामायण', 'रत्नसागर' एवं शब्दावली आदि ग्रन्थों में समान रूप से प्रकट हुई हैं। 'घटरामायण' में सुदर्शन सेठ की

कथा[1] द्वारा 'रत्नसागर' में 'शिव' पार्वती की कथा[2] द्वारा एवं 'शब्दावली' में प्रणधारी राजा की आख्यायिका[3] द्वारा उन्होंने अपने आध्यात्मिक मंतव्यों को स्पष्ट किया है। शैली की यह विशेषता उनके सब ग्रन्थों में वर्तमान है। इससे उनके ग्रन्थों की प्रमाणिकता पुष्ट होती है।

उपर्युक्त विवेचन में हमने तुलसी साहब के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर कई दृष्टियों से विचार किया। हमने देखा कि इनके ग्रन्थों को हिन्दी और अंग्रेजी के विद्वानों ने प्रामाणिक माना है। पंथ में इनकी मान्यता असंदिग्ध है। ग्रन्थों के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर तुलसी साहब के नाम की छाप पड़ी हुई है। भाव-पक्ष, शैली एवं विचारों की एकरूपता भी यही प्रकट करती है कि तुलसी साहब के ग्रन्थ पूर्ण प्रामाणिक हैं। वस्तुतः उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त तुलसी साहब के ग्रन्थों की प्रामाणिकता असंदिग्ध हो जाती है।

४—ग्रन्थों का रचनाकाल

संत तुलसी के ग्रन्थों के रचना काल के सम्बन्ध में अन्तस्साक्ष्य से किसी प्रकार की सहायता नहीं प्राप्त होती। बहिस्साक्ष्य के द्वारा भी इनके ग्रन्थों का रचना काल निर्धारित करना बहुत अधिक सहायक नहीं है। निम्नांकित विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा।

(क) अन्तस्साक्ष्य से रचनाकाल—तुलसी साहब के किसी भी मुद्रित ग्रन्थ में रचना काल निर्दिष्ट नहीं है। 'घटरामायण' में 'पूर्व जन्म चरित्र' के अन्तर्गत इस ग्रन्थ का रचना काल सम्वत् १६१८ उल्लिखित है।[4] वस्तुतः यह काल्पनिक है और तुलसी साहब के पूर्व जन्म में तुलसीदास होने की कल्पना पर आश्रित है। हमने परिशिष्ट में इस प्रसंग की अप्रामाणिकता प्रकट कर दी है। अतएव यह तिथि सर्वथा अमान्य है।

तुलसी मन्दिर, हाथरस में 'शब्दावली' एवं 'घटरामायण' की दो हस्त-लिखित प्रतियां देखने को मिलीं। ये प्रतियाँ बड़ी जीर्ण-शीर्ण दशा में थीं और आगे पीछे के कई पृष्ठ गायब थे। अतएव इनके रचना काल की कोई सूचना नहीं मिली। मुरादाबाद आदि साहिब पंथ के अन्य मुख्य नगरों में भी किसी हस्तलिखित प्रति के विद्यमान होने की कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई। संत सत्संग

१—घटरामायण, प्रथमभाग, पृ० ९४।

२—रत्नसागर, पृ० ५७।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ७२।

४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८४।

आश्रम, मुरादाबाद एवं तुलसी पंथ प्रचारक सभा, हाथरस में भी तुलसी साहब के मुद्रित ग्रन्थों का पाठ होता है। अतएव हस्तलिखित प्रतियों या प्रतिलिपियों से रचना काल प्राप्त होने की आशा फलीभूत नहीं हो पाई।

इस प्रकार अन्तस्साक्ष्य से इनके ग्रन्थों का रचना काल ज्ञात होना संभव नहीं है।

(ख) वहिस्साक्ष्य से रचना काल—तुलसी साहब के जीवन चरित्र पर विचार करते समय हमने उनका जन्म काल सन् १७८८ माना है। जीवनी के अन्तगत हमने यह प्रतिपादित किया है कि युवा अवस्था में संसार की वक्रगति का अनुभव होने के उपरान्त तुलसी साहब विरक्त हुये। यदि वैराग्य के समय उनकी आयु पच्चीस वर्ष की अनुमानित की जाय. तो उनके विरक्त होने की तिथि सन् १८१३ के निकट होगी। जीवनी में हमने तुलसी साहब की मृत्यु तिथि सन् १८४८ मानी है। अतएव सन् १८१३ की वैराग्य तिथि एवं सन् १८४८ की मृत्यु तिथि के मध्य उनकी कृतियों का रचना काल होना चाहिये। इसमें संशय करने का कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता कि उनकी रचनाएँ वैराग्य के उपरान्त की हैं। रचनाओं का विषय ही यह स्पष्ट कर देता है।

इस प्रकार बहिस्साक्ष्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि तुलसी साहब के ग्रन्थों का रचनाकाल सन् १८१३ से १८४८ के मध्य है। उपलब्ध सामग्री के द्वारा इस सम्बन्ध में इतना ही निर्दिष्ट होता है।

५—ग्रन्थों का रचनाक्रम

तुलसी साहब के ग्रन्थों में उनकी रचना तिथि न होने के कारण ग्रन्थों का रचनाक्रम सुनिश्चित रूप से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में अन्य कोई उपलब्ध सामिग्री भी नहीं है, जिसके आधार पर ग्रन्थों का रचना-क्रम निश्चित किया जाय। ग्रन्थों के वर्ण्य विषय एवं शैली पर दृष्टिपात करके इस सम्बन्ध में अनुमान मात्र किया जा सकता है।

(क) 'घटरामायण' के विषय एवं शैली में एक प्रकार की साम्प्रदायिकता है, जो अन्य रचनाओं में दृष्टिगत नहीं होती। साम्प्रदायिकता का प्रभाव इतना अधिक है कि कई स्थलों पर कवि ने योगमार्ग से संतमत को भिन्न दिखाने के लिए संतमत के चक्र या कमलों की कल्पना की है।[1] इसके अतिरिक्त तुलसी

१—नौलख कंवल कबीर बखाना। कहो तुम उनका कौन ठिकाना।
चारि कंवल दल देव बनाई। दोइ दल कंवल कौन से ठाईं।
ये सब कंवल जोग से न्यारा। जोगी न जाने भेद विचारा।
कंवल चक्र घट जोगी गाई। उन कंवलन से न्यारे नाई॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३।

साहब ने पुनः पुनः आग्रह पूर्वक यह कहा है कि संत मत का गन्तव्य पथ योग से भिन्न है।[1] संत मत का यह साम्प्रदायिक आग्रह प्रकट करता है कि 'घटरामायण' तुलसी साहब के संत मत में दीक्षित होने के कुछ समय उपरान्त की रचना है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'घटरामायण' उनकी प्रारम्भिक रचना है।

(ख) 'रत्नसागर' के वर्ण्य विषय एवं प्रतिपादन शैली में एक प्रकार की गंभीरता एवं सुस्पष्टता है। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि 'रत्नसागर' उनकी प्रारम्भिक रचना नहीं है। 'रत्नसागर' में आध्यात्मिक विषयों की जितनी विविधता है, उतनी अन्य ग्रन्थों में नहीं है। इसमें गूढ़ आध्यात्मिक विषयों को जिस सरलता एवं स्पष्टता के साथ प्रकट किया गया है, उससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि यह रचना उनके प्रौढ़ काल की है। प्रौढ़ काल में ही विषय के नियन्त्रण की योग्यता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त 'रत्नसागर' में संत मत का साम्प्रदायिक आग्रह 'घटरामायण' की तुलना में बहुत कम है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'रत्नसागर' 'घटरामायण' के बाद की रचना है। इसके अतिरिक्त 'रत्नसागर' में 'घटरामायण का वह प्रसंग उल्लिखित है जिसमें घट में ही रावण इत्यादि रामायणके पात्रों की स्थिति मानी गई है।[2] यह तथ्य भी हमारे इस मत के पक्ष में है कि 'रत्नसागर की रचना 'घटरामायण' के उपरान्त हुई।

(ग) 'पद्मसागर' अपूर्ण रचना है। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि यह रचना तुलसी साहब के जीवन के अन्तिम समय की है, जिसे वह पूर्ण नहीं कर पाये। इस मत को हाथरस के महंत प्रकाशदास का समर्थन प्राप्त है। इसके अतिरिक्त 'पद्मसागर' का उपलब्ध अंश बड़ी उदात्त शैली में लिखा गया है। इससे भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि यह उनके पूर्ण प्रौढ़ की कृति है।

(घ) 'शब्दावली' की रचना किसी निश्चित समय में नहीं हुई। इसमें तुलसी साहब की समय-समय पर रचित फुटकर रचानएँ संग्रहीत हैं।[3] अतएव इस ग्रन्थ का क्रम निश्चित करना संभव नहीं है।'

१—ये सब जोग ज्ञान गति माई, ज्ञानी यही बताई।
इन के परे भेद है न्यारा, सो कोई संत जनाई ॥

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ७।

२—रावन त्रिकुट के मध्य लंका, वास में वसि के रह्यो।
निरगुन ब्रह्म अपनो सता, सीता को हरि कर ले गयो ॥

—रत्नसागर, पृ० १२९।

३—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

आश्रम, मुरादाबाद एवं तुलसी पंथ प्रचारक सभा, हाथरस में भी तुलसी साहब के मुद्रित ग्रन्थों का पाठ होता है। अतएव हस्तलिखित प्रतियों या प्रतिलिपियों से रचना काल प्राप्त होने की आशा फलीभूत नहीं हो पाई।

इस प्रकार अन्तस्साक्ष्य से इनके ग्रन्थों का रचना काल ज्ञात होना संभव नही है।

(ख) वहिस्साक्ष्य से रचना काल—तुलसी साहब के जीवन चरित्र पर विचार करते समय हमने उनका जन्म काल सन् १७८८ माना है। जीवनी के अन्तगत हमने यह प्रतिपादित किया है कि युवा अवस्था में संसार की वक्रगति का अनुभव होने के उपरान्त तुलसी साहब विरक्त हुये। यदि वैराग्य के समय उनकी आयु पच्चीस वर्ष की अनुमानित की जाय. तो उनके विरक्त होने की तिथि सन् १८१३ के निकट होगी। जीवनी में हमने तुलसी साहब की मृत्यु तिथि सन् १८४८ मानी है। अतएव सन् १८१३ की वैराग्य तिथि एवं सन् १८४८ की मृत्यु तिथि के मध्य उनकी कृतियों का रचना काल होना चाहिये। इसमें संशय करने का कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता कि उनकी रचनाएँ वैराग्य के उपरान्त की हैं। रचनाओं का विषय ही यह स्पष्ट कर देता है।

इस प्रकार वहिस्साक्ष्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि तुलसी साहब के ग्रन्थों का रचनाकाल सन् १८१३ से १८४८ के मध्य है। उपलब्ध सामग्री के द्वारा इस सम्बन्ध में इतना ही निर्दिष्ट होता है।

५—ग्रन्थों का रचनाक्रम

तुलसी साहब के ग्रन्थों में उनकी रचना तिथि न होने के कारण ग्रन्थों का रचनाक्रम सुनिश्चित रूप से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में अन्य कोई उपलब्ध सामिग्री भी नहीं है, जिसके आधार पर ग्रन्थों का रचना-क्रम निश्चित किया जाय। ग्रन्थों के वर्ण्य विषय एवं शैली पर दृष्टिपात करके इस सम्बन्ध में अनुमान मात्र किया जा सकता है।

(क) 'घटरामायण' के विषय एवं शैली में एक प्रकार की साम्प्रदायिकता है, जो अन्य रचनाओं में दृष्टिगत नहीं होती। साम्प्रदायिकता का प्रभाव इतना अधिक है कि कई स्थलों पर कवि ने योगमार्ग से संतमत को भिन्न दिखाने के लिए संतमत के चक्र या कमलों की कल्पना की है।[1] इसके अतिरिक्त तुलसी

---

[1]—नौलख कंवल कवीर बखाना। कहो तुम उनका कौन ठिकाना।
चारि कंवल दल देव बताई। दोइ दल कंवल कौन से ठाई।
ये सब कंवल जोग से न्यारा। जोगी न जाने भेद विचारा।
कंवल चक्र घट जोगी गाई। उन कंवलन से न्यारे भाई॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३।

साहब ने पुनः पुनः आग्रह पूर्वक यह कहा है कि संत मत का गन्तव्य पथ योग से भिन्न है।[1] संत मत का यह साम्प्रदायिक आग्रह प्रकट करता है कि 'घटरामायण' तुलसी साहब के संत मत में दीक्षित होने के कुछ समय उपरान्त की रचना है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'घटरामायण' उनकी प्रारम्भिक रचना है।

(ख) 'रत्नसागर' के वर्ण्य विषय एवं प्रतिपादन शैली में एक प्रकार की गंभीरता एवं सुस्पष्टता है। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि 'रत्नसागर' उनकी प्रारम्भिक रचना नहीं है। 'रत्नसागर' में आध्यात्मिक विषयों की जितनी विविधता है, उतनी अन्य ग्रन्थों में नहीं है। इसमें गूढ़ आध्यात्मिक विषयों को जिस सरलता एवं स्पष्टता के साथ प्रकट किया गया है, उससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि यह रचना उनके प्रौढ़ काल की है। प्रौढ़ काल में ही विषय के नियन्त्रण की योग्यता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त 'रत्नसागर' में संत मत का साम्प्रदायिक आग्रह 'घटरामायण' की तुलना में बहुत कम है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'रत्नसागर' 'घटरामायण' के बाद की रचना है। इसके अतिरिक्त 'रत्नसागर' में 'घटरामायण का वह प्रसंग उल्लिखित है जिसमें घट में ही रावण इत्यादि रामायणके पात्रों की स्थिति मानी गई है।[2] यह तथ्य भी हमारे इस मत के पक्ष में है कि 'रत्नसागर' की रचना 'घटरामायण' के उपरान्त हुई।

(ग) 'पद्मसागर' अपूर्ण रचना है। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि यह रचना तुलसी साहब के जीवन के अन्तिम समय की है, जिसे वह पूर्ण नहीं कर पाये। इस मत को हाथरस के महंत प्रकाशदास का समर्थन प्राप्त है। इसके अतिरिक्त 'पद्मसागर' का उपलब्ध अंश बड़ी उदात्त शैली में लिखा गया है। इससे भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि यह उनके पूर्ण प्रौढ़ की कृति है।

(घ) 'शब्दावली' की रचना किसी निश्चित समय में नहीं हुई। इसमें तुलसी साहब की समय-समय पर रचित फुटकर रचनाएँ संग्रहीत हैं।[3] अतएव इस ग्रन्थ का क्रम निश्चित करना संभव नहीं है।'

१—ये सब जोग ज्ञान गति भाई, ज्ञानी यही बताई।
इन के परे भेद है न्यारा, सो कोई संत जनाई॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ७।

२—रावन त्रिकुट के मध्य लंका, वास में वसि के रह्यो।
निरगुन ब्रह्म अपनी सता, सीता को हरि कर ले गयो॥
—रत्नसागर, पृ० १५९।

३—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

आश्रम, मुरादाबाद एवं तुलसी पंथ प्रचारक सभा, हाथरस में भी तुलसी साहब के मुद्रित ग्रन्थों का पाठ होता है। अतएव हस्तलिखित प्रतियों या प्रतिलिपियों से रचना काल प्राप्त होने की आशा फलीभूत नहीं हो पाई।

इस प्रकार अन्तस्साक्ष्य से इनके ग्रन्थों का रचना काल ज्ञात होना संभव नहीं है।

(ख) वहिस्साक्ष्य से रचना काल—तुलसी साहब के जीवन चरित्र पर विचार करते समय हमने उनका जन्म काल सन् १७८८ माना है। जीवनी के अन्तर्गत हमने यह प्रतिपादित किया है कि युवा अवस्था में संसार की वक्रगति का अनुभव होने के उपरान्त तुलसी साहब विरक्त हुये। यदि वैराग्य के समय उनकी आयु पच्चीस वर्ष की अनुमानित की जाय. तो उनके विरक्त होने की तिथि सन् १८१३ के निकट होगी। जीवनी में हमने तुलसी साहब की मृत्यु तिथि सन् १८४८ मानी है। अतएव सन् १८१३ की वैराग्य तिथि एवं सन् १८४८ की मृत्यु तिथि के मध्य उनकी कृतियों का रचना काल होना चाहिये। इसमें संशय करने का कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता कि उनकी रचनाएँ वैराग्य के उपरान्त की हैं। रचनाओं का विषय ही यह स्पष्ट कर देता है।

इस प्रकार वहिस्साक्ष्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि तुलसी साहब के ग्रन्थों का रचनाकाल सन् १८१३ से १८४८ के मध्य है। उपलब्ध सामग्री के द्वारा इस सम्बन्ध में इतना ही निर्दिष्ट होता है।

५—ग्रन्थों का रचनाक्रम

तुलसी साहब के ग्रन्थों में उनकी रचना तिथि न होने के कारण ग्रन्थों का रचनाक्रम सुनिश्चित रूप से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में अन्य कोई उपलब्ध सामिग्री भी नहीं है, जिसके आधार पर ग्रन्थों का रचनाक्रम निश्चित किया जाय। ग्रन्थों के वर्ण्य विषय एवं शैली पर दृष्टिपात करके इस सम्बन्ध में अनुमान मात्र किया जा सकता है।

(क) 'घटरामायण' के विषय एवं शैली में एक प्रकार की साम्प्रदायिकता है, जो अन्य रचनाओं में दृष्टिगत नहीं होती। साम्प्रदायिकता का प्रभाव इतना अधिक है कि कई स्थलों पर कवि ने योगमार्ग से संतमत को भिन्न दिखाने के लिए संतमत के चक्र या कमलों की कल्पना की है।[1] इसके अतिरिक्त तुलसी

१—नौलख कंवल कबीर बखाना। कहो तुम उनका कौन ठिकाना।
चारि कंवल दल देव बताई। दोइ दल कंवल कौन से ठाई।
ये सब कंवल जोग से न्यारा। जोगी न जाने भेद विचारा।
कंवल चक्र घट जोगी गाई। उन कंवलन से न्यारे भाई॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३।

साहब ने पुनः पुनः आग्रह पूर्वक यह कहा है कि संत मत का गन्तव्य पथ योग से भिन्न है।[1] संत मत का यह साम्प्रदायिक आग्रह प्रकट करता है कि 'घटरामायण' तुलसी साहब के संत मत में दीक्षित होने के कुछ समय उपरान्त की रचना है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'घटरामायण' उनकी प्रारम्भिक रचना है।

(ख) 'रत्नसागर' के वर्ण्य विषय एवं प्रतिपादन शैली में एक प्रकार की गंभीरता एवं सुस्पष्टता है। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि 'रत्नसागर' उनकी प्रारम्भिक रचना नहीं है। 'रत्नसागर' में आध्यात्मिक विषयों की जितनी विविधता है, उतनी अन्य ग्रन्थों में नहीं है। इसमें गूढ़ आध्यात्मिक विषयों को जिस सरलता एवं स्पष्टता के साथ प्रकट किया गया है, उससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि यह रचना उनके प्रौढ़ काल की है। प्रौढ़ काल में ही विषय के नियन्त्रण की योग्यता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त 'रत्नसागर' में संत मत का साम्प्रदायिक आग्रह 'घटरामायण' की तुलना में बहुत कम है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'रत्नसागर' 'घटरामायण' के बाद की रचना है। इसके अतिरिक्त 'रत्नसागर' में 'घटरामायण का वह प्रसंग उल्लिखित है जिसमें घट में ही रावण इत्यादि रामायणके पात्रों की स्थिति मानी गई है।[2] यह तथ्य भी हमारे इस मत के पक्ष में है कि 'रत्नसागर की रचना 'घटरामायण' के उपरान्त हुई।

(ग) 'पद्मसागर' अपूर्ण रचना है। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि यह रचना तुलसी साहब के जीवन के अन्तिम समय की हैं, जिसे वह पूर्ण नहीं कर पायें। इस मत को हाथरस के महंत प्रकाशदास का समर्थन प्राप्त है। इसके अतिरिक्त 'पद्मसागर' का उपलब्ध अंश बड़ी उदात्त शैली में लिखा गया है। इससे भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि यह उनके पूर्ण प्रौढ़ की कृति है।

(घ) 'शब्दावली' की रचना किसी निश्चित समय में नहीं हुई। इसमें तुलसी साहब की समय-समय पर रचित फुटकर रचानएँ संग्रहीत हैं।[3] अतएव इस ग्रन्थ का क्रम निश्चित करना संभव नहीं है।'

१—ये सब जोग ज्ञान गति भाई, ज्ञानी यही बताई।
इन के परे भेद है न्यारा, सो कोई संत जनाई ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ७।

२—रावन त्रिकुट के मध्य लंका, वास में वसि के रह्यो।
निरगुन ब्रह्म अपनी सता, सीता को हरि कर ले गयो ॥
—रत्नसागर, पृ० १५९।

३—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

इस प्रकार तुलसी साहब के ग्रन्थों का रचनाक्रम निम्नलिखित है:—

(१) घटरामायण

(२) रत्नसागर

(३) पद्मसागर

(४) शब्दावली, जिसे समय-समय की रचनाओं का संग्रह होने के कारण क्रमवद्ध नही किया जा सकता। इसमें तुलसी साहब की फुटकर रचनाएँ संग्रहीत हैं।

६—ग्रन्थों का वर्गीकरण

तुलसी साहब के ग्रन्थों का वर्गीकरण विषय एवं शैली की दृष्टियों से करना युक्तियुक्त न होगा। निम्नांकित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

(क) विषय की दृष्टि से वर्गीकरण—संत तुलसी के ग्रन्थों का विषय दृष्टि से वर्गीकरण सन्तोषप्रद नहीं होगा। इसका कारण यह है कि उनके ग्रन्थों की अलग अलग विचारधाराएँ नहीं है एवं उनके वर्ण्य विषय में भी पृथकत्व नहीं दृष्टिगत होता। समस्त ग्रन्थों में मिले जुले विषयों का वर्णन है। इसलिए वर्गीकरण का स्पष्ट आधार अप्राप्त है। हां, ग्रन्थ के मुख्य विषय के आधार पर वर्गीकरण की सामान्य रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है।

(१) योग प्रमुख ग्रन्थ—घटरामायण।

(२) वेदान्त प्रमुख ग्रन्थ—रत्नसागर, पद्मसागर।

(३) योग वेदान्त मिश्रित ग्रन्थ--शब्दावली।

यह वर्गीकरण प्रत्येक ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय को दृष्टि में रख कर किया गया है।

(ख) शैली की दृष्टि से वर्गीकरण—शैली की दृष्टि से तुलसी साहब के ग्रन्थों का वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक युक्ति युक्त है। उनकी कुछ रचनाएँ दोहे चौपाई में हैं और कुछ फुटकर पदों में। 'घटरामायण', 'रत्नसागर' एवं 'पदमसागर' दोहे चौपाई में हैं और 'शब्दावली' पदों में। शैली की दृष्टि से इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता हैं।

(१) दोहे-चौपाई में सब ग्रन्थ— रत्नसागर, घटरामायण, पदमसागर।

(२) पदों में निवंन्ध ग्रन्थ —शब्दावली।

वर्ण्य विषय एवं शैली की दृष्टि से तुलसी साहब के ग्रन्थों का उपर्युक्त वर्गीकरण ग्रन्थों की मुख्य प्रवृत्ति को समझने में सहायक है।

७—ग्रन्थों का महत्व

संत तुलसी के ग्रन्थों का महत्व उनके सम्प्रदाय एवं अन्य सम्प्रदायों में समान रूप से स्वीकृत है। दार्शनिक एवं साहित्यिक दृष्टि से भी इन ग्रन्थों का महत्व कम नहीं है। निम्नलिखित पंक्तियों में उनके ग्रन्थों के महत्व-अंकन का प्रयत्न किया जायगा—

(क) दार्शनिक महत्व—तुलसी साहब के ग्रन्थों का दार्शनिक विचारों की दृष्टि से महत्व है। इस ग्रन्थ में उन्होंने दर्शन के दुरूह तत्वों को सहज बोध गम्य बनाने की चेष्टा की हैं। इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी मिली है। ब्रह्म जीव, जगत, माया के शास्त्रीय सिद्धान्तों को लोक प्रचलित भाषा में प्रभावात्मक पद्धति पर प्रकट करने में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में दर्शन के शास्त्रीय विचारों को लोक-दर्शन का रूप प्रदान किया गया है। अन्य संत कवियों की भांति ही तुलसी साहब के ग्रन्थों के आध्यात्मिक विचारों की यह विशेषता उल्लेख्य है।

(ख) धार्मिक महत्व—तुलसी साहब की रचनाओं का धार्मिक दृष्टि से महत्व कम नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में धर्म के पाखण्ड, कर्मकाण्ड एवं निरर्थक वाह्याचार का खण्डन करके ज्ञान भक्ति युक्त एक सरल सन्तोषमय धार्मिक जीवन का प्रचार किया। उन्होंने धार्मिक जीवन के परिष्कार एवं परिमार्जन के निमित्त उसकी विकृतियों को अनावृत करके दिखाया। वस्तुतः उनके ग्रन्थों का धार्मिक महत्व यही है कि वे पाखण्ड पर प्रहार करके सहज प्रकाश का पथ उज्जीवित करते हैं।

(ग) सामाजिक महत्व—इन ग्रन्थों का सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। संत तुलसी ने इनके माध्यम से जाति भेद, छुवाछूत आदि कुरीतियों की आलोचना की है। वस्तुतः सामाजिक विषमता एवं भेदवाद का प्रत्याख्यान उनका प्रिय प्रतिपाद्य है। इस दृष्टि से इनके ग्रन्थों का सामाजिक महत्व समझा जा सकता है।

(घ) साहित्यिक महत्व—तुलसी साहब के ग्रन्थों में काव्य-कला के आदर्शों का पालन नहीं है। इससे परम्परागत साहित्यिक अभिरुचि तुष्ट नहीं होती किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनकी रचनाओं का साहित्यिक महत्व है ही नहीं। इनके ग्रन्थों में विशेषरूप से 'शब्दावली' में अनेक ऐसे स्थल हैं, जो भावात्मकता से पूर्ण हैं। तुलसी साहब ने आत्मा और परमात्मा के मिलन-विरह का वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से किया है। उनकी विरह की उक्तियां

अन्तरालवर्ती अनुभूति मे सिक्त हैं। इसी प्रकार उनकी वैराग्यजनित शान्त रस की रचनाएँ भी उल्लेख्य हैं। अतएव संत तुलसी के ग्रन्थों का साहित्यिक महत्व उपेक्षणीय नहीं है।

(ङ) सम्प्रदाय में महत्व--तुल्सी साहब के ग्रन्थों का उनके सम्प्रदाय में बड़ा महत्व है। उनके अनुयायी इन ग्रन्थों को श्रद्धा-आदर की वस्तु मानते हैं। यह स्वाभाविक भी है। किन्तु इन ग्रन्थों का अन्य सम्प्रदायों में भी महत्व स्वीकृत है। राधास्वामी सम्पदाय के धर्मगुरुओं के पाठ-ग्रन्थों में तुलसी साहब के ग्रन्थ समादृत हैं।[1] तुलसी साहब के ग्रन्थों के अनुपलब्ध संस्करण इस प्रबन्ध के लेखक को साधु सम्प्रदाय के अनुयायियों से प्राप्त हुये। इससे यह अनुमान किया जा सकता हैं कि इन ग्रन्थों का उक्त सम्प्रदाय में महत्व मान्य है। इस प्रकार स्वधर्म-सम्प्रदाय एवं परधर्म-सम्प्रदाय में उनके ग्रन्थों का समान महत्व माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन से संत तुलसी के ग्रन्थों का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

१—रत्नसागर, भीतरी कवर, पृ० २।

अध्याय चतुर्थ

तुलसी साहब के दार्शनिक विचार

ब्रह्म

'ब्रह्म' बृहत्तम् अथवा सबसे बड़े को कहते हैं। शंकराचार्य ने कहा है कि बृहत्तम् होने के कारण वह ब्रह्म कहलाता है।[1] वस्तुतः समस्त भूतों का कारणभूत ब्रह्म-तत्व सबसे बड़ा ही है। वह सदा सर्वदा से मानव की जिज्ञासा का केन्द्र रहा है। अत्यन्त प्राचीनकाल से तत्ववेत्ता उसको ग्राह्य करने और ग्राह्य कराने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनके प्रयत्नों का अति प्राचीन रूप उपनिषदों में उपलब्ध है। अतएव सर्वप्रथम उपनिषदों के ब्रह्म चिन्तन का स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिपादित किया जायगा।

उपनिषदों का स्वरूप

उपनिषदों के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्ता का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक।[2] आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है। आधिदैविक पद्धति नानारूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्मतत्व को खोज निकालती है। आध्यात्मिक पद्धति में मानस प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्यकलापों के अवलोकन करने से उनके मूलभूत आत्मतत्व का निरूपण किया जाता है। इन तीन अन्वेषण पद्धतियों के उपयोग द्वारा उपनिषद् कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्व परमसत्यभूत पदार्थ का ऊहापोह किया है, उसे ब्रह्म कहते हैं।[3]

उपनिषदों में ब्रह्म के तीन स्वरूपों का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है—

१—छान्दोग्योपनिषद् : शांकर भाष्य, पृ० ३०३।

२—भारतीय दर्शन, पृ० ७५।

३—भारतीय दर्शन, पृ० ७५।

अन्तरालवर्ती अनुभूति से सिक्त हैं। इसी प्रकार उनकी वैराग्यजनित शान्त रस की रचनाएँ भी उल्लेख्य हैं। अतएव संत तुलसी के ग्रन्थों का साहित्यिक महत्व उपेक्षणीय नहीं है।

(ङ) सम्प्रदाय में महत्व—तुलसी साहब के ग्रन्थों का उनके सम्प्रदाय में बड़ा महत्व है। उनके अनुयायी इन ग्रन्थों को श्रद्धा–आदर की वस्तु मानते हैं। यह स्वाभाविक भी है। किन्तु इन ग्रन्थों का अन्य सम्प्रदायों में भी महत्व स्वीकृत है। राधास्वामी सम्प्रदाय के धर्मगुरुओं के पाठ-ग्रन्थों में तुलसी साहब के ग्रन्थ समादृत हैं।[1] तुलसी साहब के ग्रन्थों के अनुपलब्ध संस्करण इस प्रबन्ध के लेखक को साधु सम्प्रदाय के अनुयायियों से प्राप्त हुये। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इन ग्रन्थों का उक्त सम्प्रदाय में महत्व मान्य है। इस प्रकार स्वधर्म-सम्प्रदाय एवं परधर्म-सम्प्रदाय में उनके ग्रन्थों का समान महत्व माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन से संत तुलसी के ग्रन्थों का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

१—रत्नसागर, भीतरी कवर, पृ० २।

अध्याय चतुर्थ

तुलसी साहब के दार्शनिक विचार

ब्रह्म

'ब्रह्म' बृहत्तम् अथवा सबसे बड़े को कहते हैं। शंकराचार्य ने कहा है कि बृहत्तम् होने के कारण वह ब्रह्म कहलाता है।[१] वस्तुतः समस्त भूतों का कारणभूत ब्रह्म-तत्व सबसे बड़ा ही है। वह सदा सर्वदा से मानव की जिज्ञासा का केन्द्र रहा है। अत्यन्त प्राचीनकाल से तत्ववेत्ता उसको ग्राह्य करने और ग्राह्य कराने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनके प्रयत्नों का अति प्राचीन रूप उपनिषदों में उपलब्ध है। अतएव सर्वप्रथम उपनिषदों के ब्रह्म चिन्तन का स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिपादित किया जायगा।

उपनिषदों का स्वरूप

उपनिषदों के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्ता का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक।[२] आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है। आधिदैविक पद्धति नानारूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्मतत्त्व को खोज निकालती है। आध्यात्मिक पद्धति में मानस प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्यकलापों के अवलोकन करने से उनके मूलभूत आत्मतत्व का निरूपण किया जाता है। इन तीन अन्वेषण पद्धतियों के उपयोग द्वारा उपनिषद् कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्त्व परमसत्यभूत पदार्थ का ऊहापोह किया है, उसे ब्रह्म कहते हैं।[३]

उपनिषदों में ब्रह्म के तीन स्वरूपों का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है—

१—छान्दोग्योपनिषद् : शांकर भाष्य, पृ० ३०२।

२—भारतीय दर्शन, पृ० ७५।

३—भारतीय दर्शन, पृ० ७५।

१—सगुण
२—सगुण-निर्गुण
३—निर्गुण

सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है। उपासना के लिए इस बात की कोई आवश्यकता नही कि सदा प्रत्यक्ष मूर्ति ही नेत्रों के सम्मुख रहे। ऐसे स्वरूप की भी उपासना संभव है जो निराकार अर्थात् चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अगोचर हो। परन्तु जिस स्वरूप की उपासना की जाय वह ज्ञानेन्द्रियों को चाहे गोचर न हो किन्तु मन को गोचर हुए बिना उसकी उपासना संभव नहीं है। उपासना चिन्तन, मनन या ध्यान को कहते है। यदि चिन्त्य पदार्थ का कोई रूप न हो तो न सही; पर जब तक उसका कोई अन्य गुण भी मन को ज्ञात न हो जाय, तब तक वह किसका चिन्तन करेगा? अतएव उपनिषदों में जिन स्थलों पर अव्यक्त अर्थात् अगोचर परमात्मा को उपासना कही गई हैं. वहां ब्रह्म सगुण ही कल्पित किया गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में अव्यक्त ब्रह्म का सगुण वर्णन करते हुये कहा गया है कि ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्संकल्प' आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वरस और सर्वगन्ध है।[1] तैतरियोपनिषद् में ब्रह्म का लक्षण निर्दिष्ठ करते हुए उसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,[2] कहा गया है। 'बृहदारण्यक' में ब्रह्मको 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[3] बताया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म सत्य (सत्) ज्ञान (चित्) और आनन्दस्वरूप है अर्थात् सच्चिदानन्द रूप है। इस प्रकार समस्त गुण इन तीन गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः सच्चिदानन्द सगुण ब्रह्म के सर्वोच्च लक्षण हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म का सगुण निर्गुण मिश्रित अथवा परस्पर विरोधी वर्णन भी प्राप्त होता है।' छान्दोग्योपनिषद' में आत्मरूप ब्रह्म को लघु से लघु एवं बृहद से बृहद कहा गया है।[4] 'कठोपनिषद्' में भी ब्रह्म को 'अणोरणीयान्महतो

१—मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा।
सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तो॥
—छन्दोग्योपनिषद्, ३।१४।२।

२—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१।
३—बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।९।२८।
४—ऐष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्वपाद्वा।
श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥
—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।३।

महीमान्[1] अर्थात अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर निर्दिष्ट किया गया है श्वेतोश्वतरोपनिषद में भी ब्रह्म का सगुण-निर्गुण मिश्रित परस्पर विरोधी वर्णन दृष्टिगत होता है। इसमें कहा गया है कि ब्रह्म समस्त इन्द्रियवृत्तियों के रूप में अवभासित होता हुआ भी समस्त इन्द्रियों से रहित है।[2] इशोपनिषाद् में ब्रह्म के परस्पर विरुद्ध धर्मों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म चलता है और चलता भी नहीं है, वह दूर है और समीप भी है, वह सबके अन्तर्गत है और बाहर है।[3] इसी उपनिषद् में प्रतिपादित है कि ब्रह्म स्थिर है किन्तु गतिशील का अतिक्रमण करने वाला है।[4] मुण्डकोपनिषद् में 'भी दूरात्सुदूरे तदिहान्तके च'[5] के द्वारा ब्रह्म को एक साथ ही दूर और निकट बताकर उसके परस्पर विरुद्ध लक्षण का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का सगुण-निर्गुण मिश्रित परस्पर विरोधी वर्णन भी किया गया है। इससे भी अग्रसर होकर कठोपनिषद् में कहा गया है उस ब्रह्म को जानना वांछित है जो समस्त लक्षणों से तटस्थ है। नचिकेता ने धर्मराज से धर्म और अधर्म के कृत्य और अकृत के एवं भूत तथा भविष्यत् के भी परे रहने वाले ब्रह्म की जिज्ञासा की थी।[6] 'वृहदारण्यक' में पृथ्वी, जल और अग्नि को ब्रह्म का मूर्त रूप कहा गया है।[7] तत्पश्चात् वायु तथा आकाश को अमूर्त रूप कह कर स्पष्ट किया है कि इन अमूर्तों के सारभूत पुरुषों के रूप व रंग परवर्तित हो जाते हैं[8] और अन्त में उपदेश किया है कि 'नेति नेति' अर्थात् अब तक जो कहा गया है वह ब्रह्म नहीं है—समस्त नाम रूपात्मक मूर्त अथवा

१—कठोपनिषद्, १।२।२०।

२—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।१७।

३—तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

—ईशावास्योपनिषद्, ५।

४—ईशावस्योपनिषद्, ४।

५ मुण्डकोपनिषद्, ३।१।७।

६—अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

—कठोपनिषद्, १।२।१४।

७—वृहदारण्यकोपनिषद्, २।३।२।

८—वृहदारण्यकोपनिषद् २।३।३

१—सगुण
२—सगुण-निर्गुण
३—निर्गुण

सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है। उपासना के लिए इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि सदा प्रत्यक्ष मूर्ति ही नेत्रों के सम्मुख रहे। ऐसे स्वरूप की भी उपासना संभव है जो निराकार अर्थात् चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अगोचर हो। परन्तु जिस स्वरूप की उपासना की जाय वह ज्ञानेन्द्रियों को चाहे गोचर न हो किन्तु मन को गोचर हुए बिना उसकी उपासना संभव नहीं है। उपासना चिन्तन, मनन या ध्यान को कहते है। यदि चिन्त्य पदार्थ का कोई रूप न हो तो न सही; पर जब तक उसका कोई अन्य गुण भी मन को ज्ञात न हो जाय, तब तक वह किसका चिन्तन करेगा? अतएव उपनिषदों में जिन स्थलों पर अव्यक्त अर्थात् अगोचर परमात्मा को उपासना कही गई हैं. वहां ब्रह्म सगुण ही कल्पित किया गया है। 'छान्दोंग्योपनिषद्' में अव्यक्त ब्रह्म का सगुण वर्णन करते हुये कहा गया है कि ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्संकल्प' आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वरस और सर्वगन्ध है।[1] तैतरियोपनिषद् में ब्रह्म का लक्षण निर्दिष्ठ करते हुए उसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,[2] कहा गया है। 'वृहदारण्यक' में ब्रह्मको 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[3] बताया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म सत्य (सत्) ज्ञान (चित्) और आनन्दस्वरूप है अर्थात् सच्चिदानन्द रूप है। इस प्रकार समस्त गुण इन तीन गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः सच्चिदानन्द सगुण ब्रह्म के सर्वोच्च लक्षण हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म का सगुण निर्गुण मिश्रित अथवा परस्पर विरोधी वर्णन भी प्राप्त होता है।' छान्दोग्योपनिषद' में आत्मरूप ब्रह्म को लघु से लघु एवं वृहद से वृहद कहा गया है।[4] 'कठोपनिषद्' में भी ब्रह्म को 'अणोरणीयान्महतो

१—मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा।
सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तो॥
—छन्दोग्योपनिषद्, ३।१४।२।

२—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१।

३—वृहदारण्यकोपनिषद्, ३।९।२८।

४—ऐष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा।
श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥
—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।३।

महीमान्[1] अर्थात अणु से भी अणुतर ओर महान् से भी महतर निर्दिष्ट किया गया है श्वेतोश्वतरोपनिषद में भी ब्रह्म का सगुण-निर्गुण मिश्रित परस्पर विरोधी वर्णन दृष्टिगत होता है। इसमें कहा गया है कि ब्रह्म समस्त इन्द्रियवृत्तियों के रूप में अवभासित होता हुआ भी समस्त इन्द्रियों से रहित है।[2] इशोपनिषाद् में ब्रह्म के परस्पर विरुद्ध धर्मो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म चलता है और चलता भी नहीं है, वह दूर है और समीप भी है, वह सबके अन्तर्गत है और बाहर है।[3] इसी उपनिषद् में प्रतिपादित है कि ब्रह्म स्थिर है किन्तु गतिशील का अतिक्रमण करने वाला है।[4] मुण्डकोपनिषद् में 'भी दूरात्सुदूरे तदिहान्तके च'[5] के द्वारा ब्रह्म को एक साथ ही दूर और निकट बताकर उसके परस्पर विरुद्ध लक्षण का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का सगुण-निर्गुण मिश्रित परस्पर विरोधी वर्णन भी किया गया है। इससे भी अग्रसर होकर कठोपनिषद् में कहा गया है उस ब्रह्म को जानना वांछित है जो समस्त लक्षणों से तटस्थ है। नचिकेता ने धर्मराज से धर्म और अधर्म के कृत्य और अकृत के एवं भूत तथा भविष्यत् के भी परे रहने वाले ब्रह्म की जिज्ञासा की थी।[6] 'वृहदारण्यक' में पृथ्वी, जल और अग्नि को ब्रह्म का मूर्त रूप कहा गया है।[7] तत्पश्चात् वायु तथा आकाश को अमूर्त रूप कह कर स्पष्ट किया है कि इन अमूर्तों के सारभूत पुरुषों के रूप व रंग परवर्तित हो जाते हैं[8] और अन्त में उपदेश किया है कि 'नेति नेति' अर्थात् अब तक जो कहा गया है वह ब्रह्म नहीं है—समस्त नाम रूपात्मक मूर्त अथवा

१—कठोपनिषद्, १।२।२०।

२—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।१७।

३—तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

—ईशावास्योपनिषद्, ५।

४—ईशावस्योपनिषद्, ४।

५ मुण्डकोपनिषद्, ३।१।७।

६—अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ।।

—कठोपनिषद्, १।२।१४।

७—बृहदारण्यकोपनिषद्, २।३।२।

८—बृहदारण्यकोपनिषद्, २।२।३

अमूर्त पदार्थों के परे जो 'अग्रह्य' या अवर्णनीय हैं, उसे ही परब्रह्म समझो।[1] अतएव जिन पदार्थों को कुछ भी नाम दिया जा सकता है, उन सबसे भी परे रहने वाला तत्व ब्रह्म है। उसका अव्यक्त तथा निर्गुण स्वरूप निर्दिष्ट करने के लिए 'नेति' नेति' एक संक्षिप्त निर्देश-सूत्र ही हो गया है।

उपनिषदों के मत से व्यक्त निर्गुण एवं निरुपाधि ब्रह्म अनिर्वचनीय है। गुणों के अत्यन्त अभाव में शब्दों के द्वारा उसका वर्णन संभव नहीं। असीम को ससीम के द्वारा अभिव्यक्त भी किस प्रकार किया जा सकता हैं? अभिव्यक्ति की असामर्थ्य के कारण ही उपनिषदों में 'नेति' या निषेधात्मक वर्णन पद्धति द्वारा ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन किया गया हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् 'में 'स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो'[2] केद्वारा निर्गुण ब्रह्म की अग्राह्यता ही वर्णित हैं। ब्रह्म वर्णन की निषेधात्मक पद्धति के द्वारा ही 'वृहदारण्यकोंपनिषद्' में याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा है कि ब्रह्म न स्थूल है न सूक्ष्म, न लघु है न दीर्घ, न लाल है, न द्रव्य है, न छाया है, न तप है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उस में न अन्तर है, न वाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता उसे कोई भी नहीं खाता।[3] 'माण्डूक्योपनिषद्' में भी आत्मा के अग्राह्यत्व के कारण नेति 'नेति' द्वारा निषेधमुखेन उसकी अभिव्यक्ति कथित है।[4]

इसीलिए निर्गुण एवं अचिन्त्य परब्रह्म के वर्णन में श्रुतिवाक्यों में 'न' अव्यय का इतना वाहुल्य दृष्टिगोचर होता हैं। वृहदारण्यक के अनुसार ब्रह्म अस्थूल, अनणु, अहस्व तथा अदीर्घ है।[5] वह अपूर्व, अनवर, अनन्तर और

१—वृहदारण्यकोपनिषद् २।३।६।

२—वही वही, ४।२।४, ४।४।२२, ४।५।१५।

३—स होवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम-
दीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो वाय्वनाकाशमसंगमरसम-
गन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रम-
मनन्तरमवाह्यं न तद्श्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन॥
—वृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।८।

४—स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः।
सर्वमग्राह्यमावेन हेतुनाजं प्रकाशते॥
—माण्डूक्योपनिषद्, ३।२६।

५—वृहदारण्यकोपनिपाद्, ३।६।६।

अग्राह्य है।[1] ब्रह्म अग्रह्य, अशीर्य, असङ्ग और असित है।[2] 'तैत्तिरीयोपनिषद' में परब्रह्म को अदृश्य अशरीर एवं अनिर्वाच्य कहा गया है।[3] 'मुण्डकोपनिषद' में भी ब्रह्म को अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र अवर्ण निर्दिष्ट किया गया है।[4] कठोपनिषद निर्गुण, एवं निर्विशेष पर-ब्रह्म को अशब्द, अस्पर्श अरूप, अव्यय, अरस, अनादि, अनन्त उद्घोषित करता है।[5] यही परब्रह्म का सच्चा स्वरूप है।

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित पर-ब्रह्म निरुपाधि है। पर-ब्रह्म देश काल तथा निमित्त रूपी उपाधियों से नितान्त विरहित हैं। वह देशातीत, कालातीत तथा निमित्तातीत हैं। प्रमाणातीत होने से पर-ब्रह्म नितरा अप्रमेय है। चैतन्यात्मक होने से ब्रह्म स्वयं विषयी है। अतः वह किसी भी प्राणी के अन्तःकरण वृति ज्ञान का विषय कथमपि नहीं हो सकता। ब्रह्म को अशब्द, अरस इत्यादि कहने का तात्पर्य यही हैं कि वह शब्दस्पर्शादि के तुल्य विषम नहीं हो सकता। परब्रह्म विपुलकाय निस्सीम अनन्त अगाध प्रशान्त सागर के समान कहा जा सकता है। वस्तुतः समस्त प्रकाश हेतुभूत ब्रह्म हैं। 'कठोपनिषद में कहा गया हैं कि वहां न तो सूर्यप्रकाशित होता हैं, न चन्द्रमा और न तारे चमकते हैं। ये बिजलियां भी नहीं चमकतीं अग्नि कहाँ से चमक सकती हैं? उसी के चमकने के पीछे सभी वस्तुयें चमकती हैं; उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता हैं।[6]

१—वृहदारण्यक उपनिषद ३।५।१९।

२—वही वही, ३।९।२६।

३—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।७।१।

४—मुण्डकोपनिषद्, १।१।६।

५—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥
—१।३।१५।

६—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
—कठोपनिषद्, २।२।१५।

गीता में ब्रह्म-भावना

'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' में ब्रह्म के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप का समान रूप से वर्णन किया गया हैं।[१] ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप अर्थात्‌ इन्द्रियगोचर रूप सगुण होता हैं। ब्रह्म का अव्यक्त रूप यद्यपि इन्द्रियों को अगोचर हैं, तथापि इतने से ही उसे निर्गुण नहीं कहा आ सकता। वह नेत्रों को दृष्टिगत न भी होता हो, पर उसमें गुण सूक्ष्म रूप से रह सकते हैं। इसलिए अव्यक्त ब्रह्म के भी तीन भेद करना उचित हैं। सगुण, सगुण-निर्गुण और निर्गुण।[२] यहां गुण शब्द के द्वारा उन सब गुणों का समावेश किया गया हैं जिनका ज्ञान मनुष्य को केवल उसकी बाह्येन्द्रियों से ही नही होता; किन्तु मन से भी होता हैं। 'गीता' में श्रीकृष्ण स्वयं व्यक्त ब्रह्म हैं। वे परमेश्वर के साक्षात् मूर्तिमान अवतार हैं। गीता में स्थान-स्थान पर उन्होंने स्वयं अपने विषय में कहा हैं, प्रकृति मेरा अंश हैं।[४] अब भूतों का अन्तर्यामी आत्मा मैं हूँ[५] संसार में जितनी श्रीमान या विभूतिमान मूर्तियां हैं, वे सब मेरे अंश से उत्पन्न हुई है[६] मुझमें मन लगाकर मेरा भक्त हो तो तू मुझमें मिल जायगा[८] इत्यादि। कृष्ण ने जब अपने विश्वरूपदर्शन से अर्जुन को यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया कि समस्त चराचर सृष्टि ब्रह्म के व्यक्त रूप से ही साक्षात भरी पड़ी हैं, तब भगवान ने उसको यही उपदेश दिया कि अव्यक्त रूप की अपेक्षा व्यक्त रूप की उपासना सहज हैं।[९] इससे स्पष्ट होता हैं कि गीता में ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप समादृत हैं।

ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप 'गीता का प्रतिपाद्य अवश्य हैं किन्तु यह अन्तिम साध्य नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त वर्णनों के साथ ही श्रीकृष्ण ने यह भी कहा हैं कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक हैं; उसके परे जो अव्यक्तरूप है अर्थात्‌ जो इन्द्रियों को अगोचर हैं, वही मेरा यथार्थ स्वरूप हैं। उदाहरणार्थ कृष्ण ने गीता के सप्तम अध्याय में कहा हैं

१—गीतारहस्य, पृ० २११।
२—गीतारहस्य, पृ० २१२।
३—श्रीमदभगवद्‌गीता, ९।८।
४—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, १५।७।
५—वही वही, १०।२०।
६—वही वही, १०।४१।
७—वही वही, ९।३४।
८—वही वही, १८।६५।
९—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, १२।७

कि यद्यपि मैं अव्यक्त हूं तथापि मूर्ख मुझे व्यक्त समझते हैं और व्यक्त से भी परे मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूप को नहीं पहचानते।[1] मैं अपनी योगमाया से आच्छादित हूं, इसलिए मन्द बुद्धि मुझे नहीं पहचानते।[2] मैं यद्यपि जन्मरहित और अव्यय हूं, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधीष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लेता हूं।[3] यह त्रिगुणात्मक प्रकृति मेरी दैवी माया है। इस माया को जो पार कर जाते हैं वे मुझे पाते हैं, और इस माया से जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे मूढ़ नराधम मुझे नहीं प्राप्त कर सकते।[4] इससे प्रमाणित होता है कि यद्यपि उपासना की दृष्टि से गीता में ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप समादृत है, तथापि उसका श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त ही है।

'गीता' में ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप को व्यक्त की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्म का अव्यक्त स्वरूप सगुण भी है और निर्गुण भी है। कतिपय स्थलों पर वह सगुण-निर्गुण मिश्रित परस्पर विरोधी रूप से भी वर्णित है। अव्यक्त ब्रह्म जब व्यक्त सृष्टि निर्माण करता है[5] सब लोगों के हृदय में रहकर उनसे समस्त व्यापार कराता है,[6] वह सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु है,[7] प्राणियों के सुख दुख इत्यादि 'भाव' उसी से उत्पन्न होते हैं[8] प्राणियों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करने वाला एवं 'लभते च ततः कामान् मयैव, विहितान् हितान्'[9] अर्थात् प्राणियों की वासना का फल देने वाला भी वही है, तब यह प्रमाणित होता है कि ब्रह्म अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर भले ही हो तथापि दया, कर्तृत्व आदि गुणों से युक्त होने के कारण सगुण भी है। यही ब्रह्म का अव्यक्त सगुण स्वरूप है। परन्तु इसके विपरीत श्रीकृष्ण ने यह भी कहा है कि 'न मां

१—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।२४।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।२५

३—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।६।

४—वही वही, ७।१५।

५—वही वही, ९।८।

६—वही वही, १८।६१

७—वही वही, ९।२४।

८—वही वही, १०।५।

९—वही वही, ७।२२।

कर्माणि लिम्पन्ति'[1] अर्थात् मुझे कर्मों या गुणों का कभी स्पर्श नहीं होता। अन्यत्र कहा गया है कि 'प्रकृति के गुणों से मोहित होकर मुर्ख आत्मा को ही कर्ता मानते हैं।[2] यह अव्यक्त और अकर्ता ब्रह्म ही प्राणियों के हृदय में जीवरूप से निवास करता है।[3] ब्रह्म प्राणियों के कृतृत्व और कर्म से वस्तुतः अलिप्त है, तथापि अज्ञान में फंसे हुए प्राणी मोहित हो जाया करते हैं।[4] अतएव अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर ब्रह्म के रूप सगुण एवं निर्गुण ही नहीं हैं। अनेक स्थलों पर इन दोनों रूपों को मिश्रित करके अव्यक्त ब्रह्म का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ 'भूतभृत् न च 'भूतस्थो'[5] अर्थात् मैं भूतों का आधार होकर भी उनमें नहीं हूं, परब्रह्म न तो सत् है और न असत्[6] सर्वेद्रिय-वान् होने का जिसमें भास हो परन्तु जो सर्वेन्द्रिय रहित है, और निर्गुण होकर गुणों का उपभोग करने वाला है,[7] दूर है और समीप भी है,[8] अविभक्त है और विभक्त भी दृष्टिगत होता है।[9] इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीता में अव्यक्त ब्रह्म के सगुण-निर्गुण मिश्रित अर्थात् परस्पर विरोधी स्वरूप का वर्णन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त गीता के द्वितीय अध्याय में ब्रह्म को अव्यक्त, अचिन्त्य, और अविकार्य निर्दिष्ट किया गया है।[10] त्रयोदश अध्याय में भी अव्यक्त निर्गुण ब्रह्मस्वरूप को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि यह परमात्मा अनादि, निर्गुण और अव्यक्त है। इसलिए शरीर में रह कर भी न

१---श्रीमद्भगवद्गीता, ४।१४।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।२७।

३—वही वही, १३।३१।

४—वही वही, ५।१४-१५।

५—वही वही, ६।५।

६—वही वही, १२।१२।

७—वही वही, १३।१४।

८—वही वही, १३।१५।

९—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।१६।

१०—अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुर्हसि॥
श्रीमद्भगवद्गीता २।२५।

कर्माणि लिम्पन्ति[1] अर्थात् मुझे कर्मों या गुणों का कभी स्पर्श नहीं ...
अन्यत्र कहा गया है कि 'प्रकृति के गुणों से मोहित होकर मुर्ख आत्मा को ही कर्ता मानते हैं।[2] यह अव्यक्त और अकर्ता ब्रह्म ही प्राणियों के हृदय में जीवरूप से निवास करता है।[3] ब्रह्म प्राणियों के कर्तृत्व और कर्म से वस्तुतः अलिप्त है, तथापि अज्ञान में फंसे हुए प्राणी मोहित हो जाया करते हैं।[4] अतएव अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर ब्रह्म के रूप सगुण एवं निर्गुण ही नहीं हैं। अनेक स्थलों पर इन दोनों रूपों को मिश्रित करके अव्यक्त ब्रह्म का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ 'भूतभृत् न च 'भूतस्थो[5]' अर्थात् मैं भूतों का आधार होकर भी उनमें नहीं हूं, परब्रह्म न तो सत् है और न असत्[6] सर्वेन्द्रियवान् होने का जिसमें भास हो परन्तु जो सर्वेन्द्रिय रहित है, और निर्गुण होकर गुणों का उपभोग करने वाला है,[7] दूर है और समीप भी है,[8] अविभक्त है और विभक्त भी दृष्टिगत होता है।[9] इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीता में अव्यक्त ब्रह्म के सगुण-निर्गुण मिश्रित अर्थात् परस्पर विरोधी स्वरूप का वर्णन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त गीता के द्वितीय अध्याय में ब्रह्म को अव्यक्त, अचिन्त्य, और अविकार्य निर्दिष्ट किया गया है।[10] त्रयोदश अध्याय में भी अव्यक्त निर्गुण ब्रह्मस्वरूप को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि यह परमात्मा अनादि, निर्गुण और अव्यक्त है। इसलिए शरीर में रह कर भी न

१—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।१४।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।२७।

३—वही वही, १३।३१।

४—वही वही, ५।१४-१५।

५—वही वही, ६।५।

६—वही वही, १२।१२।

७—वही वही, १३।१४।

८—वही वही, १३।१५।

९—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।१६।

१०—अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुर्हसि॥
श्रीमद्भगवद्गीता २।२५।

कैवल्य संपन्न है। इन त्रिगुणादि भावों की विपरीतता से ही पुरुष के साक्षित्व, कैवल्य, ताटस्थ्य, द्रष्ट्रित्व और अकर्तृ भाव आदि धर्म सिद्ध होते हैं।[1]

सांख्य का यह मान्य सिद्धांत है कि पुरुष अनेक हैं।[2] लोकानुभव इसके लिए सबसे उत्कृष्ट प्रमाण है। यदि पुरुषों की एकता होती, तो एक व्यक्ति के जन्म लेने पर सब पुरुषों का जन्म हो जाता अथवा एक की मृत्यु पर सब मर जाते। इसी प्रकार एक व्यक्ति के अन्धे या बहिरे होने पर सभी व्यक्ति अन्धे या बहिरे हो जाते। एककालिक प्रवृत्ति का अभाव भी पुरुष-बहुत्व का साधक है। यदि पुरुष एक ही हो तो संसार के समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति अभिन्न होनी चाहिये, पर ससार के प्राणियों की प्रवृत्ति पृथक-पृथक दृष्टिगत होती है। त्रैगुण्य का विपर्य या अन्यथा भाव भी पुरुष-बहुत्व का समर्थक प्रमाण है। कोई सत्वबहुल, कोई रजो बहुल और कोई तमोबहुल पुरुष दृष्टि-गोचर होते हैं। इससे भी पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है।[3]

सांख्य की उपर्युक्त ब्रह्म भावना और उपनिषद् तथा गीता की ब्रह्म-भावना में मौलिक अन्तर है। सांख्य का पुरुष अकर्ता है। वह सृष्टि का मूल कारण नहीं है। इसके विपरीत उपनिषद एवं गीता का ब्रह्म सृष्टि का कारण-भूत तत्व है एवं उसके ईक्षण से ही सृष्टि होती है। उपनिषदों का ब्रह्म आनन्दरूप है किन्तु सांख्य का पुरुष इस प्रकार की किसी विशेषता से युक्त नहीं है। इसी प्रकार सांख्य पुरुष या आत्मा की अनेकता में विश्वास करता है, इसके विपरीत उपनिषद् एवं गीता में एक आत्मतत्व ही प्रतिष्ठित है। अतएव सांख्य की पुरुष या ब्रह्म भावना तथा वेदान्त की ब्रह्मभावना सर्वथा पृथक है।

नाथ सम्प्रदाय में ब्रह्म-भावना

नाथ सम्प्रदाय में ब्रह्म का अव्यक्त स्वरूप मान्य है। सिद्ध सिद्धान्त संग्रह में अव्यक्तं परम तत्वं[4] के द्वारा परमतत्व या ब्रह्म के अव्यक्त रूप का प्रतिपादन किया गया है। अव्यक्त ब्रह्म को ही नाथ सम्प्रदाय में 'अविगत'

१—तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्ट्रित्वमकर्तृभावश्च॥
—सांख्यकारिका, १९

२—जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव॥
—सांख्यकारिका, १८

३—सांख्यकारिका : गौड़पादभाष्य, १८

४—सिद्धसिद्धान्त सग्रह, १।४

ब्रह्म कहा गया है। गोरखबानी में अविगत या अव्यक्त ब्रह्म की चर्चा कई स्थलों पर की गई है। शिक्षा दर्शन में अव्यक्त ब्रह्म से ही सृष्टि वर्णित है।[1] 'गोरख मत्स्येन्द्र बोध' में अव्यक्त ब्रह्म से प्राण की उत्पत्ति निर्दिष्ट है।[2] 'गोरख गणेश गोष्ठी' में अविगत तत्व से पञ्चभूत की उत्पत्ति कहते हुये उसे 'अविगत रहेत आवते न जावते'[3] के द्वारा नित्य तत्व बताया गया है।

नाथ सम्प्रदाय का अव्यक्त ब्रह्म निर्गुण निराकार है,[4] वह निरंजन है[5] अर्थात् अंजनरूपी माया से वियुक्त है। परमतत्व निराकार है, वह रूप रेखा रहित नित्य तत्व है[6]। ब्रह्म निरंजन, निराकार एवं निरालम्ब है।[7] ब्रह्म न उदय है न अस्त, न रात्रि और न दिवस अर्थात् अपरिवर्तनेय है, एवं वहां अधिष्ठान एवं नामरूपोपाधि के भेद से रहित निरंजन है।[8] इसी ब्रह्म तत्व का निषेधमुखेन वर्णन 'न' अव्यय के आधिक्य से पूर्ण हो उठा है। गोरखबानी में निर्गुण निराकार एवं निरूपाधि परमतत्व का वर्णन करते हुये उसे अगम[9] अगोचर[10] अपार[11] अजर[12] अमर[13] अलख[14] निर्दिष्ट किया गया है। अन्यत्र अव्यक्त

१—गोरखबानी, पृ० १५९

२—गोरखबानी, पृ० १९१

३—गोरखबानी, पृ० २२५

४—गोरखबानी, पृ० २७

५—गोरखबानी पृ० ६७

६—अंकुर बीरज नहीं आकार।
रूप न रेष न वो ओंकार॥
उदै न अस्त आवै नहीं जाई।
तहां भूथरी रहा समाई॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० १०९

७—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ६४

८—गोरखबानी, पृ० ३९

९—गोरखबानी, पृ० ४६

१०—गोरखबानी, पृ० ४६

११—गोरखबानी, पृ० ६४

१२—गोरखबानी पृ० ६४

१३—गोरखबानी पृ० २२८

१४—गोरखबानी पृ० ३२

निर्गुण ब्रह्म को अकथ, अरूप, अमूल, अगोचर, कहा गया है ।[1] इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि नाथ सम्प्रदाय में अव्यक्त ब्रह्म का निर्गुण निराकार एवं निरुपाधि स्वरूप ही समादृत है । नाथ सम्प्रदाय ब्रह्म के एकमात्र इसी स्वरूप को श्रेष्ठ स्वरूप मानता है ।

परमतत्व की अभिव्यक्ति में नाथ सम्प्रदाय उपर्युक्त पद्धति के अतिरिक्त एक अन्य पद्धति का प्रयोग भी करता है जिसके द्वारा ब्रह्म सत्ता द्वैत एवं अद्वैत आकार एवं निराकार भाव एवं अभाव से परे प्रतिपादित की गई है । अवधूत गीता में कहा गया है कि कुछ लोग द्वैत को चाहते हैं और कुछ अद्वैत को मानते हैं किन्तु इन दोनों से परे द्वैताद्वैत विवर्जित तत्व को कोई नहीं जानता । यह सम तत्व कहा जाता हैं ।[2] नाथ-सम्प्रदाय इसी द्वैताद्वैत विवर्जित सम तत्व का समर्थन करता है । इसी को गोरक्ष उपनिषद में ब्रह्म का द्वैताद्वैत रहित अनिर्वचनीय सदानन्द स्वरूप प्रतिपादित किया गया है ।[3] इसी उपनिषद में कहा गया है कि यदि निराकार को परमतत्व कहते हैं तो उसे इच्छा प्रेरित आकार युक्त जगत का कारण कैसे कह सकते है और साकार को कर्ता कहते हैं तो यह ब्रह्म की सीमा निर्धारित करना है । इन विरुद्ध धर्मों से वचने के लिए ही परम तत्व का निराकार-साकार अथवा द्वैताद्वैत विलक्षण रूप निर्धारित किया गया है ।[4] इसी पद्धति पर गोरखबानी में भी परमतत्व का प्रतिपादन करते हुए उसे न तो शून्य ही कहा गया है और वस्ती ही निर्दिष्ट किया गया ।[5] वस्तुतः यह भावाभाव विनिर्मुक्त ब्रह्म का प्रतिपादन है । इसी पद्धति पर गोरखबानी में

१—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ४५ ।

२—अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।

समं तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विवर्जितम ॥

—अवध्वगीता, १।३६ ।

३—गोरख उपनिषद्, पृ० १ ।

४—गोरख उपनिषद्, पृ० १ ।

५—बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोरचर ऐसा ।

गगन सिपर महिं बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा ॥

—गोरखबानीं, पृ० १।

ब्रह्म को न सूक्ष्म न स्थूल[२] एवं निराकार आकार विवर्जित[३] निर्दिष्ट किया गया है।

नाथ सम्प्रदाय में नाद ब्रह्म या शब्द ब्रह्म का बड़ा महत्व है। शब्द ब्रह्म का वर्णन नाथ सम्प्रदाय के प्राय: सब ग्रन्थों में किया गया है हठयोग प्रदीपिका में 'न नाद सदृशो लय'[४] द्वारा अनाहत नाद या शब्द ब्रह्म की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की गई है। गोरखनाथ ने योग मार्तण्ड में 'गड़ादिनादं गम्भीर सिद्धिस्तस्य न दूरत:'[५], के द्वारा नाद ब्रह्म का वर्णन ही किया है। नाद ब्रह्म भी अव्यक्त ब्रह्म है। गोरखबानी में 'धुनि अनहद गाजैं,'[६] के द्वारा नाद ब्रह्म का अव्यक्त एवं निराकार रूप ही वर्णित है। गोरखबानी में ही अन्यत्र 'गगनि सिवर महि सबद प्रकास्या'[७] 'सारमसरं गहर गंभीर गगन उछलिया नादं'[८] 'गगन मण्डल में अनहद बाजै'[९] 'ॐ सबदहि ताला सबदहि कूची सबदहि सबद भया उजियाला'[१०] के वर्णन से नाद या शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। गोरखनाथ के मत से ब्रह्म के प्रथम विवर्त प्रणव की उपासना से परब्रह्म का साक्षात्कार भी हो सकता है। यह शब्द ब्रह्म ही मूलमंत्र है, यही शब्द ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त है, नाद ब्रह्म ही सकल निधान है तथा ब्रह्म से ही परमनिर्वाण या मोक्ष प्राप्त होता है।[११] अन्यत्र ओंकार रूपी शब्द ब्रह्म के ज्ञाता सिद्धयोगी को अलख अनन्त ब्रह्मवत् प्रतिपादित किया गया है।[१२] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-पंथ में शब्द ब्रह्म की भावना समादृत है।

---

२ गोरखबानी, पृ० ३९ एवं १२९।
३ गोरखबानी, पृ० १२४।
४ हठयोग प्रदीपिका, ११४५
५ योगमार्तण्ड, श्लोक १०८।
६ गोरखबानी, पृ० १०९।
७ गोरखबानी, पृ० २।
८ गोरखबानी, पृ० ५।
९ गोरखबानी, पृ० १२।
१० गोरखबानी, पृ० २०७।
११ ओंकार आछैं बाबू मूलमन्त्र धारा, ओंकार व्यापीले सकल संसारा।
नाद ही तो आछैं बाबू सब कछू निधानां, नाद हीं थैं पाइए परम निरबानां।
—गोरखबानी, पृ० ९८-९९
१२ ऊंकार का जाणैं मन्त। जैसा सिध अलख अनंत।
—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ५२।

अतिरिक्त किसी अन्य देवता के लिए मेरा मस्तक नहीं झुकेगा।[२] संत कवि दरिया ने 'एक वह एक हैं टेक कोई गहै'[३] के द्वारा एकमात्र परब्रह्म की स्थापना की हैं। इस प्रकार निर्गुण काव्य वहुदेववाद के प्रत्याख्यान के साथ ऐकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा करता हैं।

निर्गुण काव्य का ऐकेश्वर या परब्रह्म अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म हैं। कबीर ने 'अविगत अलख अभेद विधाता'[४] कहकर अव्यक्त निर्गुण निराकार अखण्ड परब्रह्म का प्रतिपादन किया है। धर्मदास ने भी 'अविगत से परिचै भई' तो आवागमन निवारि'[५] के द्वारा अव्यक्त ब्रह्म की उपासना से मोक्ष का वर्णन किया है। सुन्दरदास ने 'अव्यक्त पुरुष अगम अपारा' कहकर परब्रह्म को अव्यक्त ही निर्धारित किया हैं और कहा हैं कि बुद्धिगोचर न होने के कारण वह वर्णनातीत हैं।[६] यथार्थ यही हैं कि परब्रह्म के अव्यक्त निर्गुण स्वरूप को व्यक्त करने में वाणी सर्वदा असमर्थ रही है। इण्द्रियातीत ब्रह्म को न तो बुद्धि द्वारो ग्रहण किया जा सकता है और न वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसी कठिनाई के कारण सत्यान्वेषी साधकों को निषेधमुखेन ब्रह्म का वर्णन करना पड़ा है। 'परमात्मा यह है' न कहकर वे कहते हैं 'परमात्मा यह नहीं है'। उपनिषदों में इस प्रणाली का प्रयोग किया गया है और सन्तों ने भी इस सम्बन्ध में परम्परा का अनुसरण ही किया है। कबीर ने कहा है कि न वह बालक है न बूढ़ा,[७] न उसकी माप है,

---

२—यह सिर नवे त राम कूं नाहीं गिरियो टूट।
आनदेव नहिं परसिये, यह तन जायो छूट॥
—सन्त वानी संग्रह, प्रथम भाग, पृ० १४७।

३—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० १०।

४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०।

५—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७७।

६—अव्यक्त पुरुष अगम अपारा।
कैसे के करिये निर्द्धारा।
आदि अन्त कछु जाइ न जानी।
मध्य चरित्र सु अकथ कहानी॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, ९९—१००।

७—ना हम बार मूढ़ हम नाहीं, ना हमरे चिलकाई हो।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४।

न मूल्य है, न ज्ञान है, न वह हल्का है, न भारी और न उसकी परख हो सकती है।[2] इसी क्रम में उन्होंने ब्रह्म को अगम, अगोचर और अलख कहा है।[3] ब्रह्म अविदीर्ण और अभंग है।[4] धर्मदास ने कहा है कि ब्रह्म अलख अरूप[5] है, वह अगम, अगाध, अचिन्त्य है।[6] संत सुन्दर दास का अव्यक्त, निर्गुण, निराकार ब्रह्म अचल अभेद्य है।[7] बिहार के संत दरिया साहब ने ब्रह्म को अखंड,[8] अजर[9] और अलख[10] कहा है। इस प्रकार समस्त सन्त काव्य में निर्गुण निराकार अव्यक्त परब्रह्म का पुनः प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म का यही श्रेष्ठ स्वरूप है और सन्त साधकों का यही परमाराध्य है।

संत कवियों ने अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म का परात्पर रूप में वर्णन भी किया है। कबीर ने ब्रह्म को सत रज तम से अतीत निर्दिष्ट किया है।[11] ब्रह्म पिंड से भी परे है और ब्रह्माण्ड से भी परे है।[12] इतना ही नहीं ब्रह्म भाव और अभाव दोनों से परे है अर्थात् न तो यही कहा जा सकता है कि वह

२—तोल न मोल, माप कछु नाहीं गिनै ज्ञान न होई।
ना सो भारी ना सो हलुआ, ताको पारिख लखै न कोई।।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४४।

३—अगम अगोचर लखी न जाई, जहां का सहज फिर तहां समाई।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१०।

४—आदि मधि अरू अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग।।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६।

५—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७७।

६—वही वही, पृ० ४५।

७—निराकार है नित्य स्वरूपं। अचल अभेद्य छाहं नहिं धूपं।।
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ९९।

८—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ७।

९—वही वही पृ० २४।

१०—वही वही पृ० ३२।

११—राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पद का जो जन चीन्हें तिनहिं परम पद पाया।।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५०।

१२—प्यंड ब्रह्मंड कथैं सब कोई वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्माण्ड छांड़ि जे कहिये कहैं कबीर हरि सोई।।
—कबीर ग्रन्थावली पृ० १४९।

अतिरिक्त किसी अन्य देवता के लिए मेरा मस्तक नहीं झुकेगा।[२] संत कवि दरिया ने 'एक वह एक हैं टेक कोई गहैं'[३] के द्वारा एकमात्र परब्रह्म की स्थापना की हैं। इस प्रकार निर्गुण काव्य बहुदेववाद के प्रत्याख्यान के साथ ऐकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा करता हैं।

निर्गुण काव्य का ऐकेश्वर या परब्रह्म अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म हैं। कबीर ने 'अविगत अलख अभेद विधाता'[४] कहकर अव्यक्त निर्गुण निराकार अखण्ड परब्रह्म का प्रतिपादन किया है। धर्मदास ने भी 'अविगत से परिचै भई' तो आवागमन निवारि'[५] के द्वारा अव्यक्त ब्रह्म की उपासना से मोक्ष का वर्णन किया है। सुन्दरदास ने 'अव्यक्त पुरुष अगम अपारा' कहकर परब्रह्म को अव्यक्त ही निर्धारित किया हैं और कहा हैं कि बुद्धिगोचर न होने के कारण वह वर्णनातीत हैं।[६] यथार्थ यही हैं कि परब्रह्म के अव्यक्त निर्गुण स्वरूप को व्यक्त करने में वाणी सर्वदा असमर्थ रही है। इन्द्रियातीत ब्रह्म को न तो बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है और न वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसी कठिनाई के कारण सत्यान्वेषी साधकों को निषेधमुखेन ब्रह्म का वर्णन करना पड़ा है। 'परमात्मा यह हैं' न कहकर वे कहते हैं 'परमात्मा यह नहीं है'। उपनिषदों में इस प्रणाली का प्रयोग किया गया है और सन्तों ने भी इस सम्बन्ध में परम्परा का अनुसरण ही किया है। कबीर ने कहा है कि न वह बालक है न बूढ़ा,[७] न उसकी माप है,

---

२—यह सिर नवे त राम कूं नाहीं गिरियो टूट।
आनदेव नहिं परसिये, यह तन जायो छूट॥
—सन्त बानी संग्रह, प्रथम भाग, पृ० १४७।

३—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० १०।

४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०।

५—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७७।

६—अव्यक्त पुरुष अगम अपारा।
कैसे के करिये निर्द्धारा।
आदि अन्त कछु जाइ न जानी।
मध्य चरित्र सु अकथ कहानी॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, ९९—१००।

७—ना हम बार मूढ़ हम नाहीं, ना हमरे चिलकाई हो।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४।

न मूल्य है, न ज्ञान है, न वह हल्का है, न भारी और न उसकी परख हो सकती है।[२] इसी क्रम में उन्होंने ब्रह्म को अगम, अगोचर और अलख कहा है।[३] ब्रह्म अविदीर्ण और अभंग है।[४] धर्मदास ने कहा है कि ब्रह्म अलख अरूप[५] है, वह अगम, अगाध, अचिन्त्य है।[६] संत सुन्दर दास का अव्यक्त, निर्गुण निराकार ब्रह्म अचल अभेद्य है।[७] बिहार के संत दरिया साहब ने ब्रह्म को अखंड,[८] अजर[९] और अलख[१०] कहा है। इस प्रकार समस्त सन्त काव्य में निर्गुण निराकार अव्यक्त परब्रह्म का पुनः प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म का यही श्रेष्ठ स्वरूप है और सन्त साधकों का यही परमाराध्य है।

संत कवियों ने अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म का परात्पर रूप में वर्णन भी किया है। कबीर ने ब्रह्म को सत रज तम से अतीत निर्दिष्ट किया है।[११] ब्रह्म पिंड से भी परे है और ब्रह्माण्ड से भी परे है।[१२] इतना ही नहीं ब्रह्म भाव और अभाव दोनों से परे है अर्थात् न तो यही कहा जा सकता है कि वह

२—तोल न मोल, माप कछु नाहीं गिनै ज्ञान न होई।
ना सो भारी ना सो हलुआ, ताको पारिख लखै न कोई॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४४।

३—अगम अगोचर लखी न जाई, जहां का सहज फिर तहां समाई।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१०।

४—आदि मधि अरु अंत लौ, अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६।

५—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७७।

६—वही वही, पृ० ४५।

७—निराकार है नित्य स्वरूपं। अचल अभेद्य छाहं नहिं धूपं॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ९९।

८—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ७।

९—वही वही पृ० २४।

१०—वही वही पृ० ३२।

११—राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पद का जो जन चीन्हें तिनहिं परम पद पाया॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५०।

१२—प्यंडं ब्रह्मडं कथै सब कोई वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्माण्ड छांडि जे कहिये कहैं कबीर हरि सोई॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० १४९।

भाव रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव रूप हैं;[1] अतएव वह नाथयोगियों के ब्रह्म की भाँति भावाभावविनिर्युक्तः है। सन्त सुन्दरदास ने भी ब्रह्म के परात्परत्व का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि ब्रह्म वार और पार से, मूल और शाखा से, शून्य और स्थूल से, द्वैत और अद्वैत से परे है।[2] वस्तुतः सुन्दरदास का ब्रह्म 'अस्ति' एवं 'नास्ति' की सीमा से अतीत है। विहार के संत दरियासाहव ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण से परे कहा है[3] एवं सत रज तम से अतीत निर्दिष्ट किया है।[4] अन्यत्र उन्होंने 'पुराण पुरुष' ब्रह्म को तीन लोक से परे बताया है।[5] ब्रह्म के परात्परत्व के प्रतिपादन की प्रवृत्ति निर्गुण काव्य में इतनी बढ़ गई कि ब्रह्म को चतुर्थ पद से परे निर्दिष्ट किया जाने लगा। गुलाल साहव ने 'ब्रह्म अरूप अखण्डित पूरन, चौथे पद सों न्यारो'[6] के द्वारा पर ब्रह्म को चौथे पद से भी परे निर्धारित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म के परात्पर स्वरूप का वर्णन निर्गुण काव्य के प्रायः सब प्रमुख कवियों ने किया है

निर्गुण काव्य में शब्द-ब्रह्म की भावना पूर्णतया विद्यमान है। शब्द ब्रह्म के नाद-स्वरूप की चर्चा तो प्रायः सब संत कवियों की रचनाओं में दृष्टिगत होती है। कबीर ने 'ऊंकार आदि है मूला'[7] द्वारा शब्द ब्रह्म प्रणव

१—कहयां न उपजै उपजां नहिं जाण भाव अभाव विहूनां।
उदै अस्त जहां मति वुधि नहीं सहजि राम ल्यौ लींनां॥
—कबीर ग्रन्थावली- पृ० १४८।

२—कोई वार कहै कोई पार कहै उसका कहूं वार न पार है रे।
कोई मूल कहै कोई डार कहै उसके कहूं मूल न डार है रे॥
कोई सून्य कहै कोई थूल कहै, वह सून्य हूं थूल निराल है रे।
कोई एक कहै कोई दोइ कहै नहिं सुन्दर द्वन्द्व लगार है रे॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० २९८।

३—ओइ सरगुन निरगुन ते भीना। जाके प्रान पिंड सब चीन्हा॥
—दरिया सागर, पृ० २०।

४—तीनों गुन ते रहित अनामा। प्रान पिंड जग उदित निसाना॥
—दरियासागर, पृ० २०।

५—दरिया साहव की शब्दावली, पृ० ६।

६—संत बानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० २०६।

७—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४४।

ओंकार को सृष्टि का मूल तत्व बताया है। परब्रह्म राम को उन्होंने निरंजन शब्द रूप माना हैं—'शब्द निरंजन राम नाम सांचा'।[१] अनाहत नाद वर्णन के व्याज से कबीर ने शब्द ब्रह्म का निरूपण ही किया है? 'सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णा षाँडी'[२] 'सबद अनाहद बागा'[३] 'सबद अनाहद बोले'[४] इत्यादि से उन्होंने नाद ब्रह्म की उपासना ही की है। एक स्थल पर तो उन्होंने 'अनभौ सबद तत्व निज सारा'[५] कहकर शब्द ब्रह्म को सारभूत तत्व प्रस्थापित किया है। दादूदयाल ने शब्द को सर्व समर्थ ब्रह्म कहा है।[६] संत धर्मदास ने भी अव्यक्त शब्द ब्रह्म का वर्णन 'अलख अरूपी आप, तहाँ अनहद धुनि गाजै'[७] 'शब्द संत दरसावै एवं सार शब्द मन वासी'[८] के द्वारा किया है। दरिया साहब ने भी कबीर और धर्मदास की भाँति ही शब्द ब्रह्म या नाद ब्रह्म को वड़ा महत्व प्रदान किया है। उन्होंने नादानुसंधान से शब्द ब्रह्म की उपासना की है।[९] 'सत शब्द रहो ठहराय'[१०] 'सतगुरु शब्द से पूरन जोग'[११] एवं 'शब्द सजीवनि है गा मूला शब्दै रचल सकल संसार'[१२] इत्यादि के द्वारा दरिया साहब ने शब्द ब्रह्म को सत्य, अमृत, सृष्टि कर्ता तथा मूलतत्व कहा है। अतएव संत काव्य में शब्द ब्रह्म की भावना नादानुसंधान एवं सृष्टि के मूलभूत तत्व के रूप में समादृत है।

१—कबीर ग्रंथावली पृ० १३४।
२—वही वही, पृ० ९१।
३—वही वही, पृ० ११०।
४—वही वही, पृ० १५४।
५—वही वही, पृ० ३०३।
६—एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ।
—दादू दयाल की वाणी, प्रथम भाग, पृ० १९९।
७—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७७।
८—वही वही पृ० १६ एवं १।
९—अनहद धुनि गहि घंट बजावैं।
सब्द सिंघासन चरन नमावौं॥
—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ५।
१०—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० १५।
११—वही पृ० १५
१२—वही, पृ० २३ एवं ४९।
१३—दरियासागर, पृ० ५१।

भाव रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव रूप है;[१] अतएव वह नाथयोगियों के ब्रह्म की भाँति भावाभावविनिर्युक्तः है। सन्त सुन्दरदास ने भी ब्रह्म के परात्परत्व का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि ब्रह्म वार और पार से, मूल और शाखा से, शून्य और स्थूल से, द्वैत और अद्वैत से परे है।[२] वस्तुतः सुन्दरदास का ब्रह्म 'अस्ति' एवं 'नास्ति' की सीमा से अतीत है। बिहार के संत दरियासाहब ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण से परे कहा है[३] एवं सत रज तम से अतीत निर्दिष्ट किया है।[४] अन्यत्र उन्होंने 'पुराण पुरुष' ब्रह्म को तीन लोक से परे बताया है।[५] ब्रह्म के परात्परत्व के प्रतिपादन की प्रवृत्ति निर्गुण काव्य में इतनी बढ़ गई कि ब्रह्म को चतुर्थ पद से परे निर्दिष्ट किया जाने लगा। गुलाल साहब ने 'ब्रह्म अरूप अखण्डित पूरन, चौथे पद सों न्यारो'[६] के द्वारा पर ब्रह्म को चौथे पद से भी परे निर्धारित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म के परात्पर स्वरूप का वर्णन निर्गुण काव्य के प्रायः सब प्रमुख कवियों ने किया है

निर्गुण काव्य में शब्द-ब्रह्म की भावना पूर्णतया विद्यमान है। शब्द ब्रह्म के नाद-स्वरूप की चर्चा तो प्रायः सब संत कवियों की रचनाओं में दृष्टिगत होती है। कबीर ने 'ऊंकार आदि है मूला'[७] द्वारा शब्द ब्रह्म प्रणव

१—कह्यां न उपजै उपजां नहिं जाण भाव अभाव बिहूनां।
उदै अस्त जहां मति बुधि नहीं सहजि राम ल्यौ लींनां॥
—कबीर ग्रन्थावली. पृ० १४८।

२—कोई वार कहै कोई पार कहै उसका कहूं वार न पार है रे।
कोई मूल कहै कोई डार कहै उसके कहूं मूल न डार है रे॥
कोई सून्य कहै कोई थूल कहै, वह सून्य हूं थूल निराल है रे।
कोई एक कहै कोई दोइ कहै नहिं सुन्दर द्वन्द्व लगार है रे॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० २९८।

३—ओइ सरगुन निरगुन ते भीना। जाके प्रान पिंड सब चीन्हा॥
—दरिया सागर, पृ० २०।

४—तीनों गुन ते रहित अनामा। प्रान पिंड जग उदित निसाना॥
—दरियासागर, पृ० २०।

५—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ६।

६—संत बानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० २०६।

७—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४४।

ओंकार को सृष्टि का मूल तत्व बताया है। परब्रह्म राम को उन्होंने निरंजन शब्द रूप माना हैं—'शब्द निरंजन राम नाम सांचा'।[1] अनाहत नाद वर्णन के व्याज से कबीर ने शब्द ब्रह्म का निरूपण ही किया है? 'सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णा षाँडी'[2] 'सबद अनाहद बागा'[3] 'सबद अनाहद बोले'[4] इत्यादि से उन्होंने नाद ब्रह्म की उपासना ही की है। एक स्थल पर तो उन्होंने 'अनभौ सबद तत्व निज सारा'[5] कहकर शब्द ब्रह्म को सारभूत तत्व प्रस्थापित किया है। दादूदयाल ने शब्द को सर्व समर्थ ब्रह्म कहा है।[6] संत धर्मदास ने भी अव्यक्त शब्द ब्रह्म का वर्णन 'अलख अरूपी आप, तहाँ अनहद धुनि गाजै'[7] 'शब्द संत दरसावै एवं सार शब्द मन वासी'[8] के द्वारा किया है। दरिया साहब ने भी कबीर और धर्मदास की भांति ही शब्द ब्रह्म या नाद ब्रह्म को बड़ा महत्व प्रदान किया है। उन्होंने नादानुसंधान से शब्द ब्रह्म की उपासना की है।[9] 'सत शब्द रहो ठहराय[10] 'सतगुरु शब्द से पूरन जोग'[11] एवं 'शब्द सजीवनि हैं गा मूला शब्दै रचल सकल संसार'[12]इत्यादि के द्वारा दरिया साहब ने शब्द ब्रह्म को सत्य, अमृत, सृष्टि कर्ता तथा मूलतत्व कहा है। अतएव संत काव्य में शब्द ब्रह्म की भावना नादानुसंधान एवं सृष्टि के मूलभूत तत्व के रूप में समादृत है।

१—कबीर ग्रंथावली पृ० १३४।
२—वही वही, पृ० ९१।
३—वही वही, पृ० ११०।
४—वही वही, पृ० १५४।
५—वही वही, पृ० ३०३।
६—एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ।
—दादू दयाल की वाणी, प्रथम भाग, पृ० १९९।
७—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७७।
८—वही वही पृ० १६ एवं १।
९—अनहद धुनि गहि घंट बजावैं।
सब्द सिंघासन चरन नमावों॥
—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ५।
१०—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० १५।
११—वही पृ० १५
१२—वही, पृ० २३ एवं ४९।
१३—दरियासागर, पृ० ५१।

शब्द ब्रह्म की भांति ही संत कवियों ने नाथयोगियों के अनुसरण पर शून्य-ब्रह्म का वर्णन भी किया है। शून्य ब्रह्म की भावना भी अव्यक्त ब्रह्म भावना है। वस्तुतः संत काव्य में अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म-भाव 'शून्य' द्वारा एवं निषेधमुखेन ही विशेषतः वर्णित हुआ है? कबीर ने 'सुंनि ल्यौ लागी'[१] 'सुनि मंडल में सोधि लै परम जोति परकास'[२] कहकर शून्य ब्रह्म का वर्णन ही किया है। संत दादू दयाल ने निराकार निरंजन रूपी शून्य ब्रह्म का वर्णन 'ब्रह्म सुन्न तहं ब्रह्म है, निरंजन निराकार'[३] के द्वारा किया है। शून्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए संत सुन्दरदास ने कहा है कि रूपातीत शून्य ब्रह्म के ध्यान के समान अन्य कोई ध्यान नहीं है।[४] ब्रह्म शून्य होते हुये भी दशों दिशाओं में परिव्याप्त है।[५] धनी धर्मदास ने 'सुन्न महल से अमृत बरसै'[६] द्वारा ब्रह्म-रन्ध्र स्थित सहस्रार की कर्णिका में स्थित चन्द्र से स्रवित होने वाले चन्द्रामृत का वर्णन किया है। इससे भी 'शून्य' का ब्रह्मभाव व्यक्त होता है। इन उदाहरणों में 'शून्य' सर्वत्र अविषेधपरक नहीं है? भीखा साहब ने 'वह तो सुन्न निरन्तर धुधुकत निज आतम दरसाई'[७] कहकर आत्मारूपी परब्रह्म का वर्णन ही किया है। दरिया साहब (विहारी) ने 'सुन में ध्यान लगावै'[८] के द्वारा शून्य का ब्रह्मत्व ही प्रकट किया है। इस प्रकार निर्गुण काव्य में शून्य ब्रह्म समादृत है। उपर्युक्त पंक्तियों से भलीभाँति प्रमाणित होता है कि शून्य ब्रह्म अभावात्मक नहीं है, वह सतरूपी आत्मब्रह्म या परब्रह्म है।

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०९।

२—वही, पृ० १२७।

३—दादूदयाल की वाणी, प्रथम भाग, पृ० ५८।

४—यह रूपातीत जू शून्य ध्यान।
कछु रूप न रेष न ह्वै निदांन॥
इहि शून्य ध्यान सम और नांहि।
उत्कृष्ट ध्यान सब ध्यान मांहि॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ५४-५५।

५—है शून्यकार जु ब्रह्म आपु।
दशहू दिशि पूरण अति अमापु॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ५४-५५

६—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ३३।

७—संत बानी संग्रह, प्रथम भाग, पृ० २१३।

८—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ४७।

संत काव्य की ब्रह्म-भावना उपनिषदों के सर्वभूतात्म या सर्वन्तरवाद के द्वारा भी व्यक्त हुई है। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। वह चराचर सृष्टि के अणु परमाणुओं में सतत् सर्वत्र विद्यमान है। कबीर ने 'खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाई'[1] के द्वारा ब्रह्म का सर्वभूतात्मवाद ही प्रकट किया है। दादू ने परब्रह्म को सर्वव्यापक कहा है—'घीव दूव में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर।'[2] सुन्दरदास ने एक अखण्डित आत्म तत्व को सर्वत्र व्याप्त कहा है--'व्यापिन व्यापिक व्यापिहु व्यापक आतम एक अखंडित जांनी।'[3] 'धर्मदास ने ब्रह्म को सर्वत्र निर्दिष्ट करते हुये 'लख चौरासी जीव जन्तु में, सब घट एकै रमिता'[4] प्रतिपादित किया है। दरिया साहब ने 'सब घट व्यापक एकै रामा'[5] एवं 'एकै ब्रह्म सकल घट सोई'[6] के द्वारा सर्वात्म ब्रह्म का वर्णन ही किया है। वस्तुतः सर्वात्मवाद निर्गुण काव्य का विजडित सिद्धांत है क्योंकि इसी के आधार पर सन्तों ने मनुष्यों में समानता का सिद्धाँत प्रचारित किया एवं भेदत्व के विरुद्ध अभेदत्व की प्रतिष्ठा की।

उपर्युक्त पंक्तियों में निर्गुण काव्य में ब्रह्म भावना का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि संत काव्य में निर्गुण निरुपाधि एवं निर्विशेष परब्रह्म को ही ब्रह्म का श्रेष्ठ स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। निर्गुण, निराकार निर्विशेष एवं अव्यक्त परब्रह्म ही संत काव्य का प्रतिपाद्य है। भक्ति के सम्बन्ध में ब्रह्म अवश्य सगुण हो जाता है और कबीर आदि संत कवियों की रचनाओं में सगुण किन्तु अव्यक्त ब्रह्म का वर्णन उपलब्ध भी है।[7] पर वह सन्तों का प्रमुख प्रतिपाद्य नहीं है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य परब्रह्म का निर्गुण, निर्लेप, निरुपाधि, निर्विशेष एवं निराकार स्वरूप है। उनकी ब्रह्म भावना अव्यक्त ब्रह्म के उपर्युक्त स्वरूप के प्रतिपादन में ही कृतकृत्य हुई है और उसी को परमाराध्य मानती है।

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४।

२—दादू दयाल की वानी, प्रथम भाग, पृ० ३२।

३—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ६५२, द्वितीय खण्ड।

४—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७१।

५—दरियासागर, पृ० ३०।

६—दरियासागर, पृ० ३०।

७—कबीर की विचारधारा, पृ० १८[illegible]।

तुलसी साहब का ब्रह्म वर्णन

संत तुलसी ने उपनिषदों की भांति ही अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना की है। गीता का सगुण व्यक्त अवतार ब्रह्म उन्हें मान्य नहीं है। इसका विवेचन 'अवतार' के प्रसंग में किया गया है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यह है कि तुलसी साहब का ब्रह्म वर्णन उपनिषदों के अव्यक्त एवं निर्विशेष ब्रह्म भाव से अनुप्रेरित है एवं नाथ पंथ की ब्रह्म भावना का 'शून्य' 'गगन' एवं 'शब्द' रूप भी उनका वर्ण्य विषय है। इस प्रकार तुलसी साहब का ब्रह्म-वर्णन वेदान्त तथा नाथ-सम्प्रदाय की ब्रह्मविषयक विचारधारा से प्रभावित है। यह अनुमान करना असंगत न होगा कि यह प्रभाव तुलसी साहब ने मुख्यतः पूर्ववर्ती संतों के माध्यम से ग्रहण किया होगा। तुलसी साहब की ब्रह्म भावना और पूर्ववर्ती सन्तों की ब्रह्म भावना में कोई मौलिक अन्तर नहीं दृष्टिगत होता है। संत तुलसी की ब्रह्म भावना के निम्नांकित निरूपण से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

एक ब्रह्म

प्राचीन काल से ब्रह्म एक माना गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में 'आसीदेकमेवाद्वितीयम्'[१] के द्वारा एकमात्र ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। 'ऐतरेयोपनिषद्' में भी 'आत्मा व इदमेक एवाग्र आसीत्'[२] से एक आत्मब्रह्म का ही उल्लेख है। 'गीता' में भी 'पुरुषोत्तम' एकमात्र परब्रह्म हैं।[३] कबीर ने भी 'हिन्दू तुरक का कर्ता एकै'[४] के द्वारा ब्रह्म को एक कहा है। सुन्दरदास ने ईश्वर एक और नहि कोई[५] कहकर ब्रह्म को एक ही निर्दिष्ट किया है। दरिया साहब ने भी ब्रह्म को एक बताते हुए 'एक वह एक है'[६] का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार तुलसी साहब ने भी ब्रह्म के अद्वयत्व का वर्णन किया है। उन्होंने 'सब एक पसारा'[७] 'अद्भुत है अदोइ'[८] 'संत साहिब सिरदास और

१—छान्दोग्योपनिषद्, ६।२।२।

२—ऐतरेयोपनिषद् १।१।१।

३—श्रीमद् भगवद् गीता, १५।१८

४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०६।

५—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृ० २१९।

६—दरिया साहब की शब्दावली पृ० १०।

७—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २६।

८—वही वही, पृ० १२९।

कोइ दूजा नाहीं।[1] 'जो कोइ करै विवेक एक घट सब पहिचाने'[2] विना विवेक एक नहिं आवै'[3] 'बोले सब में एक अकेला' 'एक बोल सब माहिं विराजा'[5] के द्वारा एक मात्र अद्वितीय परब्रह्म का प्रतिपादन ही किया है। वस्तुतः उनका आत्मब्रह्म एक है, उसमें किसी प्रकार की 'द्वय' भावना नहीं है। इस प्रकार तुलसी साहब के परब्रह्म का अद्वयत्व पूर्ववर्ती उपनिपदों एवं निर्गुण-कवियों की ब्रह्म भावना के अनुकूल है और उनसे पूर्ण साम्य रखता है।

निर्गुण निरूपाधि ब्रह्म

उपनिपदों में निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म का वर्णन किया गया है। जगत के सम्पूर्ण नामरूपात्मक मूर्त एवं अमूर्त पदार्थों के परे जो अगृह्य अथवा अवर्णनीय परमतत्व है वही ब्रह्म है।[6] गुणों के अत्यन्त अभाव में शब्दों द्वारा उसका वर्णन संभव नहीं है। 'वृहदारण्यकोपनिपद्' में 'स एप नेति नेत्यात्मा-गृह्यो'[7] के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अग्राह्यता ही वर्णित है। बुद्धि के द्वारा आग्रह्य होने के कारण उसे शब्दों से व्यक्त करना संभव नहीं है अर्थात् ब्रह्म अनिर्वचनीय है। गीता में इसीलिए ब्रह्म को अचिन्त्य और अव्यक्त कहा गया है—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।'[8] कबीर ने भी निर्गुण निरूपाधि परब्रह्म का प्रतिपादन करते समय वाणी की असामर्थ्य के कारण 'ब्रह्म यह है' न कहकर 'ब्रह्म यह नहीं है' की निशेधात्मक पद्धति ग्रहण की है।[9] संत तुलसी ने भी ब्रह्म को अनिर्वचनीय माना है[10] और कहा है कि वेद उसका वर्णन नेति नेति कहकर करते है।[11] इसी निर्गुण निरूपाधि एवं निर्विशेष

१—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० २८।
२—वही वही, पृ० २९।
३—रत्नसागर, पृ० ११७।
४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० २।
५—वही वही, पृ० २।
६—वृहदारण्यकोपनिषद् २।३।६।
७—वृहदारण्यकोपनिषद्, ४।२।४।
८—श्रीमद्भगवद्गीता, २।२५।
९—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४४।
१०—मुख बैन कहनि न सैन आवे। चैन चौज चिन्हावही॥
अलि संत अन्त अतन्त जानै। बूझि समझ सुनावही॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २।
११—उनका लेखा वेद न पावै। नेति नेति चारों गोहरावै॥
—घटरामायण, प्रथम भाग पृ० २।

तुलसी साहव का ब्रह्म वर्णन

संत तुलसी ने उपनिषदों की भांति ही अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना की है। गीता का सगुण व्यक्त अवतार ब्रह्म उन्हें मान्य नहीं है। इसका विवेचन 'अवतार' के प्रसंग में किया गया है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यह है कि तुलसी साहव का ब्रह्म वर्णन उपनिषदों के अव्यक्त एवं निर्विशेष ब्रह्म भाव से अनुप्रेरित है एवं नाथ पंथ की ब्रह्म भावना का 'शून्य' 'गगन' एवं 'शब्द' रूप भी उनका वर्ण्य विषय है। इस प्रकार तुलसी साहव का ब्रह्म-वर्णन वेदान्त तथा नाथ-सम्प्रदाय की ब्रह्मविषयक विचारधारा से प्रभावित है। यह अनुमान करना असंगत न होगा कि यह प्रभाव तुलसी साहव ने मुख्यत: पूर्ववर्ती संतों के माध्यम से ग्रहण किया होगा। तुलसी साहव की ब्रह्म भावना और पूर्ववर्ती सन्तों की ब्रह्म भावना में कोई मौलिक अन्तर नहीं दृष्टिगत होता है। संत तुलसी की ब्रह्म भावना के निम्नांकित निरूपण से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

एक ब्रह्म

प्राचीन काल से ब्रह्म एक माना गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में 'आसीदेकमेवाद्वितीयम्'[1] के द्वारा एकमात्र ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। 'ऐतरेयोपनिषद्' में भी 'आत्मा व इदमेक एवाग्र आसीत्'[2] से एक आत्मब्रह्म का ही उल्लेख है। 'गीता' में भी 'पुरुषोत्तम' एकमात्र परब्रह्म हैं।[3] कबीर ने भी 'हिन्दू तुरक का कर्ता एकै'[4] के द्वारा ब्रह्म को एक कहा है। सुन्दरदास ने ईश्वर एक और नहिं कोई[5] कहकर ब्रह्म को एक ही निर्दिष्ट किया है। दरिया साहव ने भी ब्रह्म को एक बताते हुए 'एक वह एक है'[6] का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार तुलसी साहव ने भी ब्रह्म के अद्वयत्व का वर्णन किया है। उन्होंने 'सब एक पसारा'[7] 'अद्भुत है अदीइ'[8] 'संत साहिब सिरदास और

१—छान्दोग्योपनिषद्, ६।२।२।

२—ऐतरेयोपनिषद् १।१।१।

३—श्रीमद्भगवद्गीता, १५।१८

४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०६।

५—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृ० २१९।

६—दरिया साहव की शब्दावली पृ० १०।

७—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २६।

८—वही वही, पृ० १२९।

संत तुलसी द्वारा वर्णित निर्गुण निरूपाधि पूर्ण ब्रह्म में एवं उपनिषदों तथा गीता द्वारा वर्णित परब्रह्म की उक्त धारणा में पूर्ण साम्य है। दोनों में ही निर्विशेष परब्रह्म का वर्णन नेतिमूलक है। कबीर आदि पूर्ववर्ती संत कवियों की निरूपाधि ब्रह्म चर्चा का स्वरूप भी हम कुछ पूर्व निर्धारित कर चुके हैं। उसमें और तुलसी साहब की निर्गुण ब्रह्म भावना में भी पूर्ण साम्य है। वस्तुतः अचिन्त्य और अवाच्य परब्रह्म का उपर्युक्त स्वरूप उपनिषदों से लेकर संत तुलसी तक समादृत है।

शून्य ब्रह्म

'महाभारत' के अनुशासन पर्व में विष्णु के सहस्र नामों में 'शून्य' भी एक नाम है।[1] शंकराचार्य ने शून्य की व्यवस्था करते हुए कहा है कि सर्व विशेष रहित्वात शून्यवत्[2] अर्थात् समस्त विशेषणों से रहित होने के कारण विष्णु शून्यवत् हैं। इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्म भाव को 'शून्य' के द्वारा व्यक्त करने की परम्परा यथेष्ट प्राचीन है। बौद्धमत के महायान सम्प्रदाय की शून्यवाद शाखा में 'शून्य' अनिर्वचनीयत्व का बोधक है। इस सम्बन्ध में 'परिभाषिक शब्दों' के प्रकरण में पूर्ण विचार किया गया है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यह है कि अत्यन्त प्राचीन समय से निर्विशेष ब्रह्म भावना 'शून्य' द्वारा व्यक्त होती रही हैं। गोरखनाथ ने 'सुनि निरंजन आपै आप'[3] के द्वारा स्वयंभू आत्मरूप निरंजन ब्रह्म की शून्य रूप में स्थापना की हैं। सिद्धयोगी जालंधरनाथ ने 'सुनि मंडल में परम जोति प्रकाशा'[4] कहकर शून्य का ब्रह्मत्व विज्ञापित किया है। वस्तुतः 'शुन्य' से नाथ योगी ब्रह्मन्ध्र स्थित सहस्त्रार में विराजित निरंजन ब्रह्म का वर्णन करते हैं। कबीर ने भी नाथ योगियों के अर्थ में ही 'सुनि मंडल में साधि ले परम जोति परकास'[5] द्वारा शून्य-निरंजन को वर्णन किया है। दादू के शिष्य सुन्दरदास ने 'हैं शुन्यकार जु ब्रम्ह आप'[6] द्वारा निराकार ब्रह्म को 'शून्य' निर्दिष्ट किया हैं। शुन्य ब्रह्म की यही भावना तुलसी साहब में भी विद्यमान है। उन्होंने 'सुन्न धुन्नि में शब्द'[7] 'सुन्न में शब्द

१—महाभारत, अनुशासन पर्व पृ० ४७५।
२—विष्णुसहस्रनाम, शांकर भाष्य, पृ० २१३-२१४।
३—गोरखबानी, पृ० ७३।
४—नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ४२।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२७।
६—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ४४।
७—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २४।

परब्रह्म के वर्णन में श्रुति वाक्यों में 'न' अव्यय का बाहुल्य दृष्टिगत होता है और वही प्रवृत्ति अन्य सन्तों के साथ तुलसी साहब में भी विद्यमान है।

तुलसी साहब का ब्रह्म निर्गुण निराकार है।[१] पूर्ण ब्रह्म अज अरूप है।[२] उसके रूप, रेख, नाम कुछ नहीं है, ब्रह्म नामरूप से भिन्न अनामी है।[३] आदि अनादि ब्रह्म अगम है।[४] वह अरूप अजर अमर है।[५] परब्रह्म अदृष्ट और अलख है।[६] वह अनीह अरूप और अमाया है।[७] आदि पुरुष अकाय है।[८] उसकी गति अगम्य एवं अनन्त है।[९] ब्रह्म अचिन्त्य एवं अतुल्य है।[१०] वह अगाध[११], अद्भुत-अलेख[१२] अपार-अगोचर[१३] और अगत है।[१४] वस्तुतः अखण्ड ब्रह्म की अनुभूति अनिर्वचनीय है।[१५]

१—जहं नहिं रंग न रूप गुसाईं, गो मत गुन न पमारे।

—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३४।

२—निज निवास अज अरूप, ब्रह्म पूरन घरन धारन॥

—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २६६।

३—रूप रेख नहिं नाम ठाम नहिं कहत बखानी।
नाम रूप से भिन्न भिन्न सोइ करत अनामी॥

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३१।

४—तुलसी आद अनाद अगम की मगन मूल पद सारी।

—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २५२।

५—अजर अमर अरूप वै।

—वही वही, पृ० २१०१।

६—प्रभु देख अदेख अलेखा री।

—वही वही, पृ० २२४।

७—एक अनीह अरूप अमाया।

—वही वही, पृ० १७४ तथा २७०।

८—ब्रह्म अकाय जाने विना, काया मन गुन माहिं।

—पद्मसागर, पृ० २।

९—रत्नसागर, पृ० ९।

१०—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ११३।

११—वही वही, पृ० १५०।

१२—वही वही, पृ० १५६।

१३—वही वही, पृ० १७६-१८०।

१४—रत्नसागर, पृ० ४६।

१५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९०।

संत तुलसी द्वारा वर्णित निर्गुण निरूपाधि पूर्ण ब्रह्म में एवं उपनिषदों तथा गीता द्वारा वर्णित परब्रह्म की उक्त धारणा में पूर्ण साम्य है। दोनों में ही निर्विशेष परब्रह्म का वर्णन नेतिमूलक है। कबीर आदि पूर्ववर्ती संत कवियों की निरूपाधि ब्रह्म चर्चा का स्वरूप भी हम कुछ पूर्व निर्धारित कर चुके हैं। उसमें और तुलसी साहब की निर्गुण ब्रह्म भावना में भी पूर्ण साम्य है। वस्तुतः अचिन्त्य और अवाच्य परब्रह्म का उपर्युक्त स्वरूप उपनिषदों से लेकर संत तुलसी तक समादृत है।

शून्य ब्रह्म

'महाभारत' के अनुशासन पर्व में विष्णु के सहस्र नामों में 'शून्य' भी एक नाम है।[1] शंकराचार्य ने शून्य की व्यवस्था करते हुए कहा है कि सर्व विशेष रहित्वात शून्यवत्[2] अर्थात् समस्त विशेषणों से रहित होने के कारण विष्णु शून्यवत् हैं। इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्म भाव को 'शून्य' के द्वारा व्यक्त करने की परम्परा यथेष्ट प्राचीन है। बौद्धमत के महायान सम्प्रदाय की शून्यवाद शाखा में 'शून्य' अनिर्वचनीयत्व का बोधक है। इस सम्बन्ध में 'परिभाषिक शब्दों' के प्रकरण में पूर्ण विचार किया गया है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यह है कि अत्यन्त प्राचीन समय से निर्विशेष ब्रह्म भावना 'शून्य' द्वारा व्यक्त होती रही हैं। गोरखनाथ ने 'सुनि निरंजन आपै आप'[3] के द्वारा स्वयंभू आत्मरूप निरंजन ब्रह्म की शून्य रूप में स्थापना की है। सिद्धयोगी जालंधरनाथ ने 'सुनि मंडल में परम जोति प्रकाशा'[4] कहकर शून्य का ब्रह्मत्व विज्ञापित किया हैं। वस्तुतः 'शुन्य' से नाथ योगी ब्रह्मन्ध्र स्थित सहस्त्रार में विराजित निरंजन ब्रह्म का वर्णन करते हैं। कबीर ने भी नाथ योगियों के अर्थ में ही 'सुनि मंडल में साधि ले परम जोति परकास'[5] द्वारा शून्य-निरंजन का वर्णन किया है। दादू के शिष्य सुन्दरदास ने 'हैं शुन्यकार जु ब्रम्ह आप'[6] द्वारा निराकार ब्रह्म को 'शून्य' निर्दिष्ट किया हैं। शुन्य ब्रह्म की यही भावना तुलसी साहब में भी विद्यमान है। उन्होंने 'सुन्न धुन्नि में शब्द'[7] 'सुन्न में शब्द

१—महाभारत, अनुशासन पर्व पृ० ४७५।

२—विष्णुसहस्रनाम, शांकर भाष्य, पृ० २१३-२१४।

३—गोरखवानी, पृ० ७३।

४—नाथ सिद्धों की वानियाँ, पृ० ४२।

५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२७।

६—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ४४।

७—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २४।

लख पावा'[1] 'सुन्न सिखर पर सुरति लीन'[2] सुरति डोर सुन द्वार शब्द में[3] सुनि धुनि सबद बुझी'[4] धुन ,धुधकार सुन्न में सुरत, सबद भेद पहिचानी,'[5] क्षंदर सुन्न पद परखै[6], 'सुन्न माहिं सुरति से निरख जाई'[7] 'बिना सुन्न गये जीव निराशा'[8] इत्यादि के द्वारा शून्य का ब्रह्मत्व प्रकट किया है। किन्तु तुलसी साहब का 'शून्य ब्रह्म' नाथयोगियों के सहस्रार या निरंजन से कोई सम्बन्ध ने नहीं रखता। 'योग' के प्रसंग में हम सविस्तार वर्णन कर चुके हैं कि तुलसी साहब ने निरन्जन को कालपुरुष माना हैं और उसकी स्थिति नेत्रस्थ सहस्त्रधार में निर्दिष्ट की हैं। सहस्रार को ब्रह्मरन्ध्र से नीचे गिराने के साथ ही तुलसी साहब ने ब्रह्मरन्ध्र में चार दल के कमल की कल्पना की हैं। किन्तु इससे 'शून्य' की मूलभावना में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि 'शून्य शब्द नाथ सम्प्रदाय एवं तुलसी साहब की रचनाओं में समान रुप से ब्रह्म भावना व्यक्त करता हैं और ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्ध रखता है। इस प्रसंग में 'परिभाषिक शब्दों' के परिच्छेद में 'शून्य' वर्णन दृष्टव्य है।

गगन ब्रह्म

नाथ सम्प्रदाय में "गगन' रूप में ब्रह्म भावना सुस्पष्ट अंकित है। गोरक्षनाथ ने 'योगमार्तण्ड' में निगुणञ्च शिवं निमलं गगनाकारं[9] के द्वारा गगन का ब्रह्मत्व प्रतिपादित किया है। भर्तृहरि ने 'वेध्या मृग गगन अस्थान'[10] अर्थात् चंचल मन को गगन में मार देने की चर्चा द्वारा गगन का ब्रह्म भाव व्यक्त किया है। यहां गगन ब्रह्मरन्ध्र का अर्थ व्यक्त करता ज्ञात होता है क्योंकि योग में मनोजप की विधि प्राण के साथ ब्रह्मरन्ध्र में मनलय द्वारा प्रतिपादित की गई है। 'गोरखबानी' में भी गगन की ब्रह्म भावना वर्णित है। 'गगन सिपर

१—शब्दावली प्रथम भाग पृ० ८० ।
२—वही वही, पृ० ८ ।
३—वही वही, पृ० १२७ ।
४—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ२।२१७ ।
५—वही वही, पृ० २३८ ।
६—वही वही, पृ० २६२ ।
७—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८१ ।
८—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २१ ।
९—योगमार्तण्ड, श्लोक १६७ ।
10—Siddha Siddhanta Paddhati and other Works of Nathyogis, Page 77.

महि सबद प्रकास्या"[1] गगन मंडल में ऊँधा कूवा"[2] 'गगन मंडल में तेज चमके"[3] इत्यादि के द्वारा गोरखबानी में गगन की ब्रह्म भावना प्रतिपादित की गई है। यहां गगन मंडल ऊंधा कूंवा' से ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्त्रार की चर्चा की गई है। इससे भी 'गगन' का ब्रह्मत्व प्रकट होता है। कबीर ने भी नाथयोगियों की पद्धति पर गगन-ब्रह्म का वर्णन किया है। उन्होंने 'गगन गरजि मन सुंनि समाना गगन मंडल ले लागी'[4] के वर्णन से गगन ब्रह्म की चर्चा ही की है। ब्रह्म की अवस्थिति ब्रह्मरन्ध्र में होने के कारण 'गगन' ब्रह्मरन्ध्र के लिए ही प्रयुक्त ज्ञात होता है। तुलसी साहब के गगन-ब्रह्म वर्णन में किसी प्रकार की अस्पष्टता या रहस्यात्मकता नहीं है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि तेज पुरुष या ब्रह्म गगन है।[6] सर्वव्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार गगन में होता है।[7] सुरति योग से मन गगन ब्रह्म को प्राप्त करता है।[8] वस्तुतः गगन ब्रह्म की भावना जिस स्पष्ट रूप से संत तुलसी ने प्रकट की है, वैसी अन्य सन्त कवियों में कम दृष्टिगत होता है। संत तुलसी की गगन ब्रह्म धारणा में और नाथयोगियों की धारणा में अन्तर यह है कि नाथयोगी गगन में 'ऊँधा कूंवा' अथवा सहस्त्रार की चर्चा करते हैं, जबकि तुलसी साहब ने चक्रों एवं कमलों की कोई चर्चा न करके गगन का ब्रह्मत्व स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है। पर इस अन्तर से 'गगन' की मूल भावना में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। नाथयोगी, कबीर आदि पूर्ववर्ती संत और तुलसी साहब समान रूप से 'गगन' का ब्रह्मत्व स्वीकार करते हैं और ब्रह्म भाव व्यक्त करने के निमित्त ही 'गगन' का प्रयोग करते हैं।

१—गोरखबानी, पृ० २।

२— „ , पृ० ९।

३— „ , पृ० १९।

४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९०।

५— „ „ , पृ० ९६।

६—तेज पुरुष गगन, तीर मारौ, चढ़ि चीन्हो ॥

—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २६८।

७—सब में व्यापक ब्रह्म समाना। दरसै गगन फोड़ि असमाना ॥

घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८९।

८—संत कृपा सुत सैल लखावै। मन चढ़ि गगन ब्रह्म को पावै ॥

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८९।

शब्द ब्रह्म

शब्द ब्रह्म की भावना अत्यन्त प्राचीन समय से विद्यमान हैं। उपनिषदों में प्रणव ओंकार रूपी अक्षर या शब्द ब्रह्म की महिमा का पुनः पुनः प्रतिपादन किया गया है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि वह अक्षर ब्रह्म स्वयं *दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु दृष्टा है, श्रवण विषय नहीं, किन्तु श्रोता है, मनन* का विषय नहीं, किन्तु मन्ता है। स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता हैं। इससे भिन्न कोई दृष्टा नहीं हैं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं हैं, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं हैं, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है।[१] शब्द ब्रह्म या ॐ रूपी अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादन 'छान्दोग्योपनिषद 'तैत्तिरीयोपनिषद' 'मुण्डकोपनिषद' एवं 'कठोपनिषद' में भी किया गया हैं। छान्दोग्य में 'सर्वमोङ्कार एवंद सर्वम्'[२] के द्वारा ओंकार ब्रह्म को सब कुछ कहा गया हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में 'ओमिति ब्रह्म। ओमितीद सर्वम्'[३] अर्थात् ओङ्कार शब्द ब्रह्म हैं, ओंकार सर्वरूप हैं। मुण्डक में आत्मा का ओंकार रूप से ध्यान विधेय है। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं। 'कठोपनिषद' में एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्'[५] के द्वारा यह अक्षर ही ब्रह्म हैं, यह अक्षर ही पर हैं प्रतिपादित किया गया है। मुण्डक में विश्व की उत्पत्ति अक्षर ब्रह्म से निर्दिष्ट हैं।[६] वस्तुतः ओंकार की उपासना एवं उसके महत्व का उल्लेख उपनिषदों के अध्यात्म दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य हैं।

१—तद् वा एतदक्षरं गार्ग्य दृष्टं द्रष्ट श्रुतं, श्रोत्रमत मन्त्यविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट्व नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।

वृहदारण्यकोपनिषद्, ३।८।११

२—छान्दोग्योपनिषद्, २।२३।३

३—तैत्तिरीयोपनिषद्, १।८।१

४—मुण्डकोपनिषद्, २।२।६

५—कठोपनिषद्, १।२।१६

६—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरत्सम्भवतीह, विश्वम्॥
मुण्डकोपनिषद्, १।१।७

उपनिषदों की भांति ही गीता, योगमत, नाथसम्प्रदाय, शैवतन्त्र तथा निर्गुण काव्य में शब्द ब्रह्म का भूरिश वर्णन किया गया हैं। गीता में 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं'[1] द्वारा ब्रह्म को जानने योग्य परम अक्षर कहा हैं। पातंजलि मुनि ने 'योग दर्शन' में प्रणव अथवा ओंकार को ईश्वर वाचक कहा हैं—'तस्य वाचकः प्रणव।'[2] योग उपनिषदों में प्रणव या शब्द ब्रह्म का नाद रूप में वर्णन किया गया हैं—'ब्रह्मप्रणवसंधान नादो ज्योतिर्मय' शिवः।'[3] शैवतंत्र भी शब्द ब्रह्म को चैतन्य एवं सर्वव्यापी निर्दिष्ट करके उसका महत्व विज्ञापित करता है—चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मति।[4] 'नाथसम्प्रदाय में 'ॐ उतपदिते आकास'[5] 'इत्यादि के द्वारा शब्द ब्रह्म ओंकार से पंचभूतों की उत्पत्ति कही गई हैं। शब्द ब्रह्म के नादस्वरूप का वर्णन तो 'गोरखवानी' में अनेक स्थलों पर किया गया है।[6] नाथ सम्प्रदाय की ब्रह्म भावना वर्णन में हम इसकी चर्चा सविस्तार कर चुके हैं। कबीर ने भी ओंकार ब्रह्म या नाद ब्रह्म का महत्व स्वीकार किया हैं। 'ऊँकारे जग ऊपजै'[7] के द्वारा उन्होंने शब्द ब्रह्म को सृष्टि कर्ता निर्दिष्ट किया हैं।

संत तुलसी ने भी 'शब्द ब्रह्म' का वर्णन किया है। तुलसी साहब की शब्दब्रह्म सम्बन्धी भावना नाथसम्प्रदाय एवं कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों की परम्परागत भावना से पूर्ण साम्य रखती है। उन्होंने उपनिषदों, नाथपंथ एवं निर्गुण मतवाद के अनुसार शब्द ब्रह्म को सृष्टिकर्ता निर्दिष्ट किया है एवं नाथपंथ व कबीर की भांति उसका नाद रूप में भी प्रतिपादन किया है। निम्नांकित पंक्तियों में हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा।

तुलसी साहब का शब्द ब्रह्म सत्यपुरुष है।[8] यही सत्यपुरुष या शब्द ब्रह्म सृष्टि करता है। 'रत्नसागर' में रचना भेद' प्रकरण के अन्तर्गत तुलसी

१—श्रीमद्भगवद्गीता, ११।१८।

२—पातंजल योगसूत्र, १।२७।

३—नारदविन्दूपनिषद्, श्लोक ३०।

४—शारदातिलकतंत्र, १।१३।

५—गोरखवानी, पृ० २२५।

६—गोरखबानी, पृ० २, ५, ८, १२, ६०।

७—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२६।

८—सुन्न माहिं से शब्द जो आवै। सोई सब्द सतपुरुष कहावै।

—रत्नसागर, पृ० १५१।

शब्द ब्रह्म

शब्द ब्रह्म की भावना अत्यन्त प्राचीन समय से विद्यमान हैं। उपनिषदों में प्रणव ओंकार रूपी अक्षर या शब्द ब्रह्म की महिमा का पुनः पुनः प्रतिपादन किया गया है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि वह अक्षर ब्रह्म स्वयं दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु दृष्टा है, श्रवण विषय नहीं, किन्तु श्रोता है, मनन का विषय नहीं, किन्तु मन्ता है। स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता हैं। इससे भिन्न कोई दृष्टा नहीं हैं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं हैं, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं हैं, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है।[1] शब्द ब्रह्म या ॐ रूपी अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादन 'छान्दोग्योपनिपद 'तैत्तिरीयोपनिषद' 'मुण्डकोपनिषद' एवं 'कठोपनिषद' में भी किया गया हैं। छान्दोग्य में 'सर्वमोङ्कार एवंद सर्वम्'[2] के द्वारा ओंकार ब्रह्म को सब कुछ कहा गया हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में 'ओमिति ब्रह्म। ओमितीद सर्वम्'[3] अर्थात् ओङ्कार शब्द ब्रह्म हैं, ओंकार सर्वरूप हैं। मुण्डक में आत्मा का ओंकार रूप से ध्यान विधेय है। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं। 'कठोपनिषद' में एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्'[5] के द्वारा यह अक्षर ही ब्रह्म हैं, यह अक्षर ही पर हैं प्रतिपादित किया गया है। मुण्डक में विश्व की उत्पत्ति अक्षर ब्रह्म से निर्दिष्ट हैं।[6] वस्तुतः ओंकार की उपासना एवं उसके महत्व का उल्लेख उपनिषदों के अध्यात्म दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य हैं।

१—तद् वा एतदक्षरं गार्ग्यं दृष्टं द्रष्ट श्रुतं, श्रोत्रमत मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट्व नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।

वृहदारण्यकोपनिषद्, ३।८।११

२—छान्दोग्योपनिषद्, २।२३।३

३—तैत्तिरीयोपनिषद्, १।८।१

४—मुण्डकोपनिषद्, २।२।६

५—कठोपनिषद्, १।२।१६

६—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरत्सम्भवतीह, विश्वम्॥

मुण्डकोपनिषद्, १।१।७

उपनिषदों की भांति ही गीता, योगमत, नाथसम्प्रदाय, शैवतन्त्र तथा निर्गुण काव्य में शब्द ब्रह्म का भूरिश वर्णन किया गया हैं। गीता में 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं'[१] द्वारा ब्रह्म को जानने योग्य परम अक्षर कहा हैं। पातंजलि मुनि ने 'योग दर्शन' में प्रणव अथवा ओंकार को ईश्वर वाचक कहा हैं— 'तस्य वाचकः प्रणव।'[२] योग उपनिषदों में प्रणव या शब्द ब्रह्म का नाद रूप में वर्णन किया गया हैं—'ब्रह्मप्रणवसंधान नादो ज्योतिर्मय' शिवः।'[३] शैवतंत्र भी शब्द ब्रह्म को चैतन्य एवं सर्वव्यापी निर्दिष्ट करके उसका महत्व विज्ञापित करता है—चैतन्यं सर्वभूतानाँ शब्द ब्रह्मेति मे मति।[४] 'नाथसम्प्रदाय में 'ॐ उतपादिते आकास'[५] 'इत्यादि के द्वारा शब्द ब्रह्म ओंकार से पंचभूतों की उत्पत्ति कही गई हैं। शब्द ब्रह्म के नादस्वरूप का वर्णन तो 'गोरखबानी' में अनेक स्थलों पर किया गया है।[६] नाथ सम्प्रदाय की ब्रह्म भावना वर्णन में हम इसकी चर्चा सविस्तार कर चुके हैं। कबीर ने भी ओंकार ब्रह्म या नाद ब्रह्म का महत्व स्वीकार किया हैं। 'ॐकारे जग ऊपजै'[७] के द्वारा उन्होंने शब्द ब्रह्म को सृष्टि कर्ता निर्दिष्ट किया हैं।

संत तुलसी ने भी 'शब्द ब्रह्म' का वर्णन किया है। तुलसी साहब की शब्दब्रह्म सम्बन्धी भावना नाथसम्प्रदाय एवं कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों की परम्परागत भावना से पूर्ण साम्य रखती है। उन्होंने उपनिषदों, नाथपंथ एवं निर्गुण मतवाद के अनुसार शब्द ब्रह्म को सृष्टिकर्ता निर्दिष्ट किया है एवं नाथपंथ व कबीर की भांति उसका नाद रूप में भी प्रतिपादन किया है। निम्नांकित पंक्तियों में हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा।

तुलसी साहब का शब्द ब्रह्म सत्यपुरुष है।[८] यही सत्यपुरुष या शब्द ब्रह्म सृष्टि करता है। 'रत्नसागर' में रचना भेद' प्रकरण के अन्तर्गत तुलसी

१—श्रीमद्भगवद्गीता, ११।१८।
२—पातंजल योगसूत्र, १।२७।
३—नारदविन्दूपनिषद्, श्लोक ३०।
४—शारदातिलकतंत्र, १।१३।
५—गोरखबानी, पृ० २२५।
६—गोरखबानी, पृ० २, ५, ८, १२, ६०।
७—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२६।
८—सुन्न माहिं से शब्द जो आवै। सोई सब्द सतपुरुष कहावै।
—रत्नसागर, पृ० १५१।

साहब ने शब्द ब्रह्म से आकाश इत्यादि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति कही है।[1] 'सृष्टि क्रम' की चर्चा करते समय हमने प्रतिपादित किया है कि तुलसी साहब ने सत्यपुरुष या शब्द ब्रह्म के द्वारा सृष्टि क्रम माना है। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय और कबीर की भांति ही तुलसी साहब भी शब्द ब्रह्म को सृष्टिकर्ता मानते हैं। अन्तर इतना है कि नाथ सम्प्रदाय एवं कबीर शब्द ब्रह्म को 'ॐकार' कहते हैं और तुलसी साहब 'सत्यपुरुष' कहते है। यहां एक विरोध उपस्थित होता है। पारिभाषिक शब्दों के परिच्छेद में हमने यह कहा हैं कि 'निरंजन' का सृष्टिकर्ता स्वरूप तुलसी साहब ने प्रतिपादित किया है। अतएव सृष्टिकर्ता कौन है ? सत्यपुरुष या निरंजन ? सन्तमत के अनुसार सत्यपुरुष की आज्ञा से निरंजन ज्योति या माया के साथ मिल कर सृष्टि करता है।[2] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सत्यपुरुष सूक्ष्म सृष्टि भावना से अनुप्रेरित है एवं निरंजन ज्योति के संसर्ग से स्थूल सृष्टि करता है। पर मूल कर्ता सत्यपुरुष या शब्द ब्रह्म ही है। 'सृष्टि क्रम' में यही प्रकट एवं प्रमाणित होता है।

तुलसी साहब की रचनाओं में शब्द ब्रह्म के नाद स्वरूप का प्रतिपादन भी किया गया है। नाद ब्रह्म का वर्णन उन्होंने 'घट शब्द सुनावै'[3] 'अनहद नाद निहार के मन को ठहरावै'[4] 'गगन गिरा धुन होत है, सुनिकै लौ लावै'[5] 'साईं का सबद सुनौ री'[6] 'अनहद नाद गगनगढ़ गरजत'[7] सबद घोर अन्दर हूं पै'[8] के द्वारा किया है। अन्यत्र नाद ब्रह्म का वर्णन तुलसी साहब ने 'सदगुरु गगन गुहारा'[9] तथा 'गुरुपद गगन गुहार'[10] के रूप में किया है। वस्तुतः 'गगन गुहार' योगी की उस अवस्था को व्यक्त करता है जब समाधिस्थ होकर वह शून्य में अनाहत ध्वनि

१—शब्द तेज से भयो अकासा। जस मेघा बादल में बासा।
शादि अकास शब्द से आया। ऐसे तुमने माख सुनाया॥
—रत्नसागर, पृ० १३।

२—अनुरागसागर, पृ० ११
३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १८३।
४ वही वही , पृ० १८३।
५ वही वही , पृ० १८४।
६ वही वही , पृ० १९१।
७ शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २६४।
८ „ „ , पृ० २६८।
९—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १९२।
१० „ „ „ , पृ० १९३

श्रवण करता है। तुलसी साहब ने नाद ब्रह्म की यह भावना 'सुन्न सब्द'[1] 'सुन्न धुन्न'[2] इत्यादि के द्वारा व्यक्त की है और इसी से गगन ब्रह्म की उपलब्धि निर्दिष्ट की है।[3]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि संत तुलसी ने उपनिषदों, नाथ-योगियों एवं कबीर आदि संत कवियों की भाँति शब्द ब्रह्म को सृष्टिकर्ता माना है तथा तत्सम्बन्धी नाद ब्रह्मभावना का वर्णन भी किया है। अतएव तुलसी साहब की शब्द ब्रह्म भावना और गोरखनाथ एवं कबीर इत्यादि पूर्ववर्ती साधकों की शब्द धारणा में पूर्ण साम्य है।

परात्पर ब्रह्म

मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म के लिए 'परात्पर' शब्द का प्रयोग किया गया है[4], किन्तु परात्पर ब्रह्म भावना का सुस्पष्ट स्वरूप 'श्रीमद्भगवद्गीता में प्राप्त होता है। गीता में परमतत्व 'पुरुषोत्तम' को क्षर से परे और अक्षर उत्तम कहा गया है।[5] यहां परब्रह्म को क्षर या व्यक्त जगत से परे या 'अतीत' निर्दिष्ट किया गया है। वस्तुतः 'गीता' में व्यक्त एवं अव्यक्त से परे तथा प्रकृति एवं पुरुष से ऊपर जिस विशिष्ट तत्व की कल्पना की गई है, वही परब्रह्म है और व्यक्ताव्यक्त से परे होने के कारण परात्पर भावना से युक्त है। परात्पर ब्रह्म की यही भावना 'अवधूत-गीता' में भी व्यक्त हुई है—'अद्वैतं कैचिदिच्छन्ति चापरे समतत्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविर्वाजितम्'[6] अर्थात् कुछ लोग द्वैत को चाहते हैं कुछ अद्वैत को चाहते हैं किन्तु इन दोनों से परे द्वैताद्वैतविवर्जित समतत्व को कोई नहीं जानता। 'गोरक्षनाथ' की रचनाओं में भी भावाभाव-विनिर्मुक्त, निराकार साकार वर्जित ब्रह्म भावना के मूल में ब्रह्म का परात्परत्व ही विद्यमान् है।[7] इसका सुविस्तृत परिचय हम 'नाथ सम्प्रदाय' की ब्रह्म

१—घटरामायण द्वितीय भाग, पृ० ८०।

२— ,, ,, , पृ० ८१।

३— ,, ,, , पृ० ८०।

४—यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
मुण्डकोपनिषद्, ३।२।८।

५—यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम॥
श्रीमद्भगवद्गीता, १५।१८।

६—अवधतगीता, १।३६।

७—गोरखवानी, पृ० १, १२४, १२९।

भावना का वर्णन करते समय प्रस्तुत कर चुके हैं। ब्रह्म के परात्परत्व की इस परम्परागत भावना को ही कबीर ने 'निरगुन सरगुन से परे तहां हमारो ध्यान' 'एवं प्यंड ब्रह्माण्ड छाँडि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई'[१] के द्वारा व्यक्त किया है। संत दरियासाहब (बिहार) ने भी ब्रह्म को सगुण निर्गुण से भिन्न अर्थात् परे निर्दिष्ट किया है—ओइ सरगुन निरगुन ते मीना।[२] परात्पर ब्रह्म की यह भावना तुलसी साहब के ब्रह्म वर्णन में भी विद्यमान है। संत तुलसी का ब्रह्म निर्गुण और सगुण से परे है।[३] निः अच्छर ब्रह्म क्षर और अक्षर से भिन्न है।[४] वह ससीम और असीम के पार है।[५] संतों का प्रिय मित्र सबसे न्यारा हैं, वह लोक और काल के परें है।[६] परमपद पिंड और ब्रह्माण्ड से भिन्न है।[७] वह लोक अलोक से न्यारा है।[८] वह शून्य और शब्द से पृथक है।[९] वह नाम और रूप से न्यारा है तथा त्रैलोक एवं चातुर्थ पद से परे है।[१०] वह शून्य और महा-

---

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४९।

२—दरिया सागर, पृ० २०।

३—निरगुन सरगुन दोउ से न्यारा। भिन इनसे सतगुरु दरबारा॥

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६३।

४—छर अच्छर से भिन्न है, निहअच्छर निहनाम।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०३।

५—हद्द बेहद्द के पार परचा मिले।

वही वही, पृ० ८।

६—संतन का प्यारा न्यार न्यारा भाई। लोक और काल वहाँ नहीं पाई।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २३।

७—पिंड ब्रह्मंड से भिन्न है, सो घर पिय पद मूल।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११४।

८—अकथ अलोक लोक से न्यारा।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११५।

९—सुन्न सबद से पार पुरुष घर।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११७।

१०—वह है नाम रूप से न्यारा, तीन लोक चौथे पद पारा।

—पद्मसागर, पृ० ८।

शून्य;[1] हद और अनहद के पार है।[2] वह मुहम्मद और खुदा से न्यारा है।[3] ब्रह्म अगम निगम से भिन्न है।[4] वह वाच्य और अवाच्य से परे है।[5] ब्रह्म अलख खलक से न्यारा है।[6] परमतत्व नाम और अनाम से भिन्न है।[7]

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब ने परात्पर ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। गीता की भाँति ही उन्होंने परब्रह्म को क्षर एवं अक्षर अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त से परे कहा है तथा कबीर की भाँति उन्होंने ब्रह्म को सगुण एवं निर्गुण व पिंड एवं ब्रह्माण्ड से परे निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार तुलसी साहब की परात्पर ब्रह्म भावना परम्परागत ब्रह्म भावना का विकास ही है और उससे साम्य रखती है। किन्तु अन्य संत कवियों की अपेक्षा तुलसी साहब में परात्पर ब्रह्म भावना अधिक उत्कट है। वे परब्रह्म को जीव से परे कहने के साथ ही ब्रह्म से परे भी कहते हैं। और दूसरे स्थल पर ब्रह्म जीव एवं आत्मा से परमपद को परे निर्दिष्ट करते हैं।[8] यह उनकी अतिशयतावादी प्रवृत्ति ही है जो परम्परा से कुछ भिन्न, कुछ पृथक और कुछ अग्रसर होकर ही तुष्टि प्राप्त करती है।

१—अब अनाम एक साहिब न्यारा। सुन्न औ महासुन्न के पारा॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५९।

२—हद अनहद पारा, अगम अपारा।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २६।

३—खुद खुदाई वो मालिक प्यारा। मुहम्मद खुदा दोऊ से न्यारा॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ११२।

४—अगम निगम से भिन्न है, पंडित लखा न जाय।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५०।

५—बोल अबोल दोऊ के पारा। तहंवां तुलसी सुरति संवारा॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ७५।

६—अलख खलक दोऊ से न्यारा।
—वही वही, पृ० १४४।

७—चौथे चार पीर एक स्वामी। लखि भिनि नाम अनामी।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १२०।

८—ब्रह्म जीव के पार पुरुष इक री बसे।
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०७।

९—जीव ब्रह्म अरु आतमा, जा के परे निवास।
मन गो गुन पहुंचे नहीं, तुलसी अगम अवास॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०७।

सर्वात्म ब्रह्म

सर्वात्म ब्रह्म अथवा सर्वभूतात्मब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि 'स एष आत्मा सर्वान्तरः'[1] अर्थात् आत्मा सबके अभ्यंतर है। छान्दोग्योपनिषद् में सर्वत्र आत्मा का प्रतिपादन किया गया है।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'सर्वभूतेषु गूढ'[3] के द्वारा कहा गया है कि ब्रह्म सम्पूर्ण भूतों में स्थित हैं। कठ में कहा गया है कि 'एको सर्वभूतान्तरात्मा'[4] अर्थात् एक परब्रह्म सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है। 'श्रीमदभगवद्गीता' में भी कृष्ण ने कहा हैं कि 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः'[5] अर्थात् सब भूतों के भीतर रहने वाला आत्मा मैं हूं तथा 'भूतानामस्सि चेतना'[6] अर्थात् भूतों में चेतना या प्राण की चलन शक्ति मैं हूं। नाथ सम्प्रदाय में भी 'दृश्यते देहरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जन'[7] के द्वारा सर्वव्यापी निरंजन ब्रह्म की सर्वात्मकता प्रतिपादित की गई हैं। कबीर, दादू इत्यादि निर्गुण मार्गी साधकों ने भी ब्रह्म का सर्वभूतात्म स्वरूप अभिव्यक्त किया हैं। कबीर ने 'सब घट साहिब दीठा एवं 'एक राम देख्या सबहिन में'[8] के द्वारा समस्त स्थावर जंगम पदार्थों में ब्रह्म को विद्यमान कहा हैं। दादू ने ब्रह्म को सर्वव्यापी निर्दिष्ट किया हैं।[9] धर्मदास ने 'सब घट एकै रमता'[10] के द्वारा ब्रह्म के सर्वान्तर स्वरूप की प्रस्थापना की हैं। तुलसी साहब ने भी ब्रह्म के सर्वव्यापी रूप का वर्णन किया है एवं उसके सर्वात्म स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। तुलसी साहब का परब्रह्म समान रूप

१—वृहदारण्यकोपनिषद्, ३।४।१।

२—अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मापश्चादात्मा। पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।
—छान्दोग्योपनिषद्, ७।२५।२।

३—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।१५।

४—कठोपनिषद्, २।२।१२।

५—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।२०।

६—वही, १०।२०।

७—योगविषय, श्लोक, २७।

८—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४ एवं १०५।

९—घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर।
—दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० ३२।

१०—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७१।

सब में व्याप्त है।[1] एकरूप ब्रह्म अनेक रूपों में प्रकट हुआ है; वह जड़ चेतन प्रत्येक में विद्यमान है।[2] चेतन आत्मब्रह्म सर्वान्तर है।[3] सब जीवों में वही है।[4] एक ब्रह्म ही सब शरीरों में समाविष्ट है।[5] वह उच्च, नीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में है।[6]

तुलसी साहब की सर्वभूतात्म ब्रह्म भावना और उपनिषद् एवं निर्गुण-साधना की तत्सम्बन्धी भावना में पूर्ण साम्य है। उपनिषदों एवं निर्गुण साधकों की भाँति तुलसी साहब ने सर्वव्यापक ब्रह्म के सर्वभूतात्म रूप का वर्णन किया है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि ब्रह्म एक रूप को ही अनेक प्रकार कर लेता है- एकं रूपं बहुधा या करोति।[7] तुलसी साहब ने भी 'एक रूप सोइ भया अनेका' के द्वारा उपनिषद वर्णित ब्रह्म की सर्वव्यापी भावना व्यक्त की है। इसी प्रकार कबीर, दादू आदि निर्गुण सन्तों की भाँति ही वे एक परब्रह्म को सब शरीरों में व्याप्त निर्दिष्ट करके उसका सर्वभूतात्मब्रह्म स्वरूप प्रतिपादित करते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब की ब्रह्म भावना का सविस्तार वर्णन किया गया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब एक परब्रह्म को सर्वभूतान्तर्गत मानते हैं और उसी ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप का वर्णन निर्गुण एवं निर्विशेप रूप में करते हैं। वस्तुतः संत तुलसी की ब्रह्म भावना का

१—सबमें व्यापक ब्रह्म समाना।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८९।

२—एक रूप सोइ भया अनेका। मन अपने में करो विवेका॥
सोइ भगवान सबन के माहीं। जड़ चेतन में ठावँ ठाँई॥

—रत्नसागर, पृ० १६०।

३—चेतन आतम बरह्म सबके माही।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १८।

४—बोले सबमें सिरजन हारा॥

—रत्नसागर, पृ० १६०।

५—सब घट एक समोइ।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२९।

६—ऊंच नीच नहिं देख पेख सब एक पसारा।
नहिं बाम्हन नहिं सूद्र नहीं छत्री कोउ न्यारा॥
नहीं बंस की जाति सकल घट एक पसारा॥

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २६।

७—कठोपनिषद्, २।२।१२।

सर्वात्म ब्रह्म

सर्वात्म ब्रह्म अथवा सर्वभूतात्मब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि 'स एष आत्मा सर्वान्तरः'[1] अर्थात् आत्मा सबके अभ्यंतर है। छान्दोग्योपनिषद् में सर्वत्र आत्मा का प्रतिपादन किया गया है।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'सर्वभूतेषु गूढ'[3] के द्वारा कहा गया है कि ब्रह्म सम्पूर्ण भूतों में स्थित है। कठ में कहा गया है कि 'एको सर्वभूतान्तरात्मा'[4] अर्थात् एक परब्रह्म सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है। 'श्रीमदभगवद्गीता' में भी कृष्ण ने कहा है कि 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः'[5] अर्थात् सब भूतों के भीतर रहने वाला आत्मा मैं हूं तथा 'भूतानामस्मि चेतना'[6] अर्थात् भूतों में चेतना या प्राण की चलन शक्ति मैं हूं। नाथ सम्प्रदाय में भी 'दृश्यते देहरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जन'[7] के द्वारा सर्वव्यापी निरंजन ब्रह्म की सर्वात्मकता प्रतिपादित की गई है। कबीर, दादू इत्यादि निर्गुण मार्गी साधकों ने भी ब्रह्म का सर्वभूतात्म स्वरूप अभिव्यक्त किया है। कबीर ने 'सब घट साहिब दीठा एवं 'एक राम देख्या सबहिन में'[8] के द्वारा समस्त स्थावर जंगम पदार्थों में ब्रह्म को विद्यमान कहा है। दादू ने ब्रह्म को सर्वव्यापी निर्दिष्ट किया है।[9] धर्मदास ने 'सब घट एकै रमता'[10] के द्वारा ब्रह्म के सर्वान्तर स्वरूप की प्रस्थापना की है। तुलसी साहब ने भी ब्रह्म के सर्वव्यापी रूप का वर्णन किया है एवं उसके सर्वात्म स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। तुलसी साहब का परब्रह्म समान रूप

१—वृहदारण्यकोपनिषद्, ३।४।१।

२—अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मापश्चादात्मा।
पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।
—छान्दोग्योपनिषद्, ७।२५।२।

३—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।१५।

४—कठोपनिषद्, २।२।१२।

५—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।२०।

६—वही, १०।२०।

७—योगविषय, श्लोक, २७।

८—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४ एवं १०५।

९—घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर।
—दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० ३२।

१०—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७१।

सब में व्याप्त है।[1] एकरूप ब्रह्म अनेक रूपों में प्रकट हुआ है; वह जड़ चेतन प्रत्येक में विद्यमान है।[2] चेतन आत्मब्रह्म सर्वान्तर है।[3] सब जीवों में वही है।[4] एक ब्रह्म ही सब शरीरों में समाविष्ट है।[5] वह उच्च, नीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में है।[6]

तुलसी साहब की सर्वभूतात्म ब्रह्म भावना और उपनिषद् एवं निर्गुण-साधना की तत्सम्बन्धी भावना में पूर्ण साम्य है। उपनिषदों एवं निर्गुण साधकों की भाँति तुलसी साहब ने सर्वव्यापक ब्रह्म के सर्वभूतात्म रूप का वर्णन किया है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि ब्रह्म एक रूप को ही अनेक प्रकार कर लेता है- एकं रूपं बहुधा या करोति।[7] तुलसी साहब ने भी 'एक रूप सोइ भया अनेका' के द्वारा उपनिषद वर्णित ब्रह्म की सर्वव्यापी भावना व्यक्त की है। इसी प्रकार कबीर, दादू आदि निर्गुण सन्तों की भाँति ही वे एक परब्रह्म को सब शरीरों में व्याप्त निर्दिष्ट करके उसका सर्वभूतात्मब्रह्म स्वरूप प्रतिपादित करते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब की ब्रह्म भावना का सविस्तार वर्णन किया गया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब एक परब्रह्म को सर्वभूतान्तर्गत मानते हैं और उसी ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप का वर्णन निर्गुण एवं निर्विशेष रूप में करते हैं। वस्तुतः संत तुलसी की ब्रह्म भावना का

१—सबमें व्यापक ब्रह्म समाना।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८९

२—एक रूप सोइ भया अनेका। मन अपने में करो विवेका॥
सोइ भगवान सबन के माहीं। जड़ चेतन में ठावें ठाँई॥

—रत्नसागर, पृ० १६०।

३—चेतन आतम बरहम सबके माही।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १८।

४—बोले सबमें सिरजन हारा॥

—रत्नसागर, पृ० १६०

५—सब घट एक समोइ।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२९

६—ऊंच नीच नहिं देख पेख सब एक पसारा।
नहिं बाम्हन नहिं सूद्र नहीं छत्री कोउ न्यारा॥
नहीं वैस की जाति सकल घट एक पसारा॥

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २६

मूलाधार ब्रह्म का अव्यक्त, अचिन्त्य और अग्राह्य स्वरूप ही है जिसका वर्णन उन्होंने निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म के रूप में किया है। उपनिषदों, गीता और निर्गुण साधकों के प्रसंग में हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि ब्रह्म का अचिन्त्य, अव्यक्त एवं निरुपाधि स्वरूप ही श्रेष्ठ स्वरूप माना गया है। यही संत तुलसी का प्रतिपाद्य है। इसके अतिरिक्त नाथयोगियों की पद्धति पर तुलसी साहब ने 'गगन' 'शून्य' एवं 'शब्द' ब्रह्म का वर्णन भी किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब की ब्रह्म भावना वेदान्त और योग के आधार पर निर्धारित है। भक्ति भावना प्रकट करते समय तुलसी साहब ने ब्रह्म के लिए 'चिदानन्द'[1] 'करुणामय'[2] 'दीनदयालु'[3] इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया हैं जिससे उनका अव्यक्त ब्रह्म सगुण भावना से युक्त हो गया हैं। इस प्रकार के वर्णन गौण हैं एवं सगुण भावना को व्यक्त करते समय भी ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप से वियुक्त नहीं होते। 'अवतार' के प्रसंग में हम लक्ष्य कर चुके हैं कि संत तुलसी को ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप अमान्य है। इसलिए तुलसी साहब का मुख्य प्रतिपाद्य अव्यक्त ब्रह्म ही प्रमाणित होता है जिसका श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण निरुपाधि एवं निर्विशेष ब्रह्म भावना द्वारा व्यक्त हुआ है।

माया

सृष्टि के आदिकाल में अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्म जिस नाम-रूपात्मक सगुण शक्ति से व्यक्त अर्थात् दृश्य सृष्टि रूप सा दृष्टिगत होता है, उसी को माया कहते हैं[4]। इस प्रकार माया परब्रह्म की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह नामरूप धारण करता है। ब्रह्मचिन्तन एवं दृश्यमान् सृष्टि चिंतन के प्रसंग में परब्रह्म की सगुण शक्ति माया का स्वरुप भी मनन का विषय रहा है। ब्रह्म-विचार की भाँति ही माया-विचार का प्राचीनतम सुस्पष्ट वर्णन उपनिषदों में उपलब्ध है। अतएव सर्व प्रथम हम उपनिषदों में माया के स्वरुप का प्रतिपादन करेंगे।

१—शब्दावली, प्रथम भाग,

२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ५।

३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ६;

४—गीता रहस्य, पृ० २७४।

उपनिषदों में माया का स्वरूप

ब्रह्म एक अर्थात् अद्वय है। यही सृष्टि के निमित्त अपनी शक्ति द्वारा अनेक रूप प्रतिभासित होता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि 'इन्द्र परमेश्वर माया से अनेकरूप प्रकट होता है।'[१] इसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि परमेश्वर माया अथवा नामरूप उपाधि से अनेक रूप ज्ञात होता है, परमार्थतः अनेक रूप नहीं है।[२] अर्थात् वह प्रज्ञानघन परब्रह्म एकरूप ही होते हुए अविद्याजनित प्रज्ञाओं से अनेकरूप भासता है। ब्रह्म का यह अनेकरूप-भासत्व ही माया या अविद्या है। इसी अनेकरूप भासत्व को 'ब्रह्म का उत्पन्न होना, निर्दिष्ट करते हुए 'माण्डूक्योपनिषद्' में अन्य श्रुति-वाक्यों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'नेह नानास्ति किंचन' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते तथा 'अजायमानो वहुधा विजायते' इन श्रुति–वाक्यों के अनुसार वह परमात्मा माया से ही उत्पन्न होता है।[३] परमात्मा का माया से उत्पन्न होना ही एक का अनेक रूप में प्रतिभासित होना है। इसी को शंकराचार्य सृष्टि का अयथार्थत्व अथवा 'माया' कहते हैं।[४] यह माया एक के विरुद्ध अनेकधर्मा है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में कहा भी गया है कि 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' अर्थात् ब्रह्म की पराशक्ति नाना प्रकार की कही जाती है।[५] अतएव उपनिषदों के अनुसार अनेकत्व एवं नानात्व ही माया है।

उपनिषदों की माया स्वतन्त्र या स्वयंभू नहीं है। वह ब्रह्म की सृष्टि कार्योत्पादक अधीनस्थ शक्ति है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'[६] के द्वारा 'अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति' के रूप में ब्रह्म की आधीनस्थ शक्ति माया का वर्णन किया गया हैं। इस प्रकार माया ब्रह्म की शक्ति या नानानामरुपधारिणी क्रिया-शक्ति है। वह ब्रह्म से भिन्न या स्वतन्त्र शक्ति तत्व नहीं है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में ही कहा है कि विनाश-

---

१—इन्द्रो मायाभिः पुरुष रूप ईयते।

—बृहदारण्यकोपनिषद, २।५।१९।

२—वृहदारण्यकोपनिषद्, शांकर भाष्य, पृ० ६१३

३—नेह नानेति चाम्नायोदिन्द्रो मायाभिरित्यपि।
अजायमाना बहुधा मायया जायते तु सः॥

—माण्डूक्योपनिषद् ३।२४।

४—माण्डूक्योपनिषद्, शांकर भाष्य, पृ० १५७।

५—श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६।८।

शील प्रधान या माया को हरसंज्ञक (परमात्मा) देव नियमित करता है[1]। यहाँ भी प्रधान या माया को ब्रह्म के नियन्त्रण में रहने वाली शक्ति ही प्रतिपादित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह ब्रह्म की क्रियाशक्ति है एवं उनके आधीन रह कर ही सृष्टि कार्य करती है।

प्रारम्भ में हमने प्रतिपादित किया है कि अद्वय ब्रह्म अपनी शक्ति या माया के द्वारा अनेक रूप भासता है। एक परब्रह्म पर अनेकरुप माया का आच्छादन पड़ जाने से अद्वैत का परिहार तथा द्वैत का भास होने लगता है। अतएव द्वैत परमार्थतः नहीं है; यह मायाकृत है। 'माण्डूक्योपनिषद्' में कहा गया है कि यह द्वैत तो माया मात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है।[2] वस्तुतः परमार्थ सत् अद्वैत है, वह तिमिरदोष से प्रतीत होने वाले अनेक चन्द्रमा और सर्पधारादि भेदों से विभिन्न दृष्टिगत होने वाली रज्जु के समान माया से ही भेदयुक्त प्रतीत होता है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि आत्मा निरवयव है। इस प्रकार अज एवं अद्वय आत्मतत्व माया से ही भेद को प्राप्त होता है। इसी को 'माण्डूक्योपनिषद्' में 'मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथंचन'[3] अर्थात् इस अजन्मा, अद्वैत में माया के कारण भेद है और किसी प्रकार नहीं' के द्वारा व्यक्त किया गया है। अतएव उपनिषदों में द्वैताभास एवं भेदबुद्धि-उत्पन्नाशक्ति के रूप में भी माया का वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में उपनिषदों में प्रतिपादित माया की मुख्य विशेपताओं की चर्चा की गई। इनके अतिरिक्त माया सम्बन्धी कुछ सामान्य वर्णन भी उपनिषदों में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, प्रकृति ही माया है,[4] वह अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करती है,[5] प्रकृतिरूप माया भोक्ता जीव के निमित्त

१—क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः।
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।१०।

२—मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥
—माण्डूक्योपनिषद्, १।१७।

३—माण्डूक्योपनिषद्, ३।१९।

४—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।१०।

५— " " ४।५।

भाग्य सम्पादन करती है।[१] माया अविद्यमान वस्तु का नाम है[२] इत्यादि। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म चिन्तन से माया की निवृत्ति निर्दिष्ट है।[३]

गीता में माया का स्वरूप

'श्रीमद्भगवद्गीता' में माया का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। 'गीता' के अनुसार अविनाशी एवं अजन्मा ब्रह्म अपनी जिस शक्ति से दृश्यजगत के रूप में प्रकट हुआ-सा दृष्टिगोचर होता है, वही माया है।[४] इस शक्ति की दृश्यजगत् के रूप में स्थापना हो जाने पर ब्रह्म इससे आच्छादित हो जाता है जिससे जीव आच्छादन रूप में व्यक्त माया को ही समस्त श्रेय एवं प्रेय समझने लगता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए गीता में कहा गया है—'ब्रह्म अपनी योगमाया से आच्छादित होने के कारण सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए जीव अज एवं अव्यय ब्रह्मतत्व को नहीं जानते।[५] अतएव 'गीता' के अनुसार माया ब्रह्म की अनादि शक्ति[६] है एवं सृष्टिरूप में व्यक्त होकर वह परब्रह्म को आच्छादन कर लेती है।

'गीता' में माया को अनादि अवश्य कहा है, किन्तु उसे सांख्य की भांति स्वतन्त्र एवं स्वयंभू नहीं माना गया है। गीता में माया ब्रह्म की आधीनस्थ शक्ति है एवं उपनिषदों के मायातत्व की भाँति ब्रह्म के अधिष्ठान में ही सक्रिय होती है। स्वयं एवं स्वतन्त्र रूपेण सृष्टि की क्षमता उसमें नहीं है। इसी की पुष्टि करते हुए 'गीता' में कहा गया है कि ब्रह्म की अध्यक्षता में माया चराचर सहित सर्व-जगत् को रचती है।[७] अन्यत्र कृष्ण ने 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम

१—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।९।

२—माण्डूक्योपनिषद् ४।५८।

३—तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावा।
दभूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ।।
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।१०।

४—गीता रहस्य, पृ० २७४।

५—नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।
श्रीमद्भगवद्गीता, ७।२५।

६—प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्‌यनादी उभावपि।
श्रीमद्भगवद्गीता, १३।१९।

७—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।१०।

माया"[1] के द्वारा कहा भी है कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, वह मेरी ही माया है। वस्तुतः परब्रह्म की अध्यक्षता में उसकी शक्ति माया इस पंचभूतनिर्मित जड़-सृष्टि का सृजन करती है। इसी भाव को प्रकट करते हुए गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है और मैं उस योनि में चेतन रूप बीज का स्थापन करता हूँ। इस जड़-चेतन के संयोग से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।[2] अतएव गीता प्रतिपादित माया भी उपनिषदों की माया के अनुसार ही परब्रह्म की क्रियाशक्ति है। एवं उसके अधिष्ठान में ही कार्य-रत होती है। सांख्य की प्रकृति की भाँति वह न तो स्वयंभू है और न सृष्टि का मूल कारण।

गीता में माया को त्रिगुणात्मक कहा गया है। श्रीकृष्ण ने अनेक स्थलों पर अपनी गुणमयी अथवा त्रिगुणात्मक माया की चर्चा की है। माया के त्रिगुणात्मक होने के कारण संपूर्ण त्रिगुणात्मक पदार्थों की उत्पत्ति भी उसी के द्वारा होती है।[3] गीता में प्रकृति को गुणों के सहित निर्दिष्ट किया भी गया है—'प्रकृति च गुणैः सह'[4]। माया के त्रिगुणात्मक स्वरूप की प्रतिष्ठा के साथ 'गीता' में यह भी कहा गया है कि प्रकृति या माया से उत्पन्न सत्व गुण, रजोगुण, एवं तमोगुण नामक त्रयगुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं[5]। इसका अभिप्राय यह है, गुणात्मक माया—सत, रज एवं तम नामक तीन गुणों को उत्पन्न करके जीवात्मा को स्थूल शरीर में बांधती है। इस प्रकार माया जीवात्मा के बन्धन का कारण सिद्ध होती है। त्रिगुणजनित कर्मबन्धन में पड़ कर जीवात्मा अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-प्रबुद्ध स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है। अतएव उसकी अज्ञानावस्था का मूल कारण माया या अविद्या ही प्रमाणित होती है और इसीलिए गीता में प्रज्ञानघन ब्रह्म को पाने के निमित्त तीन गुणों

१—श्री मद् भगवद् गीता, ७।१४।

२—मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

श्रीमद्भगवद् गीता, १४।३।

३—विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान्।

श्रीमद् भगवद् गीता, १३।१९।

४—श्रीमद् भगवद् गीता, १३।२३।

५—सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
निबध्नन्ति महा बाहु देहे देहिनमव्ययम्॥

—श्रीमद् भगवद् गीता, १४।५

अथवा त्रिगुणात्मक माया को पार करना निर्दिष्ट किया गया है।[1] अन्यत्र कृष्ण ने कहा भी है कि मेरी दैवी और त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है, किन्तु मेरा भजन करने वाले इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं[2]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गीता में माया काव्य नहीं, अकाम्य है। वह जीव की बंधन रूप अविद्या है और उसका परित्याग ही परमार्थार्जन है।

'गीता' में माया का स्वरूप उपर्युक्त पंक्तियों में परिबद्ध किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि 'गीता' की माया उपनिषदों की भांति ही ब्रह्म के अधिष्ठान में सृष्ट्युत्पादक क्रिया-शक्ति हैं। इस त्रिगुणमयी जड़ सृष्टि के रूप में प्रतिभासित होकर 'माया' ब्रह्म को आच्छादित कर लेती है जिससे जीव अज्ञान कृत वन्धन में पड़ जाता है। इस बन्धन से निवृत्ति पाने के निमित्त त्रिगुणों की अधिष्ठात्री माया का उल्लंघन 'गीता' का प्रतिपाद्य है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'गीता' माया-परित्याग के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार का प्रतिपादन करती है।

सांख्य में प्रकृति की धारणा

साँख्य की 'प्रकृति' भावना साँख्यकारिका में भलीभाँति व्यक्त हुई है। प्रकृति के लिए ही सांख्य में 'प्रधान'[3] एवं 'अव्यक्त'[4] का प्रयोग किया गया है। साँख्य की प्रकृति अव्यक्त, स्वयंभू और एक ही प्रकार की है। यह 'अव्यक्त' या मूल-प्रकृति ही स्वतन्त्ररूपेण सृष्टि का कारण है—'कारणमस्त्यव्यक्तम्'[5]। साँख्यकारिका में प्रकृति से ही महत्तत्व इत्यादि की उत्पत्ति कही गई है।[6] इस प्रकार प्रकृति सृष्टि का मूल कारण है तथा अव्यक्त या अतिसूक्ष्म होने के कारण

१—गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, १४।२०।

२—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१४।

३—सांख्यकारिका, २१।

४— ,, १०।

५— ,, १६।

परोक्ष है[1], बुद्धि के द्वारा इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रकृति अनादि है वह नित्य व्यापक और निष्क्रिय है।[2] यद्यपि प्रकृति के गर्भ में रजोगुण रहने के कारण इसमें भी क्रियाशीलता है अर्थात् परिणाम होता ही रहता है किन्तु वह परिणाम साम्यावस्था के रूप में ही रहता है। वहां वैषम्य उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार क्रिया के अभिव्यक्त न होने के कारण प्रधान को निष्क्रिय कहा गया है। यह प्रधान एक और अनाश्रित है, इसका लय नहीं होता।[3] यह निरवयव यद्यपि सत्, रजस् एवं तमस् 'अवयव' प्रकृति में भी है, किन्तु ये विषमरूप में नहीं है। अतएव प्रकटरूप में प्रकृति में उनका एक प्रकार से न होना ही कहा जाता है। इसीलिए वह 'निरवयव' है।[4] प्रधान स्वतन्त्र है, क्योंकि वह नित्य[5] है। प्रकृति की इन विशेषताओं को 'साँख्यकारिका' में 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' का अंतर निर्दिष्ट करते समय स्पष्ट किया गया है।[6] साँख्यकारिका में ही व्यक्त एवं 'अव्यक्त' में समानता निर्दिष्ट करने के प्रसंग में प्रकृति को विवेकरहित, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मिणी कहा गया है।[7]

साँख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। 'सांख्यकारिका' के प्रारम्भ में कहा गया है कि सत् रज और तम, नामक तीन गुणों की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है।[8] इन गुणों की न्यूनाधिकता से विविध प्रकार के स्वभाव, सृष्टियाँ तथा अनेक कर्मजाल उत्पन्न होते हैं और ये गुण ही पुरुष को बन्धन में जकड़ते है। सत्, रज एवं तम गुण ही क्रम से प्रकाशक प्रवर्तक एवं वरणक होने से पुरुष

१—सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
—सांख्यकारिका, ८।

२—भारतीय दर्शन, पृ० २९६।

३— „ पृ० २९६।

४—भारतीय दर्शन पृ० २९६।

५— „ „ २९७।

६—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
—सांख्यकारिका, १०।

७—त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥
—सांख्यकारिका, ११।

८—सांख्यकारिका, भूमिका, पृ० ४।

के एकमात्र प्रयोजन या मोक्ष के साधन हो जाते है।[१] इस प्रकार सांख्यमत से पुरुष त्रिगुण से ही बंधता है और त्रिगुण से ही मुक्त होता है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति जीव के बन्धन का कारण भी है और मोक्ष का कारण भी। यही विषय सांख्य में इस प्रकार कहा गया है कि प्रधान का प्रयत्न पुरुष के मोक्ष के लिए है।[२] एवं पुरुष के मोक्ष के लिए अव्यक्त प्रकृति की प्रवृत्ति होती हैं।[३] प्रकृति नर्तकी के समान दृष्टा पुरुष को निजस्वरूप दिखा कर उसे उसके स्वरूप का ज्ञान करा देती है जिससे पुरुष बंधन मुक्त हो जाता है।[४] इस प्रकार सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति ज्ञानियों के मोक्ष की साधिका है।

सांख्य की प्रकृति-धारणा एवं उपनिषद् तथा गीता की माया-भावना में मौलिक अन्तर है। सांख्य की प्रकृति स्वयंभू है, उपनिषद् एवं गीता की माया का कारण ब्रह्म हैं। 'माया' ब्रह्म की क्रिया शक्ति के रूप में सृष्टि करती है, प्रकृति किसी के आधीन नहीं है। वह स्वतन्त्ररूपेण है। एवं सृष्टि का मूल कारण है। 'गीता' और 'सांख्य' की माया और प्रकृति समानरूप से त्रिगुणात्मक हैं। सांख्य की त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' पुरुष के मोक्ष सम्पादन में प्रवृत होती है, किन्तु गीता की' माया मे ऐसी कोई क्षमता निर्दिष्ट नहीं की गई हैं। वस्तुतः 'प्रकृति' स्वतन्त्र है; इसीलिए सांख्य की 'प्रकृति' में गीता एवं उपनिषदों की 'माया' की अपेक्षा अधिक क्षमतायें विद्यमान हैं।

नाथ सम्प्रदाय में शक्ति भावना

नाथ-सम्प्रदाय में भी माया-तत्व का 'शक्ति' रूप में वर्णन किया गया है। नाथ मत के अनुसार परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छा युक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। परम शिव की यह सृष्टि करने की इच्छा या 'सिसृक्षा' ही शक्ति है।[५] यह शक्ति पाँच अवस्थाओं

१—सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

—सांख्यकारिका, १३।

२—पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

—सांख्यकारिका, ५७।

३—पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥

—सांख्यकारिका, ५८।

४—सांख्यकारिका, ५९, ६१, ६४, ६५, एवं ६६।

५—नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १०३।

परोक्ष है[1], बुद्धि के द्वारा इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रकृति अनादि है वह नित्य व्यापक और निष्क्रिय है।[2] यद्यपि प्रकृति के गर्भ में रजोगुण रहने के कारण इसमें भी क्रियाशीलता है अर्थात् परिणाम होता ही रहता है किन्तु वह परिणाम साम्यावस्था के रूप में ही रहता है। वहां वैषम्य उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार क्रिया के अभिव्यक्त न होने के कारण प्रधान को निष्क्रिय कहा गया है। यह प्रधान एक और अनाश्रित है, इसका लय नहीं होता।[3] यह निरवयव यद्यपि सत्, रजस् एवं तमस् 'अवयव' प्रकृति में भी है, किन्तु ये विषमरूप में नहीं है। अतएव प्रकटरूप में प्रकृति में उनका एक प्रकार से न होना ही कहा जाता है। इसीलिए वह 'निरवयव' है।[4] प्रधान स्वतन्त्र है, क्योंकि वह नित्य[5] है। प्रकृति की इन विशेपताओं को 'साँख्यकारिका' में 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' का अंतर निर्दिष्ट करते समय स्पष्ट किया गया है।[6] साँख्यकारिका में ही व्यक्त एवं 'अव्यक्त' में समानता निर्दिष्ट करने के प्रसंग में प्रकृति को विवेकरहित, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मिणी कहा गया है।[7]

साँख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। 'सांख्यकारिका' के प्रारम्भ में कहा गया है कि सत् रज और तम, नामक तीन गुणों की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है।[8] इन गुणों की न्यूनाधिकता से विविध प्रकार के स्वभाव, सृष्टियाँ तथा अनेक कर्मजाल उत्पन्न होते हैं और ये गुण ही पुरुप को बन्धन में जकड़ते है। सत्, रज एवं तम गुण ही क्रम से प्रकाशक प्रवर्तक एवं वरणक होने से पुरुष

१—सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
—सांख्यकारिका, ८।

२—भारतीय दर्शन, पृ० २९६।

३— „ पृ० २९६।

४—भारतीय दर्शन पृ० २९६।

५— „ „ २९७।

६—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
—सांख्यकारिका, १०।

७—त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥
—सांख्यकारिका, ११।

८—सांख्यकारिका, भूमिका, पृ० ४।

उदाहरणार्थ—माया नानारूप में अनेक प्रकार दृष्टिगत होती है[1], वह सर्पिणी है और उसने त्रिभुवन को डस रखा है।[2] वह स्त्री रूप है और इस रूप में उसने देवताओं को छला है।[3] इन उद्‌गारों का अभिप्राय यह है कि अनेक रूप सम्पन्न शक्ति या माया परमार्थ में बाधक हैं। ज्ञानी उसके यथारूप को समझ कर उससे विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार शक्ति रूप माया की स्थूल क्रिया का नाथ-सम्प्रदाय में प्रत्याख्यान किया गया है।

निर्गुण-काव्य में माया का स्वरुप

निर्गुण-काव्य में 'माया' का वर्णन ब्रह्म की अधीनस्थ शक्ति के रूप में किया गया है। ब्रह्म की सृष्टि सम्बन्धी धारणा को व्यक्त करते हुये कबीर ने कहा है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म ने त्रिगुणात्मक माया का विस्तार करके उसके आवरण में स्वयं को छिपा रखा है।[4] इससे यह प्रमाणित होता है कि मूल-कर्ता ब्रह्म है, माया उसके अधीनस्थ शक्ति हैं। इसी दृष्टि से संत-काव्य में 'तू माया रघुनाथ की खेलण चली अहेड़ै'[5] 'राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।[6] 'रजगुण, तमगुण कहियै इह तेरी सब माया'[7] कहा गया है। इससे माया भगवान् की शक्ति सिद्ध होती है। वस्तुतः माया और मायी का नित्य सम्बन्ध है। वे एक दूसरे से पृथक नहीं है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए संत धर्मदास ने कहा है कि सृष्टि तो माया और ब्रह्म का समान विलास है। गुणातीत अखंड परब्रह्म ने अपनी इच्छा, आनन्द अथवा लीला के प्रयोजन

१—गोरखबानी, पृ० १३७।

२— " " १३९।

३— " " १३९।

४—सत रज तम मैं कीन्ही माया। चारि खानि विस्तार उपाया॥
सत रज तम थैं कीन्ही माया। आपन मांझै आप छिपाया॥
तैं तौ जाहि अनन्द सरूपा। गुन पल्लव विस्तार अनूपा॥
—कबीर ग्रंथावली, पृ० २२५ एवं २२८।

५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५१।

६— " पृ० १५२।

७— " पृ० २७२।

से शक्तिरूपा माया को प्रकट किया है।[1] मूलरूप माया ब्रह्म की शक्ति है, किन्तु स्थूल-सृष्टि रूप में वह ब्रह्म पर सृष्टि का मायिक आवरण डाल देती है। इससे मूल तत्व छिप जाता है और यह प्रतिभासित होने लगता है कि माया ही सब कुछ है। इस प्रकार जीवात्मा माया के पाश में वंध कर ब्रह्म को विस्मृत कर बैठता है। कबीर ने कहा है कि जीव तो माया में विस्मृत है, वह उसके पति अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान नहीं रखता।[2] माया की ब्रह्माच्छादन प्रवृत्ति या अध्यारोप के कारण ही कबीर ने उसे पद्मिनी कहा है क्योंकि नानारूपात्मक दृश्यसृष्टि के आकर्षणों से बाँध कर वह जीव को ब्रह्मोन्मुख नहीं होने देती है।[3] दरिया साहब ने भी माया का खण्डन करते समय यही कहा है कि नानानाम-रूपात्मक माया के जाल में फंस कर जीव ब्रह्म को विस्तृत कर बैठा है।'[4]

गीता 'सांख्य' एवं नाथ-सम्प्रदाय की माया की भांति संतमत की माया भी त्रिगुणात्मक है। कबीर ने 'सत्, रज, तम से कीन्हीं माया'[5] 'रजगुण सतगण तमगुण कहिये ये सब तेरी माया'[6] इत्यादि के द्वारा माया को त्रिगुणात्मक कहा है। 'ज्ञान दीप' में दरिया साहब ने भी माया को त्रिगुणात्मक बताया है[7]। माया ने त्रिगुणरूप ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश को उत्पन्न किया है।[8] दरियासाहब

१—जग ये दोउ खेलत होरी।
माया ब्रह्म बिलास करत हैं, एक से एक बरजोरी।
निरगुन रूप अयान अखंडित, जा में गुन बिसरोरी।
माया सक्ति अनंद कियो है, सबहिं में अगर भरोरी।
—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ६१।

२—तैं जो माया मोह भुलाना, खसम राम को किनहु न जाना॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२८।

३—कबीर माया पापणी हरि सूं करे हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की कहन न देई राम॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२।

४—अनन्त राम सकल बौराना। माया फंद सब रहे भुलाना॥
—दरियासागर, पृ० २।

५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२८

६— ,, पृ० २७२

७—संत कवि दरिया, पृ० ११९

८—रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर सत गुन हरि है सोई।
—[illegible]

मिथ्या है। स्त्री रूप में वह बाघिनी है,[1] क्योंकि पुरुष की शक्ति नष्ट करके उसे कालाधीन करती है। वह निर्दय है,[2] देखने में आकर्षक है, किन्तु सारहीन है।[3] माया नश्वर है।[4] स्वाद में मीठी है पर प्रभाव में काल है।[5] माया ही कर्म मर्म[6] एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, और तृष्णा है।[7] कबीर ने उसे डाइन कहा है,[8] पिशाचिनी, डाकिनी, एवं पापिनी कहा है।[9] वस्तुतः माया दुःख रूपा है। सन्तों की दृष्टि में वह त्याज्य है।

तुलसी साहब का माया—वर्णन

तुलसी साहब की माया सम्बन्धी धारणा परम्परागत ही है। उन्होंने माया की प्रायः वे विशेषतायें ही वर्णित की हैं जिनका उल्लेख पूर्व-पृष्ठों में किया जा चुका है। संतमत की साम्प्रदायिक विचाराधारा का प्रभाव पड़ने के कारण उन्होंने माया के लिए 'ज्योति'[10] 'इच्छा'[11] 'गायत्री,'[12] इत्यादि संज्ञाओं का प्रयोग किया है और उसे निरंजन की पत्नी बताया है।[13] किन्तु इससे माया की परम्परागत धारणा में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता है। निम्न-लिखित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

माया और ब्रह्म

उपनिषदों में माया ब्रह्म की परा-शक्ति है।[14] गीता में भी माया ब्रह्म

१—कबीर ग्रन्थावली पृ० १९२।
२—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४६।
३— „ पृ ८२।
४— „ , पृ० ८२।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६६।
६—दरियासागर, पृ० २६।
७—दरिया साहब की शब्दावली, पृ ४३।
८—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९८।
९— „ , पृ० ३२।
१०—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १०४।
११—रत्नसागर, पृ० ३२।
१२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७३।
१३— „ प्रथम भाग, पृ० १००।
१४—श्वेताश्वेतरोपनिषद्, ६।८।

की शक्ति है तथा अपनी माया से परमेश्वर व्यक्त होता है।[1] नाथ सम्प्रदाय में शक्ति को सनातन शिव की 'सिसृक्षा' कहा गया है।[2] अस्तु, उक्त सम्प्रदाय में भी माया ब्रह्म की क्रियाशक्ति है। निर्गुण काव्य के प्रवर्तक कबीर ने भी माया को ब्रह्म की आधीनस्थ शक्ति कहा है।[3] तुलसी साहब की माया भी ब्रह्म प्रादुर्भूत है। संत तुलसी ने कहा है कि आदि पुरुष ब्रह्म से निरंजन की माया उत्पन्न हुई है।

'प्रथम पुरुष विदेह बिन काया। जा से भई निरंजन माया ॥[4]

यहाँ माया को ब्रह्मकृत कहने के साथ निरंजन की माया इसलिए कहा गया है कि साम्प्रदायिक संतमत की सृष्टि-भावना के अनुसार ब्रह्म या सत्यपुरुष से उत्पन्न होकर वह स्थूल सृष्टि निरंजन के साथ करती है।

अन्यत्र तुलसी साहब ने कहा है कि ब्रह्म का तेज ही ज्योति रूप में प्रकट हुआ है और यही माया है—

ज्योति सरूप तेज उपजाया। यो जग माँहि प्रकट भई माया ॥[5]

वस्तुतः निराकार ब्रह्म ने सृष्टि की 'सिसृक्षा' या इच्छा से आकार धारण किया। यही इच्छारूप आकार माया है।

निराकार आकार समाया। इच्छा रूप भई इक माया ॥[6]

माया का यह वर्णन सिद्ध करता है कि वह ब्रह्म की ज्योति, तेज अथवा शक्ति है तथा उसकी सृष्टि रूप में स्थूल परिणति ही 'माया' है तुलसी साहब ने माया या ज्योति को ब्रह्मकृत प्रतिपादित करने के लिए ही पुनः पुनः कहा है कि 'पुरुष के अंश से ज्योति भई'[7] 'जोती तेज पुरुष से आई'[8] 'गुरू अंश से

१—श्रीमद्भगवद्गीता, ४।६।

२—नाथ-सम्प्रदाय पृ० १०४।

३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १५२।

४—रत्नसागर, पृ० २।

५— ,, पृ० १५८।

६— ,, पृ० ३।

७—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १००।

८— ,, ,, पृ० १३७।

जोती आई"[1] 'नर से निकली एक नारी। कोई बूझौ साध विचारी'[2]। इससे यह प्रकट होता है कि तुलसी साहब माया को ब्रह्म प्रादुर्भूत तो मानते हैं, किन्तु उसे परमपुरुष के परमऐश्वर्य का अंशमात्र निर्दिष्ट करते हैं।

इस प्रकार तुलसी साहब की माया ब्रह्मक्त ब्रह्मशक्ति है, किन्तु वह सृष्टि निरंजन के साथ संयुक्त होकर करती है। वस्तुतः स्थूल सृष्टि से सत्य-पुरुष या ब्रह्म को निर्लिप्त रखने के लिए तुलसी साहब ने शैवतन्त्रों की सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार सगुण ब्रह्म के स्थूल-सृष्टि-कर्ता-रूप को 'निरंजन' के द्वारा व्यक्त किया है और उसी के साथ ज्योति या माया को स्थूल एवं व्यक्त सृष्टि का कारण बताया है। इस सम्बन्ध में 'सृष्टि-क्रम' प्रकरण अध्येय है।

माया और मन

माया और मन का घनिष्ट सम्बन्ध है। कबीर ने मन को माया का निवास-स्थान बतलाया है। 'इक डाइन मेरे मन बसै। नित उठ मेरे जिय को डसै'[3] के द्वारा उन्होंने मन को माया का अवस्थान कहा है। कबीर ने यह भी कहा है कि शरीर के नष्ट होने पर भी माया और मन का नाश नहीं होता — 'माया मुई न मन मुआ मरि मरि गया शरीर।'[4] वस्तुतः माया और मन दोनों ही जीव के बन्धन के कारण हैं और इसीलिए इनका सम्बन्ध परस्पर घनिष्ट हैं। बिहार के संत दरिया साहब ने भी माया और मन का सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित किया हैं। दरिया साहब के अनुसार सृष्टि निर्माण कार्य में माया नारी-शक्ति की प्रतीक है एवं मन पुरुष का प्रतीक है।[5] इन दोनों के समागम से ही सृष्टि होती है। तुलसी साहब ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि निरंजन या मन पुरुष है तथा इच्छा या ज्योतिरूप माया नारी है -

(क) मनहिं निरंजन पुरुष बखानी। इच्छा जोति नारि कहानी[6]॥

(ख) पुरुष निरंजन मन भया, इच्छा नारि विचार।[7]

अन्यत्र उन्होंने प्रतिपादित किया है कि मन और माया अर्थात् पुरुष और स्त्री ने मिल कर सृष्टि की है।

१—घटरामायण द्वितीय भाग, पृ० १५७।

२— „ „ पृ० १७२।

३—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६८।

४— „ १३७।

५—संत कवि दरिया, पृ० ११७।

६—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७१।

७— „ „ पृ० १७१।

इच्छा नारि पुरुष मन मानी । पुरुष नारि अस द्वै उतपानी[1] ॥

इसी तथ्य को उन्होंने 'रत्नसागर' में भी 'इच्छा मन मिलि त्रिस्त्र बनाया'[2], 'पाँच तत्व मन माया भाई । ता से रचि वैराट बनाई'[3] 'द्वैत भाव भई मन माया'[4] इत्यादि के द्वारा व्यक्त किया है। वस्तुतः मन और माया की पुरुष स्त्री-धारणा के पीछे सन्तों की वह साम्प्रदायिक विचार-धारा विद्यमान है जिसके अनुसार पुरुष निरंजन और उसकी स्त्री ज्योति अथवा माया के संसर्ग से सृष्टि विस्तार हुआ[5] और ज्योति-निरंजन या माया और मन-कृत नामरूपात्मक स्थूल सृष्टि के द्वारा 'नित्यत्व' पर आवरण पड़ गया ।[6] इस प्रकार कबीर की भांति तुलसी साहब भी माया और मन का घनिष्ट सम्बन्ध मानते हैं तथा दरिया साहब की भांति उनको नारी और पुरुष शक्ति का प्रतीक मान कर उनके द्वारा सृष्टिकार्य विनिर्मित कहते हैं ।

रत्नसागर' में माया और मन को जीवात्मा के बंधन का कारण निर्दिष्ट किया गया है। उसमें कहा गया है कि कलवाररूपी मन मदिरा बनाता है। उसके पान से (जीव) को दुःख ही प्राप्त होता है। कलवार रूपी मन (कर्म) की भट्ठी चढ़ाता है और कलवारिन माया सबको आसक्ति रूपी मदिरा पिला पिला कर छकाती है। ये दोनों विषय रस के विषम विकारों को दिन-रात उत्पन्न करते हैं[7] अर्थात् इनके कारण ही विषयों में आसक्ति और तत्प्रसूत-विकार उत्पन्न होते हैं, जिनसे कभी निस्तार नहीं मिलता ।

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७० ।

२—रत्नसागर, पृ० ३ ।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९७ ।

४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२८ ।

५—जोति निरंजन की है नारी । दोनों मिलि कीन्हा विस्तारी ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५७ ।

६—निरंकाल जोति ने भाई । वाह गुरू की राह छिपाई ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५७ ।

७—मदिरा को कलवार बनावे । पीवे दाम देइ दुख पावे ॥
मन भट्ठी कलवार चढ़ावे । कलवारिन पी पीव छकावें ॥
मन हैं मुकर कलार, कलवारिन इच्छा भई ॥
विष रस विषम विकार, रात दिवस करते रहें ॥
— रत्नसागर, पृ० ३२ ।

माया और कर्म

ब्रह्म की आच्छादन शक्ति माया को उपनिषदों में नानारूप कहा गया[1] है। यह नानात्वधर्मी मायाशक्ति नाम, रूप और कर्म का समुदाय है 'त्रयं वा इदं नाम रूप कर्म।'[2] इस प्रकार माया में कर्म का समावेश है। तिलक के मतानुसार माया और कर्म दोनों समानार्थक हैं।[3] सूक्ष्मस्वरूप भेद होने पर भी तात्विक दृष्टि से यह ठीक ही है, क्योंकि सृष्टि या माया के साथ कर्म सनातन है,[4] एवं माया और कर्म दोनों ही जीव-बन्धन के कारण हैं। तुलसी साहब ने भी माया और कर्म का सम्बन्ध व्यक्त किया है। उन्होंने कर्म को माया का व्यापार कहा है। माया जीव से कर्म कराती है और इस प्रकार कर्म रूपी अग्नि प्रज्वलित कर देती है जिसमें जीव दग्ध हो उठता है।[5] एक अन्य स्थल पर तुलसीसाहब ने कहा है कि माया का विस्तार 'कर्म भोग अनुराग' अर्थात् कर्म-व्यापार द्वारा होता है।

करम भोग अनुराग में, माया का विस्तार।[6]

माया ही कर्म-व्यापार द्वारा जीव के भाल की रेखायें निर्धारित करती है--

काहु को माया मरोर करावत,
काहु को करतब करि करम लिखावत भाल।[7]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब के मतानुसार माया का व्यापार कर्म है एवं कर्ममायाबन्धन हैं। माया और कर्म के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के

१—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।८

२—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।६।१

३—गीता रहस्य, पृ० २७४।

४—तब तुलसी बोले यहि भांती। रचना के संग कर्म सनाती॥
—रत्नसागर, पृ० १६।

५—हिरदे करम कराय कै, देत पलीता वार।
अन्दर आगि लगाय ज्यों, दगन करे तन झाड़॥
—रत्नसागर, पृ० ४४।

६—रत्नसागर, पृ० ९२।

७—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २५९।

कारण ही तुलसी साहब ने माया को 'कर्म कुटनी' कहा है[१]। इस प्रसंग के प्रारम्भ में हम कह चुके हैं कि बृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार कर्म माया से अविच्छेद्य है। तुलसी साहब ने भी कर्म को माया का व्यापार विज्ञापित करके दोनों का परम्परागत सुदृढ़ सम्बन्ध ही प्रकट किया है।

त्रिगुणात्मक माया

'श्रीमद् भगवद् गीता' में भगवान की 'योगमाया' त्रिगुणात्मक कही गई है।[२] सांख्य में भी 'प्रकृति' 'त्रिगुणात्मक' है।[३] 'नाथ-सम्प्रदाय' में 'शक्ति' 'त्रिगुणात्मक होने के साथ ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में सत्, रज एवं तम नामक त्रिगुण प्रसव करती है।[४] शंकराचार्य ने भी 'विवेकचूडामणि' में 'आद्य-विद्या त्रिगुणात्मिका कहा है।[५] कबीर ने अनेक बार माया को त्रिगुणात्मक बतलाया है[६]। संत तुलसी की माया भी त्रिगुणमयी है। उसने सत, रज और तम के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्वारा 'सघन' या स्थूल-सृष्टि की है...

रजोगुण ब्रह्मा, सतो कहुं विस्नु, कियो तम शंकर साज घनेरो[७]।

अन्यत्र भी तुलसी साहब ने 'लख्य रहा गुन तीन गहा[८]' एवं 'गुन तीन में लख्य कहाई[९]' के द्वारा त्रिगुणात्मक माया की व्यक्त एवं स्थूल अभिव्यक्ति की चर्चा की है।

माया त्रिगुणात्मक है। वह त्रिगुण-प्रसवा भी है। नाथ-सम्प्रदाय की माया सम्बन्धी भावना के पूर्ण साम्य में तुलसी साहब ने माया को त्रिगुण के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की जननी कहा है......

१—रत्नसागर, पृ० ९० ।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, १४।१४

३—सांख्यकारिका, भूमिका ।

४—गोरखबानी, पृ० ९२–९३ ।

५—विवेक चूडामणि श्लोक ११० ।

६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२८, २७२, १९२ ।

७—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १२३ ।

८— „ „ पृ० १२३ ।

माया और कर्म

ब्रह्म की आच्छादन शक्ति माया को उपनिषदों में नानारूप कहा गया[1] है। यह नानात्वधर्मी मायाशक्ति नाम, रूप और कर्म का समुदाय है 'त्रयं वा इदं नाम रूप कर्म।[2] इस प्रकार माया में कर्म का समावेश है। तिलक के मतानुसार माया और कर्म दोनों समानार्थक हैं।[3] सूक्ष्मस्वरूप भेद होने पर भी तात्विक दृष्टि से यह ठीक ही है, क्योंकि सृष्टि या माया के साथ कर्म सनातन है,[4] एवं माया और कर्म दोनों ही जीव-बन्धन के कारण हैं। तुलसी साहब ने भी माया और कर्म का सम्बन्ध व्यक्त किया है। उन्होंने कर्म को माया का व्यापार कहा है। माया जीव से कर्म कराती है और इस प्रकार कर्म रूपी अग्नि प्रज्वलित कर देती है जिसमें जीव दग्ध हो उठता है।[5] एक अन्य स्थल पर तुलसीसाहब ने कहा है कि माया का विस्तार 'कर्म भोग अनुराग' अर्थात् कर्म-व्यापार द्वारा होता है।

करम भोग अनुराग में, माया का विस्तार।[6]

माया ही कर्म–व्यापार द्वारा जीव के भाल की रेखायें निर्धारित करती है—

काहु को माया मरोर करावत,
काहु को करतब करि करम लिखावत भाल।[7]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब के मतानुसार माया का व्यापार कर्म है एवं कर्ममायाबन्धन हैं। माया और कर्म के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के

१—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।८

२—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।६।१

३—गीता रहस्य, पृ० २७४।

४—तब तुलसी बोले यहि भांती। रचना के संग कर्म सनाती॥
—रत्नसागर, पृ० १६।

५—हिरदे करम कराय कै, देत पलीता वार।
अन्दर आगि लगाय ज्यों, दगन करे तन झार॥
—रत्नसागर, पृ० ४४।

६—रत्नसागर, पृ० ९२।

७—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २५९।

कारण ही तुलसी साहब ने माया को 'कर्म कुटनी' कहा है[1]। इस प्रसंग के प्रारम्भ में हम कह चुके हैं कि वृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार कर्म माया से अविच्छेद्य है। तुलसी साहब ने भी कर्म को माया का व्यापार विज्ञापित करके दोनों का परम्परागत सुदृढ़ सम्बन्ध ही प्रकट किया है।

त्रिगुणात्मक माया

'श्रीमद् भगवद् गीता' में भगवान की 'योगमाया' त्रिगुणात्मक कही गई है।[2] सांख्य में भी 'प्रकृति' 'त्रिगुणात्मक' है।[3] 'नाथ-सम्प्रदाय' में 'शक्ति' 'त्रिगुणात्मक होने के साथ ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में सत्, रज एवं तम नामक त्रिगुण प्रसव करती है।[4] शंकराचार्य ने भी 'विवेकचूड़ामणि' में 'आद्य-विद्या त्रिगुणात्मिका कहा है।[5] कबीर ने अनेक बार माया को त्रिगुणात्मक बतलाया है[6]। संत तुलसी की माया भी त्रिगुणमयी हैं। उसने सत, रज और तम के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्वारा 'सघन' या स्थूल-सृष्टि की है...

रजोगुण ब्रह्मा, सतो कहुं विस्नु, कियो तम शंकर साज घनेरो[7]।

अन्यत्र भी तुलसी साहब ने 'लख्य रहा गुन तीन गहा[8]' एवं 'गुन तीन में लख्य कहाई[9]' के द्वारा त्रिगुणात्मक माया की व्यक्त एवं स्थूल अभिव्यक्ति की चर्चा की है।

माया त्रिगुणात्मक है। वह त्रिगुण-प्रसवा भी है। नाथ-सम्प्रदाय की माया सम्बन्धी भावना के पूर्ण साम्य में तुलसी साहब ने माया को त्रिगुण के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की जननी कहा है......

१—रत्नसागर, पृ० ९० ।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, १४।४

३—सांख्यकारिका, भूमिका ।

४—गोरखबानी, पृ० ९२—९३ ।

५—विवेक चूड़ामणि श्लोक ११० ।

६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२८, २७२, १।२ ।

७—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १२३ ।

८— " " पृ० १२३ ।

ब्रह्मा कियो बनाइ रजोगुण ता को जानी ।
तम शंकर सत बिस्नु कियो तीनो उतपानी[1] ॥

माया अपनी त्रिगुण-शक्ति के द्वारा जीवन को निज पाश में बाँधती है। संत तुलसी ने त्रिगुण बंधन में पड़े जीव के भवताप का वर्णन प्रायः किया है। उन्होंने कहा है कि इच्छा, गायत्री या माया के त्रिगुण में बँधकर जीव परमार्थ पथ से वियुक्त हो गया......

गयउ जीव तिरगुन के माहीं। इच्छा नारि गायत्री गाई।[2]

इसी विषय को उन्होंने 'तीनों गुन बाट में घेरो[3] अर्थात् त्रिगुण या माया के द्वारा पथ में ही जीव के बन्धन की चर्चा द्वारा व्यक्त किया है। इस प्रकार तुलसी साहब की त्रिगुणात्मक माया कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों की माया की भाँति ही 'अविद्या' है। जीव को बन्धन में रखती है।

माया बेलि

नाथ-सम्प्रदाय में माया का वेली रूप में वर्णन किया गया है।[4] कबीर ने भी अपनी साखियों में 'माया बेलि' का वर्णन किया है।[5] बिहार के दरिया साहब ने माया को एक विषैली बेल कहा हैं।[6] संत तुलसी ने भी बेल रूप में माया का प्रतिपादन किया है। उन्होंने कहा है कि ब्रह्म की अभिव्यक्ति इच्छा बेल (माया) के रूप में प्रकट हुई है। यह बेल अव्यक्त है, इसकी जड़ें नहीं हैं, पत्तियाँ और शाखायें भी नहीं हैं। तथापि त्रिभुवन के रूप में इसका फल पका है। यह सघन रूप में चतुर्दिक फैल गई हैं और इसने अपनी अव्यक्त शाखा प्रशाखा में त्रिलोक को बाँध रखा हैं, अर्थात् त्रैलोक्य की रचना इसी ने की है। समस्त ब्रह्माण्ड इसी का प्रसार हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दश अवतार, शेष और वेद इस लता के मूल को नहीं जानते। इस वेली के मूल का रहस्य अभेद एवं अकाय ब्रह्म हैं अर्थात् ब्रह्म इसका मूल हैं। बेल रूप माया के इस वर्णन में तुलसी साहब ने इसे दरिया साहब की भाँति विषैली लता इत्यादि न कह कर, माया के तात्विक स्वरूप का प्रतिपादन किया हैं। इसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया हैं

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३१।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७३।
३— ,, ,, पृ० १२३।
४—गोरखबानी, पृ० ११८-११९।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६।
६—संत कवि दरिया, पृ० ११७।

कि माया ब्रह्म-प्रादुर्भूत है, यह अभेद अकाय ब्रह्म की अभिव्यक्ति है।[1] मूल रूप में यह पत्र-शाखा हीन अर्थात् अव्यक्त है। समस्त दृश्यमान सृष्टि उसी का प्रसार है अर्थात् उसी से यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। 'विवेक चूड़ामणि' में मायानिरूपण करते समय शंकराचार्य ने भी माया को ब्रह्म की शक्ति, अव्यक्त स्वरूपा, एवं जगत्-जननी कहा है।[2] इस प्रकार तुलसी साहब की माया-भावना और शंकराचार्य की माया-धारणा में पूर्ण साम्य है।

माया की असीम प्रभुता

नाथ सम्प्रदाय में माया का प्रभुत्व प्रस्थापित करते हुए कहा गया है कि माया त्रैलोक्य अधिकारिणी है।[3] कबीर ने माया की प्रभुता का वर्णन करते हुए कहा है कि वह सर्वव्यापी है, उसे 'कोई नष्ट नहीं कर सका' है।[4] दरिया-साहब ने माया को अनन्त, अपार एवं दिग्-दिगंत-व्यापी कहा है और चराचर को उसके प्रभावाधीन दिखाया है।[5] तुलसी साहब ने भी माया की असीम प्रभुता का वर्णन किया है। तुलसी साहब की माया 'त्रिभुवन पटरानी' है[6]। वह

१—बेली एक सिंध तजि आई। कंवल कूप किया वासा जी ॥
जड़ नहिं पेड़ पात नहिं साखा। भवन तीन फल पाका जी ॥
बेली बेल फैल घन छाई। तीन लोक लिपटाई जी ॥
अंड ब्रह्मंड खंड जग सारा। वाही को सकल पसारा जी ॥
ब्रह्मा विस्नु वेद और सेसा। दस औतार महेसा जी ॥
बेली फूल मूल नहिं पावें। खोजि खोजि पछताई जी ॥
वाका भेद अभेद अकाया। संत बूझ जिन पाया जी ॥
तुलसीदास बेलिग लखि पाई। भव जप जाल नसाई जी ॥
—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० ०० ।

२—अव्यक्त नाम्नी परमेशशक्ति—
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ०

३—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ६८ ।
४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६६ ।
५—संत कवि दरिया, पृ०११८-११९।
६—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २४३।

ब्रह्मा कियो बनाइ रजोगुण ता को जानी ।
तम शंकर सत विस्नु कियो तीनो उतपानी[1] ॥

माया अपनी त्रिगुण-शक्ति के द्वारा जीवन को निज पाश में बाँधती है । संत तुलसी ने त्रिगुण बंधन में पड़े जीव के भवताप का वर्णन प्रायः किया है । उन्होंने कहा है कि इच्छा, गायत्री या माया के त्रिगुण में बँधकर जीव परमार्थ पथ से वियुक्त हो गया......

गयउ जीव तिरगुन के माहीं । इच्छा नारि गायत्री गाई ।[2]

इसी विषय को उन्होंने 'तीनों गुन वाट में घेरो[3] अर्थात् त्रिगुण या माया के द्वारा पथ में ही जीव के बन्धन की चर्चा द्वारा व्यक्त किया है । इस प्रकार तुलसी साहब की त्रिगुणात्मक माया कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों की माया की भाँति ही 'अविद्या' है । जीव को बन्धन में रखती है ।

माया बेलि

नाथ-सम्प्रदाय में माया का बेली रूप में वर्णन किया गया है ।[4] कबीर ने भी अपनी साखियों में 'माया बेलि' का वर्णन किया है ।[5] बिहार के दरिया साहब ने माया को एक विषैली बेल कहा हैं ।[6] संत तुलसी ने भी बेल रूप में माया का प्रतिपादन किया है । उन्होंने कहा है कि ब्रह्म की अभिव्यक्ति इच्छा बेल (माया) के रूप में प्रकट हुई है । यह बेल अव्यक्त है, इसकी जड़ें नहीं हैं, पंक्तियाँ और शाखायें भी नहीं हैं । तथापि त्रिभुवन के रूप में इसका फल पका है । यह सघन रूप में चतुर्दिक फैल गई हैं और इसने अपनी अव्यक्त शाखा प्रशाखा में त्रिलोक को बाँध रखा है, अर्थात् त्रैलोक्य की रचना इसी ने की है । समस्त ब्रह्माण्ड इसी का प्रसार हैं । ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दश अवतार, शेष और वेद इस लता के मल को नहीं जानते । इस बेली के मूल का रहस्य अभेद एवं अकाय ब्रह्म हैं अर्थात् ब्रह्म इसका मूल है । बेल रूप माया के इस वर्णन में तुलसी साहब ने इसे दरिया साहब की भाँति विषैली लता इत्यादि न कह कर, माया के तात्विक स्वरूप का प्रतिपादन किया है । इसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया हैं

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३१ ।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७३ ।
३— ,, ,, पृ० १२३ ।
४—गोरखबानी, पृ० ११८-११९ ।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६ ।
६—संत कवि दरिया, पृ० ११७ ।

कि माया ब्रह्म-प्रादुर्भूत है, यह अभेद अकाय ब्रह्म की अभिव्यक्ति है।[१] मूल रूप में यह पत्र-शाखा हीन अर्थात् अव्यक्त हैं। समस्त दृश्यमान सृष्टि उसी का प्रसार है अर्थात् उसी से यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। 'विवेक चूड़ामणि' में मायानिरूपण करते समय शंकराचार्य ने भी माया को ब्रह्म की शक्ति, अव्यक्त स्वरूपा, एवं जगत्-जननी कहा है।[२] इस प्रकार तुलसी साहब की माया-भावना और शंकराचार्य की माया-धारणा में पूर्ण साम्य है।

माया की असीम प्रभुता

नाथ सम्प्रदाय में माया का प्रभुत्व प्रस्थापित करते हुए कहा गया है कि माया त्रैलोक्य अधिकारिणी है।[३] कबीर ने माया की प्रभुता का वर्णन करते हुए कहा है कि वह सर्वव्यापी है, उसे 'कोई नष्ट नहीं कर सका है।[४] दरिया-साहब ने माया को अनन्त, अपार एवं दिग्-दिगंत-व्यापी कहा है और चराचर को उसके प्रभावाधीन दिखाया है।[५] तुलसी साहब ने भी माया की असीम प्रभुता का वर्णन किया है। तुलसी साहब की माया 'त्रिभुवन पटरानी' है[६]। वह

१—बेली एक सिंध तजि आई। कंवल कूप किया वासा जी ॥
जड़ नहिं पेड़ पात नहिं साखा। भवन तीन फल पाका जी ॥
बेली बेल फैल घन छाई। तीन लोक लिपटाई जी ॥
अंड ब्रह्मंड खंड जग सारा। वाही को सकल पसारा जी ॥
ब्रह्मा विस्नु वेद और सेसा। दस औतार महेसा जी ॥
बेली फूल मूल नहिं पावैं। खोजि खोजि पछताई जी ॥
वाका भेद अभेद अकाया। संत बूझ जिन पाया जी ॥
तुलसीदास बेलिग लखि पाई। भव जप जाल नसाई जी ॥
—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० ०० ।

२—अव्यक्त नाम्नी परमेशशक्ति—
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ०

३—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ६८ ।

४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६६ ।

५—संत कवि दरिया, पृ० ११८-११९।

६—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २४३।

ब्रह्मा कियो बनाइ रजोगुण ता को जानी।
तम शंकर सत विस्नु कियो तीनो उतपानी[1] ॥

माया अपनी त्रिगुण-शक्ति के द्वारा जीवन को निज पाश में बाँधती ह। संत तुलसी ने त्रिगुण बंधन में पड़े जीव के भवताप का वर्णन प्रायः किया है। उन्होंने कहा है कि इच्छा, गायत्री या माया के त्रिगुण में बँधकर जीव परमार्थ पथ से वियुक्त हो गया......

गयउ जीव तिरगुन के माहीं। इच्छा नारि गायत्री गाई।[2]

इसी विषय को उन्होंने 'तीनों गुन बाट में घेरो[3] अर्थात् त्रिगुण या माया के द्वारा पथ में ही जीव के बन्धन की चर्चा द्वारा व्यक्त किया है। इस प्रकार तुलसी साहब की त्रिगुणात्मक माया कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों की माया की भाँति ही 'अविद्या' है। जीव को बन्धन में रखती है।

माया बेलि

नाथ-सम्प्रदाय में माया का बेली रूप में वर्णन किया गया है।[4] कबीर ने भी अपनी साखियों में 'माया बेलि' का वर्णन किया है।[5] बिहार के दरिया साहब ने माया को एक विषैली बेल कहा हैं।[6] संत तुलसी ने भी बेल रूप में माया का प्रतिपादन किया है। उन्होंने कहा है कि ब्रह्म की अभिव्यक्ति इच्छा बेल (माया) के रूप में प्रकट हुई है। यह बेल अव्यक्त है, इसकी जड़ें नहीं हैं, पंक्तियाँ और शाखायें भी नहीं हैं। तथापि त्रिभुवन के रूप में इसका फल पका है। यह सघन रूप में चतुर्दिक फैल गई है और इसने अपनी अव्यक्त शाखा प्रशाखा में त्रिलोक को बाँध रखा है, अर्थात् त्रैलोक्य की रचना इसी ने की है। समस्त ब्रह्माण्ड इसी का प्रसार हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दश अवतार, शेष और वेद इस लता के मल को नहीं जानते। इस बेली के मूल का रहस्य अभेद एवं अकाय ब्रह्म हैं अर्थात् ब्रह्म इसका मूल है। बेल रूप माया के इस वर्णन में तुलसी साहब ने इसे दरिया साहब की भाँति विषैली लता इत्यादि न कह कर, माया के तात्विक स्वरूप का प्रतिपादन किया हैं। इसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया है

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३१।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७३।
३— ,, ,, पृ० १९३।
४—गोरखबानी, पृ० ११८-११९।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६।
६—संत कवि दरिया, पृ० ११७।

उनत् सर्वदा विद्यमान है, जन्म मरण का चक्र उसे स्पर्श नहीं करता। वह सब युगों में प्रवल रहती है[1]। ऋषि-मुनि को उसने पथभ्रष्ट कर रखा है और उसके आधीन जगत् में त्राहि मची है[2]। सामान्य मनुष्यों की तो कोई गणना नहीं, भगवान या अवतार भी माया के प्रभुत्व-बन्धन से नहीं बच पाए हैं[3]। वस्तुतः माया का प्रभुत्व चराचर में व्याप्त है और उससे परित्राण असंभव है।

सर्वभक्षक माया

माया के सर्वभक्षी विकट स्वरूप की कल्पना उपनिषद, गीता एवं सांख्य में कहीं नहीं है। 'नाथ-सम्प्रदाय' में गोरक्षनाथ की साधनापरक रचनाओं में सर्पिणी'[4] और 'बाघिनी'[5] कह कर माया को कालवत् सर्वभक्षी प्रतिपादित किया गया है। माया का यह भक्षकरूप संत-काव्य में भी प्रस्थापित हुआ और कबीर ने उसे डाइन[6], बाघिन[7] एवं कालवत[8] निर्दिष्ट किया हैं। तुलसी साहब की रचनाओं में माया का सर्वभक्षक रूप और अधिक विकसित हुआ और उन्होंने माया को सर्वभक्षक विकट क्रियाशक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने एक नारि जग जाल पसारा[9] के द्वारा माया को कालशक्ति रूप व्यक्त किया है। इसी माया ने जगत् को खा रखा है[10]' इसने चराचर को चर लिया

१—आवै न जाय मरे नहिं जीवै, जुग जुग रहत करारी।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७२।

२—ऋषी मुनी सब झारि बिगारी, सब जग त्राहि पुकारी।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७२।

३—माया बंधन भागवंत। करनी कीन्ह सो लिखंत॥

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ८६।

४—गोरखबानी, पृ० १३९।

५—गोरखबानी, पृ० १३९।

६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६८।

७— ,, पृ० १९२।

८— ,, पृ० १६६।

९—घटरामायण, पृ० १७२।

१०—सोइ इच्छा जग खाइ बुड़ाई।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० [illegible]।

है[१]। रवि, शशि तारागण को भी यह खा डालती है।[२] इच्छारूप माया सबको पकड़ पकड़ कर खा जाती हैं[३]। ठगिनी माया ने सब संसार को खा रखा है।[४] यह सर्पिणी है जिसने सबका भक्षण किया है। त्रिभुवन-साम्राज्ञी माया की सर्वग्रासी कालक्षुधा से जीव-पतंगा कुछ भी नहीं बचा है।[५] वस्तुतः कालरूप सर्वभक्षी माया की दुर्दमनीय शक्ति का प्रत्याख्यान संभव नहीं है। ब्रह्मज्ञान ही इससे परित्राण का एकमात्र उपाय है।

इस प्रकार तुलसी साहब की माया के सर्वग्रासी कालरूप की कल्पना नाथ-सम्प्रदाय और कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों की भावना के अनुरूप ही है।[६] अन्तर केवल मात्रा में है। नाथ-सम्प्रदाय और कबीर की अपेक्षा तुलसी साहब[७] ने विस्तार पूर्वक अनेकबार माया को सर्वभक्षक काल रूप निर्दिष्ट किया है। संभव है कि यह अतिरेक इसलिए हो कि तुलसी साहब निर्गुण-काव्य की साम्प्रदायिक भावना के अनुसार माया या ज्योति को काल निरंजन की पत्नी मानते हैं।[८]

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब की माया-सम्बन्धी धारणा प्रतिपादित की गई। इसके अतिरिक्त तुलसी साहब ने कतिपय स्थलों पर[९] 'नर बस करन

१—चर और अचर सकल चर लीन्हा।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७२।

२—रवि ससि सूर चन्द तारागन, यह सब खाय बिड़ारी।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ०१७२।

३—चाह चमारी चहड़ी, धरि धरि सबको खाय।

—रत्नसागर, पृ० ९८।

४—जोती ठगिनी सब जग खाई।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६४।

इच्छा नागिनि भाई। ठगि ठगि सबको खाई॥

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७२।

५—यह माया त्रिभुवन पटरानी, भच्छत जीव पतंगा।

—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २४३।

६—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २४२।

७—रत्नसागर, पृ० ४४।

८—शब्दावली प्रथम भाग, १२२।

९—घटरामायण, प्रथम भाग, १८८।

मोहिनी' 'रूप लुभानी भठियारी' इत्यादि के द्वारा नारी रूप में माया के आकर्षण की चर्चा की है। अन्यत्र उन्होंने 'मोह' की परिगणना भी माया के अंतर्गत की है। पर ये प्रसंग उल्लेख रूप में वर्णित हैं। तुलसी साहब ने इनकी विस्तार से चर्चा नहीं की है।

जीवात्मा

जीवात्मा चैतन्य आत्म-तत्व एवं पंचभूतात्मक देह इन्द्रियों का संघात है। शंकराचार्य ने जीवात्मा को जीवन से युक्त देह और इन्द्रियों का संघात कहा है।[1] वस्तुतः आत्मा अथवा उसका अंश अज्ञानवश कर्माधिकारी होने के कारण जब देहबन्धन में आता है, तब उसे जीवात्मा कहते हैं। इस प्रकार जीव शरीरेन्द्रियसंघात विशिष्ट आत्मा ब्रह्म है। जीवात्मा के प्राचीन एवं व्यवस्थित वर्णन उपनिषदों में उपलब्ध हैं। अतएव निम्नलिखित पंक्तियों में हम सर्व-प्रथम उपनिषदों में प्रतिपादित जीव-तत्व का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

उपनिषदों में जीवात्मा का स्वरूप

उपनिषदों के अनुसार जीव ब्रह्म ही है। 'बृहदारण्यकोपनिषद' में कहा गया है कि पुरुष जन्म लेते समय शरीर को आत्म-भाव से प्राप्त होता हुआ पापों से (देह और इन्द्रियों से) संश्लिष्ट हो जाता है तथा मृत्यु के समय पापों को त्याग देता है।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरी आत्मा जीव है, एवं अशरीरी आत्मा ब्रह्म है। 'छान्दोग्योपनिषद' में 'जीवेनात्मनानुप्रभूतः'[3] अर्थात् 'जीव आत्मा से ओत-प्रोत है' के द्वारा जीव को परमार्थतः ब्रह्म ही प्रतिपादित किया गया है कि 'उत्पन्न हुए उस परमेश्वर ने भूतों को ग्रहण किया[4]।' इसका अभिप्राय यह है कि शरीर में प्रवेश करके जीव रूप से उत्पन्न हुए परमेश्वर ने भूतों को तादात्म्यभाव से ग्रहण किया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म भूतों में बंध कर जीवात्मा कहाता है और बोध होने पर पुनः निजस्वरूप अर्थात् नित्य शुद्धबुद्ध स्वरूप हो जाता है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में भी कहा गया है कि सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत् का स्वामी यह हंस (परमात्मा)

१—छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य, पृ० ३२३।

२—स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः स सृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति।
—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।८।

३—छान्दोग्योपनिषद्, ६।३।११

४—स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति।
—ऐतरेयोपनिषद्, १।३।१३।

देहाभिमानी होकर नव द्वार वाले (देहरूप) पुर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा किया करता है।[१] इससे भी यह प्रमाणित होता है कि आत्मा या देह-बन्धन में पड़कर जीव या जीवात्मा उपाधि धारण करता है। 'कठोपनिषद्' में भी देहस्थ आत्मा को ही जीवात्मा की उपाधि प्रदान की गई है।[२]

जीवात्मा के बन्धन का कारण अविद्या है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि मायाधीन जीव भोक्तृभाव के कारण बन्धन में पड़ता है।[३] अविद्या, माया अथवा अज्ञान के कारण बन्धन में पड़कर जीव कर्मानुसार गति प्राप्त करता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि पुरुष पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पापकर्म से पापी होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव कर्मानुसार देह धारण करता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा गया है कि जीवात्मा अपने गुणों (पाप पुण्यों) के कर्मफल और मानसिक संस्कारों के द्वारा उनके संयोग (देहान्तर प्राप्ति) का दूसरा हेतु भी देखा गया है।[५] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा कर्म फल भोगता है और कर्मफल प्राप्त करने के लिये एक मरणधर्मा शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर प्राप्त करता है। व्यावहारिक रुप में इसे ही जीव का मरण और पुनर्जन्म कहते है। वस्तुतः मरना जीवात्मा का नहीं, शरीर का होता है। इसीलिए 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि जीव रहित होने पर यह शरीर मर जाता है, जीव

१—नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१८।

२—कठोपनिषद्, शांकरभाष्य, पृ० १३०–१३३।

३—अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।८।

४—पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।५

५—स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।१२।

नहीं मरता।[1] इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि मृत शरीर अमर आत्मा का अधिष्ठान है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा परमार्थतः अविनाशी है, कर्मफल भोग के लिए जब वह एक शरीर धारण करता है, तब पञ्चभूतात्मक शरीर ही मरता है।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि उपनिषदों में अविद्या या अज्ञान को जीव के बन्धन का कारण निर्दिष्ट किया गया है। इस बन्धन से निवृत्ति ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में कहा गया कि मायाधीन ज्ञान जीव भोक्तृभाव के कारण बन्धन में पड़ता हैं और परमात्मा का ज्ञान होने पर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।[3] 'माण्डूक्योपनिषद्' में भी प्रतिपादित है कि जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है अर्थात् तत्वज्ञान प्राप्त करता है, उसी समय उसे अज अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्व का बोध प्राप्त होता है।[4] वस्तुतः अभेद ज्ञान-दृष्टि से प्राप्त अद्वैतावस्था ही जीवात्मा का बोधरूप है जब वह शुद्धबुद्धप्रबुद्ध निज स्वरूप में स्थिति होता है।

गीता में जीवात्मा का स्वरूप

'श्रीमद्भगवद्गीता' में उपनिषदों की भांति ही जीवतत्व का विवेचन किया गया है। गीता में ब्रह्म की दो प्रकृतियों का वर्णन है। इनको अपरा और परा कहते हैं।[5] अपरा प्रकृति का अभिप्राय जीवेतर समस्त पदार्थों से है और परा उत्कृष्ट प्रकृति से तात्पर्य जीव से है। चैतन्यात्मक होने से जीव परमेश्वर की पराप्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति है। 'गीता में इसी को क्षेत्रज्ञ

१—जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियतइति।

—छान्दोग्योपनिषद्, ६।११।३।

२—मघवन्मर्त्यं वा इद शरीरमात्तं मृत्युना
तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्

—छान्दोग्योपनिषद्, ८।१२।१।

३—अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।८।

४—अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥

—माण्डूक्योपनिषद्, १।१६।

५—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।५।

कहा गया है।[1] कृतकर्मों के फल धारण करने के कारण अथवा भोगायतन होने के हेतु शरीर को ही क्षेत्र कहते है। इस क्षेत्र का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।[2] गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मेरे को ही जान'[3] अर्थात् सब शरीरों में एकमात्र आत्मा ही है जिसे उपाधिवश जीव कहते है। अन्यत्र श्रीकृष्ण ने कहा भी है कि इस देह में यह जीवात्मा मेरे ही सनातन अंश है[4]। जीव ब्रह्म का अंश है इसका तात्पर्य यह नहीं कि जीवात्मा ब्रह्म का भाग है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा या ब्रह्म तो एक और अखण्ड है, वही सूर्य की भाँति समस्त 'क्षेत्रों' को प्रकाशित कर रहा है।

इस प्रकार उपनिषदों की भांति ही गीता भी परमार्थतः जीव और ब्रह्म में भेद नहीं मानती। जीव और ब्रह्म का भेद व्यावहारिक है। परमार्थ में वे एक ही हैं। गीता के द्वितीय अध्याय में इस एकमात्र आत्म तत्व को अविनाशी निर्धारित करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति उसे मारने वाला या जाने वाला समझता है, वे दोनों उसके तत्व से अपरिचित हैं क्योंकि वह न तो मारता है न मारा जाता हैं।[5] हन्यमान शरीर में कभी उसका हनन नहीं किया जा सकता। गीता के अनेक स्थलों पर यह प्रतिपादित है कि आत्मा का नाश नहीं होता, नाश तो पञ्चभूतात्मक शरीर का होता है। यह पञ्चभूतात्मक पिंड क्षर है, इसका जीवन अक्षर है। यह अक्षर या जीवतत्व शरीरों में सदा ही अवध्य है।[6] गीता में कहा है कि इस नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा

१—गीता रहस्य, पृ० १५४।

२—इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
—एतद्यो वेत्तितं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

—श्रीमद् भगवद् गीता, १३।१।

३—क्षेत्रज्ञं चापि माँ विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

—श्रीमद् भगवद् गीता, १३।२।

४—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

—श्रीमद् भगवद् गीता, १५।७

५—य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मान्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

—श्रीमद् भगवदगीता, २।१९।

६—न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

—श्रीमद् भगवद्गीता, २।२०।

७—श्रीमद् भगवदगीता। २।३०।

के यह सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं।[1] इस संसार में नाशवान् और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं, उनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।[2]। वस्तुतः जीव का मरण नहीं होता, मरण धर्मा तो शरीर है। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र को त्याग कर नवीन वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव प्रारब्धभोग द्वारा जीर्ण (क्षीण कर्म) शरीरों को छोड़कर नवीन शरीरों को प्राप्त होता है।[3] इससे यह प्रकट होता है कि 'श्रीमद् भगवद् गीता' में जीवतत्व सनातन एवं अविनाशी माना गया है और उसका पञ्चभूतात्मक शरीर अनित्य एवं नश्वर प्रतिपादित किया गया है।

जीवात्मा का शरीर-बन्धन माया, अविद्या या अज्ञान के कारण है। 'श्री मद् भगवद् गीता' में कहा गया है कि प्रकृति या माया से उत्पन्न सत् रज और तमोगुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं।[4] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि प्रकृति में स्थित हुआ पुरुप प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।[5] इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि जीवात्मा का बन्धन माया के कारण और मायाधीन जीव के

१—अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनो प्रमेयस्य तस्मातद्युध्यस्व भारत॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, २।१८।

२—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थाक्षर उच्यते॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, १५।१६।

३—वसांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यान्यानि संयाति नवानि देही॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, २।२२।

४—सत्वं रजस्तम इति गुणः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
—श्रीमदभगवदगीता, १४।५।

५—पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
—श्रीमद् भगवदगीता, १३।२१।

भोक्तृभाव से उत्पन्न कर्म उसे शुभ अशुभ योनियों में जन्म प्रदान करते हैं। इस प्रकार जीव आवागमन के चक्र में पड़ता है। जब ज्ञान द्वारा माया, अविद्या या अज्ञान से उसे परित्राण प्राप्त होता है,[1] तब वह बन्धन मुक्त होता है। जीवात्मा की बन्धनमुक्त दशा ही उसकी आत्मरूप में प्रतिष्ठा है। उपनिषदों एवं गीता में यही प्रतिपादित किया गया है।

सांख्य में पुरुष तत्व

सांख्य में आत्म-तत्व का वर्णन 'पुरुष' भावना द्वारा किया गया है।[2] 'ब्रह्म' वर्णन के अन्तर्गत हम पुरुष के विशिष्ट धर्मों की चर्चा कर चुके हैं और यह प्रतिपादित कर चुके है कि 'पुरुष' या आत्मा अनेक हैं। 'सांख्यकारिका' में कहा गया है कि जन्म-मरण तथा इन्द्रियों की योग्य स्थिति होने से (सब शरीरों की) एक ही समय प्रवृत्ति न होने के कारण तथा (प्रत्येक शरीर में) त्रिगुण की विपरीतता के कारण पुरुषों की अनेकता सिद्ध होती है।[3] इस प्रकार सांख्यवादियों के मतानुसार पुरुष शब्द में असंख्य पुरुषों के समुदाय का समावेश होता है। इन असंख्य पुरुषों और त्रिगुणात्मक प्रकृति के संयोग से सृष्टि का समस्त व्यवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रकृति का जब संयोग होता है तब प्रकृति अपने गुणों का जाला उस पुरुष के सामने फैलाती है, और पुरुष उसका उपभोग करता है। त्रिगुण का भोक्ता यह पुरुष ही 'बद्धपुरुष' या 'जीवात्मा' है।[4] इस प्रकार सांख्य के अनुसार जीवात्मा एक नहीं अनेक है और त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण ये बन्धन में पड़ते हैं। उपनिषद् एवं गीता में भी माया अविद्या अथवा अज्ञान को जीव के बन्धन का कारण निर्दिष्ट किया गया है। पर सांख्य एवं वेदान्त की जीवात्मा सम्बन्धी धारणा में एक मौलिक अन्तर है। वेदान्तियों का कथन है कि उपाधि भेद के कारण सब जीव भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं, परन्तु यथार्थ में सब एकमात्र ब्रह्म ही है। सांख्यवादियों का मत है कि जब हम देखते हैं कि प्रत्येक प्राणी का जन्म, मृत्यु और जीवन पृथक पृथक है और जब इस जगत् में हम भेद पाते है कि कोई सुखी हैं और कोई दुःखी है, तब मानना पड़ता है कि प्रत्येक आत्मा या पुरुष मूल से ही भिन्न हैं

१—श्रीमद् भगवद् गीता, १३।२३।

२—सांख्याकारिका, गौड़पादभाष्य, पृ० १२।

३—जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

—सांख्यकारिका, १८।

४—तत्वकौमुदी प्रभा, पृ० ११५।

के यह सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं।[1] इस संसार में नाशवान् और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं, उनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।[2] वस्तुतः जीव का मरण नही होता, मरण धर्मा तो शरीर है। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र को त्याग कर नवीन वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव प्रारब्धभोग द्वारा जीर्ण (क्षीण कर्म) शरीरों को छोड़कर नवीन शरीरों को प्राप्त होता है।[3] इससे यह प्रकट होता है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' में जीवतत्व सनातन एवं अविनाशी माना गया है और उसका पञ्चभूतात्मक शरीर अनित्य एवं नश्वर प्रतिपादित किया गया है।

जीवात्मा का शरीर-बन्धन माया, अविद्या या अज्ञान के कारण है। 'श्री मद्भगवद्गीता' में कहा गया है कि प्रकृति या माया से उत्पन्न सत् रज और तमोगुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं।[4] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि प्रकृति में स्थित हुआ पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।[5] इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि जीवात्मा का बन्धन माया के कारण और मायाधीन जीव के

१—अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनो प्रमेयस्य तस्मात्युध्यस्व भारत ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, २।१८।

२—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थाक्षर उच्यते ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, १५।१६।

३—वसांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यान्यानि संयाति नवानि देही ॥
—श्रीमद्भगवद् गीता, २।२२।

४—सत्वं रजस्तम इति गुणः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
—श्रीमदभगवदगीता, १४।५।

५—पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
—श्रीमद्भगवदगीता, १३। २१।

भोक्तृभाव से उत्पन्न कर्म उसे शुभ अशुभ योनियों में जन्म प्रदान करते हैं। इस प्रकार जीव आवागमन के चक्र में पड़ता है। जब ज्ञान द्वारा माया, अविद्या या अज्ञान से उसे परित्राण प्राप्त होता है,[1] तब वह बन्धन मुक्त होता है। जीवात्मा की बन्धनमुक्त दशा ही उसकी आत्मरूप में प्रतिष्ठा है। उपनिषदों एवं गीता में यही प्रतिपादित किया गया है।

सांख्य में पुरुष तत्व

सांख्य में आत्म-तत्व का वर्णन 'पुरुष' भावना द्वारा किया गया है।[2] 'ब्रह्म' वर्णन के अन्तर्गत हम पुरुष के विशिष्ट धर्मों की चर्चा कर चुके हैं और यह प्रतिपादित कर चुके है कि 'पुरुष' या आत्मा अनेक हैं। 'सांख्यकारिका' में कहा गया है कि जन्म-मरण तथा इन्द्रियों की योग्य स्थिति होने से (सब शरीरों की) एक ही समय प्रवृत्ति न होने के कारण तथा (प्रत्येक शरीर में) त्रिगुण की विपरीतता के कारण पुरुषों की अनेकता सिद्ध होती है।[3] इस प्रकार सांख्यवादियों के मतानुसार पुरुष शब्द में असंख्य पुरुषों के समुदाय का समावेश होता है। इन असंख्य पुरुषों और त्रिगुणात्मक प्रकृति के संयोग से सृष्टि का समस्त व्यवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रकृति का जब संयोग होता है तब प्रकृति अपने गुणों का जाला उस पुरुष के सामने फैलाती है, और पुरुष उसका उपभोग करता है। त्रिगुण का भोक्ता यह पुरुष ही 'बद्धपुरुष' या 'जीवात्मा' है।[4] इस प्रकार सांख्य के अनुसार जीवात्मा एक नहीं अनेक हैं और त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण ये बन्धन में पड़ते हैं। उपनिषद् एवं गीता में भी माया अविद्या अथवा अज्ञान को जीव के बन्धन का कारण निर्दिष्ट किया गया है। पर सांख्य एवं वेदान्त की जीवात्मा सम्बन्धी धारणा में एक मौलिक अन्तर है। वेदान्तियों का कथन है कि उपाधि भेद के कारण सब जीव भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं, परन्तु यथार्थ में सब एकमात्र ब्रह्म ही है। सांख्यवादियों का मत है कि जब हम देखते है कि प्रत्येक प्राणी का जन्म, मृत्यु और जीवन पृथक पृथक है और जब इस जगत् में हम भेद पाते है कि कोई सुखी हैं और कोई दुःखी है, तब मानना पड़ता है कि प्रत्येक आत्मा या पुरुष मूल से ही भिन्न हैं

१—श्रीमद् भगवद् गीता, १३।२३।

२—सांख्याकारिका, गौड़पादभाष्य, पृ० १२।

३—जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥

—सांख्यकारिका, १८।

४—तत्वकौमुदी प्रभा, प० ११५।

निर्गुण-काव्य में जीवात्मा का स्वरूप

आत्मविचार निर्गुण-काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। आत्मा के मुक्त एवं बद्ध स्वरूपों का निर्गुण-काव्य में समान रूप से वर्णन उपलब्ध है। जीवात्मा स्वरूप विवेचन में निर्गुण कवियों ने मुख्यतः निम्नलिखित दो भावनाओं को व्यक्त किया है---

१—जीव ब्रह्म है।

२—जीव ब्रह्म का अंश है।

कबीर, दादू, सुन्दरदास, धर्मदास; दरियासाहब और मलूकदास ने यह प्रतिपादित किया है कि जीव ब्रह्म का भेद तो उपाधिकृत एवं व्यावहारिक है, परमार्थतः जीव और ब्रह्म एक ही हैं। कबीर आदि अद्वैती विचारधारा के प्रतिपादक संतों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ब्रह्मतत्व सम्पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। इसका अनुभव तभी होता है जब मनुष्य संशय रहित विशुद्ध ज्ञान की भूमिका में प्रवेश करता है। सुन्दरदास ने कहा है कि संशय रहते ज्ञान दशा में जीव और ब्रह्म का अभेद प्रकट हो जाता है।[1] अपने वास्तविक स्वरूप को अज्ञानवश विस्मृत कर बैठने के कारण जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है। अज्ञान का कारण उसका देहाध्यास हैं। जब जीव पञ्चभूतात्मक नश्वर शरीर में ही उलझ जाता है, तब वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल जाता है और जब वह नाम रूप के दृश्य आवरणों को भेद कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तरतम में प्रवेश करता है, तब उसे ज्ञात होता हैं कि वह तो वस्तुतः एकमात्र अविनाशी सत्तत्व है। इसी को ध्यान में रखकर कबीर ने कहा है कि अज्ञान के कारण जीव में भेद ज्ञात होता है; द्वैताभास अज्ञानकृत है किन्तु ज्ञानदशा में जीव और ब्रह्म का अभेद ही प्रमाणित होता है।[2] जीव की यही आत्म स्वरूप या एकमात्र सत् तत्व में प्रतिष्ठा है। जो यह समझते हैं कि जीव और ब्रह्म की पृथक सत्ताएं हैं, वे स्थूल बुद्धि व्यक्ति अज्ञानी हैं।[3]

१—दूर किया संदेह सब जीव ब्रह्म नहीं भिन्न।

—सन्त बानी संग्रह, प्रथम भाग, पृ० १०७।

२—कबीर सुपनै रैंनि के, पारस जीय में छेक।
जे सोऊं तौ दोइ जणां, जे जागूं तौ एक ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३।

३—कहै कबीर तरक दुइ साधै, तिनकी मति है मोटी।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०५।

जीवात्मा की निज स्वरूप स्थिति की अभिव्यक्ति के निमित्त कबीर ने जीवात्मा का परमात्मा में घुल मिलकर एकाकार होना निर्दिष्ट किया है।[१] इस मिलन में भेद ज्ञान अल्प भी नहीं रहता। कबीर ने इस मिलन में आत्मा को परमात्मा से कम महत्व नहीं दिया है। इसलिए कबीर ने बूंद और समुद्र का परस्पर पूर्ण मिलन ही कहा है। वस्तुतः अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा तो परमात्मा है। उनमें छोटे और बड़े का भेद उपाधि जन्य है। अन्यथा वह एकरूप सम्पूर्ण अद्वैत तत्व है। माया से आवद्ध आत्मा ही जीव के नाम से प्रसिद्ध है।[२] सुन्दरदास को शाँकर अद्वैत का शास्त्रीय ज्ञान था। अद्वैत आत्म-तत्व के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अज्ञान अविवेक और भ्रम के कारण परमात्मा और आत्मा भिन्न प्रतीत होते हैं, गुरु ज्ञान से उनकी परमार्थतः अद्वैतता प्रकट हो जाती है।[३] सुन्दरदास के गुरु दादूदयाल ने कहा है कि आत्मानन्द की दशा में सहज रूप परब्रह्म को छोड़कर और कहीं कोई दृष्टिगत ही नहीं होता।[४] संत धर्मदास ने भी समस्त जीवों में तत्वरूप एकमात्र परब्रह्म को ही माना है।[५] वद्ध जीव 'काग' हैं और मुक्त जीव 'हंस' है, गुरु ज्ञान से जीव ही पारसमणि रूप आत्मा हो जाता है।[६] विहार के संत दरिया साहब ने

१—हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
बूंद समानी समुद्र में, सो कत हेरी जाय।
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
समुद समाना बूंद में, सो कत हेरया जाइ।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० ४।

२—जीवा को राजा कहै माया के आधीन।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४।

३—परमातम अरु आतमा, उपज्या यह अविवेक।
सुन्दर भ्रम से दोय थे, सतगुरु कीये एक॥

—संतबानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० १०७।

४—सदालीन आनन्द में, सहज रूप सब ठौर।
दादू देखे एक को, दूजा नाहीं और॥

—दादूदयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० ५४।

५—लख चौरासी जीव जंतु में, सब घट एकै रमिता।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७१।

६—कागा वदन मिटाइ के, हंसा करि लीन्हा॥
सतगुरु सब्द सुनाइ के, पारस करि दीन्हा।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० २८।

जीव और ब्रह्म का भेद उपाधिकृत माना है और कहा है कि अद्वैत सत्स्वरूप ब्रह्म ही जीव कहलाता है।[1] जीव के अनुसंधान (ज्ञान) से ही ब्रह्म प्राप्त हो जाता है[2] अर्थात् ज्ञानावस्था में जीव ही ब्रह्म हो जाता है। मलूकदास ने 'साहब मिलि साहब भये'[3] के द्वारा जीवात्मा की अद्वैतता का प्रतिपादन किया है। इससे प्रकट हो जाता है कि निर्गुण-काव्य में मुख्यतः जीव और ब्रह्म में भेद नहीं माना गया है। सब मुख्य संत-कवि ये मानते हैं कि अज्ञान-बन्धन के कारण पञ्चभूतात्मक पिंड में जो जीव कहलाता है, वह परमार्थतः ब्रह्म ही है। ज्ञान दशा में यह जीव अपने शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।

निर्गुण-काव्य में जीव ब्रह्म के सम्बन्ध को 'जीव ब्रह्म का अंश है' द्वारा भी व्यक्त किया गया है। प्राणनाथ, बाबालाल इत्यादि संत यह तो मानते हैं कि जीवात्मा का अंततः परमात्मा में निवास है, तथापि वे यह नहीं मानते कि वह पूर्ण ब्रह्म हैं। उनके अनुसार जीवात्मा भी परमात्मा है अवश्य, किन्तु पूर्ण ब्रह्म नहीं है। वस्तुतः वह ब्रह्म न होकर ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म अंशी है और जीवात्मा अंश। प्राणनाथ ने कहा हैं कि सृष्टि अत्यन्त आनन्दमय प्रेमस्वरूप परमात्मा का एक अंग मात्र है।[4] जीव और ब्रह्म के अंशांशि-सम्बन्ध को संत-बाबालाल ने भली भाँति प्रकट किया है। उनका कथन है कि जीवात्मा और परमात्मा मूलस्वरूप में एक समान हैं और जीवात्मा उसका एक अंश है। ब्रह्म और जीव के मध्य वही सम्बन्ध हैं जो बूँद और सिन्धु में। जब बूँद सिंधु में मिल जाता है तो वह भी सिंधु हो जाता है।[5] इसी प्रकार जब जीव ब्रह्म में मिल जाता हैं, तो वह भी ब्रह्म हो जाता है। उस अवस्था में जीव और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं रहता। इससे यह प्रकट होता हैं कि जीव ब्रह्म के अंशांशि-सम्बन्ध के मूल में यह भावना हैं कि जिस प्रकार सागर की एक बूँद में सागर के सब गुण विद्यमान

१—सन्त ब्रह्म जीव महं लेखा। अदुइत ब्रह्म आपुही पेखा ॥
—दरिया सागर, पृ० २१

२—जीव ब्रह्म का कहौं उपाई, खोजो जीव ब्रह्म मिलि जाई।
—दरिया सागर, पृ० २१।

३—संत बानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० १०४।

४—अब कहूं इसक बात, इसक सबदातीय साख्यात।
ब्रह्म सष्टि ब्रह्म एक अंग, ये सदा अनंद अतिरंग ॥
—ब्रह्मबानी पृ० १।

५—रिलीजियस सेक्टस आफ दि हिन्दूज, पृ० ३५०।

ते है, उसी प्रकार जीवात्मा में भी परमात्मा के समस्त गुण विद्यमान हैं, न्तु कम मात्रा में। पर जब बिन्दु रूप जीव सिंधु रूप ब्रह्म में मिल जाता हैं ब वह ब्रह्मरूप ही हो जाता हैं।

निर्गुण-काव्य में जीव का बन्धन अज्ञान या अविद्या निर्दिष्ट हैं। चैतन्य ात्मतत्व जब मायाकृत पञ्चभूतात्मक शरीर में कर्मानुसार बंधता है, तब वह ीव की उपाधि प्राप्त करता हैं। कबीर ने कहा हैं कि त्रिगुणात्मक माया ने पञ्चभूतात्मक शरीर और चार योनियों में जीव का बन्धन किया हैं जिससे जीव शुभ और अशुभ कर्म करता है एवं मान और अभिमान में पड़ता है।[1] धर्मदास ने कहा हैं कि ब्रह्मरूप त्याग कर जीव आवागमन में पड़ता है। वह मायाकृत बन्धन के कारण रात्रि-दिवस संशय या भ्रम में रहता है और काम क्रोध एवं मद से घिरकर योनि पूर्ण करता है।[2] संत दरिया साहव ने कहा हैं कि अद्वैत ब्रह्म त्रिगुणात्मक माया के कारण शरीर बन्धन में हैं, वह पुनः पुनः आवागमन के चक्र में पड़ता है[3] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र भी उन्होंने मायाकृत पंचभूतात्मक पिंड के जंजाल (वंधन) में जीव का पड़ना निर्दिष्ट किया है।[4] दरिया सागर में भी कनक कामिनि के फंद में कलपि कलपि जीव जइहै[5], एवं 'भूले फिरहिं मया लपटाना'[6] के द्वारा उन्होंने जीव के बन्धन का कारण माया को ही बताया है। सतगुरु

१—सत रज तम में कीन्हीं माया, चारि खानि विस्तार उपाया ॥
पंच तत्त ले कीन बंधान, पाप पुन्नि मान अभिमान ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२९।

२—प्रभुपद भिन्न भयो मैं जब से, देंह धरे बहुतेरो।
निस बासर मोहिं संसय व्यापै, काम क्रोध मद घेरो ॥
—धर्मदास की शब्दावली, पृ० २०।

३—अद्वैत ब्रह्म सकल घट व्यापक, तिरगुन में लपटाना।
आवै जाय उपजि फिर बिनसै, जरि मरि कहँ समाना ॥
—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ४६।

४—पाँच तरा की कोठरी, ता में जाल जंजाल।
जीव तहाँ बासा करै, निपट नगीचे काल।
—दरिया साहव की शब्दावली, पृ० ५२।

५—दरियासागर, पृ० १९।

६—दरियासागर, पृ० १९।

कृपा[1] एवं ज्ञान[2] के द्वारा जब जीव अविद्याजन्य मिथ्या प्रतीतियों के तिमिर-जाल को छिन्न-भिन्न करता है, तब बन्धनमुक्त होकर वह आत्मरूप में स्थित होता है। यही जीवात्मा की निजस्वरूप स्थिति है। संत-काव्य में इसी को जीव की मुक्ति निर्धारित किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता हैं कि संत तुलसी-पूर्ववर्ती-निर्गुण-काव्य में जीव तत्व का विवेचन जीवात्मा सम्बन्धी परम्परागत भावना के आधार पर ही किया गया है। परम्परागत भावना के अनुसार ही संत-कवियों ने जीवात्मा को ब्रह्म अथवा ब्रह्म का अंश कहा है और अज्ञान, अविद्या अथवा माया से उसके बंधन तथा ज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन किया है।

तुलसी साहब का जीवात्मा वर्णन

संत तुलसी ने जीवात्मा के स्वरूप का निरूपण करते समय परम्परागत भावना के अनुसार ही जीवतत्व का वर्णन किया है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

ब्रह्म और जीवात्मा

उपनिषदों में ब्रह्म जीव सम्बन्ध में विचार करते समय जीवात्मा को ब्रह्म ही प्रतिपादित किया गया है।[3] श्रीमद्भगवद्गीता में भी जीव और ब्रह्म को अभेद वर्णित है।[4] गीता में जीव-ब्रह्म के अंशांशि-सम्बन्ध का वर्णन भी किया गया है।[5] गीता में प्रतिपादित अंशांशि-सम्बन्ध की अद्वैतवादी एवं विशिष्टाद्वैतवादी अपने अपने मतानुकूल व्याख्या करते हैं किन्तु इससे इस तथ्य में अन्तर नहीं आता कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' में अंशांशि-भावना विद्यमान है। निर्गुण-काव्य में जीव तत्व का विवेचन करते समय हमने लक्ष्य किया है कि उसमें जीव को ब्रह्म[6] और ब्रह्म का अंश[7] प्रतिपादित करने वाली उक्तियाँ समान रूप से उपलब्ध हैं। निर्गुण काव्य में जीव को ब्रह्म का अंश कहने का अभिप्राय यह नहीं हैं कि जीवात्मा ब्रह्म का खण्ड हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जीव तत्वत् ब्रह्म ही

१—संत बानी संग्रह, द्वितीय भाग- पृ० १०७।
२—वही वही पृ० २१३।
३—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।८।
४—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।२।
५—श्रीमद्भगवद्गीता, १५।७।
६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३४।
७—ब्रह्मबानी, पृ० १।

हैं किन्तु पूर्ण ब्रह्म न होकर ब्रह्म का अंश है अर्थात् जीवात्मा में ब्रह्म के समस्त गुण विद्यमान हैं किन्तु कम मात्रा में। इस सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीव ब्रह्म नहीं है अपितु ब्रह्म का अंश है।

संत तुलसी ने भी जीवात्मा को ब्रह्म न मानकर, ब्रह्म का अंश माना है-

चौथे महल पुरुष इक स्वामी। जीव अंश वहि अन्तरजामी॥
उनकी अंस जीव जग आया। करता पाँच तन्त में लाया।[1]

अन्यत्र भी उन्होंने जीव को ब्रह्म का अंस ही निर्दिष्ट किया है—

[क] परथम अंस पुरुष से आया।[2]
[ख] पुरुष अंस आतम तत्त पाई।[3]
[ग] जीव तो अंस पुरुष से आया।[4]
[घ] अंस बुन्द आतम तन बासा, सिंघु खोज कहुँ अंत रहाई।[5]
[ङ] सतपुरुष सोइ सतगुरु गाया। जीव अंस सब व्हां से आया।[6]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब जीवात्मा को ब्रह्म का अंश मानते हैं। जीव एवं ब्रह्म की अंशांशि-भावना को व्यक्त करने के लिए संत तुलसी ने ब्रह्म को सिन्धु एवं जीव को बिन्दु कहा है—

प्रथम वैराट में आया। आतमा अंस अपने में।
अंस की आद कहो कहं से। बुन्द सिंधु में से आता है।[7]

इस उद्धरण में तुलसी साहब ने कहा है कि जीव का मूल स्थान सिन्धु-रूप ब्रह्म है, जहाँ से बिन्दुरूप जीवात्मा इस लोक में आता है। अन्यत्र उन्होंने कहा है सिन्धु (ब्रह्म) का अंश बिन्दु (जीव) शरीर बन्धन में पड़ता है—

सिन्धु बुन्द काया में बासी। या को बेद कहे अविनासी।[8]

यह सिन्धु का बिन्दु अथवा ब्रह्म का अंग जीवात्मा तत्वतः निर्मल एवं विशुद्ध है किन्तु यही पंचभूतात्मक शरीर में बँधता है---

बुन्द सिंधु से निर्मल आया। चोला पहिर धरी नर काया।[9]

१—रत्नसागर, पृ० ८८।
२—वही पृ० १७।
३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ २३३।
४—रत्नसागर, पृ० १५८।
५—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६०।
६—रत्नसागर, पृ० १५१।
७—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६१।
८—रत्नसागर, पृ० १४६।
९—रत्नसागर, पृ० ६६।

तुलसी साहब का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार विन्दु या जल की बूंद समुद्र का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। जिस प्रकार बूंद में समुद्र के सब गुण विद्यमान है, उसी प्रकार जीवात्मा में भी विद्यमान हैं। भेद मात्रा का है, तत्व में भेद नहीं है।

ब्रह्म और जीव के अंशाशि-सम्बन्ध को व्यक्त करने के निमित्त तुलसी साहब ने सूर्य एवं उसकी किरणों का रूपक भी प्रयुक्त किया है। उन्होंने सूर्य को ब्रह्म एवं उसकी किरणों को जीव कहा है—

ब्रह्म की भास कहूँ तन वास,
सो किरन अकास रवी जिव आयो।[1]

'रत्नसागर' में इस प्रसंग को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए संत तुलसी ने कहा है कि ब्रह्म को सूर्य तथा जीव को किरण कहते हैं—

वे सूरज यह किरनि कहावे। भूमि भास तजि रवि में जावे।[2]

इसी ग्रन्थ में संत तुलसी ने कहा है कि ब्रह्म सर्य है, किरण जीवात्मा है जो समस्त शरीरों में निवास करती है—

सूरज ब्रह्म अकास में, भास भूमि परकास।
किरन जीव यहि आतमा, सब घट कीन्हों वास।[3]

तुलसी साहब का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किरण सूर्य न होकर सूर्य का अंश है, उसी प्रकार जीवात्मा ब्रह्म न होकर ब्रह्म का अंश है। किन्तु जब अंश अंशी में मिल जाता है तो तद्रूप हो जाता है। किरण सूर्य में लौट कर बूंद सिन्धु में मिल कर एवं जीव ब्रह्म में मिल कर तद्रूप हो जाते हैं। तुलसी साहब ने कहा है कि जब सूर्य रूप ब्रह्म से उत्पन्न जीवात्मा रूप किरण पुनः अपने आदि स्थान को लौट जायगी, तब उसका बिन्दुत्व सिन्धुत्व में परिणत हो जायगा अर्थात् अंश अंशी हो जायगा--

जैसे गगन रवी रहै वासा, किरनि भास भूमी पर आई।
जब सब सिमटि भास गति रवि में, बुंदा सिंघु कहाई॥[4]

इस प्रकार जब बूंद सिंधु में मिल जाती है, तब बूंद का अपना अस्तित्व नहीं रहता। वह समुद्र में मिलकर समुद्र ही हो जाती है।

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४५।
२—रत्नसागर, पृ० ५१।
३—रत्नसागर, पृ० १४३।
४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६०।

सिंधु बुंद मिला मेल, जल में जल जाई ।।[1]

और इसी प्रकार सुरति या जीवात्मा जब ब्रह्म में मिल जाती है, तब वह ब्रह्म रूप हो जाती है—

सुरति समझि सहजै अड़ी, खड़ी द्वार के मांहि ।
धाइ धमक मग पीव के, जीव ब्रह्म होइ जाइ ।।[2]

इस अवस्था में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता। तुलसी साहब ने जीव और ब्रह्म के अभेद तत्व की इस दशा को निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया हैं-

ए गुइयां पिय हम हम पिय एकी। कोई फरक न जानौ नेकी ।।[3]

वस्तुत; जीव जब ब्रह्म में मिल जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है। मिलनजनित अभेदत्व की उस दशा में जीव एवं ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रहता। तुलसी साहब की इस विचारधारा और पूर्ववर्ती निर्गुण-कवियों की अंशाशि-सम्बन्धी विचारधारा में पूर्ण साम्य है। अंशाशि-सम्बन्ध के प्रतिपादक संत बाबालाल इत्यादि के सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं कि उन्होंने भी यह माना हैं कि बूंद सिंधु में मिलकर सिन्धु ही हो जाता है अर्थात ब्रह्म का अंश जीव ब्रह्म में मिलकर ब्रह्म रूप हो जाता है।

माया और जीव

उपनिषदों में अज्ञान अविद्या अथवा माया को जीवात्मा के बन्धन का कारण निर्दिष्ट किया गया है।[4] श्रीमद्भगवद्गीता में भी माया और जीव का यही सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है।[5] साँख्य में भी 'प्रकृति' के 'प्रसार' से 'पुरुष' का बन्धन कहा गया है।[6] नाथ-सम्प्रदाय में माना गया है कि शिव-तत्व माया के कंचुकों से परिबद्ध होकर जीव रूप में प्रकट होता है।[7] निर्गुण-काव्य का प्रतिपाद्य भी यही है कि जीव का बन्धन माया के कारण हैं।[8] अतएव यह प्रकट होता है कि संत तुलसी पूर्ववर्ती साधना में समान रूप से जीव का बन्धन

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १०४।
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११३।
३—वही वही पृ० ६६।
४—श्वेताश्वेतरोपनिषद्, १।८।
५—श्रीमद्भगवद्गीता, १४।५।
६—तत्वकौमुदी प्रभा, पृ० १२१।
७—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६७।
८—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२९।

तुलसी साहब का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार विन्दु या जल की बूंद समुद्र का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। जिस प्रकार बूंद में समुद्र के सब गुण विद्यमान हैं, उसी प्रकार जीवात्मा में भी विद्यमान हैं। भेद मात्रा का है, तत्व में भेद नहीं है।

ब्रह्म और जीव के अंशाशि-सम्बन्ध को व्यक्त करने के निमित्त तुलसी साहब ने सूर्य एवं उसकी किरणों का रूपक भी प्रयुक्त किया है। उन्होंने सूर्य को ब्रह्म एवं उसकी किरणों को जीव कहा है—

ब्रह्म की भास कहूँ तन वास,
सो किरन अकास रवी जिव आयो।[1]

'रत्नसागर' में इस प्रसंग को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए संत तुलसी ने कहा है कि ब्रह्म को सूर्य तथा जीव को किरण कहते हैं—

वे सूरज यह किरनि कहावे। भूमि भास तजि रवि में जावे।[2]

इसी ग्रन्थ में संत तुलसी ने कहा है कि ब्रह्म सर्य है, किरण जीवात्मा है जो समस्त शरीरों में निवास करती है—

सूरज ब्रह्म अकास में, भास भूमि परकास।
किरन जीव यहि आतमा, सब घट कीन्हों बास।[3]

तुलसी साहब का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किरण सूर्य न होकर सूर्य का अंश है, उसी प्रकार जीवात्मा ब्रह्म न होकर ब्रह्म का अंश है। किन्तु जब अंश अंशी में मिल जाता है तो तद्रूप हो जाता है। किरण सूर्य में लौट कर बूंद सिन्धु में मिल कर एवं जीव ब्रह्म में मिल कर तद्रूप हो जाते हैं। तुलसी साहब ने कहा है कि जब सूर्य रूप ब्रह्म से उत्पन्न जीवात्मा रूप किरण पुनः अपने आदि स्थान को लौट जायगी, तब उसका विन्दुत्व सिन्धुत्व में परिणत हो जायगा अर्थात् अंश अंशी हो जायगा—

जैसे गगन रवी रहै वासा, किरनि भास भूमी पर आई।
जब सब सिमटि भास गति रवि में, बुंदा सिंधु कहाई॥[4]

इस प्रकार जब बूंद सिंधु में मिल जाती है, तब बूंद का अपना अस्तित्व नहीं रहता। वह समुद्र में मिलकर समुद्र ही हो जाती है।

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४५।
२—रत्नसागर, पृ० ५१।
३—रत्नसागर, पृ० १४३।
४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६०।

जब जिव भया करम के संगा। दस इन्द्री गुन तीन प्रसंगा।
पांचभूत का सूत बंधाना। जड़ चेतन आतम उरझाना॥
रस इन्द्री गुन स्वाद से, बंधन भया अजान।
जान भुलानो आदि को, वादै जनम हिरान॥[१]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब ने माया या अविद्या को जीव के बन्धन का कारण माना हैं। मायाकृत पञ्चभूतात्मक नश्वर शरीर के बन्धन में पड़कर कर्मरूप अविद्या के सेवन से उसका आवागमन नहीं छूटता। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि तुलसी साहब की जीव-बन्धन सम्बन्धी इस धारणा में और पूर्ववर्ती धर्म-साधना की तद्विषयक विचारधारा में पूर्ण साम्य है। उपनिषद्, गीता, सांख्यमत और नाथ सम्प्रदाय में जीव बन्धन के प्रसंग का विवेचन करते समय हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि उक्त ग्रन्थों और सम्प्रदायों में माया या प्रकृति को जीवात्मा के बन्धन का कारण कहा गया है।

जीवात्मा और मोक्ष

उपनिषदों में कहा गया है कि परमात्मा का ज्ञान होने से जीवात्मा समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।[२] श्रीमद्भगवद्गीता में भी ज्ञान को जीवात्मा के अविद्या पाश से मुक्त होने का साधन बताया गया है।[३] सांख्यकारिका में भी विवेक ज्ञान द्वारा पुरुष के मुक्त होने का वर्णन किया गया है।[४] नाथ-सम्प्रदाय में भी ब्रह्म और जीव का अभेद ज्ञान ही जीवात्मा का बन्धन से परित्राण प्रतिपादित किया गया है।[५] निर्गुण-कवियों ने ज्ञान[६] के अतिरिक्त सद्गुरु कृपा[७] द्वारा जीव की बन्धन से निवृत्ति प्रतिपादित की है। संत तुलसी ने भी परम्परागत विचारधारा के अनुसार ही जीवात्मा की मायानिवृत्ति के निमित्त ज्ञान और सतगुरु कृपा अपेक्षित मानी हैं। उन्होंने कहा है कि सद्गुरु कृपा में सुरति (जीवात्मा) माया के बन्धन से छूट गई—

'फंद फाडि़ बाहर गई, लई जो सतगुर बाँह।'[८]

१—रत्नसागर, पृ० १४६।
२—श्वेताश्वेतरोपनिषद्, १।८।
३—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।२३।
४—सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्य, ६३।
५—गोरखवानी, पृ० २३५।
६—संत वानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० २१३।
७—संत वानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० १०७।
८—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १५०।

माया के कारण प्रतिपादित है। तुलसी साहब ने भी पूर्ववर्ती विचारधारा के अनुसार जीव का बन्धन मायाकृत माना है। उन्होंने कहा है कि ब्रह्म का अंश जीवात्मा माया के आधीन होने के कारण अपने चैतन्य स्वरूप को नहीं जानता।

परथम अंश पुरुष से आया। यह यहि संग लगाई माया।
माया परवस भया अधीना। या से आप अपन नहिं चीन्हा।[1]

तुलसी साहब की भांति ही गोस्वामी तुलसीदास ने भी जीव को ब्रह्म का अंश निर्दिष्ट करते हुए उसके बन्धन का कारण माया को ही माना हैं।[2]

तुलसी साहब ने 'अंश आदि से निरमल आया'[3] 'उजला आया वतन से'[4] कहकर यह प्रतिपादित किया है कि जीव अपने मूलस्थान से निर्मल आता है किन्तु जग में प्रबल माया के आधीन होते ही वह माया के मल से आच्छादित हो जाता है। चैतन्य जीव मायाकृत पञ्चभूतात्मक शरीर वन्धन में पड़कर जागतिक प्रपंच में पड़ता है।

आतम तत्त अकास से, पृथी जल पवन समान।
अगिन अली अस पाँच में, आतम जीव फँसान,[5]

पञ्चभूतात्मक जड़ शरीर और ब्रह्म के चेतन अंश के संयोग से जीवात्मा जड़ चेतन की ग्रन्थि में बंधता है--

पांच तत्त से पिंड बनाया। पुरुष अंस चेतन जब आया॥
जड़ चेतन दोउ गाँठि बंधानी। सोइ निज ज्ञान जानि मनमानी॥[6]

वस्तुतः शरीरेन्द्रिय-गुण-संघात-रूप जीवात्मा अविद्या रूप कर्म के साथ बन्धन में पड़कर अपने आदि स्थान अर्थात् ब्रह्म को भूल जाता हैं--

---

१—रत्नसागर, पृ० १७।

२—ईस्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायावस भयउ गुसाईं।
बंध्यो कीर मरकट की नाईं॥
—रामचरितमानस, गुटका, पृ० ६३५।

३—रत्नसागर, पृ० १७।

४—वही पृ० १७।

५—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०७।

६—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६७।

जब जिव भया करम के संगा। दस इन्द्री गुन तीन प्रसंगा।
पांचभूत का सूत वंधाना। जड़ चेतन आतम उरझाना॥
रस इन्द्री गुन स्वाद से, बंधन भया अजान।
ज्ञान भुलानो आदि को, वादै जनम हिरान॥[१]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब ने माया या अविद्या को जीव के बन्धन का कारण माना है। मायाकृत पञ्चभूतात्मक नश्वर शरीर के बन्धन में पड़कर कर्मरूप अविद्या के सेवन से उसका आवागमन नहीं छूटता। हम प्रारम्भ में ही कह चुके है कि तुलसी साहब की जीव-बन्धन सम्बन्धी इस धारणा में और पूर्ववर्ती धर्म-साधना की तद्विषयक विचारधारा में पूर्ण साम्य है। उपनिषद्, गीता, सांख्यमत और नाथ सम्प्रदाय में जीव बन्धन के प्रसंग का विवेचन करते समय हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि उक्त ग्रन्थों और सम्प्रदायों में माया या प्रकृति को जीवात्मा के बन्धन का कारण कहा गया है।

जीवात्मा और मोक्ष

उपनिषदों में कहा गया है कि परमात्मा का ज्ञान होने से जीवात्मा समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।[२] श्रीमद्भगवद्गीता में भी ज्ञान को जीवात्मा के अविद्या पाश से मुक्त होने का साधन बताया गया है।[३] सांख्यकारिका में भी विवेक ज्ञान द्वारा पुरुष के मुक्त होने का वर्णन किया गया है।[४] नाथ-सम्प्रदाय में भी ब्रह्म और जीव का अभेद ज्ञान ही जीवात्मा का बन्धन से परित्राण प्रतिपादित किया गया है।[५] निर्गुण-कवियों ने ज्ञान[६] के अतिरिक्त सद्गुरु कृपा[७] द्वारा जीव की बन्धन से निवृत्ति प्रतिपादित की है। संत तुलसी ने भी परम्परागत विचारधारा के अनुसार ही जीवात्मा की मायानिवृत्ति के निमित्त ज्ञान और सतगुरु कृपा अपेक्षित मानी हैं। उन्होंने कहा है कि सद्गुरु कृपा में सुरति (जीवात्मा) माया के बन्धन से छूट गई—

'फंद फाड़ि बाहर गई, लई जो सतगुर बाँह।[८]

१—रत्नसागर, पृ० १४६।
२—श्वेताश्वेतरोपनिषद्, १।८।
३—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।२३।
४—सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्य, ६३।
५—गोरखवानी, पृ० २३५।
६—संत वानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० २१३।
७—संत वानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० १०७।
८—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १५०।

माया के कारण प्रतिपादित हैं। तुलसी साहब ने भी पूर्ववर्ती विचारधारा के अनुसार जीव का बन्धन मायाकृत माना है। उन्होंने कहा है कि ब्रह्म का अंश जीवात्मा माया के आधीन होने के कारण अपने चैतन्य स्वरूप को नहीं जानता।

परथम अंश पुरुष से आया। यह यहि संग लगाई माया।
माया परबस भया अधीना। या से आप अपन नहिं चीन्हा।[१]

तुलसी साहब की भांति ही गोस्वामी तुलसीदास ने भी जीव को ब्रह्म का अंश निर्दिष्ट करते हुए उसके बन्धन का कारण माया को ही माना हैं।[२]

तुलसी साहब ने 'अंश आदि से निरमल आया'[३] 'उजला आया वतन से'[४] कहकर यह प्रतिपादित किया है कि जीव अपने मूलस्थान से निर्मल आता है किन्तु जग में प्रबल माया के आधीन होते ही वह माया के मल से आच्छादित हो जाता है। चैतन्य जीव मायाकृत पञ्चभूतात्मक शरीर बन्धन में पड़कर जागतिक प्रपंच में पड़ता है।

आतम तत्त अकास से, पृथी जल पवन समान।
अगिन अली अस पाँच में, आतम जीव फँसान,[५]

पञ्चभूतात्मक जड़ शरीर और ब्रह्म के चेतन अंश के संयोग से जीवात्मा जड़ चेतन की ग्रन्थि में बंधता है—

पांच तत्त से पिंड बनाया। पुरुष अंस चेतन जब आया॥
जड़ चेतन दोउ गाँठि बंधानी। सोइ निज ज्ञान जानि मनमानी॥[६]

वस्तुतः शरीरेन्द्रिय-गुण-संघात-रूप जीवात्मा अविद्या रूप कर्म के साथ बन्धन में पड़कर अपने आदि स्थान अर्थात् ब्रह्म को भूल जाता हैं—

१—रत्नसागर, पृ० १७।

२—ईस्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायावस भयउ गुसाईं।
बंध्यो कीर मरकट की नाईं॥
—रामचरितमानस, गुटका, पृ० ६३५।

३—रत्नसागर, पृ० १७।

४—वही पृ० १७।

५—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०७।

६—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६७।

जब जिव भया करम के संगा। दस इन्द्री गुन तीन प्रसंगा।
पांचभूत का सूत बंधाना। जड़ चेतन आतम उरझाना ॥
रस इन्द्री गुन स्वाद से, बंधन भया अजान।
जान भुलानो आदि को, वादैं जनम हिरान ॥[१]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब ने माया या अविद्या को जीव के बन्धन का कारण माना हैं। मायाकृत पञ्चभूतात्मक नश्वर शरीर के बन्धन में पड़कर कर्मरूप अविद्या के सेवन से उसका आवागमन नहीं छूटता। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि तुलसी साहब की जीव-बन्धन सम्बन्धी इस धारणा में और पूर्ववर्ती धर्म-साधना की तद्विपयक विचारधारा में पूर्ण साम्य है। उपनिषद्, गीता, सांख्यमत और नाथ सम्प्रदाय में जीव बन्धन के प्रसंग का विवेचन करते समय हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि उक्त ग्रन्थों और सम्प्रदायों में माया या प्रकृति को जीवात्मा के बन्धन का कारण कहा गया है।

जीवात्मा और मोक्ष

उपनिषदों में कहा गया है कि परमात्मा का ज्ञान होने से जीवात्मा समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।[२] श्रीमद्भगवद्गीता में भी ज्ञान को जीवात्मा के अविद्या पाश से मुक्त होने का साधन बताया गया है।[३] सांख्यकारिका में भी विवेक ज्ञान द्वारा पुरुष के मुक्त होने का वर्णन किया गया है।[४] नाथ-सम्प्रदाय में भी ब्रह्म और जीव का अभेद ज्ञान ही जीवात्मा का बन्धन से परित्राण प्रतिपादित किया गया है।[५] निर्गुण-कवियों ने ज्ञान[६] के अतिरिक्त सद्‌गुरु कृपा[७] द्वारा जीव की बन्धन से निवृत्ति प्रतिपादित की है। संत तुलसी ने भी परम्परागत विचारधारा के अनुसार ही जीवात्मा की मायानिवृत्ति के निमित्त ज्ञान और सतगुरु कृपा अपेक्षित मानी हैं। उन्होंने कहा है कि सद्‌गुरु कृपा में सुरति (जीवात्मा) माया के बन्धन से छूट गई—

'फंद फाड़ि बाहर गई, लई जो सतगुर बाँह।'[८]

१—रत्नसागर, पृ० १४६।
२—श्वेताश्वेतरोपनिषद्, १।८।
३—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।२३।
४—सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्य, ६३।
५—गोरखवानी, पृ० २३५।
६—संत वानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० २१३।
७—संत वानी संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० १०७।
८—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १५०।

अन्यत्र उन्होंने कहा है कि सूर्य रूप ब्रह्मगुरु के ध्यान से किरण रूप जीवात्मा में ज्ञानोदय होता है--

सतगुरु सूरज ध्यान, ज्ञान उदय छिन भान में ।[1]

ज्ञानोदय से जीवात्मा जड़ चेतन ग्रन्थि से छूटकर ब्रह्म से मिलकर ब्रह्मरूप ही हो जाता है ।[2] उस अवस्था में देहेन्द्रियजनित उपाधि से नितान्त विरहित होकर जीव अपने कारण महासमुद्रस्थानीय अजर, अमर, शुद्ध, एक रस, प्रज्ञानधन, अनन्त, अपार, अखण्ड एवं अविद्याजनित भ्रान्तिभेद से रहित परमात्मा में प्रविष्ट होकर परमात्मा स्वरूप ही हो जाता है । यही जीव का अभेद ज्ञान या मोक्ष है ।

जगत

ब्रह्म की नाम रूप के योग से अभिव्यक्ति ही जगत है । इन्द्रियों को गोचर होने वाला समस्त नामरूप जगत् है । यह नानाविधि और नानावर्ण है । वस्तुतः नानाधर्मी सतत् परिवर्तन और विनाशशील अनित्य नामरूप व्यक्त जगत् है । इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से तत्वदृष्टा मनन करते आये हैं । उनके विचारों का प्राचीन संग्रह उपनिषदों में उपलब्ध है । अतएव निम्नलिखित पंक्तियों में सर्व प्रथम उपनिषदों की जगत् सम्बन्धी भावना का संक्षेप में प्रतिपादन किया जायगा ।

उपनिषदों में जगत् की भावना

उपनिषदों में जगत् का कारणभूत तत्व ब्रह्म निर्दिष्ट है । 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में आत्मा या ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार ऊर्णनाभि या मकड़ा तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं । उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण 'समस्त लोक' समस्त देवगण और समस्त

१—रत्नसागर, पृ० ८ ।

२—चेतन जड़तन गाँठि बंधानी, छूटे बिन बस ब्रह्म न माई ।
छूटे गाँठि गगन चढ़ चीन्हैं, तब विधि ब्रह्म कहाई ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६० ।

भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं।[1] 'छान्दोग्योपनिषद्' में सत्स्वरूप ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कही गई है।[2] मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है, जैसे पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुष से केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह विश्व प्रकट हुआ करता है।[3] 'तैतिरीययोपनिषद्' में ततो वै सद्जायत[4] के द्वारा अव्याकृत ब्रह्मरूप से नामरूपात्मक व्यक्त जगत् की उत्पत्ति कही गई है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् प्राण-ब्रह्म में उदित होकर उसी से चेष्टा कर रहा है।[5] श्वेताश्वतरोपनिषद्' में 'कारण ब्रह्म[6]' 'जनयन्देव एक[7]' के द्वारा एक मात्र ब्रह्म को जगत् का कारण तथा विराट् को उत्पन्न करने वाला कहा गया है। इससे यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि जगत् का कारण ब्रह्म है। एवं यह नाम रूपात्मक स्थूल जगत् सूक्ष्म 'सत्' या ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। इसकी स्थिति का आधार भी ब्रह्म ही है।

उपनिषदों में चराचर जगत् को ब्रह्मरूप कहा गया है। "छान्दोग्योप-

---

१—स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा
व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वेलोकाः
सर्वेदेवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, २।१।२०।

२—छान्दोग्योपनिषद्, ६।२।३

३—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥

—मुण्डकोपनिषद्, १।२।७।

४—तैत्तिरीयोपनिषद् २।७।१

५—यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निः सृतम्।

—कठोपनिषद्, २।३।२।

६—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।१।

७— " ३।३।

निषद्" में 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा गया है कि 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' 'अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है। इससे यह प्रकट होता है कि उपनिषद् इस नामरूपविशिष्ट दृश्यमान् जगत् को ब्रह्म या सत् रूप मानते हैं, किन्तु मुंडकोपनिषद् में समस्त नाम रूप जगत् को स्वप्न और माया के समान कहा गया है।[3] इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गए हैं तथा जैसे गन्धर्वनगर जाना गया है उसी प्रकार विचक्षण पुरुषों ने वेदान्तों में इस जगत् को देखा है।[4] इससे यह प्रकट होता है कि उपनिषद् जगत् को स्वप्नवत् असार और माया के समान मिथ्या भी मानते हैं। इन परस्पर विरोधी मतों मे वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। ब्रह्म सृष्टि करता है, इसलिए सृष्टि सत्स्वरूप है, किन्तु सृष्टि के सब काम रूप नानात्वधर्मी, परिवर्तन, विनाशशील एवं अनित्य हैं। 'एक' के विपरीत नानारूप, 'अविनाशी' के विपरीत विनाशी और 'नित्य तत्व' के विपरीत अनित्य होने के कारण ही जगत् असार और मिथ्या है। अन्यथा जगत् ब्रह्मकृत सत्स्वरूप है। 'कठोपनिषद्' में जहाँ जगत् भावना ऊर्ध्व मूल अधः शाखा अश्वत्थ वृक्ष के रूप में प्रकट हुई है, वहाँ भी जगत् को ब्रह्मरूप ही कहा गया है[5]।

इस प्रकार उपनिषद् जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से निर्दिष्ट करते हैं एवं जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं। उपनिषदों के अनुसार जगत् की उत्पत्ति

१—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।१

२—मुण्डकोपनिषद्, २।२।११

३—स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥

—माण्डूक्योपनिषद्, १।७

४—स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥

—माण्डूक्योपनिषद् २।३१

५—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत् ॥

—कठोपनिषद्, २।३।१

ब्रह्म से होती है और उसी में जगत् का लय होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है, कि यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी में लीन होने वाला और उसी में चेष्टा करने वाला है[1]। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में भी कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परब्रह्म एक और निर्विशेष होकर भी अपनी शक्ति के द्वारा बिना किसी प्रयोजन के ही नाना प्रकार के अनेकों वर्ण धारण करता है तथा अन्त में उसी में विश्व लीन हो जाता है[2]। 'सृष्टि क्रम' के प्रसंग में हम 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के अनुसार जगत रचना आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के क्रम से निर्दिष्ट कर चुके हैं एवं 'वेदान्तसूत्रों' के आधार पर सृष्टि के लय क्रम की चर्चा भी कर चुके हैं अतएव यहां उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

गीता में जगत् का स्वरुप

उपनिषदों की भांति ही 'श्रीमद्भगवद्गीता' में जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से निर्दिष्ट है। गीता में ब्रह्म को 'सनातनं बीजम्'[3] अर्थात् समस्त भूतों का अविनाशी बीज कहा गया है। अन्यत्र 'बीजमव्ययम्'[4] के द्वारा गीता से ब्रह्म को समस्त भूतों का अव्यय बीज बतलाया गया है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ब्रह्मरूपी सनातनं अव्यय महातत्व से जगत् उत्पन्न होता है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भगवान् ने कहा है कि मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूं;[5] अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूलकारण हूँ। गीता में ही अन्यत्र

१—सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति

—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।१

२—य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगा-)
द्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।१

३—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१०

४— ,, ९।१८

५—अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।६

कृष्ण ने कहा है कि मैं ही संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूं और मेरे से ही सब जगत् चेष्टा करता है[१]। इससे सिद्ध होता है कि गीता के अनुसार जगत् का मूलकारण परब्रह्म ही है और इसी की योगमाया से समस्त चराचर जगत् की रचना होती है[२]।

गीता के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है एवं सूत्र में माला के मणियों के सदृश ब्रह्म में गुंथा हुआ है[३]। यह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु नहीं है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए कृष्ण ने पुनः कहा है कि मुझ परब्रह्म से यह सब जगत् परिपूर्ण है[४]। जगत् ब्रह्म से परिपूर्ण ही नहीं है अपितु ब्रह्म ही जगत का धारण-पोषण करने वाला है। इसी भाव को गीता में ब्रह्म जगत् का 'धाता' है[५] द्वारा व्यक्त किया किया गया है। ब्रह्म संपूर्ण जगत् को (अपनी योगमाया के) एक अंशमात्र से धारण किए हुए है[६]। वस्तुतः जगत् ब्रह्म में ही आश्रित है। गीता में 'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्[७]' के द्वारा ब्रह्म को जगत् का परम आश्रय कहा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गीता' में जगत् को ब्रह्म से परिपूर्ण एवं परिव्याप्त माना गया है एवं ब्रह्म के कारण ही उसकी स्थिति है।

जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति के अतिरिक्त उसका लय भी ब्रह्म में होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं[८]। ब्रह्म ही सृष्टियों का आदि अन्त और मध्य हैं[९]। जगत् के

१—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।८।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।१०।

३—मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।७।

४—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।४।

५—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।१७

६—विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।४२।

७—श्रीमद्भगवद्गीता, ११।१८।

८—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।७।

९—सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।३२।

अवान्तर आविर्भाव काल को पौराणिक-कल्पना के अनुसार 'गीता' में ब्रह्मा का दिन कहा गया है और अवान्तर तिरोभाव काल को ब्रह्मा की रात्रि कहा गया है[1]। इसी प्रसंग में कहा गया है कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अव्यक्त अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त अथवा ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही लय होते हैं[2]। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि इस जगत् की उत्पत्ति की भांति ही उसका लय स्थान भी ब्रह्म ही है।

'कठोपनिषद्' में जिस अश्वत्थरूप जगत् भावना का वर्णन किया गया है उसी का सुविस्तृत प्रतिपादन 'गीता' में भी हुआ है। 'गीता' के पंचदश अध्याय में अश्वत्थरूप जगत् का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस अश्वत्थ वृक्ष की एक जड़ या मूल (ब्रह्म) ऊपर है और अनेक शाखाएं नीचे हैं। इसका कभी नाश नहीं होता। वेद इसके पत्ते हैं। इस वृक्ष का ज्ञाता सच्चा वेदवेत्ता है। नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएं फैली हुई हैं, जो गुणों (सत, रज, तम) से पली हुई हैं और जिनसे (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधरूपी) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं एवं अन्त में कर्म का रूप पाने वाली उसकी जड़ नीचे मनुष्यलोक में बढ़ती गहरी चली गई है अत्यन्त गहरी जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को अनासक्ति या वैराग्य की कुठार से काटना चाहिए[3]। जगत् रूप सृष्टि का यह प्रसार ही नामरूपात्मक कर्म है एवं कर्म सृष्टि की भांति ही अनादि है। इसमें आसक्ति बुद्धि त्यागने से ही इसका क्षय हो जाता है, अन्यथा नहीं। इसी को ध्यान में रख कर गीता अनासक्ति की कुठार से कर्मरूप जगत्वृक्ष के उन्मूलन का प्रस्ताव करती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता की जगत्-भावना

१—श्रीमद् भगवद् गीता, ८।१७।

२—अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ८।१८।

३—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणाप्रवृद्धा विषयप्रवाला,।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥
अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूलमसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, १५।१-३।

कृष्ण ने कहा है कि मैं ही संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूं और मेरे से ही सब जगत् चेष्टा करता है[1]। इससे सिद्ध होता है कि गीता के अनुसार जगत् का मूलकारण परब्रह्म ही है और इसी की योगमाया से समस्त चराचर जगत् की रचना होती है[2]।

गीता के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है एवं सूत्र में माला के मणियों के सदृश ब्रह्म में गुंथा हुआ है[3]। यह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु नहीं है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए कृष्ण ने पुनः कहा है कि मुझ परब्रह्म से यह सब जगत् परिपूर्ण है[4]। जगत् ब्रह्म से परिपूर्ण ही नहीं है अपितु ब्रह्म ही जगत का धारण-पोषण करने वाला है। इसी भाव को गीता में ब्रह्म जगत् का 'धाता' है[5] द्वारा व्यक्त किया किया गया है। ब्रह्म संपूर्ण जगत् को (अपनी योगमाया के) एक अंशमात्र से धारण किए हुए है[6]। वस्तुतः जगत् ब्रह्म में ही आश्रित है। गीता में 'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्[7]' के द्वारा ब्रह्म को जगत् का परम आश्रय कहा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गीता' में जगत् को ब्रह्म से परिपूर्ण एवं परिव्याप्त माना गया है एवं ब्रह्म के कारण ही उसकी स्थिति है।

जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति के अतिरिक्त उसका लय भी ब्रह्म में होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं[8]। ब्रह्म ही सृष्टियों का आदि अन्त और मध्य हैं[9]। जगत् के

१—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।८।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।१०।

३—मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।७।

४—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।४।

५—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।१७

६—विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।४२।

७—श्रीमद्भगवद्गीता, ११।१८।

८—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।७।

९—सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।३२।

अवान्तर आविर्भाव काल को पौराणिक-कल्पना के अनुसार 'गीता' में ब्रह्मा का दिन कहा गया है और अवान्तर तिरोभाव काल को ब्रह्मा की रात्रि कहा गया है[1]। इसी प्रसंग में कहा गया है कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अव्यक्त अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त अथवा ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही लय होते हैं[2]। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि इस जगत् की उत्पत्ति की भाँति ही उसका लय स्थान भी ब्रह्म ही है।

'कठोपनिषद्' में जिस अश्वत्थरूप जगत् भावना का वर्णन किया गया है उसी का सुविस्तृत प्रतिपादन 'गीता' में भी हुआ है। 'गीता' के पंचदश अध्याय में अश्वत्थरूप जगत् का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस अश्वत्थ वृक्ष की एक जड़ या मूल (ब्रह्म) ऊपर है और अनेक शाखाएं नीचे हैं। इसका कभी नाश नहीं होता। वेद इसके पत्ते हैं। इस वृक्ष का ज्ञाता सच्चा वेदवेत्ता है। नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएं फैली हुई हैं, जो गुणों (सत, रज, तम) से पली हुई हैं और जिनसे (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधरूपी) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं एवं अन्त में कर्म का रूप पाने वाली उसकी जड़ नीचे मनुष्यलोक में बढ़ती गहरी चली गई है अत्यन्त गहरी जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को अनासक्ति या वैराग्य की कुठार से काटना चाहिए[3]। जगत् रूप सृष्टि का यह प्रसार ही नामरूपात्मक कर्म है एवं कर्म सृष्टि की भाँति ही अनादि है। इसमें आसक्ति बुद्धि त्यागने से ही इसका क्षय हो जाता है, अन्यथा नहीं। इसी को ध्यान में रख कर गीता अनासक्ति की कुठार से कर्मरूप जगत्वृक्ष के उन्मूलन का प्रस्ताव करती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता की जगत्-भावना

१—श्रीमद् भगवद् गीता, ८।१७।

२—अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राव्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ८।१८।

३—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणाप्रवृद्धा विषयप्रवाला,।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥
अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूलमसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, १५।१-३।

और उपनिषदों की जगत्-भावना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वह मूलतः एक ही प्रकार की है।

सांख्य में जगत् का विवेचन

सांख्यमत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति अनादि एवं स्वयंभू प्रकृति से होती है। साँख्यकारिका में 'कारणमस्त्यव्यक्त'[१] के द्वारा अव्यक्त या प्रकृति को जगत् का मूल कारण कहा गया है। 'साँख्यकारिका' के गौड़पादभाष्य में भी प्रकृति को सम्पूर्ण जगत्-प्रसवा निर्दिष्ट किया गया है[२]। प्रकृति से जिस क्रम द्वारा जगत् या 'व्यक्त' अभिव्यक्त होता है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन हमने 'सृष्टिक्रम' में किया है। यहाँ संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रकृति से क्रमशः बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रियां तथा पंचतन्मात्राएं और पंचतन्मात्राओं से पंच-महाभूत उत्पन्न होते हैं[३]। उपर्युक्त तत्वों में से 'व्यक्त' में महतत्त्व (बुद्धि) अहंकार पंचतन्मात्रा, एकादश इन्द्रियाँ तथा पन्चमहाभूत नामक तेइस तत्व रहते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि प्रकृति का कार्यरूप जगत् तेइस तत्वों का परिणाम है। जिस प्रकार सांख्य में जगत् की उत्पत्ति प्रकृति से विज्ञापित है, उसी प्रकार जगत् का लय भी प्रकृति में माना गया है। कार्य का अपने कारण में विलीन होना ही युक्ति संगत है। 'सांख्यकारिका' के गौड़-पादभाष्य में कहा गया है कि 'पृथिव्यादि भूतकार्यों का जिस मूल कारण से आविर्भाव तथा उसमें लय होता है, वह मूल कारण अव्यक्त, प्रधान अथवा प्रकृति है। जिस प्रकार कच्छप के हाथ-पैर इत्यादि शरीर के अवयव उसके शरीर में रहते हुए भी बाहर निकलते तथा भीतर पैठ जाते हैं उसी प्रकार प्रधान कारण में विद्यमान महदादि कार्यों की उत्पत्ति तथा उनमें लय होता है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि जगत् की उत्पत्ति एवं लयस्थान प्रकृति ही है।

सांख्य में 'व्यक्त' अथवा जगत् के गुण या धर्मों का वर्णन भी किया गया है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि व्यक्त कारणयुक्त, अनित्य, अव्यापक, क्रियासहित, अनेक रूपात्मक, आश्रित, लिंग, अवयवसहित एवं परतन्त्र

१—सांख्यकारिका, ९६।

२—साँख्यकारिका, गौड़पादभाष्य,।

३—सांख्यकारिका, २२।

४—सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य, ३।

५—सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य १६।

हैं।[1] इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्त कार्य अपने 'कारण' से आविर्भूत होते हैं। यह 'अनित्य' अर्थात् परिवर्तनशील है, इनका तिरोभाव भी होता है। व्यापक होने से क्रिया न होगी, इसलिए व्यक्त एकदेशीय या अव्यापक हैं। ये 'सक्रिय हैं। अर्थात् क्रियायुक्त हैं। गुणों के कारण व्यक्त 'नानारूप' को अभिव्यक्त करते हैं। सृष्टि भेद से भिन्न-भिन्न होने से भी व्यक्त अनेक रूपात्मक है। प्रत्येक व्यक्त अपने अपने कारणों में 'आश्रित' है जैसे महत्तत्व प्रधान में, अहंकार बुद्धि में। ये 'लिंग' हैं, अर्थात् व्यक्त कार्य अव्यक्त के ज्ञापक या सूचक हैं। इनमें सत्व, रज एवं तमोगुण का मेल है, इसलिए ये 'सावयव' हैं। प्रत्येक व्यक्त अपने अस्तित्व के लिए अपने कारण पर निर्भर हैं। अतएव यह परतन्त्र है। 'सांख्यकारिका' में व्यक्त एवं अव्यक्त में समानता निर्दिष्ट करते समय व्यक्त को त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मि कहा है।[2] इस कथन का अभिप्राय यह है कि व्यक्त तीनों गुणों से युक्त हैं। जड़ प्रकृति के कार्य होने के कारण अविवेकी है, अर्थात् स्वयं अपने को दूसरों से पृथक नहीं कर सकते हैं। ज्ञान से भिन्न और सबके भोग की वस्तु होने के कारण विषय हैं। सकल साधारण व्यक्तियों के लिए इनका प्रयोजन होने के कारण सामान्य हैं। पुरुष से भिन्न होने के कारण ये जड़ या अचेतन हैं। समान तथा असमान परिमाण को सतत् उत्पन्न करने के कारण व्यक्त प्रसवधर्मि है। इससे यह प्रकट होता है कि सांख्य में जगत् की भावना सृष्टि के पच्चीस तत्वों में से पुरुष-प्रकृति को जोड़कर तेइस तत्वों की मीमांसा द्वारा व्यक्त हुई है। इन तेइस तत्वों को ही सांख्य में व्यक्त अथवा जगत् कार्य कहते हैं। यह तेइस तत्वरूप दृष्ट जगत् प्रकृति और पुरुष के संयोग का फल है।[3] सृष्टि के निमित्त दोनों का संयोग अवश्य होता है किन्तु पुरुष के अकर्ता होने के कारण जगत् की अभिव्यक्ति प्रकृति ही करती है। इसीलिए सांख्यकारिका के आधार पर प्रारम्भ में ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि जगत् या सृष्टि का मूलकारण प्रकृति है।

१—हेतु मदनित्य मव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितम् लिङ्गम्।
सावयवंपरतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

—सांख्यकारिका, १०।

२—त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि।

—सांख्यकारिका, ११।

३—दर्शन-संग्रह, पृ० ३५।

सांख्य एवं उपनिषद्-गीता की जगत् भावना में मुख्य अन्तर यह है कि उपनिषद् एवं गीता में जगत् का मूलकारण ब्रह्म माना गया है, इसके विपरीत सांख्य में जड़ प्रकृति को जगत्-कार्य का मूल कारण निर्दिष्ट किया गया है। उपनिषद एवं गीता में प्रकृति रूप माया ब्रह्म के अधिष्ठान के सृष्टि कार्य करती हैं किन्तु सांख्य के अनुसार प्रकृति पुरुष से रचना के हेतु संयुक्त अवश्य होती है, पर वह स्वतन्त्र है और कारणभूत तत्व होने के कारण जगत् क्रमशः उसी से अभिव्यक्त होता है।

नाथ-सम्प्रदाय में जगत् भावना

नाथ-सम्प्रदाय में जगत् प्रपंच कार्य का मूलकारण 'शक्ति' निर्दिष्ट है। परम शिव से स्वयं आविर्भूत होकर 'शक्ति' स्वयमेव सृष्टि विधान करती है[1]। यद्यपि नाथ-सम्प्रदाय में 'शक्ति' परमशिव की 'सिसृक्षा' या सृष्टि की इच्छा है, *तथापि चिन्मात्र परब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण यह* चिद्रूपा भी है। शक्ति ने ही सृष्टि विधान के द्वारा जगत् को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में कल्पित किया है। इस प्रकार शक्ति ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृ रूप त्रिपुटीकृत जगत् की पुरोवर्तिनी आदिभूता तत्व है[2]। शक्ति निश्चय ही परमशिव की 'सिसृक्षा' है किन्तु चिद्रूप या चेतन होने के कारण जब शक्ति जगत् रूप में व्यक्त होती है तो उस अवस्था में परमशिव तत्व की उसे आकांक्षा नहीं होती[3]। 'कौलज्ञान निर्णय' में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है कि शिव की इच्छा (सिसृक्षा) से सम्पूर्ण जगत की सृष्टि होती है और उसी में सब कुछ लीन हो जाता है[4]। इसका अभिप्राय यही है कि शक्ति ही जगत का मूल कारण है। यही शिव की 'सिसृक्षा' है। नाथ-सम्प्रदाय की साधनापरक रचनाओं में भी 'सक्ति कुण्डलिनी त्रिभुवन जननी'[5] के द्वारा जगत कार्य का कारण शक्ति को ही निर्दिष्ट किया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय और शैवतन्त्र में शक्ति से आविर्भूत जगत् की अभिव्यक्ति में ३६ तत्वों की चर्चा की जाती है[6]। 'परशिव' की 'सिसृक्षा' रूप 'शक्ति'

१—नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ६५।
२— ,, पृ० ६५।
३—नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ६५।
४— ,, पृ० ६६।
५—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ६९।
६—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३६।

द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति होने के समय शिव दो रूप में प्रकट होते हैं--'सदाशिव' और 'ईश्वर'[1]। जगत् अहं रूप में समझने वाला तत्व सदाशिव की शक्ति को 'शुद्ध विद्या' कहते हैं[2] और ईश्वर की वृत्ति का नाम 'माया' है[3]। शुद्ध विद्या को आच्छादन करने वाली अविद्या है। यह सातवाँ तत्व है[4]। माया के बंधन से शिव की क्रियाशक्ति संकुचित होकर 'कला' कहलाती है[5]। फिर उनकी नित्यतृप्तता संकुचित होकर 'राग' तत्व कही जाती है[6]। जब शिव का नित्यत्व संकुचित होकर छोटी सीमा में बंध जाता है, तो इसे 'काल' कहते हैं[7]। उनका सर्व व्यापकत्व भी जब संकुचित होकर नियत देश में संकीर्ण हो जाता है तो इसे 'नियति' तत्व कहते हैं[8]। इस प्रकार माया के उपरान्त के अविद्या, कला, राग काल एवं नियति तत्वों या कंचुक से बद्ध होकर शिव ही जीवरूप में प्रकट होते हैं[9]। यह जीव' ही बारहवाँ तत्व है। यही सांख्य का 'पुरुष' है। इसके उपरान्त तत्वों का क्रम वही है, जो साँख्य में मान्य है[10]। तन्त्र, शैवमत और नाथ-सम्प्रदाय सांख्य के २४ तत्वों के अतिरिक्त उपर्युक्त बारह तत्वों को अधिक मानते हैं[11]। इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय में ३६ तत्वों के स्फुरण से जगत् कार्य का सामञ्जस्य किया गया है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि समस्त जगत् प्रपंच शिव की 'सिसृक्षा' या शक्ति से उत्पन्न होकर उसी में लय होता है।

गोरक्षनाथ की साधनापरक रचनाओं में जगत् के उपर्युक्त विवरण की व्याख्या उपलब्ध नहीं है किन्तु 'अविगत' या परशिव की इच्छा (सिसृक्षा) से पंचभूतात्मक जगत् कार्य का उल्लेख अवश्य हुआ है[12]। अन्यत्र गोरक्षनाथ ने

१--नाथ-सम्प्रदाय पृ० ३६।
२-- " "
३-- " "
४-- " पृ० ६७।
५-- " पृ० ६७।
६-- " "
७-- " "
८-- " "
९-- " "
१०--नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६६।
११--नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६६।
१२--गोरखबानी, पृ० २३३।

'पंच तत ले उतपना सकल संसार'[१] के द्वारा जगत् को पंचभूतात्मक निर्दिष्ट किया भी है।

निर्गुण काव्य में जगत् भावना

निर्गुण-काव्य में जगत्-भावना परम्परागत जगत् भावना से भिन्न नहीं है। वस्तुत: निर्गुण-काव्य में उपनिषद् एवं गीता के अनुसार ही जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी गई है। सब निर्गुणमार्गी सन्तों ने जगत् का मूल कारण ब्रह्म को माना है। कबीर ने 'ऊँकारे जग ऊपजै'[२] के द्वारा अक्षर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति निर्दिष्ट की है। दादूदयाल ने भी ब्रह्म के प्रथम विवर्त प्रणव ॐ अथवा शब्द-ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बताते हुए कहा है कि अक्षर ब्रह्म से पंचभूतों की उत्पत्ति हुई जिससे नानाधर्मी जगत् ने व्यक्त रूप धारण किया।[३] सुन्दरदास ने जहाँ सांख्य के अनुसार प्रकृति से महत्तत्व एवं अहंकार इत्यादि की क्रमिक उत्पत्ति का वर्णन किया है, यहाँ उन्होंने 'ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई'[४] के द्वारा जगत् का मूलभूत कारण ब्रह्म को ही बताया है। प्रकृति ब्रह्म के अधिष्ठान में ही रचना करती है, स्वतन्त्र रूपेण नहीं। बिहार के दरियासाहब ने कहा है कि नानारूप सृष्टि का मूल तत्व एक ब्रह्म ही है।[५] अन्यत्र दरिया-साहब ने स्पष्ट शब्दों में परब्रह्म से ही जगत् की रचना कही है।[६] इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत-कवि जगत् की उत्पत्ति परब्रह्म से मानते हैं, अर्थात् जगत् का कारणभूत तत्व ब्रह्म है।

१—गोरखबानी, पृ० १६९।

२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२६।

३—पहली कीया आप थैं उत्पत्ती ऊँकार।
ऊँकार थैं ऊपजै पंच तत्त आकार॥
पंच तत्त थैं घट भया, बहुविधि सब विस्तार।
दादू घट तैं ऊपजै, मैं तैं बरण विचार॥
—संत बानी संग्रह, भाग, १, पृ० ७७, ७८।

४—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ५९०।

५—अनंत एक से एक होत हैं, साख पत्र लखु मूल।
—दरियासागर, पृ० ८।

६—एकै ब्रह्म सकल घट सोई। ताहि चिन्हहु सतसंगति होई॥
तिन्हि रचल यहु सकल जहाना। आदि अंत सत परधाना॥
—दरियासागर, पृ० ३०।

ब्रह्म से जिस क्रम से जगत् उत्तरोत्तर सूक्ष्म से स्थूल होता हुआ सृष्टि में आता है, उसका वर्णन हम 'सृष्टि क्रम' में कर चुके हैं। यहां उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म से पंचभूतों की उत्पत्ति होती है जिसका परिणाम व्यक्त जगत् है। यह पंचभूतात्मक जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में लय होता है। कबीर ने जगत् के लय क्रम का वर्णन करते हुए कहा है, कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश क्रम से अपने कारण में विलीन हो जाते हैं और अन्त में केवल ब्रह्म-तत्व ही रह जाता है[1]। बिहार के दरिया साहब ने कहा है कि परब्रह्म से नानातत्व धर्मी जगत प्रकट होकर अन्तकाल में पुनः उस एकमात्र कारणभूत तत्व में मिल जाता है[2]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण-काव्य में ब्रह्म से ही जगत की उत्पत्ति मानी गई है और उसी में जगत् का लय होता है।

जगत ब्रह्म की रचना है, अतएव उसे सत स्वरूप होना चाहिए। पर सन्त कवियों ने निरन्तर जगत को मिथ्या और असार कहा है। कबीर,[3] दादू,[4] सुन्दरदास[5] इत्यादि सन्तों ने जगत को असार, मायिक और मिथ्या कहा है। वस्तुतः इसमें कोई विरोध नहीं है। विशिष्ट अर्थ में जगत् सत्य भी है और मिथ्या भी है। ब्रह्मकृत होने के कारण जगत सत्य है, किन्तु नित्य परिवर्तन एवं विनाश को प्राप्त होने वाले नाम रूप और कर्म अर्थात् माया का समूह होने के कारण अनित्य अर्थात् मिथ्या है। यह जगत नानात्वधर्मी नामरूप है। इसमें नित्य परिवर्तन होते हैं। स्थिति और विनाश इसका धर्म है। 'नित्य' तत्व के विपरीत यह अनित्य है। इसीलिए यह मिथ्या है। सार' तत्व के विपरीत यह असार है। इसीलिए त्याज्य है। नाम रूप एवं कर्म का त्रयस्थल

१—कबीर की विचारधारा, पृ० २५३

२—एकै सौं, अनंत भौ, फूटि डारि विस्तार।
अन्तहूं फिरि एक है, ताहि खोजु निजु सार॥

—दरियासागर, पृ० २।

३—यौ ऐसा संसार है जैसा सेवल फूल।
दिन दस के व्यौहार को झूठे रंगि न भूल॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ० २१।

४—दादू माया विस्तरी, परम तत्त यह नाहिं॥

—दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ०२००

५—ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई, प्रकृति ते महतत्व अहंकार है।
ऐसे अनुक्रम से लिस्यन सों कहत सुन्दर यह सकल मिथ्या भ्रमजार है॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ५९०

जगत् स्थूल होकर मायिक आवरण में ब्रह्म का अध्यारोप करता है। इसीलिए नित्य एवं सारभूत तत्व का आच्छादन करने के कारण जगत् को अनित्य एवं असार कह कर सन्तों ने त्याज्य निर्दिष्ट किया है। सन्त-काव्य में जहां भी जगत् को मिथ्या आदि कहा गया है, वहाँ उसका अनस्तित्व नहीं प्रकट किया गया है, अपितु उसके विनाशशील एवं अनित्य नाम रूप की निरर्थकता प्रकट की है। इस नामरूपात्मक अनित्य जगत् से निस्संग होकर ही इसके कारणभूत मूल तत्व को प्राप्त किया जा सकता हैं।

निर्गुण-काव्य में कठोपनिषद् एवं गीता की भांति जगत भावना एक ऐसे वृक्ष के रूप में व्यक्त की गई है जो ऊर्ध्वमूल अधः शाखा है। कबीर ने वृक्षरूप जगत का वर्णन करते हुये कहा है कि इसकी जड़ ऊपर है और फल-फूल या विस्तार नीचे की ओर है[1]। संसार-वृक्ष के इस रूपक से ब्रह्म और संसार का सम्वन्ध स्पष्ट है। इसमें ब्रह्म को जगत का कारण ध्वनित किया गया है। वताया गया है कि ब्रह्म ही वृक्षरूप जगत का मूल है। सुन्दरदास ने भी वृक्षरूप जगत की परम्परागत भावना को व्यक्त किया है[2]। संत धर्मदास ने 'तरे भई हाडर उपर भयो मूल'[3] द्वारा अधः शाखा ऊर्ध्वमूल जगत वृक्ष का वर्णन ही किया है। संत दरिया साहव (विहार) ने 'अक्षैवृच्छ ओइ पुरुप हहि[4]' के द्वारा वृक्षरूप जगत के मूल में ब्रह्म या पुरुप को ही निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार निर्गुण-काव्य में परम्परागत भावना के अनुसार जगत का वृक्ष रूप में वर्णन किया गया है और ब्रह्म ही इसका मूल कारण प्रतिपादित किया गया है।

निर्गुण-काव्य की उपर्युक्त जगत भावना के वर्णन से स्पष्ट हो जाता हैं कि इसमें जगत की उत्पत्ति एवं उसका लय स्थान ब्रह्म निर्दिष्ट है। नामरूप के नानाधर्म एवं वर्ण का परिवर्तनशील अनित्य प्रसार होने के अर्थ में जगत मिथ्या और अनित्य है। निर्गुण-काव्य की यह जगत भावना वेदान्त की परम्परागत जगत धारणा के अनुकूल है।

१—तलि कर शाखा उपरि करि मूल। वहुत भांति फल लागे फुल ॥

—कवीर ग्रन्थावली, पृ० ९२।

२—सुन्दर दर्शन,

पृ० २२६।

३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० १८।

४—दरियासागर, पृ० २०।

तुलसी साहब का जगत्—वर्णन

तुलसी साहब ने जगत का वर्णन व्यापकत्व के साथ नहीं किया है। तथापि उनकी रचनाओं में जगत की परम्परागत धारणा को व्यक्त करने वाले आवश्यक तत्व विद्यमान है। निम्नांकित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

ब्रह्म और जगत्

उपनिषदों के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि समस्त प्राचीन उपनिषद् समान रूप से जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से मानते हैं। वृहदारण्यक[1], मुण्डक[2] और कठ[3] ने स्पष्ट शब्दों में जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से कही है। 'गीता' में भी जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से कथित है[4]। कबीर[5] आदि निर्गुण सन्तों ने भी ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति निर्दिष्ट की है। पूर्ववर्ती साधकों के अनुसार ही तुलसी साहब ने भी ब्रह्म को जगत्कर्ता बताया है। 'सृष्टि क्रम' में हमने प्रतिपादित किया है कि संत तुलसी ने सृष्टि का मूल कारण सत्यपुरुष अथवा शब्द-ब्रह्म को माना है। इसके अतिरिक्त उनके विभिन्न ग्रन्थों में ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति निर्दिष्ट करने वाली अनेक उक्तियां उपलब्ध हैं। 'शब्दावली' में तुलसी साहब ने कहा है कि एकमात्र अलख अव्यक्त ब्रह्म ने समस्त जगत कार्य की रचना की है—

'एक अलख ही पलक में, खलक रचा सब सोई[6]।' 'शब्दावली' में ही तुलसी साहब ने आत्मा (ब्रह्म) को सृष्टि का कारण कहा है—

'हम कीन्हा खेल पसारी, सब रचना रीत हमारी[7]।

'घटरामायण' में तुलसी साहब ने स्पष्ट कहा है कि ब्रह्माण्ड का कर्ता आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है-

---

१—वृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०।
२—मुण्डकोपनिषद् १।१।७।
३—कठोपनिषद् २।३।२।
४—श्रीमद् भगवद् गीता, १०।८।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२६।
६—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० १०३।
७— ,, द्वितीय भाग, पृ२ २२७।

'अंड खंड ब्रह्मंड कोई करता नहीं।
हमरा सकल पसार, सार हमसे भई ॥[1]'

'रत्नसागर' में उन्होंने कहा है कि आदि से अन्त तक समस्त जगत कार्य सुरति या आत्मा (ब्रह्म) की सत्ता है—

यह सब सता सुरत की जानी। पूरब से उत्तर सहदानी[2] ॥

'घटरामायण' में तुलसी साहब ने सत्यपुरुष (ब्रह्म) को ही जगतकर्ता निर्दिष्ट किया है—

जबै सतपुरुष रहे सुख धाम, सोजा में बसें सतलोक कहायो ॥
ताने कियो सब ठाट वैराट, सो सोलाविखान को ताने बनायो ॥[3]

इससे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि तुलसी साहब जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से मानते हैं। ब्रह्म से जगत की क्रमशः उत्पत्ति का वर्णन हमने 'सृष्टि क्रम' के अन्तर्गत किया हैं, अतएव यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं की गई है। उत्पत्ति की भाँति ही जगत का लय भी ब्रह्म में होता है। तुलसी साहब ने 'अलख में खलक' समाना[4] के द्वारा जगत का ब्रह्म में लय बताया है।

माया और जगत्

उपनिषदों में कहा गया हैं कि अपनी जिस शक्ति के द्वारा ब्रह्म नामरूप धारण करता है, वह माया है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में अविद्या को नाम रूप और कर्म का समुदाय कहा गया है। जगत के प्रसंग में हम प्रारम्भ में ही निर्दिष्ट कर चुके हैं कि नामरूप की यह दृश्य सृष्टि ही जगत है। इससे जगत और माया का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता हैं। वस्तुतः नामरूप जगत है और नामरूप ही माया हैं। इसी आधार पर ब्रह्मकृत होने पर भी जगत को माया का प्रसार कहा जाता है। गीता में कहा गया है कि ब्रह्म की अध्यक्षता में माया चराचर जगत की रचना करती है[6]। सांख्य में तो स्वतन्त्र प्रकृति को ही जागत का मूल कारण निर्दिष्ट किया गया है[7]। नाथयोगियों के सम्प्रदाय में भी

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५६।
२—रत्नसागर, पृ० १४।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ९९।
४—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २५७।
५—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।६।१।
६—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।१०।
७—सांख्यकारिका, १६।

परमशिव की 'सिसृक्षा' या शक्ति को ही जगत्कर्त्री कहा गया है।[1] निर्गुण-काव्य में भी जगत को माया का प्रसार कहा गया है। संत तुलसी ने भी जगत रचना की शक्ति माया ही कहीहै। 'सृष्टि क्रम' एवं 'माया' के अन्तर्गत हमने प्रतिपादित किया है, कि ब्रह्म की आधीनस्थ शक्ति माया निरंजन के संयोग से सृष्टि प्रसार करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जगत्कार्य का प्रसार माया के द्वारा ही होता है। इसी को ध्यान में रखकर तुलसी साहब ने 'घटरामायण' में कहा है कि निरंजन और ज्योति (माया) ने पंचभूतों के सृष्टि कार्य का प्रसार और विस्तार किया है---

मनहिं निरंजन पुरुष बखानी। इच्छा जोती नारि कहानी।
पांच तत्त ब्रह्मंड पसारा। जहं लगि अंड कीन्ह विस्तारा[2] ॥

नाथ-सम्प्रदाय में जगत वर्णन के प्रसंग में हम लक्ष्य कर चुके हैं कि गोरक्षनाथ ने भी शिव की 'सिसृक्षा' या 'इच्छा' रूप शक्ति (माया) के द्वारा पंचभूतात्मक जगत कार्य की चर्चा की है।

रत्नसागर' में भी कहा गया है कि परब्रह्म से उत्पन्न माया ने पंचभूतात्मक सृष्टि की है---

प्रथम पुरुष विदेह बिन काया। जा से भई निरंजन माया।
माया पांच तत्व उपजाया। यो रचि अस बौराट बनाया[3] ॥

वस्तुतः पंचभूतों के रूप में माया ही है अथवा यह समस्त जगत पंचभूतात्मक है---

गोलाकार अकार में, पांचों तत्त समान।
सब रचना ऐसे भई, यो यह अंड विधान ॥[4]

पंचभूत अनित्य हैं[5], अतएव पंचभूतों से निर्मित यह जगत भी अनित्य है। इसी अर्थ में तुलसी साहब ने जगत को मायिक कह कर उसका प्रत्याख्यान किया है। तुलसी साहब जब कहते हैं कि जगत माया और काल के आधीन

१—नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ६५।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७१।
३—रत्नसागर, पृ० २।
४— ,, पृ० १५।
५—धरती गगन अकास, नास सब होइगे।
अगिनि पवन जल नाल, हमीं हम रहैंगे ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५६।

'अंड खंड ब्रह्मंड कोई करता नहीं।
हमरा सकल पसार, सार हमसे भई ॥[1]

'रत्नसागर' में उन्होंने कहा है कि आदि से अन्त तक समस्त जगत कार्य सुरति या आत्मा (ब्रह्म) की सत्ता है—

यह सब सता सुरत की जानी। पूरब से उत्तर सहदानी[2] ॥

'घटरामायण' में तुलसी साहब ने सत्यपुरुष (ब्रह्म) को ही जगतकर्ता निर्दिष्ट किया है—

जबै सतपुरुप रहे सुख धाम, सोजा में बसैं सतलोक कहायो ॥
ताने कियो सब ठाट बैराट, सो सोलाविखान को ताने बनायो ॥[3]

इससे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि तुलसी साहब जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से मानते हैं। ब्रह्म से जगत की क्रमशः उत्पत्ति का वर्णन हमने 'सृष्टि क्रम' के अन्तर्गत किया है, अतएव यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं की गई है। उत्पत्ति की भाँति ही जगत का लय भी ब्रह्म में होता है। तुलसी साहब ने 'अलख में खलक' समाना[4] के द्वारा जगत का ब्रह्म में लय बताया है।

माया और जगत्

उपनिषदों में कहा गया है कि अपनी जिस शक्ति के द्वारा ब्रह्म नामरूप धारण करता है, वह माया है। 'वृहदारण्यकोपनिपद्' में अविद्या को नाम रूप और कर्म का समुदाय कहा गया है। जगत के प्रसंग में हम प्रारम्भ में ही निर्दिष्ट कर चुके हैं कि नामरूप की यह दृश्य सृष्टि ही जगत है। इससे जगत और माया का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः नामरूप जगत है और नामरूप ही माया है। इसी आधार पर ब्रह्मकृत होने पर भी जगत को माया का प्रसार कहा जाता है। गीता में कहा गया है कि ब्रह्म की अध्यक्षता में माया चराचर जगत की रचना करती है[6]। साँख्य में तो स्वतन्त्र प्रकृति को ही जागत का मूल कारण निर्दिष्ट किया गया है[7]। नाथयोगियों के सम्प्रदाय में भी

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५६।
२—रत्नसागर, पृ० १४।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ९९।
४—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २५७।
५—वृहदारण्यकोपनिषद्, १।६।१।
६—श्रीमद् भगवद् गीता, ९।१०।
७—साँख्यकारिका, १६।

परमशिव की 'सिसृक्षा' या शक्ति को ही जगत्कर्त्री कहा गया है।[1] निर्गुण-काव्य में भी जगत को माया का प्रसार कहा गया है। संत तुलसी ने भी जगत रचना की शक्ति माया ही कहीहै। 'सृष्टि क्रम' एवं 'माया' के अन्तर्गत हमने प्रतिपादित किया है, कि ब्रह्म की आधीनस्थ शक्ति माया निरंजन के संयोग से सृष्टि प्रसार करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जगत्कार्य का प्रसार माया के द्वारा ही होता है। इसी को ध्यान में रखकर तुलसी साहब ने 'घटरामायण' में कहा है कि निरंजन और ज्योति (माया) ने पंचभूतों के सृष्टि कार्य का प्रसार और विस्तार किया है---

मनहिं निरंजन पुरुष बखानी। इच्छा जोती नारि कहानी।
पांच तत्त ब्रह्मंड पसारा। जहं लगि अंड कीन्ह विस्तारा[2]॥

नाथ-सम्प्रदाय में जगत वर्णन के प्रसंग में हम लक्ष्य कर चुके हैं कि गोरक्षनाथ ने भी शिव की 'सिसृक्षा' या 'इच्छा' रूप शक्ति (माया) के द्वारा पंचभूतात्मक जगत कार्य की चर्चा की है।

रत्नसागर' में भी कहा गया है कि परब्रह्म से उत्पन्न माया ने पंचभूतात्मक सृष्टि की है---

प्रथम पुरुष विदेह बिन काया। जा से भई निरंजन माया।
माया पांच तत्व उपजाया। यो रचि अस वौराट बनाया[3]॥

वस्तुतः पंचभूतों के रूप में माया ही है अथवा यह समस्त जगत पंचभूतात्मक है---

गोलाकार अकार में, पांचों तत्त समान।
सब रचना ऐसे भई, यो यह अंड विधान॥[4]

पंचभूत अनित्य हैं[5], अतएव पंचभूतों से निर्मित यह जगत भी अनित्य है। इसी अर्थ में तुलसी साहब ने जगत को मायिक कह कर उसका प्रत्याख्यान किया है। तुलसी साहब जब कहते हैं कि जगत माया और काल के आधीन

१—नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ६५।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७१।
३—रत्नसागर, पृ० २।
४— ,, पृ० १५।
५—धरती गगन अकास, नास सब होइगे।
अगिनि पवन जल नाल, हमीं हम रहैंगे॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५६।

है,[1] त्रिगुण से यह डूबता है[2] तो उनका अभिप्राय यही है कि माया का प्रसार जगत अनित्य है ।

जगत् की अश्वत्थ भावना

उपनिषदों में जगत् के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय हम कह चुके हैं कि कठोपनिषद् में अश्वत्थ रूप जगत का वर्णन ऊर्ध्वमूल शाखा वृक्ष के रूप में किया गया है[3] । ऊर्ध्वमूल का अभिप्राय जगत का मूल कारण ब्रह्म को निर्दिष्ट करना है । गीता में भी जगत की अश्वत्थ भावना ऊर्ध्वमूल-अध: शाखा वृक्ष के रूप में व्यक्त हुई है[4]। कबीर ने भी एक ऐसे वृक्ष का वर्णन किया है जिसकी शाखायें नीचे की ओर हैं और मूल या जड़ ऊपर की ओर है[5] । निर्गुण-काव्य में जगत निरूपण करते समय हम कह चुके हैं कि जगत वृक्ष के इस वर्णन द्वारा कबीर ने ब्रह्म को इस जगत-वृक्ष का मूल बताया है । संत तुलसी ने भी एक ऐसे बड़ के वृक्ष का वर्णन किया है जिसकी शाखाएं नीचे की ओर हैं और जड़ ऊपर है--

दरखत एक है उलटा । कधी होवे नहीं सुलटा ।।
अगर वह पेड़ अड़ बड़ का । तले डारी अधर जड़ का ।।[6]

इन पंक्तियों में तुलसी साहब ने जगत की परम्परागत अश्वत्थ भावना का प्रतिपादन की किया है । 'तले डारी अधर जड़' के द्वारा उन्होंने इस वृक्ष को ऊर्ध्वमूल अध: शाखा कहा और इस वृक्ष का मूल 'अधर' बताकर ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति ध्वनित की है । इसी क्रम में तुलसी साहब ने कहा है कि विशाल जगत-वृक्ष एक सूक्ष्म बीज में से प्रादुर्भूत होता है—

पेड़ इतना बड़ा बड़ का । उसी बीजे से कढ़ता ।
डार और जड़ छिलका । मिहीं दाने में से निकला[7] ।।

१—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २५६ ।
२—तीन गुनन से जग बूड़त है, संत सभी कहिया ।
—शब्दावली द्वितीय भाग, पृ० २०३ ।
३—कठोपनिषद, २।३।१ ।
४—श्रीमद् भगवद् गीता, १५।१-३ ।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९२ ।
६—रत्नसागर, पृ० १७४ ।
७—रत्नसागर पृ० १७५ ।

जिस सूक्ष्म बीज से विशाल जगत वृक्ष की उत्पत्ति संत तुलसी ने निर्दिष्ट की है, वह वस्तुतः ब्रह्म है। 'गीता' में भी श्रीकृष्ण ने 'बीजमव्ययम्' के द्वारा ब्रह्म को समस्त भूतों का अव्यय बीज कहा है। जिस ब्रह्म तत्व से समस्त दृश्यमान् भूतात्मक जगत उत्पन्न होता है, उस अव्यय एवं सनातन बीजरूप ब्रह्म का वर्णन ही तुलसी साहब ने जगतवृक्षकर्ता सूक्ष्म बीज के रूप में किया है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब की जगत सम्बन्धी अश्वत्थ भावना और उपनिषद् गीता एवं पूर्ववर्ती निर्गुण-काव्य की तद्विषयक भावना में पूर्ण साम्य है।

जगत् भावना के अनेक रूप

माया का प्रसार होने के कारण अथवा पंचभूत इत्यादि नश्वर तत्वों से निर्मित होने के कारण नानात्म जगत् को अनित्यं, मिथ्या, क्षणिक, असार, भ्रम इत्यादि कहने की परम्परा का उल्लेख हम निर्गुण-काव्य में जगत भावना का निरूपण करते समय कर चुके हैं। तुलसी साहब ने भी परम्परागत जगत भावना का वर्णन अपनी विभिन्न रचनाओं में किया है। इसे निम्नांकित पद्धति पर व्यवस्थित किया जा सकता है—

(१) जगत् मिथ्या है—जगत ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण सत् है किंतु नाशमान् नामरूप का अध्यारोप होने के कारण मिथ्या है। मूलतत्व के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान में विक्षेप डालने के कारण भी यह दृश्य जगत मिथ्या है। तुलसी साहब ने जब 'संसार की समस्त क्रीड़ा मिथ्या का प्रसार हैं,[२] जगत का प्रसार मिथ्या हैं,[३] जगत मिथ्या हैं,[४] जगत का प्रत्येक कार्य मिथ्या है[५],

---

१—श्रीभगवद्गीता ९।१८।

२—खिलकत का खेल जान सबै झूठ पसारा।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २३।

३—दिना चार का खेल हैं, झूंठा जक्त पसार॥

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५४।

४—चेत चेत जग झूंठ है, मत भरमौ भव जाल।

—शब्दावली प्रथम भाग पृ० १४।

५—खिलकत जहान मुकाम का, झूंठा हैं सब काम।

—रत्नसागर, पृ० १७६।

है,[1] त्रिगुण से यह डूबता है[2] तो उनका अभिप्राय यही है कि माया का प्रसार जगत अनित्य है।

जगत् की अश्वत्थ भावना

उपनिषदों में जगत् के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय हम कह चुके हैं कि कठोपनिषद् में अश्वत्थ रूप जगत का वर्णन ऊर्ध्वमूल शाखा वृक्ष के रूप में किया गया है[3]। ऊर्ध्वमूल का अभिप्राय जगत का मूल कारण ब्रह्म को निर्दिष्ट करना है। गीता में भी जगत की अश्वत्थ भावना ऊर्ध्वमूल-अधः शाखा वृक्ष के रूप में व्यक्त हुई है[4]। कबीर ने भी एक ऐसे वृक्ष का वर्णन किया है जिसकी शाखायें नीचे की ओर हैं और मूल या जड़ ऊपर की ओर है[5]। निर्गुण-काव्य में जगत निरूपण करते समय हम कह चुके हैं कि जगत वृक्ष के इस वर्णन द्वारा कबीर ने ब्रह्म को इस जगत-वृक्ष का मूल बताया है। संत तुलसी ने भी एक ऐसे बड़ के वृक्ष का वर्णन किया है जिसकी शाखाएं नीचे की ओर हैं और जड़ ऊपर है--

> दरख्त एक है उलटा। कधी होवे नहीं सुलटा॥
> अगर वह पेड़ अड़ बड़ का। तले डारी अधर जड़ का॥[6]

इन पंक्तियों में तुलसी साहब ने जगत की परम्परागत अश्वत्थ भावना का प्रतिपादन की किया है। 'तले डारी अधर जड़' के द्वारा उन्होंने इस वृक्ष को ऊर्ध्वमूल अधः शाखा कहा और इस वृक्ष का मूल 'अधर' बताकर ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति ध्वनित की है। इसी क्रम में तुलसी साहब ने कहा है कि विशाल जगत-वृक्ष एक सूक्ष्म बीज में से प्रादुर्भूत होता है—

> पेड़ इतना बड़ा बड़ का। उसी बीजे से कढ़ता।
> डार और जड़ छिलका। मिहीं दाने में से निकला[7]॥

१—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २५६।

२—तीन गुनन से जग बूड़त है, संत सभी कहिया।
—शब्दावली द्वितीय भाग, पृ० २०३।

३—कठोपनिषद, २।३।१।

४—श्रीमद् भगवद् गीता, १५।१-३।

५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९२।

६—रत्नसागर, पृ० १७४।

७—रत्नसागर पृ० १७५।

और ये सब काल जाल जग बांधा[1] के द्वारा जगत् को कालाधीन निर्दिष्ट किया है। प्रकारान्तर से यही जगत् का विनाश है, यही उसकी नश्वरता और क्षणिकता है।

(४) जगत् स्वप्नवत् है—उपनिषदों में जगत् भावना का निरूपण करते समय हम निर्दिष्ट कर चुके हैं कि माण्डूक्योपनिषद् में जगत् को स्वप्न-वत् कहा गया है[2] उसी प्रसंग में हमने यह भी प्रतिपादित किया है। कि जगत् को स्वप्न कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि जगत् असत् है। वस्तुतः जगत को स्वप्न कहने का अभिप्राय यह है कि जगत् ठीक स्वप्न सृष्टि की भांति ही नानारूप है। और उसका सुख भी स्वप्न के सुख की भाँति मिथ्या है। तुलसी साहब ने जहाँ जगत् को स्वप्न[3] रात्रि का स्वप्न[4] एवं स्वप्नवत्[5] कहा है, वही वे यह भी कि कहते जगत् स्वप्न का सुख[6] अर्थात् मिथ्या सुख है। इसी प्रसंग में वे जगत् को स्वप्न की क्रीड़ा या ख्वाब का खेल कहते है।[7] अन्यत्र और भी स्पष्ट शब्दों में तुलसी साहब ने कहा है कि प्रियतम परमात्मा के बिना जगत् स्वप्न है।[8] यहाँ उनका अभिप्राय यही है कि ब्रह्म पर अध्यारोप होने के कारण नानारूप जगत् नानारूप स्वप्न सृष्टि की भाँति ही मिथ्या है। स्वप्न अचेता-वस्था में भासता है, उसी प्रकार जगत् में आकर्षण करता है। ज्ञान प्राप्त होने पर नानारूप अनित्य जगत् के मूल में नित्य तत्व प्रकाशित हो उठता है। अतएव तुलसी साहब जब जगत् को स्वप्नवत् निर्दिष्ट करते हैं, तब उनका

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १५७।

२—माण्डूक्योपनितद्, २।३१

३—सुपना जग जान अजान जिय।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५१।

४—देख जग रैन का सुपना।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६६।

५—यह जग सो सुपने सम देखा।

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८६।

६ सुपने का सुख देखि भुलाना। जग का सुख है ताहि समाना॥

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १११।

७ यहि ख्वाब का खेल कहावतता है।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४१।

८—सखो पिया बिन जग सुपनो।

—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ०२६९।

जगत का पथ मिथ्या है[1] कह कर जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है, तव उनका अभिप्राय यही है कि विनाशशील नामरूप का प्रसार सत्य तत्व नहीं हैं। यह तो सत्य के ज्ञान में आवरण और विक्षेप है। इसी अर्थ में जगत् मिथ्या है।

(२) जगत् असार है—सारभूत तत्व ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त अन्य सब कुज असार है। इसी अर्थ में नामरूपात्मक दृश्य जगत् भी असार हैं। सारभूत तत्व का आच्छादन करने के कारण भी जगत् सन्तों की दृष्टि में असार है। तुलसी साहब ने जव भव कूप असार[2] देख जगत असारा[3] जग नहिन सार असार सखिरी[4] कहा है तव उनका अभिप्राय यही है कि जगत सार तत्व नहीं है एवं सारभूत तत्व ब्रह्म का आच्छादक होने के कारण भी त्याज्य है।

(३) जगत् नश्वर है—इसका प्रतिपादन हम प्रारम्भ में ही कर चुके है कि समस्त नामरूप अनित्य हैं। इसी अर्थ में जगत् नश्वर है। तुलसी साहब ने एक पल में फना होत जक्त असारा[5] दिना चार का जक्त खेल है[6] के द्वारा जगत् की नश्वरता एवं क्षणिकता का प्रतिपादन किया है। जगत की नश्वरता एवं क्षणिकता को प्रकट करने के लिए ही तुलसी साहब ने इसकी तुलना ओलारूप जल की गाँठ, कच्चे बर्तन में नीर और गुललाला के फूल से की है, जो क्षणिक, नश्वर और स्पर्शमात्र से मुरझाने वाले हैं[7]। वस्तुतः जगत् विनाश के घेरे में पड़ा हैं और कालाधीन होने के कारण नाशवान् है। तुलसी साहब ने जगत् जम जाल जलोरी जग[8] में जम फाग रचोरी[9] जग में वन्धन डारे काल[10]

१—झूठ जहान खिलकत की राहीं।

—रत्नसागर, पृ० १७५।

२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४१।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २३।

४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २।

५—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० २३।

६— " " " ४४।

७—गुललाला का फूल छुवत हाथ मुरझात है।
ज्यों ओला जल गाँठि, कांचे बर्तन नीर जल॥

—रत्नसागर, पृ० ७६।

८—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १७५।

९— " " " १७८।

१०— " " " २५९।

और ये सब काल जाल जग बांधा[1] के द्वारा जगत् को कालाधीन निर्दिष्ट किया है। प्रकारान्तर से यही जगत् का विनाश है, यही उसकी नश्वरता और क्षणिकता है।

(४) जगत् स्वप्नवत् है—उपनिषदों में जगत् भावना का निरूपण करते समय हम निर्दिष्ट कर चुके हैं कि माण्डूक्योपनिषद् में जगत् को स्वप्न-वत् कहा गया है[2] उसी प्रसंग में हमने यह भी प्रतिपादित किया है। कि जगत् को स्वप्न कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि जगत् असत् है। वस्तुतः जगत को स्वप्न कहने का अभिप्राय यह हैं कि जगत् ठीक स्वप्न सृष्टि की भांति ही नानारूप है। और उसका सुख भी स्वप्न के सुख की भाँति मिथ्या है। तुलसी साहब ने जहाँ जगत् को स्वप्न[3] रात्रि का स्वप्न[4] एवं स्वप्नवत्[5] कहा है, वहीं वे यह भी कि कहते जगत् स्वप्न का सुख[6] अर्थात् मिथ्या सुख है। इसी प्रसंग में वे जगत् को स्वप्न की क्रीड़ा या ख्वाब का खेल कहते है।[7] अन्यत्र और भी स्पष्ट शब्दों में तुलसी साहब ने कहा है कि प्रियतम परमात्मा के विना जगत् स्वप्न है।[8] यहां उनका अभिप्राय यही है कि ब्रह्म पर अध्यारोप होने के कारण नानारूप जगत् नानारूप स्वप्न सृष्टि की भाँति ही मिथ्या है। स्वप्न अचेता-वस्था में भासता है, उसी प्रकार जगत् में आकर्षण करता है। ज्ञान प्राप्त होने पर नानारूप अनित्य जगत् के मूल में नित्य तत्व प्रकाशित हो उठता है। अतएव तुलसी साहब जब जगत् को स्वप्नवत् निर्दिष्ट करते हैं, तब उनका

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १५७।

२—माण्डूक्योपनितद्, २।३१

३—सुपना जग जान अजान जिय।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५१।

४—देख जग रैन का सुपना।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६६।

५—यह जग सो सुपने सम देखा।

-घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८६।

६ सुपने का सुख देखि भुलाना। जग का सुख है ताहि समाना॥

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १११।

७ यहि ख्वाब का खेल कहावतता है।

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४१।

८—सखी पिया विन जग सुपनो।

—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ०२६९।

अभिप्राय स्वप्न सृष्टि की भांति नानारूप जगत् और उसके मिथ्या सुख का प्रत्याख्यान होता है।

इसके अतिरिक्त तुलसी साहब ने जगत् को अगम-अपार भवसिंधु[1], भ्रम से भरा घट[2], धुएं का मेंघडम्बर[3] इत्यादि कहा है और अज्ञान को इसका धर्म निर्दिष्ट किया है।[4] वस्तुतः तुलसी साहब का जगत्-वर्णन परम्परागत जगत-वर्णन का विकास ही है। इसमें वे समस्त तत्व प्राप्त होते हैं, जिनका वर्णन पूर्ववर्ती साधकों ने किया है।

सृष्टिक्रम

सृष्टि-क्रम संसार की रचना के क्रम को कहते हैं। ब्रह्म-जिज्ञासा की भांति ही सृष्टि-जिज्ञासा दर्शन का अनिवार्य तत्व हैं। सृष्टि विचार के अन्तर्गत सृष्टि के कारणभूत तत्व एवं रचना क्रम पर विचार किया जाता है। अनादि-काल से भारतीय तत्वदृष्टा सृष्टि के कारण एवं क्रम पर विचार करते आये हैं। उनका सृष्टि सम्बन्धी अनुभव, मनन तथा चिन्तन उपनिषदों में उपलब्ध है। अतएव निम्नलिखित पंक्तियों में हम सर्व प्रथम उपनिषदों के सृष्टि क्रम पर विचार करेंगे।

उपनिषदों में सृष्टि-क्रम

उपनिषदों में सृष्टि-क्रम अनेक रूपों में वर्णित है। 'छान्दोग्य उपनिषद, में कहा गया है कि प्रारम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् था।[5] उस सत ने ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ। इस प्रकार ईक्षण द्वारा उसने तेज उत्पन्न किया,[6] तेज के ईक्षण से जल की उत्पत्ति

१—यह जग अगम अपार पार क्स पाइये।

—शब्दावली, प्रथल भाग, पृ० ८७।

२—भवसिन्धु माट भरो भरमन की।

—शब्दावली, द्वितीय भाग पृ० १७८।

३—ज्यों धुएँ का मेंघडम्बर, फुल मिटै इक पलक में॥

—घटरामायण, प्रथम भाग,पृ० ८२।

४—जग अंधरा जस घूघर लेखा। जो विरले कोई ज्ञान विवेका॥

— घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५०

५—सत्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्॥

—छान्दोग्य०, ६।२।२।

६—तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत॥

हुई।[1] जल के ईक्षण से अन्न उत्पन्न हुआ।[2] 'ऐतरेयोपनिषद' में भी सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र आत्मा का उल्लेख है एवं उसके ईक्षण द्वारा सृजन की चर्चा है।[3] इसी में कहा गया है कि उस आत्मा ने अम्भ, मारीचि, मर और आप लोकों की रचना की।[4] ईक्षण द्वारा लोक सृष्टि के उपरान्त उसने लोक की रचना की।[5] तत्पश्चात् मुख, वाक्, नासिका, प्राणवायु, नेत्र, कर्ण, त्वचा, लोम आदि के क्रमशः उत्पत्ति-क्रम का वर्णन है।[6] 'मुण्डकोपनिषद' में वर्णित सृष्टि-क्रम उपर्युक्त सृष्टि क्रम से नितान्त भिन्न है। इसमें ब्रह्म से अन्न, अन्न से क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म एवं कर्मफल की उत्पत्ति का वर्णन हैं।[7] 'प्रश्नोपनिषद' में इससे कुछ भिन्न सृष्टि-क्रम वर्णित है। इसमें पुरुष के द्वारा प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र कर्म, लोक, एवं नाम की क्रमशः उत्पत्ति का उल्लेख है।[8]

१—तत्तेजऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत।

—छान्दोग्य०, ६।२।३।

२—ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त॥

—छान्दोग्य०, ६।२।४।

३—ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।

—ऐतरेय, १।१।१।

४—सइमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीची र्मरमापोदोम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी रो या
अधस्तात्ता आपः॥

—ऐतरेय, १।१।२।

५—स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्तु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्याभूर्छयत्।

—ऐतरेय, १।१।३।

६—ऐतरेयोपनिषद्, १।१।४

७—तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।

मुण्डक, १।१।८।

८—स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः
पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका
लोकेषु च नाम च।

प्रश्नोपनिषद्, ६।४।

छान्दोग्य, ऐतरेय, मुण्डक एवं प्रश्नोपनिषद् में वर्णित उपर्युक्त सृष्टि-क्रम एक दूसरे से भिन्न है। किन्तु सृष्टि के कारणभूत-तत्व के सम्बन्ध में इनका एकमत है। ये उपनिषद् समान रूप से सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र ब्रह्म या आत्मा को ही मानते हैं। सृष्टि-क्रम सम्बन्धी इनकी विभिन्नता पर विचार करके वेदान्त सूत्रों में अन्तिम निर्णय यह किया गया है कि आत्मरूपी मूल-ब्रह्म से ही आकाश आदि पंचमहाभूत क्रमशः उत्पन्न हुए।[1] सृष्टि का यह क्रम 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में वर्णित है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में आत्मारूपी ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।[2] वस्तुतः यह सृष्टि-क्रम ही समीचीन है क्योंकि इसमें सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल का प्रतिपादन करते हुये रचना-क्रम बताया गया है। सूक्ष्म तत्व का क्रमशः स्थूल में परिणत होना ही सृष्टि प्रक्रिया है। इस दृष्टि से तैत्तिरीयोपनिषद का सृष्टि-क्रम मान्य है। हम उल्लेख कर चुके है कि महर्षि बादरायण ने भी तैत्तिरीयोपनिषद के इस क्रम को ही वेदान्तसूत्र में मान्यता प्रदान की है।

इस आधार पर उपनिषदों के मान्य सृष्टि-क्रम की रूपरेखा निम्नलिखित है—

१—वेदान्तसूत्र, २।३।१।१५।

२—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१।१।

है।[1] योग जीवनन्मुक्ति के निमित्त विवेक-ज्ञान के साथ कर्म-संस्कार और क्लेशों का समूल नाश अनिवार्य निर्दिष्ट करता है।[2] इससे पुरुष को गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है।[3] योगदर्शन में इसी को मोक्ष या कैवल्य कहा गया है।[4] इस अवस्था का वर्णन करते हुए पातंजल 'योगसूत्र' में उल्लिखित है कि 'जिनका पुरुष के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना कैवल्य है अथवा द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना कैवल्य है।[5] गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग एवं अपवर्ग सम्पादन के लिए है।[6] जिस पुरुष के लिए गुण भोग भुगताकर अपवर्ग या मुक्ति का सम्पादन कर देते हैं, उसके लिए उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। तब वे अपने प्रयोजन को पूर्ण कर चुकने वाले कार्य और कारण रूप में विभक्त हुए गुण प्रतिलोम परिणाम को प्राप्त होकर अपने कारण में विलीन हो जाते हैं।[7] यही गुणों का कैवल्य अथवा गुणों का पुरुष से पृथक हो जाना है। उन गुणों के साथ पुरुष का जो अनादिसिद्ध अविद्याकृत संयोग था, उसका अभाव हो जाने पर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना पुरुष का कैवल्य अर्थात् प्रकृति से सर्वथा पृथक हो जाना है।[8] यही पातंजल-योग का जीवन्मुक्ति सिद्धान्त है। वस्तुतः सांख्य और योग का जीवन्मुक्त सिद्धान्त मूलतः एक ही है।

नाथ-सम्प्रदाय में जीवन्मुक्ति

नाथ-सम्प्रदाय में भी मोक्ष का स्वरूप जीवन्मुक्ति ही प्रतिपादित है। योगी जब नाथ-स्वरूप में अवस्थित होता है, तब उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।[9]

१—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥

—योगदर्शन, ४।३०।

२—योगदर्शन, ४।३० की टीका।

३—योगदर्शन, ४।३३।

४—योगदर्शन, पृ० १७६।

५—पुरुषार्थ शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति शक्तेरिति ॥

—योगदर्शन, ४।३४।

६—योगदर्शन, ४।३४ की टीका।

७—वही वही ।

८—वही वही ।

९—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १३६।

नाथस्वरूप में अवस्थित होने के लिए देहपात की आवश्यकता नहीं होती अपि, चित्त की साम्यावस्था से ही योगी जीवन्मुक्त हो जाता है।[1] अतएव नाथ-सम्प्रदाय की जीवन्मुक्ति धारणा को सहजावस्था भी कहा जा सकता है, क्योंकि यह साधक के चित्त की साम्यावस्था पर आधारित है।

गोरक्षनाथ ने 'योगबीज' में जीवन्मुक्ति अवस्था का वर्णन करते हुए ही कहा है कि जिस साधक के जीवित रहते हुए प्राण विलीन हो जाते हैं उसका पिण्ड नहीं गिरता और चित्त दोषों से मुक्त हो जाता है।[2] यहाँ जीवित अवस्था में प्राण के विलीन होने का प्रसंग लय-योग सम्बन्धित है। 'हठयोग प्रदीपिका' में भी प्राण के लय द्वारा जीवन्मुक्ति का वर्णन उपलब्ध है।[3] अतएव नाथ-सम्प्रदाय में लय-योग साधना के द्वारा ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। प्राण के साथ मन का लय स्वयंसिद्ध है। इनके लय से साधक का चित्त निर्विषय होकर दोषमुक्त हो जाता है। यहाँ दोषमुक्त निर्विषय चित्त ही जीवन्मुक्ति का प्रतिपाद्य है।

योगबीज में जीवन्मुक्त के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सर्वकर्ता स्वतन्त्र, विश्वरूपवान् तथा जीवन्मुक्त योगी भुवन में (इच्छानुसार) भ्रमण करता है।[4] अजर अमर पिंड योगी ही जीवन्मुक्त है।[5] शरीर तथा इन्द्रियाँ चिन्मय होकर जब अनन्यता को प्राप्त करते हैं, तब योगी मुक्त कहा जाता है।[6] इन लक्षणों से यही प्रमाणित होता है कि नाथ-सम्प्रदाय में जीवन्मुक्ति वस्तुतः

१—चित्ता चित्ते समीभूते जीवन्मुक्ति रिहोच्यते।
यत्र स्वभावसद्भावो शापितुं नैव शक्यते॥
—अमरौघप्रबोध, श्लोक ७०।

२—यस्य प्राणा विलीयंते साधके सति जीवति।
पिण्डो न पतितस्तस्य चित्तं दोषैः प्रमुच्यते॥
—योगबीज, श्लोक ८४।

३—हठयोग, प्रदीपिका, ४।१६ की टीका।

४—सर्वज्ञः सर्वकर्ता च स्वतन्त्रो विश्वरूपवान्।
जीवन्मुक्तो भवेद् योगी, स्वेच्छया भुवने भुवने भ्रमेत्॥
—योगबीज, श्लोक १६९-१९

५—योगबीज श्लोक १८३।

६—चिन्मयानि शरीराणि, इन्द्रियांणि तथैवच।
अनन्यतां यदा यान्ति, तदा मुक्तः स उच्यते।
—योगबीज, श्लोक १९...

योगी की नाथसंस्थ की ब्रह्मनिष्ठ अवस्था है। हम प्रारम्भ में ही कह चुके है कि नाथ-सम्प्रदाय में जीवन्मुक्ति नाथस्वरूप में अवस्थित होना है। योगी उपर्युक्त वर्णित अनन्यता को नाथस्वरूप में अवस्थित होकर ही प्राप्त करता है। यही उसकी कैवल्यावस्था अथवा जीवन्मुक्ति है।

निर्गुण काव्य में जीवन्मुक्ति

निर्गुण संत-काव्य में भी जीवन्मुक्ति का वर्णन किया गया है। कबीर ने जीवन्मुक्ति को ही मोक्ष की परमावस्था निर्धारित करते हुए कहा है कि अनुभूति द्वारा सारभूत ब्रह्म-तत्व का साक्षात्कार करके जीवित अवस्था में ही मुक्त हो जाना चाहिए।[1] जीवन्मुक्ति की भावना को ही कबीर ने 'जीवनमृतक' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। जीवित अवस्था में मन की वितृष्णा द्वारा चित्त-चांचल्य से वियुक्त साधक जीवन्मुक्त ही है। इसी विचार को प्रकट करते हुए कबीर ने मन के सनातनत्व (अमनी या उन्मनि अवस्था) के द्वारा जीवित अवस्था में ही मृत होने का उल्लेख किया है।[2] उन्होंने अन्यत्र ब्रह्मानुभूति के द्वारा जीवित अवस्था में ही शून्यरूपी ब्रह्म को प्राप्त करने का उल्लेख किया है[3] और जीवन्मुक्ति द्वारा आवागमन-चक्र से निवृत्ति प्रतिपादित की है।[4]

कबीर की भाँति दादूदयाल भी जीवनमुक्ति के समर्थक हैं। उन्होंने मृत्यु के उपरान्त मोक्ष प्राप्त करने की धारणा का प्रत्याख्यान 'दादू भूले गहिला'[5] 'दादू जग बौरावै'[6] इत्यादि के द्वारा किया है। उनका विचार है कि मृत्यु के उपरान्त मुक्ति की आशा भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[7] वास्तविक मुक्ति

१—जीवत पावहु मोख दुवारा। अनभौ सबद तत्त निज सारा।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०३।

२—अब मन उलटि सनातन हूवा, तब हम जाना जीवत मूवा॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९३।

३—जन्म मरन का भ्रमा गया गोबिंद लिव लागी।
जीवत सुन्नि समानिया गुरु साखी जागी॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २८६।

४—जीवत उस घरि जाइये, ऊँधे मुखि नहीं आवै।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३८।

५—दादूदयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० २२८।

६—वही वही वही, पृ० २२८।

७—वही वही वही, पृ० २२८।

तो जीवनमुक्ति ही है। इसका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए दादू ने कहा है कि जीवित अवस्था में ही गुणातीत होना जीवन्मुक्ति है। यह मुक्ति जीवित अवस्था में कर्मबन्धन वियुक्त होने पर प्राप्त होती है।[1] दादूदयाल की भाँति ही संत चरणदास ने भी 'कर्मरहित अस्थिर गति' को जीवन्मुक्ति का लक्षण माना है।[2] उपनिषदों में जीवन्मुक्ति धारण का स्वरूप निर्दिष्ट करते समय हम लक्ष्य कर चुके हैं कि वहाँ भी जीवन्मुक्ति अवस्था अद्वैतावस्था ही है। गीता में भी ज्ञान द्वारा पुरुष की ब्राह्मी-स्थिति या जीवनन्मुक्ति का वर्णन हम इसके पूर्व कर चुके हैं। योग के प्रसंग में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि कर्मसंस्कार के समूल उच्छेदन के अभाव में जीवन्मुक्ति संभव नहीं है। यही भावना निर्गुण संत-काव्य में भी विद्यमान है।

तुलसी साहब की जीवन्मुक्ति धारणा

संत तुलसी ने मोक्ष के प्रसंग में जीवन्मुक्ति का ही प्रतिपादन किया है। उन्होंने 'जीवन मिलै सोई मत पूरा'[3] 'जीवत अगम वस्तु को पावै'[4] जीवत मिलै सोइ है लेखा,[5] जीवत मिलन विधि भाखि सुनावै,[6] जीवन बीन मुक्ति को पावै,[7] जीवन मिलन विचार[8] इत्यादि के द्वारा जीवन्मुक्ति का वर्णन किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि जीवित अवस्था में ही मोक्ष प्राप्त करने की परम्परागत धारणा में उनका विश्वास था। उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि तुलसी साहब के अनुसार लोक में रहते हुए जीव का ब्रह्म को प्राप्त करना जीवन्मुक्ति है।

१—दादू जीवत छूटै देह गुण, जीवत मुकता होइ।
जीवत काटै कर्म सब, मुकति कहावै सोइ।
—दादूदयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० २२७।

२—मृतक अवस्था जीवत आवै। करम रहित अस्थिर गति पावै।
जब हो एक दूसरा नासै। बंध मुक्ति की रहै न साँसै।
—चरणदास की बानी, प्रथम भाग, पृ० २९।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ४३।
४—वही वही , पृ० ५४।
५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६४।
६—वही वही , पृ० ७०।
७—वही वही , पृ० ८५।
८—वही वही , पृ० १०८।

मन नियंत्रण से जीवन्मुक्ति

संत तुलसी ने जीवन्मुक्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

मन मूरख को बाँधि पकड़ कर जीवत ही मरना ।।[1]

इस पंक्ति में उन्होंने मन के नियन्त्रण द्वारा जीवनमृत होकर मुक्ति प्राप्त करने का प्रस्ताव किया है। यह विचार कबीर के उपर्युक्त निर्णित उस विचार से साम्य रखता है जिसमें मन के सनातनत्व द्वारा जीवन्मुक्ति मानी गई है। वस्तुतः मन ही जीव की चंचलता अस्थिरता एवं आसक्ति का कारण है। इसको अपने आधीन करके साधक अचंचल, स्थिर एवं अनासक्त या निष्काम हो जाता है। जीवन में यह दशा प्राप्त करना ही जीवन्मुक्ति है। इसी का वर्णन प्रायः सब सन्त कवियों ने किया है।

पञ्चभूत—बन्धन से छूटना जीवन्मुक्ति

जीवन्मुक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए संत तुलसी ने कहा है—

जीवन पाँच तत्त से छूटै। गगन चढ़ै असमान जो फूटै ।।[2]

यहाँ उनका अभिप्राय यह है कि जीवित अवस्था में पञ्चभूतात्मक शरीर के बन्धन से छुटकारा पाकर ब्रह्मानुभूति करना ही जीवन्मुक्ति है। दादू ने भी 'जीवत छूटै देह गुण' के द्वारा जीवित अवस्था में देह के गुणों से वियुक्त होना जीवन्मुक्ति का लक्षण माना है। गीता में इसी को पुरुष की त्रिगुणातीत दशा कहा गया है।[3] यही जीवन्मुक्ति है। इसी भाव की पुष्टि करते हुए 'अष्टावक्र-गीता' में पञ्चभूतात्मक देह और आत्मज्ञान का विवेक करके बन्धनमुक्त होने का प्रस्ताव किया गया है।[4]

आत्मसाक्षात्कार से जीवन्मुक्ति

जीवन्मुक्ति के प्रसंग में ही तुलसी साहब ने मुक्ति को देखने, अथवा आत्मसाक्षात्कार का वर्णन किया है—

जीवत मुक्ति देखिए आंखी। ता का मता कहनि सब भाखी ।।[5]

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५४।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ १६२।

३—श्रीमद्भगवद्गीता, १४।२३।

४—यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्रम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शांतो बन्धमुक्तो भविष्यसि।
—अष्टावक्रगीता, १।४।

५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८५।

अन्यत्र पुनः वे आत्मसाक्षात्कार की चर्चा ही करते हैं—

जीवत निरख नैन से देखा । मता संत का अगम अलेखा ॥[१]

एक स्थल पर वे स्पष्ट शब्दों में जीवित अवस्था में आत्मसाक्षात्कार द्वारा अविद्याकृत प्रतीतियों के 'भ्रमजाल' से निवृत्ति प्रतिपादित करते हैं—

नजर दृष्ट जीवत लखै, छूटै भौ भ्रमजाल ॥[२]

वस्तुतः आत्मसाक्षात्कार द्वारा जीवित अवस्था में निर्वन्ध या मुक्त होना ही परमार्थ की पराकाष्ठा है। यही मोक्ष की चूड़ान्त कल्पना है। इसी का प्रतिपादन उपनिपदों में किया गया है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद' में कहा गया है कि जब योगी दीपक के सदृश आत्मतत्व के द्वारा ब्रह्मतत्व को भली भाँति देख लेता है, उस समय वह उस अजन्मा, निश्चल, समस्त तत्वों से विशुद्ध परमदेव परमात्मा को जानकर समस्त बन्धनों से सर्वदा के लिए छूट जाता है।[३] तुलसी साहब ने सुरति अथवा आत्मा के द्वारा विशुद्ध ब्रह्मतत्व के साक्षात्कार का वर्णन सुरति-शब्द योग के प्रसंग में भी किया है—

सुरति चांप धनुवां चढ़े, कढ़े गगन के पार ।
ऐनक आंखि लगाय कै, देखे विमल वहार ॥[४]

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित जीवात्मा का ब्रह्म साक्षात्कार ही संत तुलसी की जीवन्मुक्ति का प्रतिपाद्य है। इस साक्षात्कार से जीव अभेदत्व की भूमिका में स्थित होता है। इसी स्थिति को उपनिषदों में पुरुष की ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। अतएव तुलसी साहब प्रतिपादित जीवन्मुक्ति और उपनिषदीय जीवन्मुक्ति का मूलाधार एक ही है। वस्तुतः तुलसी साहब ने परम्परार्जित जीवन्मुक्ति और उपनिपदीय जीवन्मुक्ति धारणा को ही व्यक्त किया है।

मृत्यु उपरान्त मोक्ष अमान्य

उपनिषदों के अनुसार मृत्यु के उपरान्त प्रत्येक को भिन्न-भिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न मार्ग से जाना पड़ता है।[५] इन्हीं मार्गों को क्रम से 'पितृयान' और

१—वही वही , पृ० १३६ ।
२—वही वही , पृ० १०७ ।
३—यदा त्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैः विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः
—श्वेताश्वेतरोपनिषद्, २।१५।

४—रत्नसागर, पृ० १७९ ।
५—वृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।२

'देवयान' कहते हैं[1]। गीता के अष्टम अध्याय में इन्हीं दोनों मार्गों का वर्णन किया गया है एवं देवयान मार्ग को मोक्षदायक कहा गया है।[2] किन्तु यह मोक्ष-क्रम क्रम से कई सोपानों से जाते-जाते अन्त में प्राप्त होता है। इसीलिए इस मार्ग को 'क्रम-मुक्ति' भी कहते हैं।[3] देहपात होने के अनतर देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मुक्ति की इस धारणा में जीव-मुक्ति के विपरीत मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मलोक में मोक्ष का प्रतिपादन किया गया हैं।

संत-साधना में मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होने वाली मुक्ति अमान्य है। दादू की मोक्षधारणा का वर्णन करते समय हम कह चुके हैं कि मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होनेवाली मुक्ति को वे भ्रम वताते हैं। तुलसी साहब का भी मुक्ति की इस धारणा में विश्वास नहीं हैं। उन्होंने इसकी आलोचना की है एवं स्पष्ट शब्दों में प्रत्याख्यान किया है।[4] उनका कथन है कि मृत्यु के उपरान्त मोक्ष का प्रतिपादन अज्ञानी करता है।[5] तुलसी साहब का मत है कि मृत्यु के उपरान्त मोक्ष परम्परागत कथनमात्र है। इसके वक्ता अज्ञानी हैं क्योंकि उन्होने आत्म-साक्षात्कार नहीं किया है।[6] तुलसी साहब ने मृत्यु के उपरान्त मुक्ति के विश्वास को 'पौराणिक मत' निर्दिष्ट करते हुए इसकी अव्यर्थता वताई है। वे कहते हैं कि मृत व्यक्ति परलोक से लौट कर नही आता। जब उसकी साक्षी ही नहीं मिलती, तब किस आधार पर पुराणों ने यह मान लिया कि मृत्यु के उपरान्त मोक्ष प्राप्त होता है।[7] अन्यत्र उन्होंने इसे वेद की धारणा भी कहा है।[8]

१—वृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।२

२—गीतारहस्य, पृ० ३१२।

३— वही , पृ० ३१२।

४—जीवित पावै घट में स्वामी। मुए गये की बात न मानी॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६४।

५—जीवित मिलै सोइ है लेखा। मुए भाखैं अन्ध अचेता।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६४।

६—ये सब कही सुनी हम जानी। मुए मुक्ति की करौ वखानी।
ये तो अन्ध अन्ध कर लेखा। मानो जो जोइ नैनन देखा।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ८१।

७—जीवत इत ले जाइ न भाई। मूउ उत से आवत नाहीं।
ये पुरान कस कस ठहरावा। मुए गये की खबर न पावा।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ७०।

८—येहि विधि वेद रीति है भाई। मुये मुक्ति की वेद वताई।
— घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८५।

वस्तुतः शास्त्रज्ञ व्यक्तियों के द्वारा मुक्ति की इस धारणा को प्रस्तावित पाकर उन्होंने इसे वेद एवं पुराण मत मान लिया और जीवन्मुक्ति की तुलना में इसे निष्प्रयोजन ठहराया।

मन

प्राणी जिससे मनन करता है, उस अन्तःकरण को मन कहते हैं। शंकराचार्य ने 'मन' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'मनुते इति मनः' इस व्युत्पत्ति से मनन करने पर उसका नाम मन हुआ।[1] मन ज्ञान-शक्ति के विकास का साधारण साधन है क्योंकि इससे आत्मा मनन करता है। अस्तु, मन आत्मा का दिव्य नेत्र कहा जा सकता है। पुरुष ही कर्ता होने पर जब मनन करता है तो 'मन' नाम से कहा जाता है।

मन मानव-शरीरस्थ अत्यन्त सूक्ष्म एवं दृष्टि से परे शक्ति है। इसकी वृत्ति संकल्प-विकल्पात्मक है। वृत्ति भेद के कारण मन अनन्तधर्मा है, अर्थात् इसकी संकल्प-विकल्प शक्ति असीम है। इसकी अनेकरूप कल्पनाओं एवं रचनाओं का अन्त नहीं है। अविद्याजनित प्रतीतियों के संसर्ग में यह निरन्तर रचना करता है। निस्सार वस्तुओं में सार की कल्पना और भ्रम का मुख्य कारण मन ही है। इसी कारण मरुस्थल में जल और रज्जु में सर्प का भ्रम उत्पन्न होता है। वस्तुतः मन की गति के अनुरूप ही जीव आचरण करता है और इस प्रकार कर्म-भ्रम में पड़कर भव-बंधन में पड़ता है। पर मन के ब्रह्मोन्मुख होने पर जीव के समस्त भ्रमजाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और वह निर्विषय होकर मोक्ष सम्पादन करता है।

उपनिषदों में मन का स्वरूप

उपनिषदों में मन का वर्णन किया गया है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में 'मनो वा आयतनम्'[2] के द्वारा मन को इन्द्रियों और विषयों का आयतन या आश्रय कहा गया है। यहां अभिप्राय यह है कि मन के आश्रित रहकर ही विषय आत्मा के भोग्यत्व को प्राप्त होते हैं एवं मन के संकल्प के आधीन ही इन्द्रियां अपने अपने विषयों में प्रवृत्त और उनसे निवृत्ति होती है, अतः मन विषयों और इन्द्रियों का आयतन है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में 'मनो हिंकारो'[3] द्वारा कहा गया है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों में मन प्रथम है। इस पर टीका करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि 'सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियों में मन की प्रथमता होने के कारण

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य, पृ० २१२।

२—बृहदारण्यकोपनिषद्, ६।१।५

३—छान्दोग्योपनिषद्, २/११।१

मन हिंकार है[1]। 'छान्दोग्योपनिषद' में ही 'योऽणिष्ठस्तन्मन:'[2] के वर्णन से मन की अत्यन्त सूक्ष्मता की भावना प्रकट की गई है। वस्तुत: इन्द्रियों की तुलना में मन अत्यन्त सूक्ष्म होता है।

उपनिषदों में मन के संकल्प-विकल्पात्मक स्वरूप की चर्चा भी की गई है। संकल्प का अभिप्राय कल्पना करना, मानना, समझना, योजना करना, इच्छा करना, चिंता करना, मन में लाना इत्यादि हैं। विकल्प में 'यह बात ऐसी नहीं है अर्थात् विरुद्ध कल्पना होती है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में मन को समस्त संकल्पों का अयन या स्थान कहा गया है।[3] इसी उपनिषद् में अन्यत्र 'मनो ज्योति'[4] अर्थात् मन ज्योति या संकल्प-विकल्प का साधन निर्दिष्ट किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि जो मनरूप ज्योति से संकल्प विकल्पादि कार्य करता है, वह मनोज्योति है।[5] मन के संकल्प विकल्पादि कार्य ही उनके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। 'यह बात ऐसी है 'अथवा यह बात ऐसी नही है' यही मन की संकल्प-विकल्पता है और मन इसी का संपादन करता है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में मन के अनेक गुणों या धर्मो की चर्चा की गई है। इसमें कहा गया है कि काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणाशक्ति), अधृति, ह्री, धी, भय, ये सब मन ही हैं।[6] काम कामना या इच्छा है। संकल्प-सम्मुखस्थ विषय की विशेष कल्पना है। विचिकित्सा संशय-ज्ञान है। श्रद्धा आस्तिक्य-भाव एवं अश्रद्धा इसके विपरीत है। धृति का अर्थ धारणा करना और अधृति इसके विपरीत होना हैं। ह्री लज्जा है और धी बुद्धि है। इसी प्रकार भय भी मन का भाव है। इस प्रकार उपनिषदों में मन

१—मनो हिंकारो मनसः सर्वकरणवृत्तानां प्राथम्यात्।

—छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य, पृ० १८७।

२—छान्दोग्योपनिषद्, ६।५।१

३—सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेव

—वृहदारण्यकोपनिषद्, २।४।११।

४—वृहदारण्यकोपकिषद, ३।९।१०

५—वृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य, पृ० ७९५।

६—कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा—
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनः।

—वृहदारण्यकोपनिषद, १।३।५।

को एक व्यापक अन्तःकरण स्वरूप में प्रतिपादित किया गया है। अतएव मन या अन्तःकरण अनेकधर्मा है।

अनेकवृत्ति प्रधान मन जीवात्मा को भव में भ्रमित करता है। मन की कल्पनाओं और रचनाओं में पड़ कर जीधात्मा यथार्थ स्वरूप को न पहचानने के कारण बन्धन में पड़ता है। किन्तु साधना द्वारा मन की चंचलता और अस्थिरता नष्ट होने पर यह मन ही ब्रह्मोन्मुख होकर जीव के परित्राण का साधक बन जाता है। मन के ब्रह्मोन्मुख होने को ही 'मांडूक्योपनिषद्' में तत्वबोध से मन की अमनस्कता कहा गया है[1]। इस अमनी अवस्था में उसकी संकल्प वृत्ति नहीं रहती। 'मांडूक्योपनिषद्' में ही अन्यत्र कहा गया है कि जिस समय चित्त सुषुप्ति में लीन न हो और विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय, उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है[2]। यही मन या चित्त की निर्विषयता एवं नितान्तस्वमुखता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में भी 'मनसैवानुद्रष्टव्य'[3] के द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है कि परमार्थ ज्ञान से संस्कारयुक्त हुए मन से ही ब्रह्म को देखना चाहिए। इस प्रकार संकल्प विकल्परहित विषयवृत्तिविवर्जित परमार्थ ज्ञान युक्त मन ही ब्रह्मोन्मुख होकर जीव के परित्राण का साधन बन जाता है।

गीता में मन का स्वरूप

'श्रीमद्भगवद्गीता' में मन को इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है। इसमें कहा गया है कि इन्द्रियां पदार्थों से पर या श्रेष्ठ हैं और मन इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ है—'इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्य परं मनः।[4] वस्तुतः इन्द्रियों की तुलना में मन अधिक सूक्ष्म है, इसीलिए वह पर या श्रेष्ठ है। गीता में ही बाह्येन्द्रियों और मन के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। गीता का यह परिनिष्ठित मत है कि इन्द्रियाँ अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति के द्वारा मन का प्रमथन करती हैं अर्थात मन को विचलित या चलायमान करती हैं।

१—आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्यभावे तदग्रहम्॥
—माण्डूक्योपनिषद् ३।३२।

२—यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमना भासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥
—माण्डूक्योपनिषद, ३।४६।

३—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।१९।

४—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।४२।

श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय में कहा है कि यत्न करने वाले बुद्धिमान पुरुष के मन को यह प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियां बलात्कार से हर लेती हैं।[1] इस प्रकार इन्द्रियों से प्रमथित मन इनके आधीन हो जाता है जिससे पुरुष की बुद्धि या विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। गीता में कहा गया है कि जल में वायु नाव को जैसे हर लेता है, उसी प्रकार विषय-विचरणा इन्द्रियों के मध्य जिस इन्द्रिय के के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि हर लेती है[2]। इससे यह प्रकट होता है कि गीता के अनुसार इन्द्रियों की विषयासक्ति और कामनाओं के प्रवेग में मन अस्थिर या चंचल हो उठता है जिससे जीव स्थिर बुद्धि नहीं रह पाता।

गीता में मन को चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, दृढ़ एवं प्रबल कहा गया है[3]। इसको वश में करना वायु की भाँति दुष्कर है[4]। गीता में कहा गया है कि अस्थिर और चंचल मन को वश में करने के लिए उसकी सांसारिक पदार्थों में आसक्ति रोक कर बारम्बार परमात्मा में निरोध करना चाहिए[5]। गीता में ही अन्यत्र 'संकल्प प्रभावन्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानिशेषतः'[6] अर्थात् संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं की निःशेषता से मन को वशीभूत करने का प्रतिपादन किया गया है। मन का वशीभूत होना ही मन का अचल स्थापन है। इससे मन उद्वेगरहित, शान्त, स्थिर और अचंचल हो जाता मन के इस अचल स्थापन से ही परमार्थ सिद्ध होता है।

१— यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, २।६०।

२—इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
—श्री मद्भगवद्गीता, २/६७।

३—चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
—श्री मद्भगवद्गीता, ६।३४।

४—तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।
—श्री मद्भगवद्गीता, ६।३४।

५—यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
—श्री मद्भगवद्गीता, ६।२६।

६—श्री मद्भगवद्गीता, ६।२४।

सांख्य में मन की धारणा

सांख्य के 'सृष्टि-क्रम' में हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहकार एवं अहंकार से पंचतन्मात्राओं के अतिरिक्त पांच बुद्धीन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं मन की उत्पत्ति होती है[1]। मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प विकल्पात्मक होता है और कर्मेन्द्रियों के साथ व्याकरणात्मक होता है अर्थात् उसे बुद्धि के निर्णयों को कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्यरूप में लाना पड़ता है। वस्तुतः मन ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय उभयस्वरूप है। इसका कारण यह है कि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादि कर्मेन्द्रिय दोनों ही मन के आधार ही से अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। इस मन का लक्षण है, संकल्प विकल्प करना। इसका अभिप्राय यह है कि बाह्येन्द्रियों से पदार्थों का सामान्य रूप से प्रत्यक्ष होने से 'यह ऐसा है अथवा ऐसा नहीं है' इस प्रकार भलीभाँति विवेचन मन ही करता है। इसीलिए संकल्प रूप विशेष धर्म से मन भी एक उभयात्मक इन्द्रिय सिद्ध होता है[2]। 'सांख्यकारिका' में अन्यत्र मन का विशेष व्यापार संकल्प करना ही निर्दिष्ट किया गया है[3]। उपनिषदों के प्रसंग से हम लक्ष्य कर चुके हैं कि वहाँ भी मन समस्त संकल्पों का अयन कहा गया है।

नाथ—सम्प्रदाय में मनकी भावना

नाथ-सम्प्रदाय में मन का निरूपण गोरखनाथ आदि नाथ-योगियों की साधनापरक रचनाओं में किया गया है। नाथ-सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वहीं मन है अर्थात् मननशील मन ही अमनी या 'उन्मनि' अवस्था प्राप्त करके दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्थित 'उनमन' रूप निरंजन ब्रह्म को प्राप्त करता है[4]। इसी भाव को प्रगट करते हुए गोरखनाथ ने कहा है कि मन आदि अन्त है, मन के भीतर ही सार है, मन को ब्रह्मोन्मुख करके विषय विकार से निस्तार मिलता है[5]। अन्यत्र उन्होंने

१—सांख्यकारिका, २२।

२—उभयात्ममंत्र मनः, संकल्पकमिन्द्रियश्च साधर्म्यात्।

—सांख्यकारिका, २७।

३—सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्य, २९

४—दसवैं द्वार निरंजन उनमन वासा, सबदैं उलटि समाना।
भणंत गोरखनाथ मछींद्र नां पूता अविचल थीर रहांनां॥

—गोरखबानी, पृ० ९८।

५—मन आदि मम अंध मन मैधा सार।
मन ही तैं छूटै सब विषै विकार॥

—गोरखबानी, पृ० ९९।

मन को शिव, शक्ति एवं जीव कहा और प्रतिपादित किया है कि मन की उन्मनि अवस्था प्राप्त करने वाला साधक सर्वज्ञ हो जाता है[1]। इसका अभिप्राय यह है कि मन का अधिष्ठान परब्रह्म शिवतत्व है। माया या शक्ति के संयोग से ब्रह्म मन के रूप में अभिव्यक्त होता है और मन ही से पंचभूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है। इस मन को 'उन्मन' या अमन करके योगी सर्वज्ञ हो जाता है। अन्यत्र गोरखनाथ ने कहा है कि परमार्थ तो मन के भीतर ही है, मन को उलट कर शिव में लय करने से वह प्रकट होता है[2]। इसीलिए नाथ-सम्प्रदाय की रचनाओं में प्रायः मन को अन्तर्मुखी करने पर जोर दिया गया है[3] तथा अन्तर्मुखी मन की उन्मनी अवस्था द्वारा सारभूत चैतन्य तत्व की अनुभूति वर्णित है[4]।

मन के इस तात्विक वर्णन के अतिरिक्त नाथ-सम्प्रदाय के साधकों ने ब्रह्माण्डी मन का परमार्थ बाधक स्वरूप भी प्रतिपादित किया है। मन कभी निरालम्ब नहीं रहता। इसकी चंचल वृत्ति और अनेक-कल्पना इसे स्थिर नहीं होने देतीं। यह कभी आशा का संकल्प करता है, कभी विराग का विकल्प करता है, कभी कामिनी की क्रोड़ में और कभी गुरू के आश्रम में रहता है[5]। समुद्र की अनन्तधर्मी लहरों से पार पाना सम्भव है, किन्तु मन की अनन्त कल्पना रूपी लहरों से पार नहीं मिलता[6]। मन हाथी के समान मदमस्त है[7]।

१—यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पांच तत्त्व का जीव।
यहु मन लै जे उनमन रहै। तौ तीन लोक की बातां कहै।
—गोरखबानी, पृ० १८।

२—अवधू यो मन जात है याही तै सब जांणि।
मन मकड़ी के ताल ज्यूं उलटि अपूठौ आंणि॥
—गोरखबानी, पृ० ७४।

३—गोरखबानी, पृ० १४६।

४— „ „ १३।

५—कै मन रहै आसा पास। कै मन रहै परम उदास।
कै मन रहै गुरू के ओलै। कै मन रहै कामिनी षोलै॥
—गोरखबानी, पृ० ५८

६—समंदा की लहरयां पार जु पाइला।
मनवा की लहरयां पार न आवै रै लो॥
—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० १०।

७—गोरखबानी, पृ० १८२।

यह सब का बन्धन है[1]। देव और दानव भी इसके प्रभाव से नहीं बचे हैं[2] अस्तु परमार्थ में बाधक संकल्पविकल्पयुक्त चंचल मन जीव का द्रोही है[3]। इसे गुरु से प्राप्त ज्ञानरूपी बाण से मारना चाहिए[4]। तभी मन 'उन्मन' होकर चैतन्य लाभ करेगा।

निर्गुण—काव्य में मन की भावना

निर्गुण-काव्य में मन का निरूपण बहुत-कुछ नाथपंथी पद्धति पर हुआ है। नाथ-सम्प्रदाय में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वही मन है। कबीर ने एक स्थल पर मन के अनुसंधान की चर्चा करते हुए कहा है कि उस मन को खोजना चाहिए प्राण त्यागने पर जिस मन (निरंजन) में पिंडी मन समा जाता है। वह मन तो सर्वव्यापी निरंजन है जिससे कबीर का मिलन हुआ है।[5] 'अलख निरंजन सकम सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा' के द्वारा अलख निरंजन को मन कहने का अभिप्राय ही यह है कि ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वही मन है। कबीर ने 'मन मनहि समाना[6]', 'मन का भ्रम मन ही थैं भागा[7]', इत्यादि के द्वारा मन के परमार्थ में निरंजन रूप की चर्चा की है। गोरखनाथ की भांति ही कबीर ने भी 'अब मन उलटि सनातन हूवा[8]' के द्वारा मन के सनातन शिव रूप में अवस्थान का वर्णन किया है। यही मन की 'उन्मनि' अवस्था है जिसका उल्लेख कबीर ने अनेक बार किया है। एक स्थल पर तो कबीर ने ठीक गोरखनाथ की पदावली का प्रयोग करते हुए मन

१—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० १८।

२—गोरखबानी, पृ० ७३।

३—गोरखबानी, पृ० ७३।

४—गोरखबानी, पृ० ७३।

५—ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई ॥
ता मन का कार जानै भेव, रंचक लनि भया सुषदेव ॥
गोरख भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा।
अलख निरंजन सलक सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९९

६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १००।

७— ,, ,, १५७।

८— ,, ,, ९३।

को नाथपंथियों के अर्थ में शिव, शक्ति, जीव कहा है और मन को उन्मनि अवस्था से साधक को सर्वज्ञ प्रतिपादित किया है[1]। इससे यह स्पष्ट होता है कि कबीर की मन सम्बन्धी तात्विक धारणा नाथपंथ के अनुसार ही है जिसमें पिंडी मन बन्धन का कारण है और उन्मनि अवस्था द्वारा ब्रह्माण्ड में यह निरंजन हो जाता है।

कबीर परवर्ती संत-काव्य में मन का प्रतिपादन कबीर की भाँति स्पष्टतः नाथपंथी पद्धति पर नहीं हुआ है, किन्तु मन में ही परमार्थ की निहिति की ध्वनि निरन्तर मिलती है। संत धर्मदास ने कहा है कि माणिक्यरूपी मन के निर्बन्ध होने से 'अटारी' या ब्रह्मरन्ध्र में जीव पहुंच गया[2]। संत सुन्दरदास ने भी 'सुन्दर जो मन थिर रहै तो मन ही अवधूत'[3] के द्वारा मन की स्थिरावस्था से परमार्थ कहा है। बिहार के सन्त दरिया साहब ने भी मन के स्थिर होने से जरा मरण से परित्राण वर्णन किया है[4]। अन्यत्र उन्होंने मन में ज्ञानोदय से 'उन्मनि' अवस्था द्वारा प्रकाशरूपी ब्रह्म को पाने की चर्चा की है जिससे निर्विषय मन मुक्त हो जाता है[5]। इससे यह प्रकट होता है कि निर्गुण-काव्य तात्विक दृष्टि से ब्रह्माण्ड और पिंड के भेद से मुक्त मन और निर्मुक्त मन का व्यावहारिक भेद तो करता है, किन्तु परमार्थतः उसे एक ही मानता है। निर्गुणकाव्य के अनुसार मन ही बन्धन है और उसकी ब्रह्मोन्मुख परिणिति ही मोक्ष है।

उपर्युक्त पंक्तियों में निर्गुण-काव्य में मन के तात्विक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया। पर अधिकतर सन्तों ने मन को परमार्थ बाधक निर्दिष्ट करते हुए उसकी चंचलता, कल्पना, शीलता, भ्रमोत्पादकता इत्यादि का वर्णन ही किया है। कबीर ने कहा है कि मन की गति अगम्य है[6], मन अस्थिर है[7], वह

१—इहु मन सकती इहु मन सीउ। इहु मन पंच तत्व को जीउ।
इहु मन ले जौ उनमनि रहै। तौ तीनि लोक की बातैं कहै॥

२—मन मानिक की खुलीं किवरियां, चढ़ि गई झमकि अटरिया हो।
—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ११।

३—सुन्दर दर्शन, पृ० २२३ में उद्धृत

४—मन के चीन्हि राखै एक ठाईं। जरा मरन कबहीं नहिं पाई॥
—दरियासागर, पृ० ९।

५—मनि मानिक दीपक बरै, उनमुनि गगन प्रगास।
मन मोदित मद तेजि के, मेटु जरा मरन जम त्रास॥
—दरियासागर, पृ० ५६।

६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९९।

७— " " ११२।

यह मन का बन्धन है[१]। देव और दानव भी इसके प्रभाव से नहीं बचे हैं[२]। अस्तु परमार्थ में बाधक संकल्पविकल्पयुक्त चंचल मन जीव का द्रोही है[३]। गुरु से प्राप्त ज्ञानरूपी बाण से मारना चाहिए[४]। तभी मन 'उन्मन' हो चैतन्य लाभ करेगा।

निर्गुण—काव्य में मन की भावना

निर्गुण-काव्य में मन का निरूपण बहुत-कुछ नाथपंथी पद्धति पर हुआ है। नाथ-सम्प्रदाय में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वही मन है। कबीर ने एक स्थल पर मन के अनुसंधान की चर्चा करते हुए कहा है कि उस मन को खोजना चाहिए प्राण त्यागने पर जिस मन (निरंजन) में पिंडी मन समा जाता है। वह मन तो सर्वव्यापी निरंजन है जिससे कबीर का मिलन हुआ है।[५] 'अलख निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौ मिलि रह्या कबीरा' के द्वारा अलख निरंजन को मन कहने का अभिप्राय ही यह है कि ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वही मन है। कबीर ने 'मन मनहि समाना[६]', 'मन का भ्रम मन ही थैं भागा[७]', इत्यादि के द्वारा मन के परमार्थ में निरंजन रूप की चर्चा की है। गोरखनाथ की भांति ही कबीर ने भी 'अब मन उलटि सनातन हूवा[८]' के द्वारा मन के सनातन शिव रूप में अवस्थान का वर्णन किया है। यही मन की 'उन्मनि' अवस्था है जिसका उल्लेख कबीर ने अनेक बार किया है। एक स्थल पर तो कबीर ने ठीक गोरखनाथ की पदावली का प्रयोग करते हुए मन

१—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० १८।

२—गोरखबानी, पृ० ७३।

३—गोरखबानी, पृ० ७३।

४—गोरखबानी, पृ० ७३।

५—ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई॥
ता मन का कोइ जानै भेव, रंचक लीन भया सुषदेव॥
गोरख भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करें अनंदा।
अलख निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९९

६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १००।

७— " " १५७।

८— " " ९३।

को नाथपंथियों के अर्थ में शिव, शक्ति, जीव कहा है और मन की उन्मनि अवस्था से साधक को सर्वज्ञ प्रतिपादित किया है[1]। इससे यह स्पष्ट होता है कि कबीर की मन सम्बन्धी तात्विक धारणा नाथपंथ के अनुसार ही है जिसमें पिंडी मन बन्धन का कारण है और उन्मनि अवस्था द्वारा ब्रह्माण्ड में यह निरंजन हो जाता है।

कबीर परवर्ती संत-काव्य में मन का प्रतिपादन कबीर की भाँति स्पष्टतः नाथपंथी पद्धति पर नहीं हुआ है, किन्तु मन में ही परमार्थ की निहिति की ध्वनि निरन्तर मिलती है। संत धर्मदास ने कहा है कि माणिक्यरूपी मन के निर्बन्ध होने से 'अटारी' या ब्रह्मरन्ध्र में जीव पहुंच गया[2]। संत सुन्दरदास ने भी 'सुन्दर जौ मन थिर रहै तौ मन ही अवधूत'[3] के द्वारा मन की स्थिरावस्था से परमार्थ कहा है। बिहार के सन्त दरिया साहब ने भी मन के स्थिर होने से जरा मरण से परित्राण वर्णन किया है[4]। अन्यत्र उन्होंने मन में ज्ञानोदय से 'उन्मनि' अवस्था द्वारा प्रकाशरूपी ब्रह्म को पाने की चर्चा की है जिससे निर्विषय मन मुक्त हो जाता है[5]। इससे यह प्रकट होता है कि निर्गुण-काव्य तात्विक दृष्टि से ब्रह्माण्ड और पिंड के भेद से मुक्त मन और निर्मुक्त मन का व्यावहारिक भेद तो करता है, किन्तु परमार्थतः उसे एक ही मानता है। निर्गुणकाव्य के अनुसार मन ही बन्धन है और उसकी ब्रह्मोन्मुख परिणिति ही मोक्ष है।

उपर्युक्त पंक्तियों में निर्गुण-काव्य में मन के तात्विक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया। पर अधिकतर सन्तों ने मन को परमार्थ बाधक निर्दिष्ट करते हुए उसकी चंचलता, कल्पना, शीलता, भ्रमोत्पादकता इत्यादि का वर्णन ही किया है। कबीर ने कहा है कि मन की गति अगम्य है[6], मन अस्थिर है[7], वह

१—इहु मन सकती इहु मन सीउ। इहु मन पंच तत्व को जीउ।
इहु मन ले जौ उनमनि रहै। तौ तीनि लोक की बातै कहै॥

२—मन मानिक की खुलीं किवरियां, चढ़ि गई झमकि अटरिया हो।
—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ११।

३—सुन्दर दर्शन, पृ० २२३ में उद्धृत

४—मन के चीन्हि राखै एक ठाईं। जरा मरन कबहीं नहि पाई॥
—दरियासागर, पृ० ९।

५—मनि मानिक दीपक बरै, उनमुनि गगन प्रगास।
मन मोदित मद तेजि के, मेटु जरा मरन जम त्रास॥
—दरियासागर, पृ० ५६।

६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९९।

७— " " ११२।

चंचल है[1], संकल्प विकल्प के आधिक्य मे 'बौरा' गया है[2]। धर्मदास ने मन की तृष्णा[3] का वर्णन करते हुए कहा है कि यह दुविधा और द्वैत का कारण है[4]। सुन्दरदास ने बड़े विस्तार से मन की गति-विधि का वर्णन किया है। सुन्दरदास के अनुसार मन के भ्रम से जगत् की सत्ता है, मन के भ्रम से ही रज्जु सर्प प्रतीत होती है, मन के भ्रम से मरीचिका जल ज्ञात होती है और मन का भ्रम ही सीप को रजत प्रकट करता है[5]। काम के जागृत होने पर मन निर्लज्ज की भाँति भय और शंका से रहित होकर काम और इन्द्रियों का चेरा बन जाता है। क्रोध के उत्पन्न होने पर यह उसके आधीन हो जाता है। लोभ उत्पन्न होने पर मन लोभी हो उठता है और मोह की उत्पत्ति पर वह नित्य प्रति यत्र-तत्र भ्रमता फिरता है[6]। सन्त दरिया साहब (बिहार) ने मन की गति को प्रवाहित जल और पवन से भी द्रुतगामी कहा है, वस्तुतः यह इच्छानुसार प्रत्येक स्थान में पहुँच जाता है[7]। मन संशय उत्पन्न करता है[8], यही जीव को अज्ञान में डालता है[9]। *अन्यत्र उन्होंने कहा है कि मन की अनन्त कलाएं हैं।* मन कर्म, कर्ता, काम, कामी, बाम, धाम, इत्यादि सर्वरूप मय है। वस्तुतः मन संशय का अगम और अथाह सागर है, सतगुरु के उपदेश रूपी जहाज के द्वारा ही पार किया जा सकता है[10]।

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४६।

२— „ „ ३१५।

३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७७।

४— „ „ ७६।

५—सुन्दर दर्शन, पृ० २२२-२२३।

६— „ „ २२१।

७— पानी पवनहुं ते मन तेजा। जहाँ कहो तहवाँ मन भेजा।

—दरियासागर, पृ० ८।

८—दरियासागर, पृ० २९।

९— „ „ २९।

१०—मन जनमे नव बार गोसाईं। अनन्त रूप मन कला देखाई॥
मन कर्म कर्त्ता काम कामी, बाम धाम छवि छावही॥
मन निसि बासर सोवत सपना, सर्व रूप बनि आवही॥
मन संसय सागर भयो, बूड़त अगम अथाह।
चढ़ु सतगुरु सब्द जहाज उतरि जाय भव पार॥

—दरियासागर पृ० ९१।

इस प्रकार निर्गुण-काव्य में मन जीव के परमार्थ में बाधक शक्ति के रूप में वर्णित है। इसकी चंचल और अस्थिर प्रवृत्ति को अचंचल और स्थिर करके साधक सिद्ध हो जाता है।

तुलसी साहब का मन-वर्णन

तुलसी साहब ने मन का वर्णन प्रायः अपनी सब रचनाओं में किया है। 'रत्नसागर' और 'घटरामायण' में मन की अनेक बार चर्चा हुई है। तुलसी साहब की मन सम्बन्धी धारणा परम्परागत ही है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा।

मन निरंजन है

नाथ-सम्प्रदाय में मन का निरूपण करते समय हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि जो ब्रह्माण्ड में निरंजन है, वही पिंड में मन है।[1] इसी सिद्धांत की प्रतिच्छाया हम कबीर में भी निर्दिष्ट कर चुके हैं[2]। तुलसी साहब ने स्पष्ट शब्दों में मन को निरंजन कहा है—

(क) मनहिं निरंजन पुरुष बखानी।[3]

(ख) पुरुष निरंजन मन भया[4]।

यह मन ही 'उन्मनि' अवस्था में निरंजन रूप हो जाता है। पर निरंजन तुलसी साहब का परमाराध्य नहीं है, इसीलिए वे 'निरंजन' शब्द का प्रयोग न करके परमार्थ में 'गगन ब्रह्म' की चर्चा करते हैं। उन्होंने पिंडी मन के ऊर्ध्वगमन द्वारा ब्रह्माण्ड में 'गगन ब्रह्म' (नाथ-सम्प्रदाय का निरंजन) की प्राप्त करने का उल्लेख किया है—

मन चढ़ि गगन ब्रह्म को पावै।[5]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब तात्त्विक रूप में मन को निरंजन मानते हैं। उनकी इस धारणा का आधार नाथ-सम्प्रदाय और कबीर आदि पूर्ववर्ती संत-साधकों की विचारधारा में मिल जाता है।

मन और कामना

उपनिषदों में मन के स्वरूप का विवेचन करते समय हम

१—गोरखबानी, पृ० ९८।
२—कबीर ग्रंथावली, पृ० ९९।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, १७१।
४— „ „ १७१।
५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८९।

चंचल है[1], संकल्प विकल्प के आधिक्य से 'बौरा' गया है[2]। धर्मदास ने मन की तृष्णा[3] का वर्णन करते हुए कहा है कि वह दुविधा और द्वैत का कारण है[4]। सुन्दरदास ने बड़े विस्तार से मन की गति-विधि का वर्णन किया है। सुन्दरदास के अनुसार मन के भ्रम से जगत् की सत्ता है, मन के भ्रम से ही रज्जु सर्प प्रतीत होती है, मन के भ्रम से मरीचिका जल ज्ञात होती है और मन का भ्रम ही सीप को रजत प्रकट करता है[5]। काम के जागृत होने पर मन निर्लज्ज की भांति भय और शंका से रहित होकर काम और इन्द्रियों का चेरा बन जाता है। क्रोध के उत्पन्न होने पर यह उसके आधीन हो जाता है। लोभ उत्पन्न होने पर मन लोभी हो उठता है और मोह की उत्पत्ति पर वह नित्य प्रति यत्र-तत्र भ्रमता फिरता है[6]। सन्त दरिया साहब (बिहार) ने मन की गति को प्रवाहित जल और पवन से भी द्रुतगामी कहा है, वस्तुतः यह इच्छानुसार प्रत्येक स्थान में पहुँच जाता है[7]। मन संशय उत्पन्न करता है[8], यही जीव को अज्ञान में डालता है[9]। अन्यत्र उन्होंने कहा है कि मन की अनन्त कलाएं हैं। मन कर्म, कर्ता, काम, कामी, वाम, धाम, इत्यादि सर्वरूप मय है। वस्तुतः मन संशय का अगम और अथाह सागर है, सतगुरु के उपदेश रूपी जहाज के द्वारा ही पार किया जा सकता है[10]।

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४६।

२— ,, ,, ३१५।

३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ७७।

४— ,, ,, ७६।

५—सुन्दर दर्शन, पृ० २२२-२२३।

६— ,, ,, २१९।

७—पानी पवनहुं ते मन तेजा। जहाँ कहो तहवाँ मन भेजा।

—दरियासागर, पृ० ८।

८—दरियासागर, पृ० २९।

९— ,, ,, २९।

१०—मन जनमे नव बार गोसाईं। अनन्त रूप मन कला देखाई॥

मन कर्म कर्त्ता काम कामी, बाम धाम छवि छावही॥

मन निसि बासर सोवत सपना, सर्व रूप बनि आवही॥

मन संसय सागर भयो, बूड़त अगम अथाह।

चढ़ु सतगुरु सब्द जहाज उतरि जाय भव पार॥

—दरियासागर पृ० ६१।

इस प्रकार निर्गुण-काव्य में मन जीव के परमार्थ में बाधक शक्ति के रूप में वर्णित है। इसकी चंचल और अस्थिर प्रवृत्ति को अचंचल और स्थिर करके साधक सिद्ध हो जाता है।

तुलसी साहब का मन-वर्णन

तुलसी साहब ने मन का वर्णन प्रायः अपनी सब रचनाओं में किया है। 'रत्नसागर' और 'घटरामायण' में मन की अनेक बार चर्चा हुई है। तुलसी साहब की मन सम्बन्धी धारणा परम्परागत ही है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा।

मन निरंजन है

नाथ-सम्प्रदाय में मन का निरूपण करते समय हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि जो ब्रह्माण्ड में निरंजन है, वही पिंड में मन है।[1] इसी सिद्धांत की प्रतिच्छाया हम कबीर में भी निर्दिष्ट कर चुके हैं[2]। तुलसी साहब ने स्पष्ट शब्दों में मन को निरंजन कहा है—

(क) मनहिं निरंजन पुरुष बखानी।[3]

(ख) पुरुष निरंजन मन भया[4]।

यह मन ही 'उन्मनि' अवस्था में निरंजन रूप हो जाता है। पर निरंजन तुलसी साहब का परमाराध्य नहीं है, इसीलिए वे 'निरंजन' शब्द का प्रयोग न करके परमार्थ में 'गगन ब्रह्म' की चर्चा करते हैं। उन्होंने पिंडी मन के ऊर्ध्वगमन द्वारा ब्रह्माण्ड में 'गगन ब्रह्म' (नाथ-सम्प्रदाय का निरंजन) को प्राप्त करने का उल्लेख किया है—

मन चढ़ि गगन ब्रह्म को पावै।[5]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब तात्त्विक रूप में मन को निरंजन मानते हैं। उनकी इस धारणा का आधार नाथ-सम्प्रदाय और कबीर आदि पूर्ववर्ती संत-साधकों की विचारधारा में मिल जाता है।

मन और कामना

उपनिषदों में मन के स्वरूप का विवेचन करते समय हम

१—गोरखबानी, पृ० ९८।

२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९९।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, १७१।

४— ,, ,, १७१।

५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८९।

'वृहदारण्यकोपनिषद्' के आधार पर कह चुके हैं कि काम या कामना मन का धर्म हैं।[1] गीता में भी मन को सकाम निर्दिष्ट किया गया है।[2] गोरक्षनाथ ने भी मन और काम का सम्बन्ध 'कै मन रहै कामिनी पोलै'[3] द्वारा व्यक्त किया है। तुलसी साहब ने भी पूर्ववर्ती साधकों के समान ही मन और काम या इच्छा का घनिष्ट सम्बन्ध प्रतिपादित किया है. संत तुलसी के अनुसार मन ऋषि, मुनि, पशु, पक्षी, नर और नारी सबको काम से व्याकुल करता है।[4] इसने ऋषि मुनियों तक को पथभ्रष्ट कर दिया है। श्रृंगी ऋषि, पराशर, महादेव मन के कारण अज्ञानी बने। मन ने ही शंकर की वुद्धि में काम जगा दिया जिससे वे मोहनी स्वरूप माया (शक्ति) द्वारा छले गये। मन के कारण ही, कामुक होकर पाराशर ऋषि ने मछोदरी नामक अपनी पुत्री के साथ भोग किया। श्रृंगी ऋषि एकान्त वन में रहते थे। वहाँ भी मन की उद्विग्नता से वह न बच सके। इन पंक्तियों में तुलसी साहब ने मनप्रसूत काम के भोगप्रधान स्वरूप का प्रतिपादनकिया है। अतएव तुलसी साहब परम्परागत धारणा के अनुसार ही मन और काम का घनिष्ट सम्बन्ध प्रतिपादित करते हैं।[5]

मन के नानाविधि रूप

उपनिषदों में मन के अनेक धर्म कहे गये है।[6] इन अनेक धर्मों के कारण मन नाना रूप में व्यक्त होता है। वस्तुतः नाना रूप एक ही मन के

१—वृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।३।
२—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।२४।
३—गोरखवानी, पृ० ५८।
४—और जगत की कहा सुनाऊँ। पशु पंछी नर नारि सुभाऊ॥
सब को करे काम बेहाला। मन दागन यह काल कराला॥
—रत्नसागर, पृ० ११।

५—रिखी मुनी सब खाय नचाये। जोई बचे जेहि संत बचाये।
सिंगीरिषि पारासर जोगी। महादेव भये ज्ञान बियोगी॥
मोहनी छले ध्यान में जाई। संकर की बुधि काम जगाई॥
पारासर पुत्री संग भोगा। काम ज्ञान बस करन वियोगा॥
सिंगी अिषि बन माहि रहाई। मन उदवेग करा यो जाई॥
अन पानी की को कहे, लेत बृच्छ को चाट।
माया प्रबल प्रचंड ने, आन बँधाई गांठ।
—रत्नसागर, पृ० १०-११।

६—वृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।३।

अनेक धर्म हैं। 'रत्नसागर' में तुलसी साहब ने 'मन की कला अनेकन होई'[1] के द्वारा यही प्रतिपादित किया है। उन्होंने मन के मोह, क्रोध, कुमति, कपट, अभिमान, आशा एवं तृष्णा धर्मो या रूपों की चर्चा की है।[2] मन के नानत्व-धर्म का वर्णन करते हुए ही तुलसी साहब ने कहा है कि जिस प्रकार सिन्धु में क्षण-क्षण में अनेक लहरें उठती हैं, उसी प्रकार मन में अनेक तरंगें उठा करती हैं।[3]

तुलसी साहब ने मन की चंचलता एवं भ्रमोत्पादकता का वर्णन भी किया है। उन्होंने कहा है कि मन के कारण चित्त चंचल व भ्रमित रहता है।[4] मन ही बुद्धि को मलिन करता है और अनेक शंकायें उत्पन्न करता है।[5] यह सुधि-बुध और समस्त ज्ञान नष्ट कर देता है।[6] स्वप्न के खेल सदृश मन मिथ्या आशा बाँधे रहता है।[7] मन विषधर है, उसके डसने से बेसुधी की लहरें आने लगती हैं।[8] यह जीव के अज्ञानकृत बन्धन का कारण है।[9]

मन-बंधन से परित्राण

उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्मोन्मुख मन या मन की अमनी अवस्था जीव के परित्राण का साधन बन जाती है।[10] गीता में अनासक्त-योग द्वारा मन को वशीभूत करके तत्वबोध का प्रतिपादन किया गया है।[11] नाथ-सम्प्रदाय में

१—रत्नसागर, पृ० ३२।

२—रत्नसागर, पृ० ११-१२।

३—छिन छिन मन यह तरंग उठावे। जैसे सिंध लहर लहरावे।

—रत्नसागर, पृ० ८।

४—मरम चक्र चित चंचल घेरे। मारे बान आन मन फेरे॥

—रत्नसागर, पृ० ११।

५—बुधि मलीन सुधि एक न आवे। संका भाव अनेक उठावे॥

—रत्नसागर, पृ० ११।

६—मन सुधि बुधि सब ज्ञान हिरावे।

—रत्नसागर, पृ० ८।

७—ज्यों सुपने में देख तमासा। यों बांधे मन झूंठी आसा॥

—रत्नसागर, पृ० ८।

८—रत्नसागर, पृ० ८।

९—रत्नसागर, पृ० ८।

१०—माण्डूक्योपनिषद् ३।३२।

११—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।२६।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' के आधार पर कह चुके हैं कि काम या कामना मन का धर्म हैं।[1] गीता में भी मन को सकाम निर्दिष्ट किया गया है।[2] गोरक्षनाथ ने भी मन और काम का सम्बन्ध 'कै मन रहै कामिनी पोलै'[3] द्वारा व्यक्त किया है। तुलसी साहब ने भी पूर्ववर्ती साधकों के समान ही मन और काम या इच्छा का घनिष्ट सम्बन्ध प्रतिपादित किया है संत तुलसी के अनुसार मन ऋषि, मुनि, पशु, पक्षी, नर और नारी सबको काम से व्याकुल करता है।[4] इसने ऋषि मुनियों तक को पथभ्रष्ट कर दिया है। श्रृंगी ऋषि, पराशर, महादेव मन के कारण अज्ञानी बने। मन ने ही शंकर की बुद्धि में काम जगा दिया जिससे वे मोहनी स्वरूप माया (शक्ति) द्वारा छले गये। मन के कारण ही, कामुक होकर पाराशर ऋषि ने मछोदरी नामक अपनी पुत्री के साथ भोग किया। श्रृंगी ऋषि एकान्त वन में रहते थे। वहाँ भी मन की उद्विग्नता से वह न बच सके। इन पंक्तियों में तुलसी साहब ने मनप्रसूत काम के भोगप्रधान स्वरूप का प्रतिपादनकिया है। अतएव तुलसी साहब परम्परागत धारणा के अनुसार ही मन और काम का घनिष्ट सम्बन्ध प्रतिपादित करते हैं।[5]

मन के नानाविधि रूप

उपनिषदों में मन के अनेक धर्म कहे गये है।[6] इन अनेक धर्मों के कारण मन नाना रूप में व्यक्त होता है। वस्तुतः नाना रूप एक ही मन के

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।३।

२—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।२४।

३—गोरखबानी, पृ० ५८।

४—और जगत की कहा सुनाऊँ। पशु पंछी नर नारि सुभाऊ॥
सब को करे काम बेहाला। मन दागन यह काल कराला॥
—रत्नसागर, पृ० ११।

५—रिखी मुनी सब खाय नवाये। जोई बचे जेहि संत बचाये।
सिंगीरिषि पारासय जोगी। महादेव भये ज्ञान बियोगी॥
मोहनी छले ध्यान में जाई। संकर की बुधि काम जगाई॥
पारासर पुत्री संग भोगा। काम ज्ञान बस करन वियोगा॥
सिंगी अिषि बन माहि रहाई। मन उदवेग करा यो जाई॥
अन पानी की को कहे, लेत बृच्छ को चाट।
माया प्रबल प्रचंड ने, आन बँधाई गांठ।
—रत्नसागर, पृ० १०-११।

६—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।३।

अनेक धर्म हैं। 'रत्नसागर' में तुलसी साहब ने 'मन की कला अनेकन होई' के द्वारा यही प्रतिपादित किया है। उन्होंने मन के मोह, क्रोध, कुमति, कपट, अभिमान, आशा एवं तृष्णा धर्मों या रूपों की चर्चा की है।[२] मन के नानत्व-धर्म का वर्णन करते हुए ही तुलसी साहब ने कहा है कि जिस प्रकार सिन्धु में क्षण-क्षण में अनेक लहरें उठती हैं, उसी प्रकार मन में अनेक तरंगें उठा करती हैं।[३]

तुलसी साहब ने मन की चंचलता एवं भ्रमोत्पादकता का वर्णन भी किया है। उन्होंने कहा है कि मन के कारण चित्त चंचल व भ्रमित रहता है।[४] मन ही बुद्धि को मलिन करता है और अनेक शंकायें उत्पन्न करता है।[५] यह सुधि-बुध और समस्त ज्ञान नष्ट कर देता है।[६] स्वप्न के खेल सदृश मन मिथ्या आशा बाँधे रहता है।[७] मन विषधर है, उसके डसने से बेसुधी की लहरें आने लगती हैं।[८] यह जीव के अज्ञानकृत बन्धन का कारण है।[९]

मन-बंधन से परित्राण

उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्मोन्मुख मन या मन की अमनी अवस्था जीव के परित्राण का साधन बन जाती है।[१०] गीता में अनासक्त-योग द्वारा मन को वशीभूत करके तत्वबोध का प्रतिपादन किया गया है।[११] नाथ-सम्प्रदाय में

१—रत्नसागर, पृ० ३२।

२—रत्नसागर, पृ० ११-१२।

३—छिन छिन मन यह तरंग उठावे। जैसे सिंध लहर लहरावे।
—रत्नसागर, पृ० ८।

४—भरम चक्र चित चंचल घेरे। मारे ज्ञान आन मन फेरे॥
—रत्नसागर, पृ० ११।

५—बुधि मलीन सुधि एक न आवे। संका भाव अनेक उठावे॥
—रत्नसागर, पृ० ११।

६—मन सुधि बुधि सब ज्ञान हिरावे।
—रत्नसागर, पृ० ८।

७—ज्यों सुपने में देख तमासा। यों बाँधे मन झूंठी आसा॥
—रत्नसागर, पृ० ८।

८—रत्नसागर, पृ० ८।

९—रत्नसागर, पृ० ८।

१०—माण्डूक्योपनिषद् ३।३२।

११—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।२६।

ज्ञान द्वारा मन को वश में करना निर्दिष्ट है।[1] एवं अन्तर्मुखी मन की उन्मति अवस्था द्वारा चैतन्य तत्व की अनुभूति कही गई है।[2] निर्गुण-काव्य में भी उन्मनि अवस्था[3] और सतगुरु के उपदेश[4] द्वारा मन से परित्राण वर्णित है। तुलसी साहब ने भी संत-कृपा और गुरुध्यान से मन के निर्विषय होने की चर्चा की है।[5] अन्यत्र गीता की भावना के अनुसार उन्होंने कहा है कि मन के प्रभाव से छूटने के लिए 'निरआस' अर्थात् अनासक्त होना पड़ेगा।[6] विवेक-ज्ञान से भी मन परास्त हो सकता है।[7] किसी भी पद्धति से मन को वशीभूत किया जाय, उसे स्थिर अवश्य करना पड़ेगा। स्थिर हुए बिना मन का नियंत्रण संभव नहीं है। मन-सहित इन्द्रियों को स्थिर करके आत्म दर्शन से ही मनकृत भव-बंधन से परित्राण प्राप्त होता है।[8]

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब की मन सम्बन्धी धारणा प्रतिपादित की गई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मन-वर्णन उपनिषद् गीता नाथ-सम्प्रदाय एवं पूर्ववर्ती निर्गुण-काव्य से बड़ा साम्य रखता है। वस्तुतः तुलसी साहब का मन वर्णन परम्परागत मन-वर्णन के अनुकूल ही है।

काल

काल जीवन का अन्तिम अध्याय है। यदि जीवन है तो मृत्यु निश्चित है। इसी प्रकार यदि सृष्टि है तो काल निश्चित है। मरण की भावना जीवन के साथ मृत्युरूप में संयुक्त है। यही भावना सृष्टि के साथ व्यापक अर्थ में काल-

१----गोरखवानी, पृ० ७३

२—गोरखवानी, पृ० ७३।

३----कबीर ग्रन्थवली, पृ० ३१२।

४—दरियासागर, पृ० ६१।

५----संत कृपा गुरु ध्यान से, मन धुल जावे सोय॥
—रत्नसागर पृ० ९।

६—आसा तजि निरआस कहावे। तब इन से कोई छूटन पावै॥
—रत्नसागर, पृ० १२।

७—राम विवेक साज दल आवै। तौ कदाचि उनसे छूट जावे॥
—रत्नसागर, पृ० १२।

८ - मन को थिर कर बूझो बाता। मन थिर बिना न आवै हाथा॥
इन्द्री मन थिर सूरति हेरो। तब भोजन से होइ निबेरो॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ४६।

रूप है। वस्तुतः जब से सृष्टि है, तभी से काल है। इस प्रकार काल-तत्व सृष्टि तत्व की भाँति ही प्राचीन है। अध्यात्म के प्रसंग में 'काल' चर्चा यथेष्ट प्राचीन काल से होती रही है। मृत्युरूप में 'काल' भावना का अति प्राचीन स्पष्ट उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। अतएव सर्व प्रथम हम उपनिषदों की मृत्यु-भावना का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

उपनिषदों में 'मृत्यु' भावना

उपनिषदों में काल-तत्व का 'मृत्यु' रूप में उल्लेख कई बार किया गया है। ये उल्लेख प्रासंगिक एवं संक्षिप्त है और इनके द्वारा व्यापक कालभावना का प्रतिपादन नहीं होता। तथापि मृत्यु को सर्व भक्षक इत्यादि निर्दिष्ट करके उसका कालरूप व्यापक प्रभाव अंकित करने की चेष्टा की गई है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है—'यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं'[1] अर्थात् यह जो है सब मृत्यु का खाद्य है। यहां सम्पूर्ण दृश्य सृष्टि को मृत्यु का खाद्य बता कर उसे सर्व भक्षक निर्दिष्ट किया गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में देवताओं को भी मृत्यु के आधीन अंकित किया गया है।[2] 'कठोपनिषद्' मे मृत्यु के प्रतीक यमराज की चर्चा है।[3] इसमें यम-भावना के द्वारा मृत्यु का प्रतिपादन किया गया है।[4] यह यम ही मृत्यु या काल है जिससे परित्राण पाने के लिए उपनिषदों में कर्म-त्याग कर ब्रह्मोन्मुख होने का प्रस्ताव किया गया है।[5]

गीता में काल-भावना

गीता में 'काल' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में किया गया है—

(१) समय,

(२) मृत्यु,

'श्रीमद्भगवद्गीता' के अष्टम अध्याय में 'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्'[6] 'एवं' यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः'[7] इत्यादि में 'काल शब्द

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।२।११।

२—देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविश स्ते।

—छान्दोग्योपनिषद्, १।४।२।

३—कठोपनिषद, १।१ ७।

४—„ „ १।१।१०।

५—छान्दोग्योपनिषद्, १।४।३।

६—श्रीमद्भगवद्गीता, ८।५।

७— „ , ८।२३।

समय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त 'काल' की मृत्यु भावना का प्रतिपादन भी गीता में किया गया है। 'अहमेवा क्षयः कालो,'[१] के द्वारा 'श्रीमद्-भगवद्गीता' में मृत्युरूप अक्षय काल की चर्चा की गई है। अन्यत्र 'मृत्युः सर्व-हरश्च'[२] के द्वारा कहा गया है कि मृत्यु या काल सबका नाश करने वाला है। गीता के द्वादश परिच्छेद में 'मृत्युसंसारसागरात्'[३] अर्थात मृत्युरूप संसार समुद्र की चर्चा करके संसार को कालाधीन निर्दिष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त 'गीता' में मृत्युलोक का उल्लेख[४] और मृत्यु के प्रतीक यमराज की चर्चा भी की गई है।[५] उपनिषदो की भाँति ही 'गीता' में भी 'काल' तत्व का वर्णन प्रासंगिक है।

नाथ—सम्प्रदाय में काल तत्व

नाथ-सम्प्रदाय में काल-तत्व का वर्णन किया गया है। नाथ-सिद्धों की भाषा-रचनाओं में 'काल'[५] के स्वरूप का प्रतिपादन प्राप्त होता है। नाथ-संप्रदाय में काल-वर्णन बहुत विस्तार से नहीं किया गया है। 'गोरखबानी' एवं नाथ-सिद्धों की बानियाँ' में काल की संक्षिप्त चर्चा ही की गई है। मृत्यु भावना व्यक्त करने के लिए इन ग्रन्थों में काल के साथ 'यम' शब्द का प्रयोग भी किया गया है।[६] काल का सर्वव्यापकत्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जरा-मरण रूप काल सर्वव्यापी है।[७] काल के मारण स्वभाव का प्रभावशाली वर्णन करते हुये गोरक्षनाथ ने काल के मुंह से कहलाया है कि मैं खड़े, बैठे, सोते और जागते सब व्यक्तियों का नाश करता हूँ। मैंने तीनों लोक में योनिरूपी जाल बिछा रखा है जिससे जीव का बचना संभव नहीं है।[८] इस प्रकार नाथ-

---

१—श्रीमद्भगवद्गीता, १०।३३।

२— „ , १०।३४।

३— „ , १२।७।

४— „ , ९।२१।

५— „ , ११।३९।

६—गोरखबानी, पृ० १८१

—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ७०।

७—जुरा मरन काल सरबव्यापी।

—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ८।

८—ऊभा मारूं बैठा मारूं मारूं जागत सूता।
तीन लोक भग जाल पसार्‌या, कहां जाइगी पूता॥

—गोरखबानी, पृ० ३४।

सम्प्रदाय में काल को त्रिलोकव्यापी कहा गया है और उसकी दुर्दमनीय संहार शक्ति का प्रत्याख्यान असंभव बताया गया है। नाथ-सम्प्रदाय में काल से परित्राण का उपाय चंचल मन को निश्चित या स्थिर करना कहा गया है।[१] इससे जरा मरण काल-वर्जित निर्वाण रूप परमपद प्राप्त होता है।

निर्गुण काव्य में काल का स्वरूप

नाथ-सम्प्रदाय की अपेक्षा निर्गुण-काव्य में काल का वर्णन विस्तार से किया गया है। कदाचित् ही कोई ऐसा संत कवि हो जिसने काल के प्रभाव की चर्चा न की हो हम निम्नलिखित पंक्तियों में कबीर, धर्मदास, सुन्दरदास और दरिया साहब (बिहार) के आधार पर निर्गुण-काव्य में काल के स्वरूप का प्रतिपादन करेंगे।

कबीर ने सर्वभक्षक मृत्यु या काल का वर्णन अपनी साखियों में 'काल को अंग' के अन्तर्गत किया है। उन्होंने सम्पूर्ण जगत को काल का खाद्य कहा है।[२] मृत्यु बाज है, मनुष्य पक्षी है, किसी भी समय वह अकस्मात् आक्रमण से मनुष्य को पकड़ लेता है।[३] जिस प्रकार बाज तीतर को झपट लेता है, उसी प्रकार काल जीव को ग्रसता है।[४] सुर, नर, असुर और मुनि सब काल के पाश में बँधे हैं। इससे किसी का निस्तार नहीं। शिकारी काल चारों ओर फिर रहा है,

---

१—चौथे चंचल निहचल करौ। काल विकाल दूर पर हरौ।
जम जौरा का मर्दों मान। सतगुरु कथिया पद निखान ॥
—गोरखवानी, पृ० १८१।

२—झूलक चबीणां काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७१।

३—आजक काल्हिक निस हमैं, मारगि माल्हंता।
काल सिचाँणाँ नर चिड़ा, औझड़ औच्यंता।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७२।

४—कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज।
काल अच्यंता झड़पसी, ज्यूं तीतर को बाज ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७२।

५—सुर नर मुनियर असुर सब, पड़े काल की पासि।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७६।

इससे बचने की विधि किसे ज्ञात है[1] ? प्रभु की शरण में ही इससे निस्तार संभव है ।[2] संत धर्मदास ने भी सदगुरु कबीर की भाँति ही काल के संहारक एवं सर्वग्रासी स्वरूप का प्रतिपादन किया है । धर्मदास ने कहा है कि सम्पूर्ण जगत् काल के फंदे में पड़ा है ।[3] काल के मुख में चतुर्दश भुवन हैं, वह सबको अपना आहार बनाता है ।[4] शिकारी काल हाथ में मृत्युअस्त्र (गुलेल) लिये फिर रहा है, जीवरूप शिकार प्राप्त होने पर वह तत्काल आक्रमण कर देगा ।[5] साधारण जीव की गणना ही क्या, एक ही छलांग में शत योजन विस्तृत समुद्र को लांघने वाले और हाथों पर पर्वत उठाने वाले (हनुमान) को भी प्रचंड काल ने अपना ग्रास बना लिया ।[6] वस्तुतः परब्रह्म को छोड़कर इससे कोई नहीं बचा है ।[7] संत सुन्दरदास ने बड़े विस्तार से काल का वर्णन करते हुए कहा है कि संसार में काल एक सर्वभक्षक जन्तु की भाँति सर्वत्र व्याप्त है । समस्त क्रियाओं को करते हुए, समस्त बन्धनों को बनाए रखते हुए भी मानव प्रतिपल प्रतिक्षण काल की ओर अग्रसर हो रहा है ।[8] काल के सदृश संसार में कोई और शक्तिशाली नहीं है । तीनों लोकों में सर्वत्र इसी भयानक काल का भय छाया हुआ

१—काल अहेरी फिरहि बधिक ज्यों कहहु कवन विधि कीजै ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २९८ ।

२—काल कलपना कादै न खाइ । आदि पुरुष महि रहै समाइ ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०३ ।

३—यह संसार काल जम फंदा ।

—धरमदास की शब्दावली, पृ० ४२ ।

४—चौदह लोक बसत वाके मुख, सब को करत अहारा हो ।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४२ ।

५—काल के हाथ गुलेल, तड़ाका मारिहैं ।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४३ ।

६—सौ जोजन मरजाद सिंधु कै, करतै एकै फाल ।
हाथन पर्वत तौलते, तिन धरिखायो काल ।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ८४ ।

७—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ५७ ।

८—सुन्दर दर्शन, पृ० २३३ ।

है।[1] काल का बड़ा बिकराल प्रभाव है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, समस्त देवता, कुवेर, राक्षस, असुर, भूत प्रेत, पिशाच, सूर्य, चन्द्र, तारा, पवन, जल, पृथ्वी, आकाश, नदी-नद, सप्तद्वीप और नवखण्ड सभी काल का ध्यान करते ही भयभीत हो उठते हैं। केवल एक ब्रह्म ही उसके प्रभाव से बचा है, अन्य कोई नहीं,।[2] सुन्दर दास के मत से मनुष्य व्यर्थ ही अपने चिरस्थाई होने के विषय में सोचता है और भाँति-भाँति के गर्व करता है। काल मनुष्य की समस्त आयोजनाओं, आशाओं और आकांक्षाओं को धूल में मिला देता है,[3] बिहार के दरिया साहब ने 'धीमर सो जिव धरि के खाय,'[4] द्वारा काल का सर्वभक्षक स्वरूप ही

१—काल सौं न बलवंत कोऊ नहि देखियत,
सबकौ करत काल महा जोर हैं।
काल है भयानक भैभीत सब किये लोक,
स्वर्ग मृत्यु पाताल में काल हीं को सोर है॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४१५।

२—सुन्दर सब ही थरसलैं देषि रूप बिकराल।
मुख पसारि कबकौ रह्यो महा भयानक काल॥
सत्यलोक ब्रह्मा डर्‌यौ शिव डरप्यो कैलास।
विष्णु डर्‌यौ वैकुंठ में सुन्दर मानो त्रास॥
इन्द्र डर्‌यौ अमरावती देवलोक सब देव।
सुन्दर डर्‌यौं कुबेर पुनि देषि सबनि कौ छेव॥
राक्षस असुर सबै डरे भूत पिशाच अनेक।
सुन्दर डरपे स्वर्ग कै काल भयानक एक।
चन्द सूर तारा डरैं धरती अरु आकास।
पांणी पावक पवन पुनि सुन्दर छाडी आस।
सुन्दर डर सुनि काल कौं कंप्यौ सब ब्रह्मंड।
सागर नदी सुमेर पुनि सप्त द्वीप नौ खंड॥
एक रहै करता पुरुष महाकाल कौ काल।
सुन्दर यहु बिनसैं नहीं जाकौ यह सब ख्याल॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७०४-७।

३—सुन्दर दर्शन, प० २३६।

४—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० २२।

इससे बचने की विधि किसे ज्ञात है[1] ? प्रभु की शरण में ही इससे निस्तार संभव है।[2] संत धर्मदास ने भी सद्गुरु कबीर की भाँति ही काल के संहारक एवं सर्वग्रासी स्वरूप का प्रतिपादन किया है। धर्मदास ने कहा है कि सम्पूर्ण जगत् काल के फंदे में पड़ा है।[3] काल के मुख में चतुर्दश भुवन हैं, वह सबको अपना आहार बनाता है।[4] शिकारी काल हाथ में मृत्युअस्त्र (गुलेल) लिये फिर रहा है, जीवरूप शिकार प्राप्त होने पर वह तत्काल आक्रमण कर देगा।[5] साधारण जीव की गणना ही क्या, एक ही छलांग में शत योजन विस्तृत समुद्र को लांघने वाले और हाथों पर पर्वत उठाने वाले (हनुमान) को भी प्रचंड काल ने अपना ग्रास बना लिया।[6] वस्तुतः परब्रह्म को छोड़कर इससे कोई नहीं बचा है।[7] संत सुन्दरदास ने बड़े विस्तार से काल का वर्णन करते हुए कहा है कि संसार में काल एक सर्वभक्षक जन्तु की भाँति सर्वत्र व्याप्त है। समस्त क्रियाओं को करते हुए, समस्त बन्धनों को बनाए रखते हुए भी मानव प्रतिपल प्रतिक्षण काल की ओर अग्रसर हो रहा है।[8] काल के सदृश संसार में कोई और शक्ति-शाली नहीं है। तीनों लोकों में सर्वत्र इसी भयानक काल का भय छाया हुआ

१—काल अहेरी फिरहि बधिक ज्यों कहहु कवन विधि कीजै।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २९८।

२—काल कलपना कादै न खाइ। आदि पुरुष महिं रहै समाइ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०३।

३—यह संसार काल जम फंदा।

—धरमदास की शब्दावली, पृ० ४२।

४—चौदह लोक बसत वाके मुख, सब को करत अहारा हो।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४२।

५—काल के हाथ गुखेल, तड़ाका मारिहैं।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४३।

६—सौ जोजन मरजाद सिंधु कै, करतै एकै फाल।
हाथन पर्वत तौलते, तिन धरिखायो काल।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ८४।

७—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ५७।

८—सुन्दर दर्शन, पृ० २३३।

है।[1] काल का बड़ा विकराल प्रभाव है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, समस्त देवता, कुबेर, राक्षस, असुर, भूत, प्रेत, पिशाच, सूर्य, चन्द्र, तारा, पवन, जल, पृथ्वी, आकाश, नदी-नद, सप्तद्वीप और नवखण्ड सभी काल का ध्यान करते ही भयभीत हो उठते हैं। केवल एक ब्रह्म ही उसके प्रभाव से बचा है, अन्य कोई नहीं।[2] सुन्दर दास के मत से मनुष्य व्यर्थ ही अपने चिरस्थाई होने के विषय में सोचता है और भाँति-भाँति के गर्व करता है। काल मनुष्य की समस्त आयोजनाओं, आशाओं और आकांक्षाओं को धूल में मिला देता है,[3] बिहार के दरिया साहब ने 'धीमर सो जिव धरि के खाय,'[4] द्वारा काल का सर्वभक्षक स्वरूप ही

१—काल सौं न बलवंत कोऊ नहि देखियत,
सबकौं करत काल महा जोर हैं।
काल हैं भयानक भैभीत सब किये लोक,
स्वर्ग मृत्यु पाताल में काल ही को सोर हैं॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४१५।

२—सुन्दर सब ही थरसले देषि रूप विकराल।
मुख पसारि सबकौं रह्यो महा भयानक काल॥
सत्यलोक ब्रह्मा डर्यौ शिव डरप्यो कैलास।
विष्णु डर्यौ वैकुंठ में सुन्दर मानी त्रास॥
इन्द्र डर्यौ अमरावती देवलोक सब देव।
सुन्दर डर्यौं कुबेर पुनि देषि सबनि कौ छेव॥
राक्षस असुर सबै डरे भूत पिशाच अनेक।
सुन्दर डरपे स्वर्ग कै काल भयानक एक।
चन्द सूर तारा डरे धरती अरु आकास।
पांणी पावक पवन पुनि सुन्दर छाड़ी आस।
सुन्दर डर सुनि काल कौ कंप्यौ सब ब्रह्मंड।
सागर नदी सुमेर पुनि सप्त द्वीप नौ खंड॥
एक रहै करता पुरुष महाकाल कौ काल।
सुन्दर यहु बिनसै नहीं जाकौ यह सब ख्याल॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७०४-७।

३—सुन्दर दर्शन, पृ० २३६।
४—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० २२।

प्रतिपादित किया है। इससे परित्राण पाने के लिए दरिया साहब ने सतगुरु के ज्ञानरूपी अस्त्र का प्रयोग विधेय ठहराया है।[1]

निर्गुण-काव्य के साम्प्रदायिक स्वरूप में यम भावना 'धर्मराय निरंजन' के रूप में व्यक्त हुई है। कबीर-पंथ की रचनाओं में निरंजन को काल पुरुष कहा गया है।[2] कबीर-पंथी ग्रन्थ 'अनुरागसागर' में निरंजन को काल[3] एवं धर्म राय[4] कहा गया है। यमराज के लिये धर्मराज का प्रयोग बहुत प्राचीन है, किन्तु 'कालपुरुष धर्मराय' के रूप में निरंजन को प्रस्तुत करना निर्गुण संत काव्य के साम्प्रदायिक स्वरूप की विशेषता है। इस सम्बन्ध में 'पारिभाषिक शब्द' के परिच्छेद में 'निरंजन' का विकास दृष्टव्य है।

यह समस्त सृष्टि काल या यम के पाश में है। संतों ने इस काल को पराजित करके अकाल रूप ब्रह्म-तत्व को प्राप्त करने के लिए पुनः पुनः जीव को सचेत किया है। कबीर,[5] दादू,[6] नानक,[7] जगजीवन साहब,[8] दरियासाहब,[9] गरीबदास,[10] पलटू साहब,[11] आदि संत कवियों ने बार बार काल से सचेत रहने का उपदेश दिया है। वस्तुतः काल से मुक्त होने पर ही जीव आवागमन के चक्र से छूटता है और यही उसका परित्राण है।

तुलसी साहब का काल वर्णन

संत तुलसी ने सर्वभक्षक मृत्यु-तत्व का काल रूप में वर्णन किया। पूर्ववर्ती निर्गुण-साधकों की भाँति ही तुलसी साहब ने चराचर को कालाधीन-

---

१—काल का फांस जो कटि कत्तल किया।
ज्ञान गुरु खड्ग ले काटि मारा॥
—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० १२।

२—कबीर पृ० ५५।

३—अनुराग सागर, पृ० १०, १२।

४—अनुराग सागर, पृ० १२, १३

५—सन्तबानी संग्रह, प्रथम भाग, पृ० ८।

६— ,, ,, ,, ७९।

७— ,, ,, ,, ६८।

८— ,, ,, ,, ११७।

९— ,, ,, ,, १२२।

१०— ,, ,, ,, १८८।

११— ,, ,, ,, २१४।

बताया है और साम्प्रदायिक संतमत के अनुसार यम भावना 'निरंजन' के द्वारा व्यक्त की है। निम्नांकित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

काल—निरंजन

उपनिषदों में मृत्युतत्व की चर्चा के समय हम लक्ष्य कर चुके हैं कि 'कठोपनिषद्' में मृत्यु के प्रतीक यमराज हैं। उनको मृत्यु का देवता कहा जा सकता है। साम्प्रदायिक संतमत के 'अनुराग सागर' प्रभृति ग्रन्थों में 'निरंजन' को मृत्यु या काल का प्रतीक प्रस्तुत किया गया है और उसे ही 'धर्मराय' अभिहित किया गया है। निर्गुण-काव्य की इस साम्प्रदायिक काल भावना के अनुसार ही तुलसी साहब ने भी 'निरंजन' को काल कहा है। 'घटरामायण' में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में निरंजन को काल निर्दिष्ट किया है।

(क) निरंकार काल अन्यायी। जोतो ठगनी सब जग खाई ॥[1]

(ख) दीनदयाल पुरुष है न्यारा। निरंकार काल के पारा ॥[2]

(ग) काल निरंजन से उतपाना। ब्रह्मा बिष्णु महेसुर जाना ॥[3]

'निरंजन' के लिए तुलसी साहब 'निरंकार' का प्रयोग भी करते हैं। 'निरंकार' और 'निरंजन' को समान रूप से 'काल' कहकर उन्होंने इन शब्दों का परस्पर पर्यायवाचित्व स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार तुलसी साहब द्वारा कालरूप में निरंजन का प्रतिपादन संत-काव्य की साम्प्रदायिक भावना के अनुरूप ही है।

त्रिलोकव्यापी काल

संत-काव्य की साम्प्रदायिक विचारधारा के अनुसार सत्यपुरुष ने काल निरंजन को तीन लोक का पूर्ण अधिकार दे रखा है। तुलसी साहब ने इसी आधार पर कहा है कि परमपुरुष ने समस्त जीवों को काल के हाथ कर दिया है और इसको तीन लोक का स्वामी बनाया है।[5] अन्यत्र उन्होंने कहा है है कि इससे स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल कोई स्थान नहीं बचा है। त्रैलोक्य में

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६४।
२— „ „ „ ७४।
३— „ „ „ १७४।
४—अनुरागसागर, पृ० ११
५—सब जिव सौंपि पुरुष यहि दीन्हा। तीन लोक का मालिक कीन्हा।
—रत्नसागर, पृ० १००।

इससे प्रबल कौन है, जिससे शरण की याचना की जाय।[1] उनका अभिप्राय यह है कि तीन लोक में काल से प्रबल कोई नहीं है। अधिक शक्ति सम्पन्न कौन हो सकता है? इस प्रकार तुलसी साहब ने तीन लोक में प्रबल प्रचंड काल का एक छत्र राज्य प्रतिपादित किया है।

सर्वसंहारक काल

तुलसी साहब ने जगत् के क्षेत्र में काल को बड़ा प्रबल और सशक्त अत्याचारी शासक बताया है जिससे कोई बच नहीं सकता।[2] उसके घेरे में पड़कर समस्त जीव मारे जाते हैं। उसका जाल बड़ा दुःखपूर्ण है और यह निर्दय काल किसी को नहीं छोड़ता है।[3] बड़े-बड़े सम्राट काल के जाल में पड़कर भागने का पथ नहीं पाते।[4] शिकारी काल युगों से खेल रहा है अर्थात् मृत्यु के पाश में जीवों को जकड़ रहा है। इसने जीव और जगत् को अपना ग्रास बना रखा है। दुर्दान्त काल को कोई रोक नही सकता, उसका सामना करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। यह इच्छानुसार अनीति करता है। इसका सामना करके कोई इसे जीत नहीं पाया है।[5]

काल प्रचंड है। इससे जीव की रक्षा असंभव है। अनेक प्रकार से छल बल द्वारा काल जीव को दिवारात्रि संत्रस्त करता है। जीव को इससे बचने

१—स्वर्ग मिर्त पाताल न बाचे। को है जबर, सरन जेहि याचे।
—रत्नसागर, पृ० ८७।

२—जम यह जबर कराल, काल जुलुम जुलमी बड़ा।
खड़ा रहै मैदान, जान कोई पावै नहीं॥
—रत्नसागर, पृ० ९९।

३—ऐसा घेरा जम ने डारा। सब जिव पकड़ि पकड़ि कर मारा।
जमकी जाल बड़ी दुखदाई। नहि कोई छोड़ै काल कसाई॥
—रत्नसागर, पृ० ९९।

४—जुलमी की जाली पड़े, बड़े बड़े उमराव।
दांव कधी लागे नहीं, भागन कवन उपाव॥
—रत्नसागर, पृ० १००।

५—खेले जुग जुग काल शिकारी। खाये जक्त जीव सब झारी।
को रोके जबरी के मांहीं। आड़े फिरे सामरथ नहीं॥
जो चाहे सो करे अनीता। यहि के सम्मुख कोइ नहि जीता।
—रत्नसागर, पृ० १००।

का कोई स्थान नहीं मिलता। जहाँ जीवन है, वहीं काल है।[1] यह पिंड में प्रवेश करके प्राण निकालता है। इससे एक जीव भी नहीं बचा है, यह सबको नष्ट कर देता है।[2] शक्तिशाली काल के सम्मुख जीव की एक नहीं चलती। काल के के अनेक प्रपंचों में पड़कर जीव व्याकुल हो उठता है।[3] प्रचंड काल बड़ा अत्याचारी है, यह जगतरूपी रणक्षेत्र में कमान चढ़ाये फिरता है और तान कर बाण मारता है।[4] जिस प्रकार वन में भेड़ी सिंह का खाद्य है, इसी प्रकार जगत् में जीव काल का आहार है।[5] जिस प्रकार भेड़ को देख कर सिंह दहाड़ता है, उसी प्रकार गर्जन करके काल जीव को खा जाता है।[6]

तुलसी साहव प्रतिपादित काल का उपर्युक्त सर्व-भक्षक एवं सर्व संहारक स्वरूप निर्गुण-काव्य की परम्परागत भावना के अनुसार ही है। पूर्ववर्ती निर्गुण-काव्य की काल-भावना और संत तुलसी की काल-भावना में पूर्ण साम्य है। जिस प्रकार दरिया साहव ने सद्गुरु के ज्ञानरूपी अस्त्र से काल-पाश काटने का प्रस्ताव किया है[7] उसी प्रकार तुलसी साहब ने भी काल के जाल को सतगुरु

१—काल बली परचंड कहावै। या से जीव बचन नहिं पावै।
छल बल दांव करे बहु भाँती। करे कोप जिव पर दिन राती।
नहिं कोइ ठौर बचन जिव पावे : जहां जाय तहँ आय समाने।
—रत्नसागर, पृ० ८७।

२—प्रान निकारे आय के घेरे घट के माहिं।
एक जीव बाचे नहीं, धरि धरि सबको खाय।
—रत्नसागर, पृ० ८७।

३—जिव मूरख वो जबर कहावा। या को कछू चले नहिं दांवा।
कई परपंच करे जम काला। या से वपुरा जीव बिहाला।
—रत्नसागर, पृ० १००।

४—काल जबर जुलमी बड़ा, खड़ा रहे मैदान।
कर कमान खैंचे फिरे, मारे गोसा तान॥
—रत्नसागर, पृ० ८८।

५—ज्यों वन भेड़ी सिंह अहारा। वैसे जीव काल का चारा।
—रत्नसागर, पृ० ८८।

६—डाके सिंह भेड़ के माहीं। ऐसे डाक काल जिव खाई।
—रत्नसागर, पृ० ८८।

७—दरियासाहव की शब्दावली, पृ० १२।

की सुर्रति रूपी तलवार से काटने का वर्णन किया है।[१] अन्यत्र उन्होंने कहा है कि यम से केवल सतगुरु की शरण में ही रक्षा संभव है।[२] इसी प्रसंग में उन्होंने संत-शरण में काल से परित्रांण प्रतिपादत किया है।[३] निर्गुण-काव्य में संत और सदगुरु को ब्रह्मवत् माना गया है। अकाल ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले संत और सद् गुरु को काल से निस्तार दिलाने वाले प्रतिपादित करके संत तुलसी ने परम्परागत निर्गुण-काव्य की विचारधारा को ही प्रकट किया है।

कर्म

कर्म कार्य व्यापार या क्रिया को कहते हैं।[४] यह कार्य व्यापार या क्रिया मनुष्यकृत हो सकती है, सृष्टि के अन्य पदार्थों की क्रिया भी हो सकती है।[५] इसीलिए भारतीय चिन्ताधारा में कर्म सिद्धान्त की प्रतिष्ठा बड़ी व्यापक है और समस्त सृष्टि को कर्माधीन माना गया है। अत्यन्त प्राचीनकाल से कर्म निरूपण अध्यात्म चर्चा का आवश्यक अंग रहा है। निम्नांकित पंक्तियों में सर्व प्रथम उपनिषदों में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त का परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

उपनिषदों में कर्म भावना

उपनिषदों में वैदिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कर्म विधेयक है।[६] किन्तु ज्ञान या ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में कर्म ग्राह्य नहीं है। कठोपनिषद में कहा गया है कि कर्म फल से नित्य तत्व नहीं मिलता है।[७] इसका अभिप्राय यह है कि कर्म से तदनुसार फल प्राप्त होता है, किन्तु आत्मोपलब्धि नहीं होती है। प्रश्नोपनिषद में कहा गया है कि पुण्य कर्म के द्वारा पुण्य लोक, पाप के द्वारा

१—दुर्गम घाटी काल कराला। बांधी बाट जुलुम जम जाला।
सतगुरु तेग सुरति से काटे। निकरि जाम जुलमी के बांटे॥
—रत्नसागर, पृ० ७७।

२—रत्नसागर, पृ० १००।

३— „ १००।

४—गीता रहस्य, पृ० २७४।

५— „ „ २७४।

६—बृहदारण्यकोपनिषद्, तृतीय ब्राह्मण।

७—जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
—कठोपनिषद्, १।२।१०।

पापलोक तथा मिश्रित कर्म से मनुष्यलोक प्राप्त होता है।[१] मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि कर्मियों को कर्मफल में राग के कारण नित्य तत्व का ज्ञान नहीं होता, इसलिए वे दुखार्त होकर (कर्मफल क्षीण होने पर) स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं।[२] नित्य तत्व की प्राप्ति में बाधक होने के कारण ही ईशावास्योपनिषद् में कर्मरूप अविद्या की उपासना करने वाले अर्थात् कर्मियों के अविद्या रूप अन्धकार में प्रवेश की चर्चा की गई है।[३] इसीलिए मुण्डकोपनिषद में ज्ञान रहित कर्म की निन्दा करते हुये कहा गया है कि इससे जरा मरण ही प्राप्त होता है अर्थात् पुनर्जन्म के द्वारा भवताप ही मिलता है।

इस प्रकार उपनिषद् कर्म को बन्धन या आवागमन का कारण मानते हैं और उनकी उपासना से तदनुकूल फल की व्यवस्था देते हैं। उपनिषदों का यह मन्तव्य है कि कर्म फल-प्रदाता है, किन्तु इससे आत्मलाभ नहीं होता है। आत्मोपलब्धि या ज्ञान दशा में कर्म रहते ही नहीं हैं। इसीलिये बृहदारण्यको पनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञ या ब्रह्मवेत्ता कर्म रहित होता है।[५] मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म साक्षात्कार से कर्म नाश का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि उस परावर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते है और कर्म क्षीण हो जाते हैं।[६] छान्दोग्य, श्वेताश्वेत-रोपनिषद् इत्यादि में भी ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान के द्वारा कर्मनाश का प्रतिपादन किया गया है। इससे जीव कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है जिससे आवागमन का कारण नहीं रहता।

१—पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥
—प्रश्नोपनिषद्, ३।७।

२—यत्कर्मिणा न प्रवेदयन्ति रागा-
त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।
—मुण्डकोपनिषद्, १।२।९।

३—ईशावस्योपनिषद्, ९।

४—मुण्डकोपनिषद्, १।२।७।

५—वृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२३।

६—भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।
—मुण्डकोपनिषद्, २।२।८।

गीता में कर्म सिद्धान्त

'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा गया है कि कर्म त्याज्य नहीं है, त्याज्य है उनमें आसक्ति रखना। श्रीकृष्ण ने कहा है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं है क्योंकि ये तीनों ही बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं।[१] यदि मनुष्य कर्म का त्याग करना भी चाहे तो नहीं कर सकता, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी विना कर्म किये नही नहीं रहता है, निःस्संदेह सब ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते है।[२] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता में कर्म विधेय है और यह माना गया है कि किसी न किसी रूप में प्रत्येक मनुष्य कर्म करता है, क्योंकि कर्म सृष्टि का अंग है।

अध्यात्मशास्त्र में कर्म को बन्धन का कारण माना गया है। अतएव यह प्रश्न उठता है कि गीता के द्वारा कर्म-विधेयता का प्रतिपादन करते समय क्या कर्म का बन्धनरूप विस्मृत कर दिया गया है ? इसका उत्तर यह है कि गीता के अनुसार कर्म न करने से ही निष्कर्मता नहीं प्राप्त होती और न कर्मो को त्यागने मात्र से भगवत्-साक्षात्कार होता है।[३] वस्तुतः कर्म में आसक्ति या अनासक्ति ही बन्धन या मुक्ति का कारण हो जाती है यदि कर्म आसक्तिपूर्वक किया गया है, तो बन्धनकर्ता है और यदि अनासक्ति या निष्कामभाव से किया जाता हैं तो मुक्ति प्रदाता हैं। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में निष्काम कर्माचरण का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है।[४] यही गीता का फल कामना विरहित निष्काम कर्म योग है जिसका प्रतिपादन इस ग्रन्थ के द्वितीय एवं तृतीय अध्याय के अनेक स्थलों पर किया गया है।

१—यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।
—श्रीमद्भगवद्गीता, १८।५।

२—नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।
—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।५।

३—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।४

४—तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।१९।

योग में कर्म भावना

पातंजल योग दर्शन में भी कर्म सिद्धान्त की चर्चा है। इसमें चार प्रकार के कर्मों का वर्णन किया गया है। योग सूत्र में कहा गया है कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं तथा दूसरों के तीन प्रकार के होते हैं।[1] यहाँ शुक्ल कर्म और कृष्ण कर्म का अभिप्राय क्रमशः पुण्य कर्म और पाप कर्म से है। इनका फल भी क्रमानुसार सुख एवं दुखरूप होता है। पर सिद्ध योगी के कर्म किसी प्रकार का भी फल उत्पन्न नहीं करते क्योंकि उसका चित्त कर्म-संस्कारों से शून्य होता है।[2] इसीलिए उसके कर्मों को अशुक्ल और अकृष्ण कहते हैं। योगी के अतिरिक्त साधारण मनुष्यों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं—

(१) शुक्ल अर्थात पुण्य कर्म

(२) कृष्ण अर्थात् पापकर्म

(३) शुक्ल कृष्ण अर्थात् पुण्य पाप मिश्रित

साधारण मनुष्यों के कर्म संस्कार रूप से अन्तःकरण में संगृहीत रहते हैं, अतः उन कर्मों में से जो कर्म जिस समय फलभोग कराने के लिए तैयार होता है उस समय उस कर्म के फल के अनुरूप ही वासना उत्पन्न होती है।[3] इन कर्मों के संस्कार समुदायरूप कर्माशय का विपाक या परिणाम पुनः पुनः शुभ-अशुभ योनियों में जन्म प्रदान करता है। इससे बन्धन से निवृत्ति पाने के निमित्त योग में समाधि की सिद्धि प्रतिपादित है।[4] समाधिस्थ योगी के कर्मसंस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं।[5] अतएव वह कर्म बन्धन से मुक्त होकर जीवनमुक्त कहलाता है। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि योग में कर्मसंस्कार के उन्मूलन से मुक्ति मानी गई है।

नाथ सम्प्रदाय में कर्म सिद्धान्त

नाथ सम्प्रदाय में कर्म को जीवात्मा का बन्धन माना गया है।

१—कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

—योग दर्शन, ४।७।

२—योग दर्शन, पृ० १५६।

३—योग दर्शन, पृ० १५७।

४— ,, पृ० १७४।

५—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।

—योग दर्शन, ४।३०

गोरक्षनाथ ने कहा है कि कर्म बन्धन ही जीव का बन्धन है।[१] नाथ सिद्धों वानियों में 'संसार कर्म बन्धन' के द्वारा समस्त सृष्टि को कर्माधीन बताया ग है। सामान्य जीव का तो कहना ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु, एवं महेश भी कर्म बँधे हैं।[३] राम, पाँडव, चन्द्र, सूर्य सब कर्माधीन परिचालित हैं।[४] वस्तुतः क की रेखा टल नहीं सकती। पाप-पुण्य अथवा अशुभ और शुभ, प्रत्येक क्रिया क रूप है।[५] जब तक शरीर का बन्धन है, तब तक अनन्त कर्म होते हैं।[६]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथ सम्प्रदाय में क को अप्रतिवार्य माना गया है और प्रतिपादित किया गया है कि जीव और जीं तर सृष्टि भी कर्माधीन है। वस्तुतः जब तक कर्म है, तब तक सृष्टि है और तभी तक बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति तब प्राप्त होती है, जब पुरुष गु ज्ञान से निष्कर्म आत्मा को देखता है तथा कर्म और तत्प्रसूत संशय त्याग कर वह आत्मलाभ करता है।[७] यही उसका कर्म बन्धन से परित्राण है।

१—बंध्या सोई जु करमहि बंध।

—गोरखबानी, पृ० २२९।

२—नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० १०६।

३—ब्रह्मा विसन महेस्वर।
तेऊ क्रम विटंमते ॥

—नाथसिद्धों की बानियां पृ० १०६।

४—राम जेन विटंमते।
पांडु जेन भवली बनोगता ॥
चंद सूर कलंक चटाता।
त्स्मई विधि वसेपा।
न टलंत मावनी क्रम रेखा।

—नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० १०९।

५—पाप पुन करम का वासा।

—गोरखबानी, पृ० १६४।

६—शरीर सूं कोटि क्रमणा। ब्रह्म कर्म न लीयते।

—नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० १०५।

७—करम भरम हम ध्याइ करते। नह क्रम सतगुर लपाया।
करम भरम का संसा त्यागा। सबद अगोचर पाया।

—नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० ५८।

निर्गुण काव्य में कर्म निरूपण

संत काव्य में कर्म का विरोध है। संत कवि कर्म को त्याज्य मानते हैं। इसका कारण यह है कि कर्म जीव का बन्धन है। कबीर ने 'करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे'[1] के द्वारा अनन्त कर्मों से जीव का बन्धन निर्दिष्ट किया है। कर्म के बन्धन में पड़कर जीव पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता है।[2] धर्मदास ने कहा है कि कर्म से परित्राण न प्राप्त कर सकने के कारण जीव का जीवन व्यर्थ ही जाता है। संत सुन्दरदास ने भी 'अकरम गहै करम सब त्यागै' के द्वारा कर्म का निषेध किया है क्योंकि कर्म त्याग से बन्धनमुक्त होकर जीव निष्कर्म आत्मलाभ करता है। संत चरणदास ने कर्म को जीवात्मा के बंधन का कारण निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि कर्म के कारण जीव भ्रमित हो रहा है, वह प्रियतम (ब्रह्म) से नहीं मिल पाता,[5] वस्तुतः कर्म से जीव का परित्राण नहीं हो सकता, इससे तो उसका रोग (भवताप) और भी बढ़ जाता है[6]। बिहार के संत दरिया साहब ने भी कर्म को जीव बन्धन का कारण बतलाते हुए कहा है कि जन्म जन्मान्तर में उत्कृष्ट एवं निकृष्ट योनि की प्राप्ति कर्मानुसार होती है।[7] कर्म के कारण ही जीव अनेक योनियाँ प्राप्त करता है और भव में भ्रमित होता है।[8]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म जीव का बन्धन है और इसीलिए सन्तों की दृष्टि में वह त्याज्य है। सन्तों ने पुनः पुनः कहा है कि ज्ञान द्वारा कर्म त्यागने से ही निष्कर्म आत्मा प्रकाशित होता है। कबीर ने

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।

२—करम का बांध्या जीयरा, यह निसि आवै जाइ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२८।

३—एकौ कर्म छुटै ना कबहूं, बहु विधि बात बिगारी।

—धर्मदास की शब्दावली, पृ० २५।

४—सुन्दर विलास, पृ० ९०।

५—करम लगो भरमत फिरो, मिलो न अपने पीव।

—चरणदास की बानी, प्रथम भाग, पृ० १४।

६—किया कर्म की औषधि जेती रोग बढ़ावन हारो।

—चरणदास की बानी, प्रथम भाग, पृ० ४२।

७—संत कवि दरिया, पृ० ८७।

८— " " ८७।

कर्म-भ्रम त्याग कर ब्रह्म से लौ लगाई थी।[1] उन्होंने कहा है कि शुभ एवं अशुभ कर्म रूप भ्रम का विनाश करने पर आत्मा प्रकाशित हुआ।[2] दादू ने अपने अनुभव से कहा है कि कर्म का पाश काटकर उन्हें आत्मलाभ हुआ।[3] धर्मदास ने भी कर्म को ज्ञान की अग्नि में प्रज्वलित करके प्रेमरूप प्रभु को प्राप्त किया था।[4] संत चरणदास ने कहा है कि कर्म बन्धन से छुटकारा पाकर जीव मुक्त हो जाता है।[5] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों की दृष्टि में कर्म त्याज्य है। ज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान के द्वारा कर्म पाश से निस्तार मिलता है।

तुलसी साहब का कर्म-वर्णन

तुलसी साहब ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त का निरूपण किया है। अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा रत्नसागर में कर्म सिद्धान्त विशिष्ट हैं। कर्म के सम्बन्ध में तुलसी साहब की मान्यतायें वहीं हैं, जिनका विवरण उपर्युक्त पंक्तियों में हम दे चुके हैं। निम्नलिखित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

कर्म बन्धन का कारण

उपनिषदों में कर्म को जीव के बन्धन का कारण निर्दिष्ट किया गया है।[6] गीता में भी कर्म-बन्धन का वर्णन है।[7] नाथ-सम्प्रदाय में कर्म को जीव एवं जीवेतर सृष्टि के बन्धन का कारण बताया गया है।[8] निर्गुण काव्य में कहा

१—दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ, भर्म कर्म सब दिये बहाइ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७४।

२—जब पाप पुंनि भ्रम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७८।

३—दादू राम संभालता, कटै करम के पास।
—दादूदयाल की वानी, प्रथम भाग, पृ० १००।

४—कर्म जलाय के काजल कीन्हा, पढ़े प्रेम की वानी।
—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ३।

५—कर्म छूटै मिटै जीवता, मुक्ति रूप ह्वै जाय।
—चरण दास की बानी, प्रथम भाग, पृ० १५।

६—मुण्डकोपनिषद्, १।२।१।

७—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।५।

८—गोरखबानी, पृ० २१९, नाथसिद्धों की बानियां, पृ० १०६
—एवं १०१।

कर्म-भ्रम त्याग कर ब्रह्म से लौ लगाई थी।[१] उन्होंने कहा है कि शुभ एवं अशुभ कर्म रूप भ्रम का विनाश करने पर आत्मा प्रकाशित हुआ।[२] दादू ने अपने अनुभव से कहा है कि कर्म का पाश काटकर उन्हें आत्मलाभ हुआ।[३] धर्मदास ने भी कर्म को ज्ञान की अग्नि में प्रज्वलित करके प्रेमरूप प्रभु को प्राप्त किया था।[४] संत चरणदास ने कहा है कि कर्म बन्धन से छुटकारा पाकर जीव मुक्त हो जाता है।[५] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों की दृष्टि में कर्म त्याज्य है। ज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान के द्वारा कर्म पाश से निस्तार मिलता है।

तुलसी साहब का कर्म-वर्णन

तुलसी साहब ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त का निरूपण किया है। अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा रत्नसागर में कर्म सिद्धान्त विशिष्ट हैं। कर्म के सम्बन्ध में तुलसी साहब की मान्यतायें वहीं हैं, जिनका विवरण उपर्युक्त पंक्तियों में हम दे चुके हैं। निम्नलिखित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

कर्म बन्धन का कारण

उपनिषदों में कर्म को जीव के बन्धन का कारण निर्दिष्ट किया गया है।[६] गीता में भी कर्म-बन्धन का वर्णन है।[७] नाथ-सम्प्रदाय में कर्म को जीव एवं जीवेतर सृष्टि के बन्धन का कारण बताया गया है।[८] निर्गुण काव्य में कहा

१—दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ, भर्म कर्म सब दिये बहाइ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७४।

२—जब पाप पुंनि भ्रम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७८।

३—दादू राम संभालता, कटै करम के पास।
—दादूदयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० १००।

४—कर्म जलाय के काजल कीन्हा, पढ़े प्रेम की बानी।
—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ३।

५—कर्म छूटै मिटै जीवता, मुक्ति रूप ह्वै जाय।
—चरण दास की बानी, प्रथम भाग, पृ० १५।

६—मुण्डकोपनिषद्, १।२।९।

७—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।९।

८—गोरखबानी, पृ० २१९, नाथसिद्धों की बानियां, पृ० १०६
—एवं १०१।

गया है कि कर्म ही जीव का बन्धन है।[1] सन्त तुलसी ने भी कर्म निरूपण में यह प्रतिपादित किया है कि जीव का बन्धन कर्म के कारण ही है। उन्होंने कहा हैं कि कर्म प्रधान बुद्धि के कारण जीव शुभ और अशुभ कर्म करता है। और कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनि प्राप्त करता है—

कर्म प्रधान बुद्धि उपजाई। रह सुभ असुभ कर्म के माहीं॥
जस जस कर्म कीन्ह अधिकारा। जो जस जोनि बन्द में डारा॥[2]

तुलसी साहब का कथन है कि सृष्टि के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है, अतएव जीव जब सृष्टि में आता है तो बिना कर्म के नहीं रह सकता—

तब तुलसी बोले यहि भांती। रचना के संग कर्म सनाती।
कर्म बिना जिव रहन न पावे। रचना में योंकर के आवे॥[3]

कर्म जीव ही का बन्धन नहीं है, अपितु समस्त सृष्टि उसके पाश में हैं। तुलसी साहब ने कहा है कि कर्म की प्रबलता का रोग समस्त संसार को लगा है। यह संसार कर्म के कारण ही संसार है, इसके बिना काया धारण नहीं हो सकती। अनादिकाल से यही नियम चला आ रहा है कि कर्म से कोई नहीं बचा है। यह कीट पतंग तक को व्याप्त किये है और तीन लोक, सप्त द्वीप, नवखण्ड तथा चौदह भुवन को अपने आधीन किए हुए है—

कर्म अपरबल भारी भोगू। सब जग जार जवर यह रोगू।
बिना कर्म कोइ काया नाहीं। जग बस रहा कर्म के माहीं॥
यह अनादि से रचना भाई। जुगन जुगन ऐसे चलि आई॥
कर्म भूत सब जग को लागा। या से बची नहीं कोइ जागा॥
कीट पतंग संग सब केरे। तीन लोक अंडा सब घेरे॥
सात दीप नव खण्ड कहावैं। चौदह लोक कर्म बस गावें॥[4]

इस प्रकार तुलसी साहब ने कर्म सम्बन्धी परम्परागत भावना के अनुसार ही यह प्रतिपादित किया है कि कर्म समस्त सृष्टि को अपने पाश में जकड़े है।

कर्म से पुनर्जन्म

छान्दोग्योपनिषद् में कर्म को पुनर्जन्म का कारण निर्दिष्ट किया गया है।[5] श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीव को कर्मों के अनुसार विविध देह की प्राप्ति का

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।
२—रत्नसागर, पृ० ७।
३—रत्नसागर, पृ० १६।
४—रत्नसागर, पृ० ८१।

निर्देश करते हुए कहा गया है कि यह क्रमशः विभिन्न योनियों में जाकर उन कर्मों ने अनुसार रूप धारण करता है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि जीव कर्म के कारण ही पुनर्जन्म में पड़ता है अर्थात् नवीन योनि धारण करता है। कबीर ने कर्म को पुनर्जन्म का कारण निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि कर्म से बँधा जीव आवागमन में पड़ता है।[२] संत तुलसी ने भी कर्म को पुनर्जन्म का कारण प्रतिपादित करते हुए कहा है कि कर्म फल भोग के लिए ही जीव उत्पन्न होता हैं, मरता है और पुनः देह धारण करता है—

उपजे मरे धरे फिर देही। जो जस करनी के फल लेही।[३]

अन्यत्र उन्होंने कहा है कि कर्म के अभाव में जीव देह धारण नहीं करता हैं—

करम भोग से काया पाया। बिना करम कहि काया आया॥
रचना ऐसे चलि आई। बिना करम नहि उत्पति भाई॥[४]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत तुलसी कर्म को पुनर्जन्म का कारण मानते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि कर्म के अभाव में जीव देह धारण नहीं करता। वस्तुतः कर्म ही पुनर्जन्म की प्रेरक शक्ति है।

कर्मानुसार फल

उपनिषदों में शुभ और अशुभ कर्मों का तदनुसार फल प्रतिपादित है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया हैं कि पुण्य कर्मों के द्वारा पुण्य लोक एवं पाप कर्मों के द्वारा पापलोक प्राप्त होता है।[५] इसका अभिप्राय यह है कि शुभ कर्म का फल अच्छा और अशुभ कर्म का फल बुरा होता है। संत तुलसी ने भी कर्मानुसार फल प्राप्ति के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि जिसने जिस कोटि के कर्म किए हैं, उसे उसके अनुसार ही फल प्राप्त होता है—

जो जिन कर्म किए हैं जैसे। सो तिन के फल पाये वैसे।[६]

१—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।११।
२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२८।
३—रत्नसागर, पृ० ७।
४— „ „ पृ० १४५।
५—प्रश्नोपनिषद् ३।७।
६—रत्नसागर, पृ० २९।

रत्नसागर में ही उन्होंने कहा है कि कर्म के कारण ही जीव योनियों में भ्रमण करता है और कर्मानुसार फल प्राप्त करता है—

> कर्म आस की बास में, जोनी जोनि समाय।
> जो जैसी करनी करै, सो तैसे फल पाय ॥[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत तुलसी कर्मानुसार फल प्राप्ति के उपनिषदीय सिद्धान्त में विश्वास करते हैं और उसी के अनुसार प्रतिपादित करते हैं कि जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

कर्म फल अनित्य

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि कर्म फल से नित्य तत्व का ज्ञान नहीं होता है।[2] इसका अभिप्राय यह है कि शुभ या उत्कृष्ट कर्म भी शुभ फल ही प्रदान करते है, उनसे नित्य तत्व की प्राप्ति या आत्मलाभ नहीं होता है। संत तुलसी ने भी यही कहा है कि पुण्यरूप शुभ कर्म के कारण स्वर्ग भोग प्राप्त होता है, किन्तु पुण्य कर्म फल की समाप्ति पर जब स्वर्ग-भोग समाप्त होता है, तब पुनः जीव चौरासी के बन्धन में पड़ता है—

> स्वर्ग भोग पुन के उदै, भोग करे भुगताय।
> पुन्नभोग जब करि चुके, फिर चौरासी जाय ॥[3]

इसका अभिप्राय यह है कि कर्म का फल किसी भी दशा में नित्य तत्व की प्राप्ति नहीं कराता है। यदि नित्य तत्व की प्राप्ति करना है तो कर्म से पूर्ण निरपेक्ष होना पड़ेगा।

कर्म नाश से मुक्ति

उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म साक्षात्कार से कर्मनाश होता है।[4] कर्म नाश से मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए योगशास्त्र में भी कहा गया है, कि कर्म-संस्कार के समूल नष्ट होने पर योगी जीवन्मुक्त होता है।[5] निर्गुण

१—रत्नसागर, पृ० ९०।

२—मुण्डकोपनिषद्, १।२।९।

३—रत्नसागर, पृ० ११७।

४—मुण्डकोपनिषद् २।२।८।

५—योगदर्शन, पृ० १७४।

काव्य में भी कहा गया है कि कर्म का विनाश करने पर ही आत्मलाभ होता है।[१] संत तुलसी ने उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म साक्षात्कार से कर्म नाश का प्रतिपादन किया है—

दरसन पाये करम नसाये। पाप पुन्न सब छार भई ॥[२]

यहाँ उनका यह अभिप्राय है कि ब्रह्म साक्षात्कार से उत्पन्न ज्ञानाग्नि में जल कर सब प्रकार के कर्म क्षार हो जाते हैं। अन्यत्र तुलसी साहब ने सुरति (आत्मा) और शब्द (ब्रह्म) के योग (साक्षात्कार) द्वारा कर्म बन्धन काटने का प्रस्ताव किया है।[३] उनका अभिप्राय यही है कि ब्रह्म का साक्षात्कार करके या ब्रह्मानुभूति द्वारा ही कर्मपाश से मुक्ति प्राप्त होती है। हम कुछ पूर्व ही कह चुके हैं कि सन्त तुलसी की इस धारणा में और उपनिषदों की धारणा में पूर्ण साम्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब द्वारा प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त परम्परागत कर्म भावना के अनुसार ही है। उपनिषद्, गीता, योगमत, नाथसम्प्रदाय एवं पूर्ववर्ती निर्गुण काव्य के अनुसार ही संत तुलसी ने कर्म-बन्धन, कर्म से पुनर्जन्म, कर्मानुसार फल, एवं कर्मनाश से मुक्ति का प्रतिपादन किया है।

ज्ञान

अध्यात्मशास्त्र में 'ज्ञान' शब्द का अर्थ व्यवहार ज्ञान वा नामारूपातत्मक सृष्टिशास्त्र का ज्ञान नहीं हैं, किन्तु उसका अर्थ ब्रह्म ज्ञान है।[४] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सृष्टि के नाना पदार्थों में विद्यमान जो एक मूल एवं अव्यय तत्व है, उसे जानना ही ज्ञान है। इसी को उपनिषदों में विद्या या ब्रह्म विद्या कहा गया है।[५] निम्नलिखित पंक्तियों में हम उपनिषदों की ज्ञान भावना का संक्षेप में प्रतिपादन करेंगे।

उपनिषदों में ज्ञान भावना

उपनिषदों में ज्ञान का अभिप्राय आत्म ज्ञान है। 'बृहदारण्यक' उप-

---

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ०।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ७१।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ७१।

४—गीता रहस्य, पृ० २८८।

५— „ „ पृ० २८८।

निषद् में कहा गया है कि आत्मा का जानना सब कुछ जानना है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। समस्त उपनिषदों में ज्ञान को ही जीव का समस्त श्रेय और प्रेय माना गया है। छान्दोग्य[2], तैतरीय[3], श्वेताश्वतर[4] मुण्डक[5] इत्यादि उपनिषदों में पुनः पुनः यही कहा गया है कि ज्ञान ही आध्यात्म की पराकाष्ठा है।' ईशावास्योपनिषद्' में 'विद्ययाभृतमश्नुते[6], के द्वारा विद्या या ज्ञान के द्वारा अमृत (आत्मा) प्राप्ति की चर्चा है।

ब्रह्म ज्ञान, आत्म ज्ञान अथवा ज्ञान के द्वारा अज्ञान या अविवेक का नाश उपनिषदों का प्रतिपाद्य हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के शांकर भाष्य में कहा गया है कि ज्ञान का उदय होने पर अज्ञानजनित अनेकत्व भ्रम का नाश होता है।[7] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि जिस प्रकार दीपक के रहने से अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार विद्या या ज्ञान के उदय होने पर अविद्या या अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।[8] वस्तुतः आत्म ज्ञान एक ऐसा प्रदीप है जो निरंतर प्रज्ज्वलित रहता है। इस आत्म-ज्ञान रूपी प्रदीप को प्राप्त करना ही उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में शास्त्राभ्यास या पुस्तकीय ज्ञान को आत्म-ज्ञान की तुलना में निम्न ठहराया गया है। इसमें कहा गया है कि बुद्धिमान् ब्राह्मण को उसे (आत्मा) ही जानकर उसी में प्रज्ञा करनी चाहिए। बहुत शब्दों का अनुध्यान न करे, वह तो वाणी का श्रम ही है।[9] इससे यह प्रकट होता है कि उपनिषदों के अनुसार अधिक शास्त्राभ्यास ब्रह्मज्ञान में सहायक नहीं होता। यह ठीक भी है, क्योंकि आत्मज्ञान स्वानुभूति या अनुभव का विषय है, वाक्य ज्ञान आधिक्य उसमें सहायक नहीं हो सकता है।

१—एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।४।७।

२—छान्दोग्योपनिषद् ४।१४।३।

३—तैत्तिरीयोपनिषद् १।१।

४—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।८।

५—मुण्डकोपनिषद् २।२।८।

६—ईशावास्योपनिषद्, ११।

७—बृहदारण्यकोपनिषद्, पृ० २८०।

८— " " पृ० २७२।

९—तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लायन् हि तदिति॥

—बृहदारण्यकोपनिषद, ४।४।२१।

गीता में ज्ञान भावना

'श्री मद् भगवद् गीता' में भी ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्मज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान है। गीता के चौथे अध्याय में कहा गया है कि वह ज्ञान ज्ञेय है जिस ज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी अनन्त चेतन रूप हुआ, अपने अन्तर्गत समष्टि बुद्धि के आधार सम्पूर्ण भूतों को देखेगा और उसके उपरान्त मेरे में अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप में एकीभाव हुआ सच्चिदानन्दमय ही देखेगा।[1] गीता में ही कहा गया है कि तत्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सर्वत्र देखना ज्ञान है।[2] अन्यत्र श्रीकृष्ण ने 'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'[3] के द्वारा कहा है कि ज्ञानवानों का तत्व ज्ञान मैं ही हूँ। गीता में जिस ज्ञान योग की चर्चा है, उसका अभिप्राय वस्तुतः आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करना हैं। गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा का स्वरूप प्रति-पादन करने के उपरांत कहा गया है कि यही ज्ञानयोग है।[4] इस ज्ञानयोग अथवा ज्ञान के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि इसका अनुभव आत्मा में होता है।[5] इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रीमद् भगवद् गीता' में ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान ही है।

'श्रीमद् भगवद् गीता' में कहा गया है कि अज्ञान का नाश ब्रह्मज्ञान से होता है और वही परमात्मा का प्रकाशक है।[6] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र श्रीकृष्ण ने कहा है कि अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को प्रकाशमय तत्वज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट करता हूँ।[7] ज्ञान से अज्ञान के नाश के साथ ही गीता में ज्ञान के द्वारा मोक्ष का प्रतिपादन भी किया गया हैं। इसमें कहा गया है कि पुरुष ज्ञान

१—यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ४।३५।

२—आध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञातार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतो न्यथा॥ („ १३/११)

३—श्रीमद् भगवद् गीता, १०/३८।

४— „ „ २/३१।

५—नहि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ („ ४/३८)

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
६—तेषांमादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ („ ५/१६)

७—नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
—श्रीमदा भगवद् गीता, १०।११।

को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है[1]। वस्तुतः ज्ञान को प्राप्त करना आत्मा को प्राप्त करना है और इससे जीव के समस्त भवताप नष्ट हो जाते हैं जिससे उसे मोक्षरूपा परम शान्ति प्राप्त होती है।

सांख्य में ज्ञान का स्वरूप

सांख्य में ज्ञान का अभिप्राय व्यवहार ज्ञान या शाब्दिक ज्ञान नहीं है अपितु तत्व-ज्ञान है। 'सांख्यकारिका' के गौड़पाद भाष्य में कहा गया है कि सांख्यशास्त्र के ज्ञान से उत्पन्न तत्वज्ञान से आत्यन्तिक दुःख का उच्छेद हो सकता है।[2] यह तत्व-ज्ञान व्यक्त, अव्यक्त तथा पुरुष अर्थात् महदादिकार्य प्रकृति तथा आत्मा, इन तीन प्रकार के पदार्थों के ज्ञान से होता है।[3] इसमें भी प्रकृति-पुरुष ज्ञान मुख्य है, क्योंकि प्रकृति-पुरुष ज्ञान ही सांख्य द्वारा प्रतिपादित विवेक ज्ञान है। इसी को ध्यान में रख कर गौड़पाद ने कहा है कि सांख्यशास्त्र में प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान को ज्ञान माना गया है।[4] यहाँ ज्ञान से विवेकज्ञान ही विवक्षित हैं, क्योंकि सांख्यमत में यह माना गया है कि इस भेद ज्ञान से ही पुरुष प्रकृति का ज्ञान होता है।[5] पुरुष-प्रकृति के ज्ञान से ही आत्मा की निज स्वरुप में स्थिति होती है और यही विशुद्ध एवं अमिश्रित विवेक ज्ञान कहलाता है।[6] इस विवेक ज्ञान के उदय होने पर ही पुरुष मुक्त होता है। 'सांख्यकारिका' में ज्ञानेन चापवर्गो द्वारा कहा गया है कि ज्ञानस्वरूप निमित्त से अपवर्ग (मुक्ति) रूप कार्य होता है।

१—ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

—श्रीमद् भगवद् गीता, ४/३९।

२—सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्य १।

३—सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्य २।

४— ,, ,, २३।

५—रंगस्य दर्शयित्वा विनिवर्तते नर्तकी नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः।

—सांख्यकारिका, ५९।

६—एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

—सांख्यकारिका, ६४।

नाथ सम्प्रदाय में ज्ञान का स्वरूप

नाथ-सम्प्रदाय में भी ज्ञान का अर्थ, ब्रह्म-ज्ञान हैं। नाथ-सिद्धों की साधनापरक वानियों में पुनः पुनः ब्रह्म ज्ञान की चर्चा है और कहा गया हैं[1] कि ब्रह्म ज्ञान से ही आत्मा प्रकाशित होता है।[2] गोरक्षनाथ ने कहा है कि ज्ञान वह दीप है जिसमें शब्द -ब्रह्म का प्रकाश होता है। सिद्ध योगी दत्तात्रेय ने कहा हैं कि मनुष्य यदि आत्मा को जान लेता हैं तो उसे किसी प्रकार की ज्ञान-चर्चा की आवश्यकता नहीं।[3] इसका अभिप्राय यह हैं कि यथार्थ ज्ञान तो ब्रह्मज्ञान ही है, शेष तो वाणी का विलासमात्र हैं। गोरक्षनाथ की वाणी में अतीत अनूपम ग्यांन,[4] अतीत पुरस ग्यानं पद परसै[5], आत्मा ध्यानं ब्रह्म ग्यानं[6] ग्यानं का स्थान चैतनि[7] इत्यादि के द्वारा यही प्रकट किया गया हैं कि ज्ञान का यथार्थ अभिप्राय ब्रह्म ज्ञान हैं जो चैतन्य, आत्म तत्व को प्रकाशित करता हैं। यह ज्ञान नाथ-सिद्धों की आध्यात्मिक भाषा में निरालंब निरंजन निराकार[8] का ज्ञान कहा गया हैं। यही नाथयोगियों का परम प्राप्तव्य हैं।

नाथयोगियों का कथन है कि जब ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है तब काल का प्रभाव नष्ट हो जाता है[9]। वस्तुतः ज्ञान के खड्ग से ही काल पर विजय प्राप्त की जा सकती है[10]। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान योगी को कालमुक्त करता है।

१—सांख्यकारिका, ४४।

२—अवधू ग्यान सो दीवा सबद प्रकास।

—गोरखबानी, पृ० २०१।

३—आत्मा जाणांत तौ क्या कथै ग्यानं।

—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ५७।

४—गोरखबानी, पृ० १०२।

५— ,, पृ० १४६।

६— ,, पृ० १५९।

७— ,, पृ० १८८।

८—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ४६।

९—काल दवन जब ग्यांन प्रकास्या।

—गोरखबानी, पृ० १३३।

१०—ग्यांन खडग लै काल संहृणः।

—गोरखबानी, पृ० २४२।

निर्गुण-काव्य में ज्ञान भावना

निर्गुण-काव्य में भी 'ज्ञान' शब्द ब्रह्म-ज्ञान का अभिप्राय व्यक्त करता है। कबीर ने कहा है कि वह ज्ञान विचारणीय है, जिससे आवागमन छूट जाता है[1]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के अनुसार ज्ञान का अर्थ आत्म ज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। इसकी प्राप्ति से मनुष्य सदा सर्वदा के लिए भवबंधन से मुक्त हो जाता है। 'अब मैं पाइबौ रे पायबो ब्रह्म गियान[2]' के द्वारा कबीर ने आत्मोपलब्धि की चर्चा ही की है। आत्म ज्ञान की दशा में न भ्रम रहता है, न माया, न द्वैत, न मोह, न तृष्णा, न दुर्मति। 'आत्म ज्ञान की दशा में मन लोकोत्तर प्रकाश से जगमगा उठता है[3]। कबीर की भाँति ही दादू दयाल ने भी ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की पुनः पुनः चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि शीर्ष-स्थानीय ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करके मैंने अपने मन में रखा है[4]। यह अनन्त ब्रह्म का निर्मल ज्ञान स्वयं प्रकाशित तत्व है[5]। इन्द्रियों को पंगुल करने वाला ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होता है[6]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत दादू दयाल ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्मज्ञान मानते हैं। सुन्दरदास ने कहा है कि ज्ञान के बिना हृदय की

१—अवधू ऐसा ज्ञान विचारी, ज्यूं बहुरि न ह्वै संसारी ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५९ ।

२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८९ ।

३—देखो भाई ज्ञान की आई आंधी ।
सबै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माया बांधी ॥
दुचिते की दुइ थूनि गेरानी मोह बलेड़ा टूटा ॥
तिष्णा छानि परी घर ऊपर दुमिति भांड़ा फूटा ॥
आंधी पाछै जो जल बर्षे तिहि तेरा जन भीना ॥
कहि कबीर मन भया प्रगासा उदय भानु जब चीना ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २९९ ।

४—सारों के सिर देखिए, उस पर कोई नाहिं ।
दादू ज्ञान विचारि करि, सो राख्या मन माहिं ॥
—दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० १९१ ।

५—आपै आप प्रकासिया, निर्मल ज्ञान अनंत ।
—दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० १७७ ।

६—आतम माहि ऊपजै, दादू पंगुल ज्ञान ।
—दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० ३ ।

ग्रन्थि नहीं छूटती[१]। जब ज्ञान का प्रकाश होता है तब त्रिगुणातीत साक्षी पुरुष तुरीय स्वरूप या ब्रह्मरूप हो जाता है[२]। जिस प्रकार पक्षी पंख से गगन में उड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी ज्ञान के द्वारा ब्रह्म में निवास करता है[३]। चरणदास भी ज्ञान को अध्यात्म का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। उन्होंने 'आतम ज्ञान बिना नहिं मुक्त'[४] के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि मोक्ष के लिए ज्ञान या आत्मज्ञान अनिवार्य है। बिहार के संत दरियासाहब ने भी—'आतम दरस ज्ञान जब होई'[५] 'आतम दरस ज्ञान जब बूझै' के द्वारा कहा है कि वास्तविक ज्ञान तभी होता है, जब आत्म-दर्शन या आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि संत-काव्य में ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान का बड़ा महत्व है और उसे अध्यात्मविद्या का प्रमुख अंग माना गया है। सुन्दर दास,[६] चरणदास[७] इत्यादि सन्तों ने इसे अज्ञान या अविद्यानाशक बताया है।

संत-काव्य में आत्म-ज्ञान प्रतिपाद्य है। वाक्यज्ञान त्याज्य माना गया है। कबीर ने जब 'झूठा जप तप झूठो ग्यान'[८] कहा है, तब उनका अभिप्राय वाक्य-ज्ञान की व्यर्थता प्रतिपादित करना ही है। चरणदास ने अपनी 'बानी' में विस्तारपूर्वक वाक्य-ज्ञान और वाक्य-ज्ञानियों की आलोचना की है।[९] वस्तुतः ब्रह्मानुभूति या आत्म-ज्ञान की तुलना में वाक्य-ज्ञान का कोई महत्व नहीं है।

तुलसी साहब का ज्ञान-वर्णन

संत तुलसी ने अध्यात्मसाधना में ज्ञान को बड़ा महत्व प्रदान किया है।

१—बिना ज्ञान पावे नहीं छूटत हृदय ग्रन्थि।

—सुन्दर बिलास, पृ० ६४।

२—त्रिगुण अतीत साक्षी, तुरिया सरूप जान।
सुन्दर कहत वाके ज्ञान को प्रकास है।

—सुन्दर बिलास, पृ० १४८।

३—जैसे पंछी पंखन सूं, उड़त गगन माँहि।
तैसे ज्ञानी ज्ञान करि, ब्रह्म में चरतु है॥

—सुन्दर बिलास, पृ० १५३।

४—चरणदास की बानी, प्रथम भाग, पृ० ५२।

५—दरिया सागर, पृ० ५२।

६—सुन्दर बिलास, पृ० १३८।

७—चरणदास की बानी, प्रथम भाग, पृ० ४६।

८—कबीर ग्रन्थावली पृ० १७४।

९—चरणदास की बानी, प्रथम भाग, पृ० २९-३०।

परम्परागत भावना के अनुसार ही उन्होंने ब्रह्म-ज्ञान की प्रतिष्ठा, उसके द्वारा अज्ञान नाश एवं वाक्य ज्ञान की आलोचना की है। निम्नलिखित पंक्तियों से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्मज्ञान

उपनिषदों में ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्म-ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान मना गया है[1]। श्रीमद्भगवद्गीता में भी 'ज्ञान' ब्रह्म-ज्ञान-वाचक है[2]। सांख्यकारिका में 'विवेक ज्ञान' द्वारा आत्मोपलब्धि वर्णित है[3]। नाथ-सम्प्रदाय भी ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन ही करता है[4]। निर्गुण-काव्य भी 'ज्ञान' शब्द से ब्रह्मज्ञान का मन्तव्य ही प्रकट करता है[5]। तुलसी साहब भी 'ज्ञान' का प्रयोग ब्रह्म-ज्ञान के लिए ही करते हैं। उन्होंने कहा है कि ज्ञान-ध्यान द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करना चाहिए —

ज्ञान ध्यान पद निरखि नैन। पदम आदि पर अंत सैन ॥[6]

अन्यत्र उन्होंने कहा है कि ज्ञान का पथ प्राप्त न कर सकने के कारण सारा संसार भ्रमित हो रहा है—

ज्ञान गली चीन्हें बिना, भरमत सकल जहान।[7]

यहाँ ज्ञान ब्रह्मज्ञान का अर्थ प्रकट करता है क्योंकि ब्रह्मज्ञान या आत्म ज्ञान की प्राप्ति पर ही संसार का भ्रम दूर होता है। तुलसी साहब ने कहा है कि यह निर्मल और विशुद्ध ब्रह्मज्ञान मनुष्य के अन्दर ही प्राप्त होता है।

निर्मल ज्ञान उदय अन्दर में विमल विवेकी जोइ।[8]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि परम्परागत भावना के अनुसार तुलसी साहब ज्ञान के प्रसंग में ब्रह्मज्ञान या आत्म-ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। घटरामायण में 'अगम ज्ञान'[9] और मुक्ति ज्ञान द्वारा आत्म-ज्ञान की चर्चा ही की गई है।

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।४।७।
२—श्रीमद्भगवद्गीता, १३।११।
३—सांख्यकारिका, ६४।
४—गोरखबानी, पृ० २०१।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५९।
६—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ८३।
७—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ९१।
८— " " १२९।
९—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २५।
१०— " " २५।

ज्ञान से अज्ञान नाश

उपनिषदों में ज्ञान का प्रतिपादन करते समय ज्ञान के द्वारा अज्ञाननाश का वर्णन किया गया है।[१] 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी ज्ञान को अज्ञान नाशक माना गया है।[२] संत-काव्य में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि तिमिररूप अज्ञान को प्रकाश-रूप ज्ञान ही नष्ट करता है।[३] संत तुलसी ने भी ज्ञान के द्वारा अज्ञान-नाश का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि ज्ञान का सूर्य हृदय में प्रकाशित होकर अन्धकार रूपी ज्ञान का विनाश करता है—

जब ज्ञान भान उर उगै, तिमिर विनासै सोइ।[४]

'रत्नसागर' में इसी भावना को व्यक्त करते हुए तुलसी साहब ने कहा है कि हृदय में प्रकाशवान् आत्मोदय से उपलब्ध ज्ञान के द्वारा अज्ञान रूप तिमिर दूर होता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकारमय रात्रि समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानोदय से अज्ञान दूर होता है—

भानु उदै हिये ज्ञान समाना। तन से तिमिर दूर अलगाना।
रैन रवी आगे निसि नासी। उदै भानु जस तिमिर विनासी।[५]

इसी ग्रन्थ में विना ज्ञान अज्ञान को काढ़ सकै नहिं कोइ'[६] के द्वारा तुलसी साहब ने ज्ञान की अज्ञान नाशक क्षमता व्यक्त की है। हम यह कुछ पूर्व ही कह चुके हैं कि ज्ञान की अज्ञान उन्मूलनता उपनिषदों, गीता एवं सन्त-काव्य में भी वर्णित है। अतएव इस प्रसंग में तुलसी साहब और पूर्ववर्ती साधना में पूर्ण मतैक्य है।

शास्त्र ज्ञान आत्मज्ञान में बाधक

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि अधिक शास्त्राभ्यास ब्रह्म-ज्ञान या आत्मज्ञान में सहायक नहीं होता है।[७] कबीर ने भी कहा हैं, कि पोथी ज्ञान से कोई वास्तविक पंडित या आत्मज्ञानी नहीं हो पाता—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।[८]

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकर भाष्य, पृ० १३८।
२—श्रीमद्भगवद्गीता, ५।१६।
३—सुन्दर विलास, पृ० १३८।
४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२९।
५—रत्नसागर, पृ० १४२।
६— ,, ,, १५६।
७—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२१।
८—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३९।

संत तुलसी ने भी कहा है कि शास्त्रज्ञान के आधार पर ब्रह्म का भेद नहीं प्राप्त होता है—

कागदों की साख से भाख कहै, लख ब्रह्म का भेद न पावता ।[1]

अन्यत्र 'सास्तर वेद ज्ञान सब झूठे'[2] के द्वारा उन्होंने यही प्रतिपादित किया है कि शास्त्र-ज्ञान ब्रह्मानुभूति में सहायक नहीं होता । ब्रह्म तो अनुभूति और अनुभव का विषय है, पुस्तकों की साक्षी से उसका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है । शास्त्र-ज्ञान की भाँति ही 'वाक्य ज्ञान' की संत तुलसी ने आलोचना की है ।[3] क्योंकि वह भी आत्मज्ञान में सहायक नहीं होता है । तुलसी पूर्ववर्ती निर्गुण-काव्य में ज्ञान-भावना का वर्णन करते समय हम कह चुके हैं कि कबीर, चरणदास इत्यादि कवियों ने वाक्य-ज्ञान को अध्यात्म में व्यर्थ ठहराया है । इस प्रकार संत तुलसी की वाक्य-ज्ञान-सम्बन्धी विचारधारा और पूर्ववर्ती संत-कवियों की तद्विषयक विचारधारा में पूर्ण साम्य है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त तुलसी का ज्ञान-निरूपण मुख्यतः उपनिषद्, गीता और पूर्ववर्ती निर्गुण-काव्य की तद्विषयक परम्परा से प्रभावित है । उन्होंने पूर्ववर्ती अध्यात्म-साधना और साधकों की भाँति ही ज्ञान-तत्व का विवेचन किया है ।

भक्ति

महर्षि शांडिल्य ने भक्ति का लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहा है कि ईश्वर में पर अनुराग को भक्ति कहते हैं ।[4] यही भक्ति की सामान्य परिभाषा है । इससे ज्ञात होता है कि भक्ति में ईश्वरोन्मुख पर या प्रकृष्ट अनुराग अनिवार्य है । भक्त का ईश्वर की ओर प्रबल अनुराग आत्म समर्पण को प्रदीप्त करता है, अतएव आत्मसमर्पण की भावना भी भक्ति का अविभाज्य अंग है । इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि ईश्वरोन्मुख प्रकृष्ट अनुरागजन्य आत्म-समर्पण ही भक्ति है ।

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४३ ।
२— ,, द्वितीय भाग, पृ० १६६ ।
३—वाक्य ज्ञान में निपुन हैं, अन्दर का नहिं भेद ।
—रत्नसागर, पृ० ७७ ।
४—सा परानुरक्तिरीश्वरे
—शांडिल्यसूत्र, २ ।

उपनिषदों में भक्ति का उल्लेख

उपनिषद्-साहित्य में 'भक्ति शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में किया गया है। इसमें कहा गया है कि जिस पुरुष को देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरू में भी जिसकी भक्ति होती है, उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं।[1] मध्ययुगीन भक्ति मार्ग में जिस प्रपत्ति भाव का बड़ा महत्व माना गया है, उसका स्पष्ट वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् में किया गया है।[2] इसमें ब्रह्मा के भी निर्माण करने वाले तथा उनके लिए वेदों का आविर्भाव करने वाले तथा अपनी बुद्धि में प्रकाशित होने वाले भगवान की शरण में जाने का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में भक्ति का सूत्र रूप में उल्लेख उपलब्ध है।

गीता में भक्ति का स्वरूप

उपनिषदों की अपेक्षा 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भक्ति-तत्व का विशदीकरण किया गया है। गीता में सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासना समान रूप से प्रतिपादित है। सगुण परमेश्वर की भक्ति का प्रतिपादन करते हुए गीता में कहा गया है कि जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए सगुण रूप परमेश्वर को भजते हैं, वे अति उत्तम योगी (भक्ति योगी) मान्य हैं।[1] इसी के साथ निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन करते हुए गीता में कहा गया है कि जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भलीभाँति वश में करके मन, बुद्धि से परे, *सर्वव्यापी, अकथनीय, एकरस, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी* सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान में करते हुए उपासते हैं,

---

१—यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।२३।

२—यो, ब्रह्माणं विद्धाति पूर्वं, यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।१८।

३ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १२।२।

वे ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं ।[1] इस प्रकार गीता में सगुण और निर्गुण उपासना समानरूप से विधेय है, किन्तु गीताकार ने यह स्पष्ट कह दिया है कि निराकार की उपासना क्लेशसाध्य है ।[2] इसके विपरीत सगुण ब्रह्म की भक्ति करने वाले अपने समस्त कर्म ब्रह्म को अर्पण करके शीघ्र ही मृत्युरूप संसार सागर को पार कर जाते हैं ।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रीमद् भगवद् गीता' में निर्गुण की अपेक्षा सगुण की भक्ति सुलभ निर्दिष्ट की गई है ।

गीता में श्रीकृष्ण ने चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया है । थे अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी हैं ।[4]

अर्थार्थी भक्त सांसारिक पदार्थों के लिए भक्ति करता है । आर्तभक्त संकट निवारण के हेतु भक्ति करता है । जिज्ञासु परमेश्वर को यथार्थ स्वरूप से जानने की इच्छा से भक्ति करता है और ज्ञानी निष्काम होकर परमेश्वर में अभेदभाव से स्थित हुआ भक्ति करता है । इन चार प्रकार के भक्तों में से गीता ज्ञानी भक्त को सर्वोत्तम मानती है । श्रीकृष्ण ने कहा है कि नित्य मेरे में एकीभाव से स्थित हुआ अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मेरे को तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरे को अत्यन्त प्रिय है ।[5] वस्तुतः ज्ञानी की भक्ति ही पराभक्ति है और ज्ञानी भक्त ही पराभक्त है ।

१—ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

—श्रीमद्भगवद् गीता, १२।३।४ ।

२—श्रीमद्भगवद् गीता, १२।५ ।

३— " १२।६।७ ।

४—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१६ ।

५—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१७ ।

उपनिषदों में भक्ति का उल्लेख

उपनिषद्-साहित्य में 'भक्ति' शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में किया गया है। इसमें कहा गया है कि जिस पुरुष को देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरू में भी जिसकी भक्ति होती है, उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं।[1] मध्ययुगीन भक्ति मार्ग में जिस प्रपत्ति भाव का बड़ा महत्व माना गया है, उसका स्पष्ट वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् में किया गया है।[2] इसमें ब्रह्मा के भी निर्माण करने वाले तथा उनके लिए वेदों का आविर्भाव करने वाले तथा अपनी बुद्धि में प्रकाशित होने वाले भगवान की शरण में जाने का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में भक्ति का सूत्र रूप में उल्लेख उपलब्ध है।

गीता में भक्ति का स्वरूप

उपनिषदों की अपेक्षा 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भक्ति-तत्व का विशदीकरण किया गया है। गीता में सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासना समान रूप से प्रतिपादित है। सगुण परमेश्वर की भक्ति का प्रतिपादन करते हुए गीता में कहा गया है कि जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए सगुण रूप परमेश्वर को भजते हैं, वे अति उत्तम योगी (भक्ति योगी) मान्य हैं।[3] इसी के साथ निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन करते हुए गीता में कहा गया है कि जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भलीभाँति वश में करके मन, बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अकथनीय, एकरस, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान में करते हुए उपासते हैं,

---

१—यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।२३।

२—यो, ब्रह्माणं विद्धाति पूर्वं, यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—श्वेताश्तवरोपनिषद्, ६।१८।

३ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १२।२।

वे ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं।[1] इस प्रकार गीता में सगुण और निर्गुण उपासना समानरूप से विधेय है, किन्तु गीताकार ने यह स्पष्ट कह दिया है कि निराकार की उपासना क्लेशसाध्य है।[2] इसके विपरीत सगुण ब्रह्म की भक्ति करने वाले अपने समस्त कर्म ब्रह्म को अर्पण करके शीघ्र ही मृत्युरूप संसार सागर को पार कर जाते हैं।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रीमद् भगवद् गीता' में निर्गुण की अपेक्षा सगुण की भक्ति सुलभ निर्दिष्ट की गई है।

गीता में श्रीकृष्ण ने चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया है। ये अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी हैं।[4]

अर्थार्थी भक्त सांसारिक पदार्थों के लिए भक्ति करता है। आर्तभक्त संकट निवारण के हेतु भक्ति करता है। जिज्ञासु परमेश्वर को यथार्थ स्वरूप से जानने की इच्छा से भक्ति करता है और ज्ञानी निष्काम होकर परमेश्वर में अभेदभाव से स्थित हुआ भक्ति करता है। इन चार प्रकार के भक्तों में से गीता ज्ञानी भक्त को सर्वोत्तम मानती है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि नित्य मेरे में एकीभाव से स्थित हुआ अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मेरे को तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरे को अत्यन्त प्रिय है।[5] वस्तुतः ज्ञानी की भक्ति ही पराभक्ति है और ज्ञानी भक्त ही पराभक्त है।

१—ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

—श्रीमद्भगवद् गीता, १२।३।४।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, १२।५।

३— " १२।६।७।

४—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१६।

५—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१७।

के स्वरूप को जान कर तर जाते हैं।[1]

निर्गुण काव्य में भक्ति का स्वरूप

निर्गुण काव्य भक्ति-काव्य है। अतएव निर्गुण काव्य में भक्ति-भावना पूर्णतया विद्यमान है। भागवत के प्रसंग में हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि उस ग्रन्थ में भक्ति को प्रेमरूपिणी कहा गया है। कबीर ने भी भक्ति को प्रेम रूपा माना है[2]। उन्होंने प्रेमभक्ति का ध्यान रख कर ही 'नारदी भक्ति' की चर्चा की है।[3] नारद ने भक्ति को 'सात्वस्मिन् परम प्रेम रूपा'[4] कह कर उसे स्पष्ट प्रेम विशिष्ट घोषित किया है। अतएव कबीर की प्रेमरूपा भक्ति का आधार नारद के भक्ति सिद्धांतों में मिल जाता है। इसके अतिरिक्त भक्ति भाव का मुख्य लक्षण शरणागति या प्रपत्ति भी कबीर की उपासना में विद्यमान है[5]। कबीर ने भक्ति का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिस ब्रह्म को वाणी व्यक्त करने में असमर्थ है वह रामभक्ति से अनायास ही मिल गया है।[6] संत दादूदयाल ने भी प्रभु से प्रेम भक्ति की याचना की है।[7] अन्यत्र भक्ति के संबंध में

१—ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमाया।
स्त्री शूद्रहूणशबरा अपि पाप जीवाः॥
—भागवत महापुराण, २।७।४६।

२—कहै कबीर जन भए खालासे प्रेमभगति जिन जानी।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२४।

३—भगति नारदी मगन सरीरा, इह विधि भव तिरि कहै कबीरा।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८३।

४—नारद भक्तिसूत्र, २।

५—गोव्यंदे, तुम्हथैं डरपौ भारी।
सरणाई आया क्यू गहिये, यह कौन बात तुम्हारी।
तारण-तिरण तिरण तू तारण और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौ, आन देव नहीं मानौं॥
—कबीर ग्रन्थावली, प० १२३।

६—ब्रम्है कथि कथि अंत न पाया। राम भगति बैठे घर पाया॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २७५।

७—भगति मांगौं बाप भगति मांगौं।
मूनें ताहरा नांव नो प्रेम लागौं:
—दादू दयाल की वानी, द्वितीय भाग, पृ० ७५।

उन्होंने कहा है कि प्रभु का स्मरण एवं प्रेमपूर्वक भजन करना चाहिए।[1] दादू का कथन है कि प्रेमभक्ति में अनुरक्त होकर आत्मोन्मुख होकर उन्होंने पूर्ण गति प्राप्त की।[2] कबीर की भाँति दादू दयाल ने भी शरणागति भावना का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि प्रभु की शरण में मुझे अनन्त सुख प्राप्त हुआ है।[3] सन्त चरणदास ने कहा है कि अनन्य भक्ति को छोड़ कर मैं दूसरे साधना मार्ग पर मैं नहीं चलूँगा।[4] उन्होंने 'जा सूं प्रेमा ऊपजै जब हरि दरसायें'[5] के द्वारा प्रेमाभक्ति से आत्म-दर्शन का वर्णन किया है। अन्यत्र उन्होंने 'भक्ति गरीबी लीजिये'[6] के द्वारा भक्ति में दास्यभाव की स्थापना की है। विहार के संत कवि दरिया साहब ने कहा है कि ईश्वर प्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के लिए परमात्मा में भक्ति होना परमावश्यक है। भक्ति के बिना जीवन उस पेड़ के समान है, जिसमें न फल हो और न फूल, उस कमल के समान है जो बिना सरोवर का हो, उस दीप के समान है जिसमें बाती न हो उस पत्नी के समान है जिसका पति न हो, उस सर्प के समान है जिसमें मणि न हो और उस मछली के समान है जो नीर के लिए तड़पती हो[7]। दरियासाहब की भक्ति दास्य भक्ति है जिसमें भक्त अत्यन्त विनम्र होकर अपने आराध्य देव के चरणों में आत्म समर्पण कर देता है।[8] वह अपने प्रभु का दास है, उसका स्वामी 'गरीब निवाज' है। वह सच्चे आराधक के गुण-अवगुण नहीं खोजा करता। आराधक को भी केवल शरण चाहिए। यदि उसे शरण न मिली, तो प्रभु के नाम पर बट्टा लगेगा। अतः अपने 'गरीब निवाज' नाम की लज्जा के

१—हरि सुमिरण स्यूं हेत लगाइ।
भजन प्रेम जस गोबिंद गाइ॥
—दादू दयाल की बानी, द्वितीय भाग, पृ० १६४।

२—आतम मति पूरण गति, प्रेम भगति राता॥
—दादू दयाल की बानी, द्वितीय भाग, पृ० १८५।

३—सरनि तुम्हारी केसवा, मैं अनंत सुख पाया॥
—दादू दयाल की बानी, द्वितीय भाग, पृ० ७४।

४—अनन्य भक्ति दृढ़ सूं गही मारग आन न जांव।
—चरणदास की बानी, द्वितीय भाग, पृ० ११।

५—चरणदास की बानी, द्वितीय भाग, पृ० ३६।

६—चरणदास की बानी, प्रथम भाग, पृ० ७७।

७—संत कवि दरिया, पृ० १२६।

८—संत कवि दरिया, पृ० १२६।

भक्ति और प्रपत्ति

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में प्रपत्ति भावना का उल्लेख हम कर चुके हैं।[१] 'गीता' में श्रीकृष्ण ने जीव को शरण द्वारा परित्राण का भरोसा दिया है।[२] कबीर आदि निर्गुण मार्ग के कवियों ने भी प्रभु की शरण को भक्त का आश्रय बतलाया हैं।[३] मध्ययुगीन भक्ति में प्रपत्ति या शरणागति का सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण माना गया है और भक्ति के प्रसंग में प्रपत्ति को निरन्तर उज्जीवित रखा गया है। सन्त तुलसी ने भी अपनी भक्ति-भावना के अन्तर्गत प्रपत्ति तत्व का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारी शरण में हूँ, मेरे समस्त संशय निर्मूल कर दो--

दिल दृढ़ मेहर सरन में होई। चित संसय मेटो प्रभु सोई।[४]

इससे प्रकट हो जाता है कि तुलसी साहब शरणागति या प्रपत्ति तत्व को भक्ति के सम्बन्ध में विस्मृत नहीं करते है। उन्हें विश्वास है कि प्रभु की शरण में उनके चित्त के संशय नष्ट हो जायेंगे।

भक्ति और ज्ञान

श्रीमद्भगवद्गीता, में ज्ञान और भक्ति का समन्वय ज्ञानी भक्त के प्रसंग में किया गया है।[५] ज्ञानी निष्काम होकर परमेश्वर में अभेद भाव से स्थित हुआ भक्ति करता है। कबीर की भक्ति भी ज्ञाननिष्ठ भक्ति है। जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान रखते हुए भी भक्ति को ग्रहण करके उन्होंने ज्ञान और भक्ति के विरोध का परिहार किया है।[६] संत तुलसी ने तो भक्ति और ज्ञान को अन्योन्याश्रित प्रतिपादित करते हुए कहा है कि ज्ञान के अभाव में भक्ति संभव नहीं है और भक्ति के अभाव में समस्त बुद्धिजन्य ज्ञान व्यर्थ है--

ज्ञान उदै बिन भक्ति न होई। भक्ति बिना सब बुद्धि बिगोई।[७]

१—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।१८।
२—श्रीमद्भगवद्गीता, १८।६६।
३—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२३।
४—रत्नसागर, पृ० ८७।
५—श्रीमद्भगवद्गीता, ७।१७।
६—कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० १३३।
७—रत्नसागर, पृ० १५६

इस प्रकार संत तुलसी के मत से भक्ति एवं ज्ञान में कोई विरोध नहीं है। ये अन्योन्याश्रित हैं। ज्ञान होने पर ही भक्ति होती है और भक्ति रहित ज्ञान बुद्धि का विलास मात्र है। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि गीता एवं कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों ने ज्ञान और भक्ति में कोई विरोध नहीं माना है। इसी आधार को ग्रहण करके तुलसी साहब ने उन्हें परस्पर आश्रित प्रतिपादित किया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब की भक्ति सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी भक्ति सम्बन्धी विचारधारा एवं उपनिषद, गीता तथा भागवत् की भक्ति-भावना में साम्य है और पूर्ववर्ती निर्गुण काव्य के भक्ति सम्बन्धी तत्व संत तुलसी की भक्ति-भावना में विद्यमान हैं।

अवतार

अवतार निर्गुण निराकार ब्रह्म की सगुण साकार अभिव्यक्ति है। इसीलिए अवतार को ब्रह्म का सीमित प्रकटीकरण भी कहा गया है।[1] जिस प्रकार जीव को संसार में आने के लिए कर्म, पंचभूत एवं त्रिगुण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जब ब्रह्म अवतार लेता है तो उसे भी संसार में रहने के उपयुक्त एक शरीर का आश्रय लेना पड़ता है।[2] ब्रह्म के शरीरस्थ सीमित प्रकटीकरण की इस प्रक्रिया को ही अवतार कहते हैं। भारतीय विचारधारा में अवतार का सर्व प्रथम स्पष्ट वर्णन 'गीता' में कियागया है।

गीता में अवतार की धारणा

'श्रीमद् भगवद् गीता' में ब्रह्म के अवतार रूप में अवतीर्ण होने की प्रक्रिया निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि यद्यपि ब्रह्मरूप में कभी भी व्यय या विकार नहीं होता, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर ब्रह्म अपनी माया से जन्म लिया करता है---

> अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥[3]

1—The avatars are generally limited *manifestations* of the Supreme.

—Indian Philosophy, Vol 1, Page 544

२—भारतीय दर्शन, पृ० ७९।

३—श्रीमद् भगवद गीता, ४।६।

वुद्ध और कल्कि ।[1] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि अवतारों की संख्या चौवीस हैं ।[2]

भागवत के अनुसार भगवान् के तीन प्रकार के अवतार होते [3]—

१—पुरुपावतार
२—गुणावतार
३—लीलावतार

पुरुपावतार में संकर्पण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध है ।[4] इसी प्रकार गुणा-वतार भी तीन बताए गये है । सत्वगुणयुक्त अवतार ब्रह्म, रजोगुण से युक्त विष्णु और तमोगुण से युक्त अवतार शिव हैं ।[5] लीलावतारों में चतुः सन्, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, दत्तात्रेय, कूर्म, कपिल, हयशीर्ष, हंस, ध्रुवप्रिय, ऋपभ, पृथु, नृसिंह, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, व्यास, वलराम, वुद्ध और कल्कि की गणना की जाती है ।[6]

भागवत् परवर्ती वाङ्मय में अवतारों की संख्या

भागवत के अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी अवतार की चर्चा है । वराह-पुराण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण इत्यादि पुराणों में भगवान् के गुणावतारों तथा लीलावतारों की चर्चा ही अधिक की गई है ।[7] इन पुराणों में लीलावतारों की सख्यां चौवीस न मान कर दस निर्दिष्ट की गई है ।[8] नामों में कुछ परिवर्तन

१—भागवतमहापुराण, २।७।१–३८ ।
२ „ प्रथम खण्ड, पृ० ६० ।
३ – मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११५ ।
४—भागवतमहापुराण, ३।२६।२३-३० ।
५—आदावभूच्छ्तघृंती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तलसा पुरुपः स आद्य
इत्युद्‌भवस्थितिलयाः सततं प्रजास्तु ।।
—भागवत महापुराण, २६ । ४।५ ।
६—भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, पृ० ६० ।
७—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११३
८—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११३ ।

होता रहा है, किन्तु साधारणतः संख्या दश अवश्य रही है। वस्तुतः मुख्य अवतार दश ही माने गये हैं, और इनके नाम क्रमशः मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि हैं।[१] ये भगवान् के लीलावतार हैं। आगे चल कर दशावतारों में से विशिष्ट लीलावतार अधिक लोकप्रिय हुए। ये रामावतार और कृष्णावतार हैं। मध्ययुग के सगुण-मार्गी साधकों ने बड़े विस्तार और श्रद्धा के साथ इनकी लोक-लीला का वर्णन किया है। पर निर्गुण संतों ने दशावतार-खण्डन में राम और कृष्ण के अवतारों की इनकी लोकप्रियता के कारण अधिक आलोचना की है। मध्ययुग की अवतारवाद-खण्डन-परम्परा में दश लीलावतार एवं ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तीन गुणावतार को ही मुख्य लक्ष्य बनाया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय में अवतार-खण्डन

नाथ-सम्प्रदाय अव्यक्त निर्गुण-ब्रह्म का उपासक है। गीता के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार ब्रह्म गुणों के द्वारा अवतार धारण करता है। नाथ-सम्प्रदाय में इस धारणा के लिए कोई स्थान नहीं हैं। अवतार-व्यक्त-सगुण ब्रह्म होता है। सगुण की उपासना नाथ-योगियों का लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार अवतार के योग्य दार्शनिक पृष्ठभूमि के अभाव में इस सम्प्रदाय में अवतार अमान्य हो गये। नाथ-सम्प्रदाय में इसीलिए अवतारों को ब्रह्म से भिन्न मायिक एवं कर्मवश प्रतिपादित किया गया है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा मंतव्य प्रकाशित हो जायगा। नाथ-सम्प्रदाय का निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म, ब्रह्म के लोक प्रचलित ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के गुणावतारों से पृथक भिन्न और श्रेष्ठ है 'गोरखबानी' में तो स्पष्टरूप से कहा गया है कि ब्रह्मा विष्णु महेश्वर की जननी माया है और वही माया इनकी पत्नी भी है।

ब्रह्मा विष्नु नैं आदि महेस्वर ये तीन्यूं मैं जाया जी ॥
इन तिहुँवानी मैं घर घरणी, ह्वैकर मोरी माया जी ॥[२]

इससे अवतारों का पूर्ण ब्रह्मत्व खंडित हो जाता है। वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय का मत यही है कि अवतार मायिक हैं, वे निरंजन ब्रह्म नहीं है।

गोरखनाथ ने अन्यत्र 'ब्रह्मा देवता कंद्रप व्याप्या'[३] अर्थात् ब्रह्मा ने सर-

---

१—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११३।

२—गोरखबानी, पृ० ९३।

३—गोरखबानी, पृ० ६६।

बुद्ध और कल्कि ।[1] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि अवतारों की संख्या चौबीस है ।[2]

भागवत के अनुसार भगवान् के तीन प्रकार के अवतार होते[3]—

१—पुरुषावतार
२—गुणावतार
३—लीलावतार

पुरुषावतार में संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध है ।[4] इसी प्रकार गुणावतार भी तीन बताए गये हैं । सत्वगुणयुक्त अवतार ब्रह्म, रजोगुण से युक्त विष्णु और तमोगुण से युक्त अवतार शिव हैं ।[5] लीलावतारों में चतुः सन्, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, दत्तात्रेय, कूर्म, कपिल, हयग्रीव, हंस, ध्रुवप्रिय, ऋषभ, पृथु, नृसिंह, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, व्यास, बलराम, बुद्ध और कल्कि की गणना की जाती है ।[6]

भागवत् परवर्ती वाङ्मय में अवतारों की संख्या

भागवत के अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी अवतार की चर्चा है । वराह-पुराण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण इत्यादि पुराणों में भगवान् के गुणावतारों तथा लीलावतारों की चर्चा ही अधिक की गई है ।[7] इन पुराणों में लीलावतारों की सख्या चौबीस न मान कर दस निर्दिष्ट की गई है ।[8] नामों में ~~ह्रह्र~~ कुछ परिवर्तन

१—भागवतमहापुराण, २।७।१–३८ ।

२ „ प्रथम खण्ड, पृ० ६० ।

३—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११५ ।

४—भागवतमहापुराण, ३।२६।२३-३० ।

५—आदावनूच्छतघृती-रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥
—भागवत महापुराण, २६ । ४।५ ।

६—भागवतमहापुराण, प्रथम खण्ड, पृ० ६० ।

७—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११३

८—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११३ ।

होता रहा है, किन्तु साधारणतः संख्या दश अवश्य रही है। वस्तुतः मुख्य अवतार दश ही माने गये हैं, और इनके नाम क्रमशः मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि हैं।[1] ये भगवान् के लीलावतार हैं। आगे चल कर दशावतारों में से विशिष्ट लीलावतार अधिक लोकप्रिय हुए। ये रामावतार और कृष्णावतार है। मध्ययुग के सगुण-मार्गी साधकों ने बड़े विस्तार और श्रद्धा के साथ इनकी लोक-लीला का वर्णन किया है। पर निर्गुण संतों ने दशावतार-खण्डन में राम और कृष्ण के अवतारों की इनकी लोकप्रियता के कारण अधिक आलोचना की है। मध्ययुग की अवतारवाद-खण्डन-परम्परा में दश लीलावतार एवं ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तीन गुणावतार को ही मुख्य लक्ष्य बनाया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय में अवतार-खण्डन

नाथ-सम्प्रदाय अव्यक्त निर्गुण-ब्रह्म का उपासक है। गीता के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार ब्रह्म गुणों के द्वारा अवतार धारण करता है। नाथ-सम्प्रदाय में इस धारणा के लिए कोई स्थान नहीं है। अवतार-व्यक्त-सगुण ब्रह्म होता है। सगुण की उपासना नाथ-योगियों का लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार अवतार के योग्य दार्शनिक पृष्ठभूमि के अभाव में इस सम्प्रदाय में अवतार अमान्य हो गये। नाथ-सम्प्रदाय में इसीलिए अवतारों को ब्रह्म से भिन्न मायिक एवं कर्मवश प्रतिपादित किया गया है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा मंतव्य प्रकाशित हो जायगा। नाथ-सम्प्रदाय का निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म, ब्रह्म के लोक प्रचलित ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के गुणावतारों से पृथक भिन्न और श्रेष्ठ है 'गोरखबानी' में तो स्पष्टरूप से कहा गया है कि ब्रह्मा विष्णु महेश्वर की जननी माया है और वही माया इनकी पत्नी भी है।

> ब्रह्मा विष्नु नैं आदि महेश्वर ये तीन्यूं मैं जाया जी ॥
> इन तिहुँवानी मैं घर घरणी, ह्वैकर मोरी माया जी ॥[2]

इससे अवतारों का पूर्ण ब्रह्मत्व खंडित हो जाता है। वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय का मत यही है कि अवतार मायिक हैं, वे निरंजन ब्रह्म नहीं है।

गोरखनाथ ने अन्यत्र 'ब्रह्मा देवता कंद्रप व्याप्यां' अर्थात् ब्रह्मा ने सर-

---

१—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११३।

२—गोरखबानी, पृ० ९३।

३—गोरखबानी, पृ० ६६।

स्वती से भोग किया, 'असाधि विष्न की माया'[1] 'विष्न दस अवतार थाप्या असाधि कंद्रप व्याप्या[2] अर्थात विष्णु के दशावतारों की स्त्रियां हुई इत्यादि के द्वारा अवतारों को मायिक और भोगाधीन ही प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय में अवतारों का ब्रह्मत्व खंडित किया है।

नाथसिद्धों की साधनापरक रचनाओं अथवा 'बानियों' में भी अवतार को अमान्य सिद्ध करने वाले खण्डनात्मक तत्व विद्यमान हैं। निम्नांकित उद्धरण से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा:—

ब्रह्मा जेन कुलाल लालं। अंति ब्रह्मंड तेउ भवते॥
विसन जैन दस औतारं। महा संकट ग्रस आसं॥
रूद्री जेन कपाल पांनी। बुधि भिष्यटण कारते ग्रह ग्रह॥
तस्यई विधि वशेपा। न टलंत भावनी क्रम रेषा॥[3]

यह उत्तर सिद्धयोगी भर्तृहरि ने मंत्री द्वारा" भजे क्यूं न राम नाम॥[4] अर्थात् योग छोड़ कर तुम अवतारी राम को क्यों नहीं भजते, कहने पर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-सम्प्रदाय ब्रह्म के ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नामक गुणावतार एवं राम आदि दस लीलावतार को कर्मवश एवं 'महासंकट ग्रम वास" के द्वारा आवागमन-चक्र-युक्त प्रतिपादित करता है। नाथ-सम्प्रदाय का 'निरंजन' ब्रह्म कर्म एवं आवागमन-चक्र से पूर्णतया वियुक्त है। अतएव वह अवतार हो ही नहीं सकता। नाथयोगियों ने ब्रह्म के सम्बन्ध में 'उदय न अस्त आवै ना जाई'[5] कह कर वस्तुतः परोक्षरूप से ब्रह्म के अवतारों का खण्डन ही किया है जो लीलारूप में आवागमन चक्र में पड़ते हैं। इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय में अवतारों को परब्रह्म न मानने की परम्परा विद्यमान थी। साधना के अन्य तत्वों के साथ यह परम्परा भी संतों को प्राप्त हुई।

निर्गुण काव्य में अवतार

अवतारों के खंडन की नाथपंथीय परम्परा ही निर्गुण-काव्य में विकसित हुई। इस परम्परागत प्रभाव को पुष्ट करने वाली विचारधारा के सम्पर्क में आने के कारण अवतार का अब्रह्मत्व निर्गुण-काव्य का विजड़ित तथ्य बन गया यह विचारधारा इस्लाम की थी। इस्लाम के अनुसार ब्रह्म अवतार धारण नहीं

१—गोरखबानी, पृ० ६७।
२— ,, ,, ६७।
३—नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० १०७-१०८।
४— ,, ,, ,, १०७।
५—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० १०९।

करता।[1] इस विचार से निर्गुण-कवियों का अवतार के अब्रह्मत्व सम्बन्धी सिद्धान्त निश्चय ही पुष्ट हुआ होगा। निर्गुण-काव्य में अवतार का जिस प्रबल पद्धति से खण्डन किया गया है, वह नाथपंथी परम्परागत प्रभाव के साथ ही इस्लामी मतवाद की पुष्टि के कारण है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अवतारों के खंडन की नाथपंथीय परम्परा का इस्लाम की पुष्टि द्वारा निर्गुण-काव्य में विकास हुआ।

कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राम, कृष्ण आदि सुप्रसिद्ध अवतारों के रूप में परब्रह्म अवतरित ही नहीं हुआ—

नां जसरथि घरि औतरि आवा। नां लंका का राव सतावा॥
देवै कूंख न औतरि आवा। नां जसवै लै गोद खिलावा॥
नां ग्वालन के संग फिरिया। गोबरधन लै न कर धरिया॥
वामन होय नहीं बलि छलिया। धरनी वेद लै न उधरिया॥
गण्डक सालिगराम न कोला। मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बदरी बैसि ध्यान नहिं लावा। परसराम ह्वै खतरी न संतावा॥
द्वारामती सरीर न छाड़ा। जगननाथ लै प्यंड न गाड़ा॥[2]

अन्य संतों ने भी इसी प्रकार स्पष्ट शब्दों में अवतारवाद को अस्वीकार किया है। दादूदयाल ने कहा है कि अवतार ब्रह्म नहीं है, ये तो कृत्रिम कालाधीन, गुणबद्ध एवं जन्म मरण के चक्र में पड़े हुए हैं—

दाइ कृतम काल बलि, वंध्या गुण माहीं।
उपजै विनसैं देखतां, यहु करता नाहीं॥[3]

दादू के शिष्य रज्जबदास ने भी अवतारों के ब्रह्मत्व में अविश्वास प्रकट करते हुए कहा है कि राम और परशुराम दोनों एक ही समय में हुए। दोनों परस्पर एक-दूसरे के द्वेषी थे। कहिये किसको कर्ता कहें—

परशुराम और रामचन्द्र भये सु एकै बार।
तो रज्जब द्वै द्वेषि करि को कहिए करतार॥[4]

दरिया साहब ने भी अवतारवाद का खण्डन किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अवतार पुराण-पुरुष अर्थात् ब्रह्म के नहीं है—

१—सूफीमत : साधना और साहित्य, पृ० २४८।
२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४३।
३—दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० १५०।
४—सर्वांगी, ४२।२६।

पुरुष पुरान न होहिं अवतारा । गाढ़े जोति करै उंजियारा ।।[1]

अन्यत्र उन्होंने अवतारों को मायिक निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि राम एवं कृष्ण के रूप में ज्योति या माया ही प्रकट हुई है—

रामै जोति अउर नहिं कोई । किसुन रूप धरे पुनि सोई ।[2]

संसार राम और कृष्ण को ब्रह्म रूप मानता है किन्तु आवागमन के चक्र में पड़ने वाला ब्रह्म कैसे हो सकता है—

राम नाम जग सब कोई जाना । कृस्न रूप सोइ ब्रह्म बखाना ।।
आवै जाय मया कर चीन्हा । उपजै विनसै तन होइ भीना ।।[3]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि संत-काव्य में अवतार अमान्य हैं। सन्तों की दृष्टि में अवतार ब्रह्म न होकर मायिक हैं और काल कर्मबद्ध होकर आवागमन के चक्र में पड़े हैं। संत तुलसी को परम्परा से अवतारों की यही धारणा प्राप्त हुई थी। उन्होंने भी अवतारवाद का खण्डन किया है।

तुलसी साहब की अवतार सम्बन्धी धारणा

गीता एवं भागवत के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि इन ग्रन्थों में अवतार का ब्रह्मत्व स्थापित किया गया है। इसके विपरीत नाथ-सम्प्रदाय एवं निर्गुण-काव्य अवतार का ब्रह्मत्व प्रकट करते हैं। तुलसी साहब भी अवतार को ब्रह्म नहीं मानते। वे अवतारों को ब्रह्म से भिन्न एवं कर्मबद्ध मानते हैं। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि मुझे आश्चर्य होता है कि शुभ और अशुभ कर्म-फल का भोग करने वाले अवतारों को जगत् न जाने कैसे ब्रह्म मानता है—

तुलसी मोंहि अचरज आवे कस कस तेहि ब्रह्म बतावें ।
करम सुभ संग असुभ रहाये पाये फल जाइके ।[4]

कर्मबद्ध अवतार ब्रह्म हो भी किस प्रकार सकते हैं? कर्म-सिद्धान्त तो सामान्य जीवों पर घटित होता है, ब्रह्म पर नहीं। अतएव कर्म-बन्धन में पड़े हुए अवतार निश्चय ही ब्रह्म नहीं है। इसी तार्किकता के आधार पर उन्होंने कहा है कि अवतार मोक्ष देने में असमर्थ हैं। उनकी उपासना से मुक्ति नहीं मिलती। वस्तुतः अवतार तो अपने कष्टों को स्वयं भोग रहे हैं, उनसे किस प्रकार मुक्ति मिल सकती है।

१—दरियासागर, पृ० २।
२— ,, ,, २।
३—दरिया सागर, पृ० ८।
४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १८।

अपनी जो आप पीर भोगै भाई ।
ता सै तें मुक्ति कहो कैसे आई ॥[१]

अतएव तुलसी साहब के मत से अवतार ब्रह्म के नहीं है । उनके विचार से ब्रह्म अवतरित नहीं हुआ है ।

अवतार निरंजन के हैं

संत तुलसी का कथन है कि अवतार ब्रह्म नहीं, निरंजन धारण करता है—

दस औतार निरंजन धरिया । सोउ काल बस भौ में परिया ॥[२]

अन्यत्र तुलसी साहब ने कहा है कि काल-निरंजन ही अवतार लेता है जिन्हें ब्रह्म समझकर सारा जगत् भ्रमित है—

दस औतार काल के जाना । जा में सगरा जगत भुलाना ॥
सोइ निरंजन सोइ निरंकारा । सोई काल धरे अवतारा ॥[३]

अवतारों की उत्पत्ति तुलसी साहब निरंजन और ज्योति के संयोग से मानते हैं—

जोति निरंजन किया विचारा । ता से उतपन दस औतारा ॥[४]

अतएव तुलसी साहब के मत से निरंजन (काल) एवं ज्योति (माया) के संयोग से अवतारों की उत्पत्ति हुई । तुलसी साहब के अनुसार काल और माया दोनों ही अवतारों के रूप में प्रकट हुए हैं । इसी आधार पर उन्होंने अवतारों को काल या कालाधीन कहा है एवं त्रिगुणात्मक व अनित्य उद्घोषित किया है ।

अवतार त्रिगुण हैं

तुलसी साहब ने ज्योति या त्रिगुणात्मक माया के द्वारा अवतारों की उत्पत्ति कही है । इस आधार पर ही उन्होंने अवतारों को त्रिगुण माना है । वे कहते हैं कि ज्योति या गुणात्मक माया से उत्पन्न होने वाले राम त्रिगुणात्मक हैं—

जोति माँहि से भये भगवाना । तन धर के प्रगटे जग रामा ।
सोइ इन्द्रिन में करे निवासा । तीन गुनन में, जग की आसा ।[५]

१—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० २१-२२
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ७४ ।
३—घटरामायण, ,, ,, ६४ ।
४—घटरामायण, ,, ,, ६४ ।
५—रत्नसागर, पृ० १५८ ।

पुरुष पुरान न होहिं अवतारा। गाढ़े जोति करै उंजियारा ।।[1]

अन्यत्र उन्होंने अवतारों को मायिक निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि राम एवं कृष्ण के रूप में ज्योति या माया ही प्रकट हुई है—

रामै जोति अउर नहिं कोई। किसुन रूप धरे पुनि सोई।[2]

संसार राम और कृष्ण को ब्रह्म रूप मानता है किन्तु आवागमन के चक्र में पड़ने वाला ब्रह्म कैसे हो सकता है—

राम नाम जग सब कोई जाना। कृस्न रूप सोइ ब्रह्म बखाना ।।
आवै जाय मया कर चीन्हा। उपजै बिनसै तन होइ भीना ।।[3]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि संत-काव्य में अवतार अमान्य हैं। सन्तों की दृष्टि में अवतार ब्रह्म न होकर मायिक हैं और काल कर्मबद्ध होकर आवागमन के चक्र में पड़े हैं। संत तुलसी को परम्परा से अवतारों की यही धारणा प्राप्त हुई थी। उन्होंने भी अवतारवाद का खण्डन किया है।

तुलसी साहब की अवतार सम्बन्धी धारणा

गीता एवं भागवत के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि इन ग्रन्थों में अवतार का ब्रह्मत्व स्थापित किया गया है। इसके विपरीत नाथ-सम्प्रदाय एवं निर्गुण-काव्य अवतार का ब्रह्मत्व प्रकट करते हैं। तुलसी साहब भी अवतार को ब्रह्म नहीं मानते। वे अवतारों को ब्रह्म से भिन्न एवं कर्मबद्ध मानते हैं। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि मुझे आश्चर्य होता है कि शुभ और अशुभ कर्मफल का भोग करने वाले अवतारों को जगत् न जाने कैसे ब्रह्म मानता है—

तुलसी मोंहि अचरज आवै कस कस तेहि ब्रह्म बतावै।
करम सुभ संग असुभ रहाये पाये फल जाइके।[4]

कर्मबद्ध अवतार ब्रह्म हो भी किस प्रकार सकते हैं? कर्म-सिद्धान्त तो सामान्य जीवों पर घटित होता है, ब्रह्म पर नहीं। अतएव कर्म-बन्धन में पड़े हुए अवतार निश्चय ही ब्रह्म नहीं है। इसी तार्किकता के आधार पर उन्होंने कहा है कि अवतार मोक्ष देने में असमर्थ हैं। उनकी उपासना से मुक्ति नहीं मिलती। वस्तुतः अवतार तो अपने कष्टों को स्वयं भोग रहे हैं, उनसे किस प्रकार मुक्ति मिल सकती है।

१—दरियासागर, पृ० २।
२— ,, ,, २।
३—दरिया सागर, पृ० ८।
४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १८।

अपनी जो आप पीर भोगै भाई।
ता सै तैं मुक्ति कहो कैसे आई ॥[1]

अतएव तुलसी साहब के मत से अवतार ब्रह्म के नहीं है। उनके विचार से ब्रह्म अवतरित नहीं हुआ है।

अवतार निरंजन के हैं

संत तुलसी का कथन है कि अवतार ब्रह्म नहीं, निरंजन धारण करता है—

दस औतार निरंजन धरिया। सोउ काल बस भौ में परिया ॥[2]

अन्यत्र तुलसी साहब ने कहा है कि काल-निरंजन ही अवतार लेता है जिन्हें ब्रह्म समझकर सारा जगत् भ्रमित है—

दस औतार काल के जाना। जा में सगरा जगत भुलाना ॥
सोइ निरंजन सोइ निरंकारा। सोई काल धरे अवतारा ॥[3]

अवतारों की उत्पत्ति तुलसी साहब निरंजन और ज्योति के संयोग से मानते हैं—

जोति निरंजन किया विचारा। ता से उतपन दस औतारा ॥[4]

अतएव तुलसी साहब के मत से निरंजन (काल) एवं ज्योति (माया) के संयोग से अवतारों की उत्पत्ति हुई। तुलसी साहब के अनुसार काल और माया दोनों ही अवतारों के रूप में प्रकट हुए हैं। इसी आधार पर उन्होंने अवतारों को काल या कालाधीन कहा है एवं त्रिगुणात्मक व अनित्य उदघोषित किया है।

अवतार त्रिगुण हैं

तुलसी साहब ने ज्योति या त्रिगुणात्मक माया के द्वारा अवतारों की उत्पत्ति कही है। इस आधार पर ही उन्होंने अवतारों को त्रिगुण माना है। वे कहते हैं कि ज्योति या गुणात्मक माया से उत्पन्न होने वाले राम त्रिगुणात्मक हैं—

जोति मांहि से भये भगवाना। तन धर के प्रगटे जग रामा।
सोइ इन्द्रिन में करे निवासा। तीन गुनन में, जग की आसा।[5]

१—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० २१-२२
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ७४।
३—घटरामायण, ,, ,, ६४।
४—घटरामायण, ,, ,, ६४।
५—रत्नसागर, पृ० १५८।

अन्यत्र उन्होंने दशावतार को त्रिगुण या माया का प्रसार कहा भी है—

सो तो आहि दसों अवतारा। गुन तीनों संग साथ पसारा॥[1]

'भागवत महापुराण' में हम भगवान के सत, रज, तम के गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु और महेश की चर्चा कर चुके हैं। तुलसी साहब भी ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश को सत, रज एवं तम का प्रतीक मानते हैं।

रज ब्रह्मा तम संकर भाई। सतगुन विष्नू तिन के भाई।[2]

इस आधार पर भी अवतारों को त्रिगुण कहा जा सकता है। वस्तुतः माया तीन गुणों के द्वारा ही अपनी अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार अवतारो को त्रिगुण कहने का अभिप्राय उनकी मायिकता स्थापित करता है।

अवतार कालाधीन हैं

संत तुलसी ने काल निरंजन के अवतार माने हैं। अनित्य एवं नश्वर होने के कारण वे अवतारों को कालाधीन कहते हैं। इस भाव को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है कि जगत् में काल होली खेल रहा है। इस होली में ऋषि मुनियों के साथ दस अवतार भी सम्मिलित हुए हैं—

जगत् में होरी काल रचो री।
ऋषी मुनि सहित दसो अवतारी, भारी काछ कछो री॥[3]

इस प्रसंग को और भी स्पष्ट करते हुए संत तुलसी ने कहा है कि ब्रह्मा विष्णु एवं महेश को काल ने नष्ट कर दिया और दश अवतार भी कालाधीन होने के कारण भव पार नहीं कर पाए—

ब्रह्मा, विसुन, महेश काल धरि लाये जो अंत उन्हें री।
दस औतार पार नहिं लागे, पायो न पंथ पुने री॥[4]

उनका परिनिष्ठित मत है कि अवतार कालाधीन एवं नश्वर हैं—

होवै औतारी नासी, ब्रह्मा विसुन काल फाँसी।
सिव नास वेद कहो कैसे न नसाई॥[5]

इस प्रकार तुलसी साहब अवतारों को कालाधीन एवं नश्वर मानते हैं। काल के आधीन रहने वाला स्वयं सिद्ध नश्वर है।

१—रत्नसागर, पृ० १५७।

२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९८।

३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १७८।

४— " " " १७५।

५— " " " २१९।

अवतार की कर्मानुसार गति है

तुलसी साहब ने सामान्य जीवों की भांति ही अवतारों को कर्मवश माना है। और कर्मानुसार उनकी गति निर्धारित की है। उन्होंने कहा है कि अवतार सामान्य जीवों की भाँति कर्म के अनुसार देह धारण करते हैं और भव-सागर में पड़ कर कर्मभोग करते हैं।

कर्मभाव तिन देही पाई। करै भोग भौ में भरमाई॥
सारा जग वेदन भरमैया। औतारी सांचै गोहरैया॥[1]

एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि दशावतार अपने सिर पर कर्म का भार लादे हुए हैं।

दस औतार भार सिर लादे, आदि की खबरि न पाई॥[2]

अवतारों की कर्मानुसार गति या कर्मबद्धता प्रतिपादित करके तुलसी साहब ने उनका अब्रह्मत्व निर्दिष्ट किया है। ब्रह्म निष्कर्म है, अवतार सकर्म है। अतएव अवतार ब्रह्म नहीं है।

अवतार भोगलिप्त हैं

तुलसी साहब का मन्तव्य है कि अवतार भोग के आधीन हैं। उन्होंने कहा है कि दश अवतार संसार का भोग करने के निमित्त अवतरित हुए हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव कामोपभोग में पड़े हैं।

दस अवतार जगत में आये, यह भव रस को लेन।
ब्रह्मा विष्नु महेसुर जोगी, मोहनी भोग बेचैन।[3]

अवतारों को भोगाधीन वर्णित करने का अभिप्राय उनकी सांसारिकता या सामान्य-जीवत्व प्रकट करना है। इससे भी उनके 'ब्रह्मत्व की धारणा' खंडित होती है। कृष्णावतार खण्डन के प्रसंग में तुलसी साहब ने कृष्ण के कामोपभोग की चर्चा भी उनके अब्रह्मत्व को प्रकट करने के अभिप्राय से की है।

रामावतार का खण्डन

सामान्यतः तुलसी साहब ने दश अवतारों की चर्चा एवं उनका खंडन किया है। पर राम और कृष्णावतार को उन्होंने विशेषरूप से खण्डनात्मक उक्तियों का लक्ष्य बनाया है। दशावतारों में राम कृष्ण ही अधिक लोकप्रिय थे, इसलिए तुलसी साहब ने इनकी विशेष रूप से आलोचना की है।

१—घटरामायण, द्वितीय भाग पृ० ७४।
२—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १७९।
३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२८।

तुलसी साहब की दृष्टि में राम ब्रह्म नहीं है। उन्होंने कहा है कि संसार राम के चरणों में स्थान चाहता है, पर राम तो कालाधीन एवं नश्वर है।[१] संतों ने राम को काल निर्दिष्ट किया है![२] राम तो कर्म के कारण लोक में जन्म लेता है। जो स्वयं कर्मबद्ध है वह जगत का उद्धार किस प्रकार कर सकता है।[३] राम कर्म से रमण करता है, वह तो काल की छाया है। वही मन है, उसी ने संसार को पथभ्रष्ट कर दिया है।[४] सारा संसार राम राम कह कर काल का कवल बन रहा है; किसी को भवसागर से परित्राण नहीं प्राप्त हुआ जो राम की उपासना करते है वे योनियों में पड़कर संसार को प्राप्त होते है क्योंकि राम ब्रह्म न होकर काल और मन हैं।[५]

कृष्णावतार का खण्डन

तुलसी साहब ने रामावतार की भांति ही कृष्णावतार का उग्र खण्डन किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अवतारी कृष्ण काल कराल है।[६] उसने अपने भक्त अर्जुन को हिमालय में गला दिया एवं परम मित्र उद्धव को मुक्ति न दे सकने के कारण उसके लिए तप की व्यवस्था की। वस्तुतः उसने अपने परम स्नेही मित्रों को ही दुःख दिया। वह तो स्वयं कर्मवश काया धारण करता

१—चाहत पद राम बास, रामहिं पुनि होत नाश।
बोहू पुनि काल फांस, आस मौत मारा॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३०।

२—राम काल सब संत पुकारा। जा को जपै यह जग्त लबारा॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३७।

३—राम करमबस भौ के माईं। संत अगम घर नित प्रति जाईं॥
राम आप कर्मन बस परिया। कहौ तासे जग कस कस तरिया॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३१-३२।

४—रमता राम कर्म के माहीं। रमतीत राम काल की छाहीं॥
राम कहौ सोई मन है भाई। मनहि राम जिन जक्त बुढाई॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३७।

५—राम राम कहि सब जग मरिया। आदि अंत मध कोउ न तरिया।
राम जो कहै परै भौ खानी। राम मरन मन आप न जानी॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० २९।

६—काल कराल कृष्न औतारी, सब जग को धरि खावै॥
—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११६।

है, अतएवं दूसरों को किस प्रकार मोक्ष दे सकता है।[1] जगन्नाथ रूप में जो उसका हाथ पैर रहित डुंड स्थापित है, वह इसलिए कि उसने गोपियों के साथ दुष्कर्म किया था।[2]

कृष्णावतार के उपर्युक्त खण्डन में तुलसी साहब ने उनकी लोकलीला को ही अपना अस्त्र बनाया है और उसी आधार पर कृष्ण के ब्रह्मत्व का खण्डन किया है। यही उनकी बुद्धिवादी आलोचना पद्धति है जिससे उनकी खण्डनात्मक उक्तियाँ प्रबल हो गई हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि नाथ-सम्प्रदाय और कबीर आदि पूर्ववर्ती संतों की भाँति ही तुलसी साहब अवतारवाद के समर्थक नहीं हैं। उनकी दृष्टि में अवतार ब्रह्म नहीं हैं। वे कालकर्मबद्ध मायिक और अनित्य हैं। इस सिद्धान्त की प्रस्थापना तुलसी साहब ने सशक्त ढंग से की है। इस प्रकार संत तुलसी अवतार-विरोधी सिद्ध होते है किन्तु अपने सम्प्रदाय में वे पूर्वजन्म में गोस्वामी तुलसीदास के अवतार[3] माने जाते हैं। उनके दिवंगत होने के उपरान्त शिष्यों ने उनके सिद्धान्त के विपरीत उन्हें अवतार प्रचारित किया। कबीर आदि अन्य सन्तों को तो उनके शिष्यों ने 'सत्यपुरुष' का अवतार उद्घोषित किया।[4] इससे प्रकट होता है कि सन्तों के द्वारा अवतारवाद का खण्डन उनके सम्प्रदायों से अवतार-भावना को निर्मूल न कर सका।

१—अरजुन भगत हिंवारे मारे, ऊधो तप समझावैं।
जो जो उनके परम सनेही, सो सो सब दुख: पावैं॥
आप करम बस कायाधारी और मुकति पहुँचावैं॥

—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ११६।

२—जगन्नाथ सब जगत पुकारा। हथ और पांव कटे केहि कारा॥
गोपी कर्म कीन्ह संग माईं। ता से कटे हाथ और पाईं॥

—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ११०

३—तुलसी सन्ध्या वंदन, भूमिका, पृ० १।

४—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ११७।

पंचम अध्याय

योग

योग हिन्दू धर्म एवं दर्शन का गौरवपूर्ण अंग है। योग दर्शन भारतवर्ष सर्वप्रमुख आध्यात्मविद्याओं में परिगणित है। वस्तुतः वेदांत के समान समादृत एवं बहुचर्चित दर्शनविधि योग ही है। वेदान्त, सांख्य, न्याय, मीमांसा वैशेषिक एवं योग नामक षट् दर्शनों में जितनी अधिक मान्यता योग को प्राप्त है, उतनी वेदान्त को छोड़कर अन्य किसी दर्शन को नहीं। इससे योग का महत्व समझा जा सकता है।

योग का अर्थ

'योग' शब्द युज् धातु के बाद कारण और भाववाच्य में घञ् प्रत्यय लगाने से बनता है। युज् धातु का अर्थ समाधि है। अतएव 'योग' का अर्थ भी समाधि हुआ। 'योगसूत्र' के समाधिपाद में पतंजलि मुनि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है।[1] साधारण अवस्था में चित्तवृत्ति प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। समाधि की अवस्था में वह निरुद्ध होकर एकाकार हो जाती । समाधिस्थ योगी की निरुद्ध चित्तवृत्ति की यह एकाकार दशा ही योग है। यही उसकी समाधि की अवस्था भी है। यह 'योग' का रूढ़ एवं साम्प्रदायिक अर्थ है।

'योग' का एक दूसरा अर्थ भी है। इसके अनुसार 'योग' शब्द का अर्थ जोड़ना अर्थात् आत्मा को परमात्मा से युक्त करना है।[2] पर इन दोनों अर्थों में शाब्दिक अन्तर अधिक है, तात्त्विक नहीं। समाधिस्थ योगी का लक्ष्य जिस प्रकार मनोजय द्वारा आत्मस्वरूप में स्थित होना है, उसी प्रकार आत्मा को परमात्मा से युक्त करने वाला साधक भी चंचल चित्त को नष्ट करके ही ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है। वस्तुतः 'योग' शब्द अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। इसके आध्यात्मिक अर्थों में प्रकार भेद होने पर भी मूलतः एक प्रकार की अभिन्नता दृष्टिगत होती है। जीव एवं ब्रह्म के संयोग को योग कहा

१—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

—योगदर्शन, १।२।

२—शारदातिलक तंत्र, १५।१-३।

जाय, प्राण-अपान अथवा चन्द्र-सूर्य के मिलन अथवा शिव और शक्ति के सामञ्जस्य या चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा जाय, इनके मूल में विशेष भेद नहीं है क्योंकि इन समस्त योग साधनाओं का लक्ष्य ही भेदत्व के विपरीत अभेदत्व की प्रतिष्ठा है।

प्राचीनता

'योग' का प्राचीनतम उल्लेख 'ऋग्वेद' में प्राप्त होता है। 'ऋक् संहिता' में कहा गया है कि योग के अभाव में विद्वान का कोई भी यज्ञकर्म सिद्ध नहीं होता।[1] ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद[2], सामवेद[3] एवं अथर्ववेद[4] में भी योग की चर्चा है। ऐतरेय आरण्यक में योगान्तर्गत प्राण विद्या का विवेचन किया गया है।[5] बृहदारण्यक[6], छान्दोग्य[7] श्वेताश्वतर[8], कठ[9] एवं मुंडक[10] उपनिषदों में योग के तत्वों का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है। गीता के षष्ठ अध्याय में क्रियात्मक योग का प्रतिपादन किया गया है।[11] इन उल्लेखों से योग की प्राचीनता प्रमाणित हो जाती है। वस्तुतः योग की प्राचीनतम भारत आध्यात्मविद्याओं में से है।

उपनिषदों में योग

बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, श्वेताश्वतर इत्यादि प्राचीन उपनिषदों में योग का पुनः पुनः उल्लेख किया गया है। इन उपनिषदों में योग शब्द दो अर्थों प्रयुक्त हुआ है:—

१—यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितन।
स धीनां योगमिन्वति ॥

—ऋक्संहिता, १।१८।७।

२—यजुर्वेद, १८।२।

३—सामवेद, २।३।१०।३।

४—अथर्ववेद, २।८।४।

५—ऐतरेय आरण्यक, २।१।६।

६—बृहदारण्यक, ४।४।२३।

७—छान्दोग्य ५।१।६-१५।

८—श्वेताश्वतर, २।१०।१३।

९—कठ, २।३।१०-११।

१०—मुंडक, ३।२।५।६।

११—गीता, ६।११-१४।

पंचम अध्याय

योग

योग हिन्दू धर्म एवं दर्शन का गौरवपूर्ण अंग है। योग दर्शन भारतवर्षं सर्वप्रमुख आध्यात्मविद्याओं में परिगणित है। वस्तुतः वेदांत के समान समादृत एवं बहुचर्चित दर्शनविधि योग ही है। वेदान्त, सांख्य, न्याय, मीमांसा वैशेषिक एवं योग नामक षट् दर्शनों में जितनी अधिक मान्यता योग को प्राप्त है, उतनी वेदान्त को छोड़कर अन्य किसी दर्शन को नहीं। इससे योग का महत्व समझा जा सकता है।

योग का अर्थ

'योग' शब्द युज् धातु के बाद कारण और भाववाच्य में घञ् प्रत्यय लगाने से बनता है। युज् धातु का अर्थ समाधि है। अतएव 'योग' का अर्थ भी समाधि हुआ। 'योगसूत्र' के समाधिपाद में पतंजलि मुनि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है।[1] साधारण अवस्था में चित्तवृत्ति प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। समाधि की अवस्था में वह निरुद्ध होकर एकाकार हो जाती । समाधिस्थ योगी की निरुद्ध चित्तवृत्ति की यह एकाकार दशा ही योग है। यही उसकी समाधि की अवस्था भी है। यह 'योग' का रूढ़ एवं साम्प्रदायिक अर्थ है।

'योग' का एक दूसरा अर्थ भी है। इसके अनुसार 'योग' शब्द का अर्थ जोड़ना अर्थात् आत्मा को परमात्मा से युक्त करना है।[2] पर इन दोनों अर्थों में शाब्दिक अन्तर अधिक है, तात्विक नहीं। समाधिस्थ योगी का लक्ष्य जिस प्रकार मनोजय द्वारा आत्मस्वरूप में स्थित होना है, उसी प्रकार आत्मा को परमात्मा से युक्त करने वाला साधक भी चंचल चित्त को नष्ट करके ही ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है। वस्तुतः 'योग' शब्द अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। इसके आध्यात्मिक अर्थों में प्रकार भेद होने पर भी मूलतः एक प्रकार की अभिन्नता दृष्टिगत होती है। जीव एवं ब्रह्म के संयोग को योग कहा

१—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

—योगदर्शन. १।२।

२—शारदातिलक तंत्र, १५।१-३।

जाय, प्राण-अपान अथवा चन्द्र-सूर्य के मिलन अथवा शिव और शक्ति के सामञ्जस्य या चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा जाय, इनके मूल में विशेष भेद नहीं है क्योंकि इन समस्त योग साधनाओं का लक्ष्य ही भेदत्व के विपरीत अभेदत्व की प्रतिष्ठा है।

प्राचीनता

'योग' का प्राचीनतम उल्लेख 'ऋग्वेद' में प्राप्त होता है। 'ऋक् संहिता' में कहा गया है कि योग के अभाव में विद्वान का कोई भी यज्ञकर्म सिद्ध नहीं होता।[1] ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद[2], सामवेद[3] एवं अथर्ववेद[4] में भी योग की चर्चा है। ऐतरेय आरण्यक में योगान्तर्गत प्राण विद्या का विवेचन किया गया है।[5] वृहदारण्यक[6], छान्दोग्य[7] श्वेताश्वतर[8], कठ[9] एवं मुंडक[10] उपनिषदों में योग के तत्वों का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है। गीता के षष्ठ अध्याय में क्रियात्मक योग का प्रतिपादन किया गया है।[11] इन उल्लेखों से योग की प्राचीनता प्रमाणित हो जाती है। वस्तुतः योग की प्राचीनतम भारत आध्यात्मविद्याओं में से है।

उपनिषदों में योग

वृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, श्वेताश्वतर इत्यादि प्राचीन उपनिषदों में योग का पुनः पुनः उल्लेख किया गया है। इन उपनिषदों में योग शब्द दो अर्थों प्रयुक्त हुआ है:—

१—यस्माद‍ृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितन।
स धीनां योगमिन्वति ॥

—ऋक्संहिता, १।१८।७।

२—यजुर्वेद, १८।२।

३—सामवेद, २।३।१०।३।

४—अथर्ववेद, २।८।४।

५—ऐतरेय आरण्यक, २।१।६।

६—वृहदारण्यक, ४।४।२३।

७—छान्दोग्य ५।१।६-१५।

८—श्वताश्वतर, २।१०।१३।

९—कठ, २।३।१०-११।

१०—मुंडक, ३।२।५।६।

११—गीता, ६।११-१४।

(१) दर्शन—विशेष के अर्थ में

(२) क्रियात्मक- योग के अर्थ में

कठोपनिषद् में 'योग' शब्द उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। दर्शन विशेष अथवा आत्म दर्शन के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग करते हुए मंत्रकार ने कहा है कि जब पंच ज्ञानेन्द्रियां मन सहित आत्मा में स्थिर होकर बैठती है एवं बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परमागति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय धारणा को योग कहते हैं। उस अवस्था में साधक प्रमाद रहित हो जाता है क्योंकि योग ही उत्पत्ति एवं नाश रूप है।[1] यहां योग का अभिप्राय आत्मदर्शन है एवं यह शब्द साधक की अवस्था विशेष भी सूचित करता है। इस अवस्था को परमागति कहा गया है।

'कठोपनिषद्' में ही योग शब्द का प्रयोग क्रियात्मक योग के लिए किया गया है। इसमें मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से आत्मा को 'अध्यात्म योगाधिगम' द्वारा जानने का प्रस्ताव किया गया है।[2] यहाँ आध्यात्मयोग का प्रयोग क्रियात्मक या साधनात्मक योग के लिए किया गया है। मंत्रकार ने आध्यात्मयोगाधिगम के द्वारा कहकर योग को आत्मज्ञान की सीढ़ी या पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया है। उसका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मयोग के माध्यम से परागति प्राप्त करना चाहिये। यह माध्यम निश्चय ही कतिपय साधनों की अपेक्षा रखता है। ये साधन क्रियात्मक योग से सम्बद्ध हैं।

१—यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

—कठोपनिषद, २।३।१०-११।

२—तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

—वही, १।२।१२।

क्रियात्मक योग के रूप एवं प्रकार का वर्णन उपनिषदों में यथेष्ट विस्तार से प्राप्त होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में षडंग योग का वर्णन करते हुए कहा है कि शरीर को त्रिरुन्नत या वक्ष, ग्रीवा और शिर उन्नत एवं सम करके, मन सहित इन्द्रियों को हृदय में नियत करके ब्रह्मरूप नौका से विद्वान सब भयानक प्रवाहों को तर जायगा। इस शरीर में प्राणों का भली भाँति निरोध करके युक्त चेष्ट हो और प्राण के क्षीण होने पर नासिका द्वारों से श्वाँस छोड़े और इन दुष्ट घोड़ों की लगाम मन को विद्वान अप्रमत्त होकर धारण करे[1] ध्यान रूप मंथन से अत्यन्त गूढ़ सा जो आत्मा है उसे देखे।[2] इन पंक्तियों में बड़े कौशल से योग के सुप्रसिद्ध षडंग आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान निर्दिष्ट करते हुए श्वेताश्वतर में ही कहा गया है कि सम और शुचि कंकड़ियों से रहित, आग और बालू से वर्जित तथा शब्द, जल और आश्रय के द्वारा मन के अनुकूल लगने वाला, जहाँ चक्षु को पीड़ा देने वाली कोई वस्तु न हो ऐसा तथा गुहा सा एकान्त और निर्वात स्थान चुनकर वहां योगाभ्यास करे।[3] श्वेताश्वतार में क्रियात्मक योग के अन्तर्गत योगप्रवृत्ति के प्रथम लक्षणों

१—त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्रणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेता प्रमत्तः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् २।८।९।

२—ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

—वही, १।१४।

३—समे शुचौ शर्करावह्नि वालुका
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिर्वाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, २।१०।

की चर्चा करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि 'शरीर का हल्का होना, आरोग्य अलोलुपता, नेत्रों को प्रसन्नता देने वाली शरीर कांति, मधुर स्वर, शुभ गन्ध, मलमूत्र की न्यूनता लक्षण प्रथमा योग प्रवृत्ति के हैं ।[१]

तप और ब्रह्मचर्य क्रियात्मक योग के मुख्य अंग हैं । तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगु वल्ली में तप द्वारा योगानुष्ठान से ही परमानन्द की प्राप्ति कही गई है ।[२] इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् का भी योगानुष्ठान से अभिप्राय प्रकट होता है । ब्रह्मचर्य योग के पाँच प्रकार के यमों (अहिंसा, सत्य, और, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह-योग सूत्र, २।३०) में परिगणित हैं । छान्दोग्य, अष्टम प्रपाठक में ब्रह्मचर्य धारण करने से ही ब्रह्म प्राप्ति का निर्णय देते हुए श्रुति कहती है कि जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य साधन द्वारा प्राप्त करते हैं, उनकी सब स्थानों पर अव्याहत रूप से इच्छानुसार गति होती है ।[३]

प्राणविद्या या प्राणोंपासना योग का प्रमुख प्रतिपाद्य है । उपनिषदों में प्राणोपासना अनेक भावनाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से कही गई है ।[४] प्राचीन तथा परवर्ती उपनिषदों में समान रूप से मोक्ष के दो उपाय बताए गए हैं मनोजय तथा प्राणजय । मनोजय वासनाओ के क्षीण होने से होता है किन्तु प्राणजय हो जाने से मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है । यही कारण है कि योग में प्राणायाम द्वारा प्राणजय इतना महत्वपूर्ण माना गया है । वस्तुतः प्राणजय योग साधना का अनिवार्य अंग है । मुंडकोपनिषद् में कहा गया है कि प्रजाओं के प्राणसह सम्पूर्ण चित्त में वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्ध चित्त से

१—लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, २।१३ ।

२—तैत्तिरीयोपनिषद्, ३।१।९ ।

३—"तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" ।
छान्दोग्योपनिषद्, ५।८।४ ।

४—छान्दोग्योपनिषद् १।११।५, ४।३।३।४, ५।१।९।१५, ७।१५।१, एवं
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।४।५ ।

ही विशेष रूप से प्रकट होता है।[1] कठोपनिषद् में तो इस सम्बन्ध में प्राण एवं अपान वायु का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसमें मन्त्रकार ने कहा है कि 'जो प्राण को ऊपर भेजता है एवं अपान को नीचे फेंकता है, उस मध्य में रहने वाले वामन को विश्वदेव भजते हैं।[2] योग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में प्राण एवं अपान वायु का बड़ा महत्व माना गया है क्योंकि इनके समीकरण से प्राण वायु ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना में प्रवेश करता है जिससे ब्रह्मानुभूति होती है। श्वेताश्वतर में भी प्राणायाम, प्राणवायु एवं मन निग्रह की चर्चा करते हुए कहा गया है कि प्राणों का आयाम करके बड़ी तत्परता के साथ शुद्ध (क्षीण) प्राणवायु हो जाने पर नासिका से उच्छ्वास ले! जैसे सारथी दुष्ट घोड़ों की लगाम को खेंचकर उनका नियन्त्रण करता है, उसी प्रकार योगी को अप्रमत्त होकर मन का निग्रह करना चाहिए।[3] वस्तुतः प्राणायाम द्वारा प्राणवायु का नियमन करके मनोजय करना योग का समादृत सिद्धान्त है। इसी का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है।

योग में नाड़ी संस्थान का बड़ा महत्व है। उपनिषदों में भी नाड़ी विज्ञान की चर्चा है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि इस हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक मूर्धा को भेदकर बाहर निकली हुई है। उसके द्वारा ऊर्ध्व गमन करने वाला पुरुष अमरत्व को प्राप्त होता है। शेष विभिन्न गतियुक्त नाड़ियाँ उत्क्रमण (प्राणोत्सर्ग) की हेतु होती हैं।[4] इससे ज्ञात होता है कि उपनिषदों में नाड़ियों की संख्या एक सौ एक मानी गई है। इसमें से एक नाड़ी मस्तक को भेद कर निकल गई है। यह नाड़ी सुषुम्ना है जिसे योग के ग्रन्थों में

१—प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥
—मुंडकोपनिषद्, ३।१।९।

२—ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥
—कठोपनिषद्, २।२।३।

३—श्वेताश्वतरोपनिषद्, २।९।

४—शतं चैका च हृदयस्यनाड्य
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्न मृतत्वमेति
विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥
—कठोपनिषद्, २।३।१६।

ब्रह्मनाड़ी कहा गया है। इस नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वगामी जीव अमरण धर्मत्व (ब्रह्म) को प्राप्त करता है। कठोपनिषद् के शांकर भाष्य में भी इस विशिष्ट नाडी को सुषुम्ना निर्दिष्ट किया गया है।[1] इस नाड़ी के अतिरिक्त शेप नाड़ियाँ प्राणप्रमाण की हेतु हैं अर्थात् संसार प्राप्ति के लिए हैं। योग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी सुषुम्ना के अतिरिक्त अन्य नाड़यों को मोक्ष के अयुक्त माना गया है।

उपनिषदों में योग के परम प्राप्तव्य समाधि का वर्णन भी किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में समाधि का स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार जानने वाला इन्द्रियों और मन का संयम करके उपरामवृत्ति धारण कर तितिक्षु होकर समाधि परायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है।[2] योग के परवर्ती ग्रन्थों में भी समाधि की अवस्था में ही आत्मलाभ का वर्णन है। इस आत्म लाभ को योगियों ने ब्रह्मानन्द की संज्ञा प्रदान की है।

इन उपनिषदों में योग का महत्व एवं फल समादृत है। मुंडक में योग के महत्व को स्वीकार करते हुए योगियों के प्रति कहा गया है कि वे धीर युक्तात्मा सर्वत्र, सर्वव्यापी ब्रह्म को पाकर उस सर्व में ही प्रवेश करते हैं। वेदान्त विज्ञान का अर्थ (ब्रह्म) जिनके चित्त में सुनिश्चित हो चुका है, जो सन्यास योग से यत्नवान् एवं शुद्ध सत्व हो गए हैं, वे सब ब्रह्मलोक में परान्त काल में परमामृत होकर मुक्त होते हैं।[3] श्वेताश्वतर उपनिषद् में योग की साधना करने वाले साधक को फल का निर्देश भी किया गया है। श्वेताश्वतर के द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि योगग्निमय शरीर जिसको प्राप्त होता है,

---

१—कठोपनिषद्: शांकरभाष्य, पृ० १६९।

२—तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो
भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।
—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२३।

३—ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेपु परान्तकाले
परामृताःपरमुच्यन्ति सर्वे ॥
—मुंडकोपनिषद् ३।२।५।९।

उसे कोई रोग नहीं होता, वृद्धावस्था नहीं आती और मृत्यु भी नहीं होती।[1] शिवसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि योग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसी प्रकार के शब्दों में योग का फल निर्दिष्ट किया गया है।

गीता में योग

'गीता' में योग शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है। इसमें अनेक साधनों को 'योग' से युक्त किया गया है। उदाहरणार्थ ज्ञान भक्ति, कर्म, ध्यान आदि के पारमार्थिक प्रसंगों के साथ योग शब्द जोड़कर ज्ञान योग[2], भक्तियोग[3], कर्मयोग[4] ध्यानयोग[5] आदि का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। पर योग के रूढ़ एवं साम्प्रदायिक अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री गीता के छठवें अध्याय में उपलब्ध है।

गीता में पातंजल योग प्रतिपादित चित्तवृत्ति के निरोध की आवश्यकता स्वीकार की गई है। इसमें योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त की चर्चा की गई है एवं चित्त निरोध के लिए अभ्यास एवं वैराग्य उपाय बताते हुए कहा गया है कि निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है किन्तु अभ्यास और वैराग्य से वशीभूत होता है।[6] वस्तुतः मनोजय के अभाव में योग सिद्धि संभव नहीं है। इसी की चर्चा करते हुए गीता में कहा गया है कि मनको वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है और मन को अधीन करने वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन करने से (इस योग का) प्राप्त होना संभव

१—न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, २।१२।

२—श्रीमद् भगवद् गीता, ३।३, १३।२४, १९।१।

३—वही, १४।२९।

४—श्रीमद् भगवद् गीता, ३।३, ५।२, १३।२४।

५—वही, १८।५२।
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

वही, ९ २०।

६—असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

—वही, ६।२०।

है ।[1] योग के सम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसी से मिलते जुलते विचार विषद् व्याख्या के साथ प्रस्तुत किए गए हैं ।

उपनिषदों की भांति ही गीता में भी क्रियात्मक योग का वर्णन प्राप्त होता हैं । इसमें योग साधना में निरत होने वाले व्यक्ति के निमित्त उचित स्थान का निर्देश करते हुए कहा गया है कि योगी एकान्त में एकाकी रहकर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी वासना को न रखकर परिगृह करके निरंतर अपने योगाभ्यास में लगा रहे ।[2] क्रियात्मक योग के अन्तर्गत ही गीता में योगी को आहार निद्रा आदि सम्बन्धी आचरण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि योग न तो अतिशय खाने वाले को न एकदम न खाने वाले को तथा न अतिशयन करने और और न अत्यन्त जागने वाले को सिद्ध होता है । दुःखनाशक योग तो यथायोग्य आहार विहार करने वाले का कर्मो में यथायोग्य[3] चेष्टा करने वाले तथा यथायोग्य शयन एवं जागने वाले का ही सिद्ध होता है । वस्तुतः इन पंक्तियों में योगी के लिए मिताहारी होना एवं शयन आदि में अतिरेक त्याग का विधान प्रस्तुत किया गया है । योग के परवर्ती ग्रन्थों में इस प्रकार के विचार अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं ।

उपनिषदों में योग के जिन षडंग की चर्चा हम कर चुके हैं, उनका सामान्य रूप गीता में भी वर्णित है । गीता में आसन, प्राणायाम इत्यादि की चर्चा करते हुए संक्षेप में कहा गया है कि योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावें, जो न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा । उस पर

१—असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
—श्रीमद् भगवद् गीता ६।३६ ।

२—योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।१० ।

३—नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।१६।१७ ।

पहले दर्भ, फिर मृगछाला और उसके उपरान्त वस्त्र बिछावें। वहाँ चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करें। पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके स्थिर होता हुआ, दिशाओं को न देखे और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमा कर निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्यव्रत पालन कर तथा मन का संयम करके मुझमें चित्त लगाकर मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय।[1] इसके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य का उल्लेख भी किया गया है जिसकी गणना पाँच प्रकार के यमों में की जाती है। इनका परिचय आगे चलकर पातंजल योग के वर्णन में प्रस्तुत किया जायगा। गीता में योग प्रतिपादित समाधि का वर्णन भी किया गया है। समाधिस्थ योगी की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जब संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है एवं किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती, तब कहते है कि वह मुक्त हो गया। वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करने वाले योगी को दी जाती है। योगानुष्ठान से चित्त जिस स्थान में रम जाता है और जहाँ स्वयं आत्मा को देखकर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो रहता है, जहाँ बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है, और जहाँ स्थिर होकर वह तत्व से कभी नहीं डिगता, ऐसी ही जिस स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी लाभ उसे अधिक नहीं जंचता, जहां स्थिर होने से कोई दुःख उसे विचलित नहीं करता, उसको दुखः के स्पर्श से वियोग अर्थात् योग की स्थिति कहते हैं और इसका आचरण निश्चय करना

१—शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिर मासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
—श्रीमद भगवदगीता ६।११।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।११-१४।

है ।[१] योग के सम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसी से मिलते जुलते विचार विपद् व्याख्या के साथ प्रस्तुत किए गए हैं ।

उपनिषदों की भांति ही गीता में भी क्रियात्मक योग का वर्णन प्राप्त होता हैं । इसमें योग साधना में निरत होने वाले व्यक्ति के निमित्त उचित स्थान का निर्देश करते हुए कहा गया है कि योगी एकान्त में एकाकी रहकर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी वासना को न रखकर परिगृह करके निरंतर अपने योगाभ्यास में लगा रहे ।[२] क्रियात्मक योग के अन्तर्गत ही गीता में योगी को आहार निद्रा आदि सम्बन्धी आचरण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि योग न तो अतिशय खाने वाले को न एकदम न खाने वाले को तथा न अतिशयन करने और और न अत्यन्त जागने वाले को सिद्ध होता है । दुःखनाशक योग तो यथायोग्य आहार विहार करने वाले का कर्मों में यथायोग्य[३] चेष्टा करने वाले तथा यथायोग्य शयन एवं जागने वाले का ही सिद्ध होता है । वस्तुतः इन पंक्तियों में योगी के लिए मिताहारी होना एवं शयन आदि में अतिरेक त्याग का विधान प्रस्तुत किया गया है । योग के परवर्ती ग्रन्थों में इस प्रकार के विचार अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं ।

उपनिषदों में योग के जिन षडंग की चर्चा हम कर चुके हैं, उनका सामान्य रूप गीता में भी वर्णित है । गीता में आसन, प्राणायाम इत्यादि की चर्चा करते हुए संक्षेप में कहा गया है कि योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावें, जो न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा । उस पर

१—असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
—श्रीमद् भगवद् गीता ६।३६ ।

२—योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।१० ।

३—नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।१६।१७ ।

पहले दर्भ, फिर मृगछाला और उसके उपरान्त वस्त्र बिछावें। वहाँ चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करें। पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके स्थिर होता हुआ, दिशाओं को न देखे और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमा कर निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्यव्रत पालन कर तथा मन का संयम करके मुझमें चित्त लगाकर मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय।'[1] इसके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य का उल्लेख भी किया गया है जिसकी गणना पाँच प्रकार के यमों में की जाती है। इनका परिचय आगे चलकर पातंजल योग के वर्णन में प्रस्तुत किया जायगा। गीता में योग प्रतिपादित समाधि का वर्णन भी किया गया है। समाधिस्थ योगी की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जब संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है एवं किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती, तब कहते है कि वह मुक्त हो गया। वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करने वाले योगी को दी जाती है। योगानुष्ठान से चित्त जिस स्थान में रम जाता है और जहाँ स्वयं आत्मा को देखकर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो रहता है, जहाँ बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है, और जहाँ स्थिर होकर वह तत्व से कभी नहीं डिगता, ऐसी ही जिस स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी लाभ उसे अधिक नहीं जंचता, जहां स्थिर होने से कोई दुःख उसे विचलित नहीं करता, उसको दुखः के स्पर्श से वियोग अर्थात् योग की स्थिति कहते हैं और इसका आचरण निश्चय करना

१—शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिर मासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

—श्रीमद भगवदगीता ६।११।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

—श्रीमद् भगवद्गीता, ६।११-१४।

है।[१] योग के सम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसी से मिलते जुलते विचार विषद् व्याख्या के साथ प्रस्तुत किए गए हैं।

उपनिषदों की भांति ही गीता में भी क्रियात्मक योग का वर्णन प्राप्त होता हैं। इसमें योग साधना में निरत होने वाले व्यक्ति के निमित्त उचित स्थान का निर्देश करते हुए कहा गया है कि योगी एकान्त में एकाकी रहकर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी वासना को न रखकर परिगृह करके निरंतर अपने योगाभ्यास में लगा रहे।[२] क्रियात्मक योग के अन्तर्गत ही गीता में योगी को आहार निद्रा आदि सम्बन्धी आचरण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि योग न तो अतिशय खाने वाले को न एकदम न खाने वाले को तथा न अतिशयन करने और और न अत्यन्त जागने वाले को सिद्ध होता है। दुःखनाशक योग तो यथायोग्य आहार विहार करने वाले का कर्मों में यथायोग्य[३] चेष्टा करने वाले तथा यथायोग्य शयन एवं जागने वाले का ही सिद्ध होता है। वस्तुतः इन पंक्तियों में योगी के लिए मिताहारी होना एवं शयन आदि में अतिरेक त्याग का विधान प्रस्तुत किया गया है। योग के परवर्ती ग्रन्थों में इस प्रकार के विचार अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं।

उपनिषदों में योग के जिन षडंग की चर्चा हम कर चुके हैं, उनका सामान्य रूप गीता में भी वर्णित है। गीता में आसन, प्राणायाम इत्यादि की चर्चा करते हुए संक्षेप में कहा गया है कि योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावें, जो न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा। उस पर

१—असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
—श्रीमद् भगवद् गीता ६।३६।

२—योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।१०।

३—नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।१६।१७।

पहले दर्भ, फिर मृगछाला और उसके उपरान्त वस्त्र बिछावें। वहां चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करें। पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके स्थिर होता हुआ, दिशाओं को न देखे और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमा कर निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्यव्रत पालन कर तथा मन का संयम करके मुझमें चित्त लगाकर मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय।[1] इसके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य का उल्लेख भी किया गया है जिसकी गणना पांच प्रकार के यमों में की जाती है। इनका परिचय आगे चलकर पातंजल योग के वर्णन में प्रस्तुत किया जायगा। गीता में योग प्रतिपादित समाधि का वर्णन भी किया गया है। समाधिस्थ योगी की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जब संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है एवं किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती, तब कहते है कि वह मुक्त हो गया। वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करने वाले योगी को दी जाती है। योगानुष्ठान से चित्त जिस स्थान में रम जाता है और जहाँ स्वयं आत्मा को देखकर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो रहता है, जहां बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है, और जहां स्थिर होकर वह तत्व से कभी नहीं डिगता, ऐसी ही जिस स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी लाभ उसे अधिक नहीं जंचता, जहां स्थिर होने से कोई दुःख उसे विचलित नहीं करता, उसको दुखः के स्पर्श से वियोग अर्थात् योग की स्थिति कहते हैं और इसका आचरण निश्चय करना

१—शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिर मासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
—श्रीमद भगवदगीता ६।११।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।११-१४।

चाहिए ।[१] इन श्लोकों में समाधि की दशा का वर्णन ही किया गया है ।[२] इसमें कहा गया है कि समाधि से प्राप्त होने वाला सुख न केवल चित्तनिरोध से, प्रत्युत चित्तनिरोध के द्वारा अपने आप आत्मा को पहचान लेने पर होता है। इस दुःखरहित स्थिति को ही 'ब्रह्मानन्द' 'आत्मप्रसादज सुख' अथवा 'आत्मानन्द' कहते हैं ।[३]

योग के महत्व एवं श्रेष्ठत्व का वर्णन भी गीता में किया गया है। श्रीकृष्ण ने अन्य साधकों की अपेक्षा योगी के महत्व एवं श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि तपस्वी लोगों की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, वह कर्मकाण्ड वालों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता है। इसलिए हे अर्जुन तू योगी हो ।[४]

पातंजल योग

पतंजलि मुनि द्वारा प्रतिपादित योग 'पातंजल दर्शन' के नाम से विख्यात है। पातंजल दर्शन चार पादों में विभाजित है :

१—यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितिश्चलति तत्त्वतः ।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।

श्रीमद् भगवद् गीता, ६।१८।२३ ।

२—गीतारहस्य, पृ० ७४४ ।

३—वही, पृ० ७४४ ।

४—तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

—श्रीमद् भगवद् गीता, ६।४६ ।

१—समाधिपाद

२—साधन पाद

३—विभूति पाद

४—कैवल्य पाद

१—प्रथम पाद समाधि पाद है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में योग की परिभाषा करते हुए पतंजलि मुनि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है।[1] इसके उपरान्त चित्तवृत्ति के पाँच भेद एवं उनके लक्षणों की चर्चा की गई है। ये पांच प्रकार की चित्तवृत्तियां (१) प्रमाण, (२) विपर्यय (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति हैं।[2] सूत्र ७·११ तक इनके लक्षणों की चर्चा है। सूत्रकार ने चित्त-वृत्तियों के निरोध के उपायों में अभ्यास एवं वैराग्य का उल्लेख किया है[3] तथा १३·१६ सूत्रों में इनके भेद एवं लक्षणों की चर्चा की है। तत्पश्चात संप्रज्ञात योग का उल्लेख करते हुए कहा है कि वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता सम्प्रज्ञात योग है।[4] सम्प्रज्ञात योग से भिन्न कैवल्यावस्था का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि विराम प्रत्यय का अभ्यास जिसकी पूर्व अवस्था है एवं जिसमें चित्त का स्वरुप संस्कार मात्र ही शेष रहता रहता है, वह योग अन्य है[5], अर्थात् संप्रज्ञात योग से भिन्न है। आगे चलकर इसी कैवल्यावस्था अथवा निर्बीज समाधि का वर्णन १।५१ सूत्र में किया गया है।

इस पाद में निर्बीज समाधि का उपाय पर वैराग्य बताकर, दूसरा उपाय ईश्वर शरणागति बताया गया है।[6] यह उपाय वैराग्य की अपेक्षा सरल

१—योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

—योग दर्शन, १।२।

२—प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।

—योग दर्शन, १।६।

३—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

—योग दर्शन १।१२।

४—वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः।

—योगदर्शन, १।१७।

५—विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

—योग दर्शन, १।१८।

६—ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

—योग दर्शन, १।२३।

है। इसके उपरान्त सूत्रकार ने योग के विघ्नों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद कहा है कि इनको दूर करने के लिए एक तत्व का अभ्यास अपेक्षित है।[1] इसी क्रम में पातंजलि मुनि ने चित्त की स्थिरता के निमित्त उसे निर्मल करने के उपायों में प्राणवायु की चर्चा करते हुए कहा है कि प्राणवायु को बार बार बाहर निकालने एवं रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है।[2] चित्त को स्थिर करने के विभिन्न साधनों का विस्तार से वर्णन करने के उपरान्त संप्रज्ञात समाधि[3] एवं उसके दो भेदों की चर्चा है।[4] इनमें सविकल्प योग पूर्वावस्था है जिसमें विवेक ज्ञान नहीं होता। दूसरे निर्विकल्प योग में विवेक ज्ञान प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त पुरुष एवं प्रकृति के यथार्थ रूप का ज्ञान होने से साधक की गुणों एवं उनके कार्य के प्रति आसक्ति नहीं रहती। वस्तुतः इस अवस्था में उसके चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं रहती। यह सर्ववृत्ति-निरोध रूप निर्बीज समाधि है।[5] इसे निर्बीज समाधि इसलिए कहते हैं कि इसमें संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाता है जिससे कैवल्यावस्था प्राप्त होती है।

२—द्वितीय पाद साधन पाद है। इसके प्रारम्भ में तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति को क्रियायोग बताया गया है।[6] द्वितीय सूत्र में क्रिया योग के फल का निर्देश करते हुए कहा है कि यह समाधि की सिद्धि कराने वाला

१—तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः।

—योग दर्शन, १।३२।

२—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

—योग दर्शन, १।३४।

३—क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।

—योग दर्शन, १।४१।

४—तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥

—योग दर्शन, १।४२

५—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

—योगदर्शन १।५१।

६—तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

—योग दर्शन, २।१।

और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करने वाला है।[1] इसके बाद सूत्रकार ने अविद्या आदि पाँच क्लेशों का वर्णन किया है। वस्तुतः द्वितीय पाद में अविद्या आदि पंच क्लेश को समस्त दुःखों का कारण कहा गया है। अविद्या जनित कर्म संस्कारों का नाम ही कर्माशय है और इस कर्माशय के कारण भूत क्लेश जब तक रहते हैं, तब तक जीव को उनका फल भोगने के लिए आवागमन चक्र में पड़ना पड़ता है। इसी को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने कहा है कि क्लेशमूलक कर्म संस्कारों का समुदाय दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के जन्मों में भोगा जाने वाला है।[3] दृष्ट और अदृष्ट का अभिप्राय वर्तमान एवं भविष्य में होने वाले जन्मों से है। इसी सम्बन्ध में पाप एवं पुण्य कर्म का फल हर्ष शोक या सुख दुःख रूप में माना गया हैं।[4] सूत्रकार ने विवेकी के लिए समस्त कर्मफल को दुःखरूप ठहराया हैं।[5] एवं दुःख से निवृत्ति पाने के निमित्त क्लेशमूलक कर्म-संस्कारों का मूलोच्छेद आवश्यक माना है। इस पाद में उनके नाश का उपाय निश्चल और निर्मल विवेक ज्ञान बताया गया है।[6] इस विवेक ज्ञान की प्राप्ति के हेतु योग सम्बन्धी आठ अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति पर्यन्त हो जाता है।

इसी पाद में सूत्रकार ने अष्टांग योग का वर्णन किया है। ये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं।[7] यम में

१—समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

—योग दर्शन, २।२।

२—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशः क्लेशाः।

—योग दर्शन, २।३।

३—क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः।

—योग दर्शन, २।१२।

४—ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात।

—योग, दर्शन, २।१४।

५—दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

—योग दर्शन, २।१५।

६—विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

—योग दर्शन, २।२६।

७—यम नियमासनप्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।।

—योग दर्शन २।२९।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की परिगणना है।[१] शौच सन्तोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं।[२] निश्चल सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।[३] आसन की सिद्धि होने के उपरान्त श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है।[४] सूत्रकार ने प्राणायाम के तीन प्रकार बताते हुए कहा है कि वह बाह्यवृत्ति, आभ्यान्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति होता है।[५] योग के परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रन्थों में ये भेद रेचक पूरक तथा कुंभक नाम से अभिहित किए गए हैं। सूत्रकार ने इन तीन से भिन्न चौथे प्राणायाम का उल्लेख करते हुए कहा है कि बाह्य और अभ्यन्तर के विषयों का त्याग कर देने से स्वतः होने वाला प्राणायाम चतुर्थ है।[६] वस्तुतः यह अनायास होने वाला राजयोग का प्राणायाम है जिसमें मन की चंचलता नष्ट होने के कारण अपने आप प्राणों की गति रुकती है।[७] प्राणायाम के उपरान्त प्रत्याहार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर, जो इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना है, वह प्रत्याहार है।[८] प्रत्याहार से योगी की इन्द्रियाँ सर्वथा उसके वश में हो जाती हैं और इसी को सूत्रकार ने इन्द्रियों की 'परमवश्यता' कहा है।[९]

इस प्रकार' योग दर्शन के द्वितीय पाद में योगांगों का वर्णन प्रारम्भ

१—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
—योग दर्शन, २।३०।

२—शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
—योगदर्शन, २ ३२।

३—स्थिरसुखमासनम्।
—योग दर्शन, २।४६।

४—तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
—योग दर्शन, २।४९।

५—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
योग दर्शन, २।५०।

६—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।
—योग दर्शन, २।५१।

७—पातंजलयोग दर्शन, पृ० १०१।

८—स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
—योग, दर्शन, २।५४।

९—ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्
—योग दर्शन, २।५५

करके यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पांच वहिरंग साधनों का वर्णन किया गया हैं। शेष धारणा, ध्यान और समाधि नामक अन्त-रंग साधनों का वर्णन तृतीय पाद में है।

३—तृतीय पाद विभूतिपाद है। सर्वप्रथम धारणा का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि किसी एक देश में चित्त को स्थिर करना धारणा है।[1] जहां चित्त को लगाया जाय, उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।[2] जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तब वही (ध्यान) समाधि हो जाता है।[3] ध्यान की प्रक्रिया में जब चित्त ध्येयकार में परिणत हो जाता है एवं उसके निज स्वरूप का अभाव सा हो जाता है तथा उसकी ध्येय से भिन्न स्थिति नहीं होती, उस समय ध्यान ही समाधि हो जाता है। यही लक्षण प्रथम पाद में निर्वितर्क समाधि (यो० सु० १।४३) कहे गए है।

धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्रित या सांकेतिक नाम 'संयम' है। वस्तुतः जब किसी एक ध्येय विषय में यह तीनों पूर्णतया किए जाते हैं, तब इनको 'संयम' कहते हैं।[4] सूत्रकार ने द्वितीय पाद में कथित, यम, नियम, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पांच साधनों की अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि नामक तीन साधनों को अंतरंग कहा भी है।[5] पर निर्बीज समाधि की दृष्टि से ये भी वहिरंग साधन हैं,।[6] क्योंकि उसमें सब प्रकार की वृत्तियों का अभाव किया जाता है, समाधिप्रज्ञा के संस्कारों का भी विरोध हो जाता है[7]

१—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

—योग दर्शन ३।१

२—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

—योग दर्शन, ३।२।

३—तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

—योग दर्शन, ३।३।

४—त्रयमेकत्र संयमः।

—योग दर्शन, ३।४।

५—त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः।

—योग दर्शन, ३।७।

६—तदपि वहिरंग निर्बीजस्य।

—योग दर्शन, ३।८।

७—पातंजल योग दर्शन, १।५१।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की परिगणना है।[1] शौच सन्तोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं।[2] निश्चल सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।[3] आसन की सिद्धि होने के उपरान्त श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है।[4] सूत्रकार ने प्राणायाम के तीन प्रकार बताते हुए कहा है कि वह वाह्यवृत्ति, आभ्यान्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति होता है।[5] योग के परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रन्थों में ये भेद रेचक पूरक तथा कुंभक नाम से अभिहित किए गए हैं। सूत्रकार ने इन तीन से भिन्न चौथे प्राणायाम का उल्लेख करते हुए कहा है कि वाह्य और अभ्यन्तर के विषयों का त्याग कर देने से स्वतः होने वाला प्राणायाम चतुर्थ है।[6] वस्तुतः यह अनायास होने वाला राजयोग का प्राणायाम है जिसमें मन की चंचलता नष्ट होने के कारण अपने आप प्राणों की गति रुकती है।[7] प्राणायाम के उपरान्त प्रत्याहार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर, जो इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना है, वह प्रत्याहार है।[8] प्रत्याहार से योगी की इन्द्रियां सर्वथा उसके वश में हो जाती हैं और इसी को सूत्रकार ने इन्द्रियों की 'परमवश्यता' कहा है।[9]

इस प्रकार' योग दर्शन के द्वितीय पाद में योगांगों का वर्णन प्रारम्भ

१—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

—योग दर्शन, २।३०।

२—शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

—योगदर्शन, २ ३२।

३—स्थिरसुखमासनम्।

—योग दर्शन, २।४६।

४—तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

—योग दर्शन, २।४९।

५—वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

योग दर्शन, २।५०।

६—वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

—योग दर्शन, २।५१।

७—पातंजलयोग दर्शन, पृ० १०१।

८—स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

—योग, दर्शन, २।५४।

९—ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्

—योग दर्शन, २।५५

करके यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पांच बहिरंग साधनों का वर्णन किया गया हैं। शेष धारणा, ध्यान और समाधि नामक अन्तरंग साधनों का वर्णन तृतीय पाद में है।

३—तृतीय पाद विभूतिपाद है। सर्वप्रथम धारणा का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि किसी एक देश में चित्त को स्थिर करना धारणा है।[1] जहां चित्त को लगाया जाय, उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।[2] जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तब वही (ध्यान) समाधि हो जाता है।[3] ध्यान की प्रक्रिया में जब चित्त ध्येयकार में परिणत हो जाता है एवं उसके निज स्वरूप का अभाव सा हो जाता है तथा उसकी ध्येय से भिन्न स्थिति नहीं होती, उस समय ध्यान ही समाधि हो जाता है। यही लक्षण प्रथम पाद में निर्वितर्क समाधि (यो० सु० १।४३) कहे गए है।

धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्रित या सांकेतिक नाम 'संयम' है। वस्तुतः जब किसी एक ध्येय विषय में यह तीनों पूर्णतया किए जाते हैं, तब इनको 'संयम' कहते हैं।[4] सूत्रकर ने द्वितीय पाद में कथित, यम, नियम, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पाँच साधनों की अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि नामक तीन साधनों को अंतरंग कहा भी है।[5] पर निर्वीज समाधि की दृष्टि से ये भी बहिरंग साधन हैं,।[6] क्योंकि उसमें सब प्रकार की वृत्तियों का अभाव किया जाता है, समाधिप्रज्ञा के संस्कारों का भी विरोध हो जाता है[7]

१—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

—योग दर्शन ३।१

२—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

—योग दर्शन, ३।२।

३—तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

—योग दर्शन, ३।३।

४—त्रयमेकत्र संयमः।

—योग दर्शन, ३।४।

५—त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः।

—योग दर्शन, ३।७।

६—तदपि बहिरंग निर्बीजस्य।

—योग दर्शन, ३।८।

७—पातंजल योग दर्शन, १।५१।

तथा किसी भी ध्येय में चित्त को स्थिर करने का अभ्यास नहीं किया जाता है। इसी क्रम में सूत्रकार ने विस्तार से भिन्न-भिन्न ध्येय पदार्थों में संयम करने का भिन्न भिन्न फल बताया है।[1] इन ध्येय पदार्थों में नाभिचक्र ।३।२९। कंठकूप ।३।३०। कूर्मा नाड़ी ३।३१। मूर्धा ज्योति ।३।३२। हृदय ।३।३४। आदि उल्लेख है क्योंकि साम्प्रदायिक योग में इनका महत्व समादृत है।

ध्येय पदार्थों में संयम करने से योगी के सम्मुख आने वाली सिद्धियाँ छः हैं प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता।[2] साधक के लिए इन सिद्धियों का त्याग विधेय है क्योंकि ये उसके साधन में विघ्नरूप हैं। किन्तु जिसका प्रयोजन आत्मज्ञान और समाधि नहीं है, उसके हेतु ये अवश्य सिद्धियाँ हैं। इसी को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने कहा है कि वे (सिद्धियाँ) समाधि की सिद्धि (पुरुष ज्ञान) में विघ्न है और व्युत्थान में सिद्धियाँ है।[3] इसी पाद में अन्यत्र एवं चतुर्थ पाद[5] में इनको समाधि में विघ्नरूप माना गया है। साधक के लिए इनका प्रयोजन वर्जित है।

तृतीय पाद में ही भिन्न भिन्न संयमों से भिन्न भिन्न प्रकार की उपलब्ध क्रियाशक्तियों का वर्णन किया गया है।[6] इस सम्बन्ध में सूत्रकार ने उदान ।३।३९। एवं अपान ३।४०। वायु की चर्चा की है जिसका परवर्ती योग ग्रन्थों में भूरिशः उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् सबीज[7] एवं निर्बीज समाधि रूप कैव ४[8] की चर्चा करने के उपरान्त सुत्रकार ने विवेक ज्ञान का वर्णन करते हुए ३ से भवसागर से तारने वाला, सबका ज्ञाता एवं सब प्रकार का ज्ञाता आदि

१—पातंजल योग दर्शन ३।१६-३५।

२—ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।

—योग दर्शन, ३।३६।

३—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

—योग दर्शन, ३।३७।

४—पातंजलयोग दर्शन, ३।५०-५१।

५—वही, ४।२९।

६—वही, ३।३८-४८ एवं ५२-५३।

७—सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

— योग दर्शन, ३।४९।

८—तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

—योग दर्शन, ३।५०।

विशेषताओं से युक्त बताया है।[1] इस विवेक ज्ञान से कैवल्य होता है, पर कैवल्य दूसरे प्रकार के विवेक द्वारा भी होता है जिसका इस पाद के अन्तिम सूत्र में वर्णन है। वहां कहा गया है कि बुद्धि और पुरुष की जब समान भाव से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य होता है।[2] इसका अभिप्राय यह है कि जब बुद्धि शुद्ध होकर अपने कारण में विलीन होने लगती है एवं पुरुष का बुद्धि के साथ अज्ञातकृत सम्बन्ध और तत्प्रसूत मल विशेष आवरण का अभाव हो जाता हैं, तब पुरुष भी निर्मल हो जाता है। इस प्रकार दोनों की समान रूप से शुद्धि ही कैवल्य है।

४—चतुर्थपाद कैवल्य पाद है। इसके प्रारम्भ में तृतीय परिच्छेद में वर्णित सिद्धियों के अतिरिक्त जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि से होने वाली सिद्धियों की चर्चा है।[3] तत्पश्चात समाधि द्वारा सिद्ध हुए चित्त की विशेषता का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि ध्यानजनित चित्त कर्म संस्कारों से रहित होता है।[4] इसी क्रम में योगी के कर्मों की विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि योगी के कर्म अशुक्ल तथा अकृष्ण होते हैं।[5] यहां पुण्य कर्मों को शुक्ल एवं पाप कर्मों को कृष्ण कहा गया है। सिद्ध योगी का चित्त कर्म संस्कार शून्य होता है, इसलिए वह पाप पुण्य, कृष्ण शुक्ल किसी प्रकार के कर्मों से सम्बन्ध नहीं रखता। योगी के विपरीत साधारण मनुष्य के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। इन्हें शुक्ल या पुण्य कर्म, कृष्ण या पाप कर्म तथा शुक्ल कृष्ण या पुण्य-पाप मिश्रित कर्म कहा गया है।[6] साधारण मनुष्यों के इन कर्म-भोगों के सम्बन्ध में कहा गया हैं कि 'उन कर्मों से उनके फलभोगानुकूल वास-

---

१—तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

—योग दर्शन, ३।५४।

२—सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

—योग दर्शन, ३।५५।

३—जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

—योग दर्शन, ४।१।

४—तत्र ध्यानजमनाशयम।

योग दर्शन, ४।६।

५—कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनः।

—योगदर्शन, ४।७।

६—पातंजल योगदर्शन, पृ० १५६।

नाओं की ही अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है।[१] इसके विपरीत योगी कर्म-संस्कार रहित होने के कारण फलभोग के अनुकूल वासनाओं से मुक्त रहते हैं।

सूत्रकार ने योग दर्शन के सिद्धान्त में संभावित शंकाओं पर दृष्टिपात करने के उपरान्त दृश्य वस्तुओं से चित्त की भिन्न सत्ता सिद्ध करके दृष्टा पुरुष से भी चित्त की भिन्न सत्ता सिद्ध की है।[२] चित्त एवं आत्मा की भिन्नता का युक्तियों द्वारा प्रतिपादन करके आत्मा के स्वरूप को समझाने के हेतु समाधिस्थ योगी द्वारा उसके प्रत्यक्ष दर्शन की पहचान बताते हुए सूत्रकार ने कहा है कि चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर लेने वाले योगी की आत्मभावविषयक भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है।[३] अर्थात् समाधिस्थ योगी का विवेक ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का संशयरहित प्रत्यक्ष अनुभव करने के उपरान्त आत्मज्ञान के विषय का चिन्तन सर्वथा मिट जाता है। उस समय योगी का चित्त विवेक में निम्न हुआ कैवल्य के अभिमुख हो जाता है।[४] दूसरे शब्दों में वह अपने कारण में विलीन होना प्रारम्भ कर देता है क्योंकि चित्त का अपने कारण में विलय होना और निज स्वरूप में स्थित होना ही कैवल्य है। यह दशा अन्तरायहीन निरन्तर उदित विवेक ज्ञान की अपेक्षा रखती है जिसके प्राप्त होने पर धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है।[५] इसमें क्लेश एवं कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।[६] अतएव गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव होता है।[७] पुरुष

१—ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।
—योग दर्शन, ४।८।

२—पातंजल योगदर्शन, ४।१८।२४।

३—विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः।
—योग दर्शन, ४।२५।

४—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।
—योग दर्शन, ४।२६।

५—प्रसंख्यनेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।
—योग दर्शन, ४।२९।

६—ततःक्लेशकर्मनिवृत्ति।
—योग दर्शन, ४।३०।

७—परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।
—योग दर्शन, ४।३२।

को मुक्ति प्रदान करके अपना कर्तव्य पूर्ण करने के कारण गुण के कार्य अपने कारण में मिल जाते हैं अर्थात् पुरुष से सर्वथा विलग होना गुणों की कैवल्य स्थिति है और उन गुणों से सर्वथा वियुक्त होकर निज स्वरूप में प्रतिष्ठित होना पुरुष की कैवल्य दशा है ।[1] दूसरे शब्दों में त्रिगुणात्मिका प्रकृति एवं पुरुष के वियोग को ही कैवल्य दशा या योग कहा गया है । इस प्रकार कैवल्य का स्वरूप निर्दिष्ट करके पातंजल योग शास्त्र समाप्त किया गया है ।

योग उपनिषदों में योग साधना का स्वरूप

योग उपनिषदों की संख्या इक्कीस है[2].—

१.	अद्वयतारकोपनिषत्	१२.	ब्रह्मविद्योपनिषत्
२.	अमृतनादोपनिषत्	१३.	मंडलब्राह्मणोपनिषत्
३.	अमृतबिन्दूपनिषत्	१४.	हंसोपनिषद्
४.	क्षुरिकोपनिषत्	१५.	महावाक्योपनिषत्
५.	तेजोबिन्दूपनिषत्	१६.	योगकुण्डल्युपनिषत्
६.	त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्	१७.	योगचूड़ामन्युपनिषत्
७.	शाण्डिल्योपनिषत्	१८.	योगतत्वोपनिषत्
८.	दर्शनोपनिषत्	१९.	योगशिखोपनिषत्
९.	ध्यानबिन्दूपनिषत्	२०.	वराहोपनिषत्
१०.	नादबिन्दूपनिषत्	२१.	योगराजोपनिषत्[3]
११.	पाशुपतब्रह्मोपनिषत्		

इन उपनिषदों का प्रतिपाद्य योग है एवं इनमें योग साधना के विभिन्न अंगों का सुविस्तृत वर्णन किया गया है । वस्तुतः योग उपनिषदों में योगमत की साम्प्रदायिक विचारधारा पूर्ण प्रतिष्ठित है। योग उपनिषदों के आधार पर ही योग सम्प्रदाय के परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रन्थ हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता आदि का निर्माण हुआ ।[4] पातंजल योग दर्शन की तुलना में योग उपनिषदों का योग की विचारधारा के विकास में महत्व कम नहीं है अपितु यह कहा जा सकता है कि विभिन्न रूपसम्पन्न योग साधना का साम्प्रदायिक गठन योग उपनिषदों में ही

१—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।
—योग दर्शन, ४।३४ ।

२—कल्याण योगांक, पृ० ९५ ।

३—कल्याण, योगांक, ९४, ९५ ।

४—वही, पृ० ९४ ।

पूर्ण हुआ है। इनमें योग के विभिन्न पडंग और अष्टांग, नाड़ी शोधन, चक्र, आसनों आदि का वर्णन है एवं चतुर्विध योग की चर्चा है। हमारा प्रतिपाद्य योग-मत के विकास का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना है, अतएव निम्नलिखित पंक्तियों में विभिन्न योगउपनिषदों की उन सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया जायगा जिन्होंने परवर्ती योगमत के विकास में योग दिया एवं निर्गुण काव्य को प्रभावित किया। कई योग उपनिषदों में योग साधना के पडङ्गों की चर्चा की गई है। प्रसिद्ध षडंग हैं आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि। 'क्षुरिकोपनिषद्' में इनका संक्षिप्त वर्णन प्राप्त है।[१] ध्यानबिन्दूपनिषद् में भी ब्रह्म ध्यान योग प्रतिपादन के उपरान्त इनकी चर्चा है।[२] इसी प्रकार 'योगचूड़ामण्युपनिषद्' में भी आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा और ध्यान समाधि के षड्गों की चर्चा है।[३] किन्तु 'अमृतनादोपनिषद्' में वर्णित षड़ंग प्रसिद्ध षड़ंगों से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम धारणा, तर्क और समाधि योग के षड्ंग हैं।[४] इसमें प्रत्याहार, ध्यान, प्राणा-याम, धारणा एवं समाधि के तत्व प्रसिद्ध षड्ंग के अनुसार हैं, केवल आसन के स्थान पर तर्क की गणना की गई है।

पातंजलयोग सूत्र में वर्णित अष्टांगयोग के कुछ भिन्न विवेचन त्रिशिख-ब्राह्मणोपनिषद् योगतत्वोपनिषद् एवं दर्शनोपनिषद् में उपलब्ध हैं।[५] त्रिशिख-ब्राह्मणोपनिषद् में निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टांगयोग कहा है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि।[६] यम दश हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार, और शौच।[७] तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, आराधन, वेदान्तश्रवण, ह्रीं, मति जप, व्रत नियम हैं।[८] आसनों की संख्या सत्रह है– स्वस्तिक, गोमुख, वीर, योग, पद्म, बद्धपद्म,

---

१—कल्याण योगांक, पृ० ९५।

२—वही, पृ० ९७।

३—वही, पृ० ९८।

४—प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च पडंगो योग उच्यते॥
—अमृतनादोपनिषद्, कल्याण, योगांक, पृ० ९५ में उद्धृत।

५—कल्याण, योगांक, पृ० ९६, ९८।

६—वही, पृ० ९६।

७—वही, पृ० ९६।

कुक्कुट, उत्तान कूर्मक, धनु, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर, सिद्ध, मत्स्य, सुख और पश्चिमोत्तान।[1] प्राणायाम के अन्तर्गत केवल कुम्भक, सहित कुम्भक, नाड़ी शोधक प्राणायाम, प्राणायामफल आदि का वर्णन है।[2] प्रत्याहार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'यदि अठारहों मर्मस्थानों में से प्रत्येक स्थान में (मन से आत्मा को) धारण कर सके तो उसको प्रत्याहार कहते हैं।'[3] इसके अनन्तर अठारह मर्मस्थानों के नाम इस प्रकार दिए हुए हैं:—पादांगुष्ठ, गुल्फ, जंघा-मध्य, ऊरुमध्य और मूल पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकूर्पूर, तालु-मूल, घ्राणमूल, नेत्रमंडल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय और करमूल।[4] धारणा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'इस पाँचभौतिक देह के पांच भूतों में, यमादि से युक्त मन का धारण करना ही धारणा है, वह संसार सागर से तारनेवाली है।'[5] ध्यान का फल कैवल्यसिद्धि बताने के उपरान्त समाधि का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी सम्यक् स्थिति समाधि है, इसमें और कोई भी वृत्ति नहीं रहती ... ...सोया हुआ सा जो चलता है, स्वभाव से ही जो सदा सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाण पद का आश्रय करके कैवल्य प्राप्त करता है।'[6] 'योगतत्वोपनिषद' में भी प्रसिद्ध अष्टांगयोग का सविस्तार वर्णन है। एवं 'दर्शनोपनिषद' में उपर्युक्त वर्णित अष्टांग योग प्रायः उसी रूप में आया है, केवल आसनों की संख्या सत्रह के स्थान पर नौ है।[7]

१—कल्याण योगांक, पृ० ९६।

२—वही, पृ० ९६।

३—यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणाम्।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते॥
—त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्, कल्याण, योगांक, पृ० ९६ पर उद्धृत।

४—कल्याण, योगांक, पृ० ९६।

५—पंचभूतमये देहे भूतेष्वतेषु पंचसु।
मनसो धारणं यत्तद् युक्तस्य च यमादिभिः।
धारणा सा च संसार सागरोत्तारकारणम्।
—त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् कल्याण, योगांक, पृ० ९६ में उद्धृत।

६—अहमेव परब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
समाधिःस तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः।
सुषुप्तिवद् यश्चरति स्वभावपरिनिश्चितः।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते॥
—वही, पृ० ९६ में उद्धृत।

७—कल्याण, योगांक, पृ० ९६, ९७।

इसमें कहा गया है कि रज और रेत के योग से राजयोग होता है।[1] योग के सामान्य स्वरूप का प्रतिपादन भी विलक्षण रीति से किया गया है। कहा गया है कि प्राणापान को समान करना योगचतुष्टय है।[2] वराहोपनिषद् में तीन प्रकार के योग—लय, मंत्र और हठ का ही विवरण प्राप्त होता है।[3] त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् में कर्मयोग और ज्ञानयोग की चर्चा करने के उपरान्त ज्ञानयोग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।[4] मंडलब्रह्मणोपनिषद् में तारक एवं अमनस्क योग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'योगपूर्वोत्तर विधान से दो प्रकार का है, पूर्व में करने का तारकयोग तथा पश्चात् का अमनस्क योग है।'[5] इस प्रकार योग उपनिषदों में सुप्रसिद्ध राज, हठ, लय मंत्रयोग के अतिरिक्त कतिपय अन्य योगों का वर्णन भी प्राप्त होता है।

योग में नादानुसंधान का बड़ा महत्व है। 'ध्यानबिन्दूपनिषद्' एवं 'ब्रह्मविद्योपनिषद्' में नादानुसंधान द्वारा आत्मदर्शन या मोक्षप्राप्ति की चर्चा की गई है।[6] 'नादबिन्दूपनिषद्' में नाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि समस्त चिन्ता और सब काम छोड़कर नाद का ही अनुसंधान करे, इससे नाद में चित्त का लय हो जाता है और वह नादानुविद्ध चित्त अन्य

१—रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः।
—योगशिखोपनिषद् : कल्याण : योगांक, पृ० ९८ में उद्धृत।

२—प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।
—योगशिखोपनिषद् : कल्याण : योगांक, पृ० ९८ में उद्धृत।

३—कल्याण: योगांक, पृ० ९८।

४—कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोग : स उच्यते॥
यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः॥
—त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् : कल्याण : योगांक, पृ० ९६ में उद्धृत।

५—तद् योग द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरम्॥
—मंडलब्राह्मोपनिषद् : कल्याण, योगांक, पृ० ९७ में उद्धृत।

६—कल्याण : योगांक, पृ० ६७।

किसी विषय की आकाँक्षा नहीं करता।[1] नाद ही ब्रह्म है, अतएव इसी में चित्तलय का विधान माना गया है। नादानुसंधान द्वारा ब्रह्म भाव की प्राप्ति का वर्णन, प्रायः सब साम्प्रदायिक योग के ग्रन्थों में किया गया है।

'हंसोपनिषद्' में अजपा जप अथवा हंसविद्या का संक्षेप में प्रतिपादन है।[2] 'पाशुपतोपनिषद्' में भी इसका उत्तम वर्णन किया गया है।[3] महावाक्योपनिषद् में भी हंस विद्या कही गई है, पर कुछ विशेषता के साथ। इस उपनिषद् में कहा गया है कि काँडान्तर में जो ज्योतिमंडलस्वरूप आदित्य हैं, वही विद्या है, अन्य कोई नहीं। 'असौ आदित्यो ब्रह्म', यही आदित्य ब्रह्म है जिसका हंसः सोऽहम् इस अजपा मन्त्र से निर्देश किया जाता है। प्राणामान की अनुलोम और प्रतिलोम गति से वह विद्या जानी जाती है। दीर्घकाल के अभ्यास से वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्म का ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।[4] हंसविद्या का सीधा सम्बन्ध अजपा जाप से है जिसका इस उपनिषद् के अतिरिक्त अन्य योग उपनिषदों में भी उल्लेख प्राप्त होता है।

योग उपनिषदों में ज्ञान एव योग का सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है। योगशिखोपनिषद् में कहा गया है कि योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग कभी भी मोक्षप्रद नहीं होता। इसलिए ज्ञान एवं योग इन दोनों का ही मुमुक्षु को दृढ़ता के साथ अभ्यास करना चाहिए।[5] वस्तुतः बन्धनमुक्त होने के निमित्त न

१—सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं नहि काङ्क्षति॥
नादविन्दूपनिषद् : कल्याण योगांक, पृ० १०३ में उद्धृत।

२—कल्याण : योगांक, पृ० ९८।

३—वही, पृ० ९७।

४—विद्या हि कांडान्तरादित्यो ज्योतिमंडलं ग्राह्यं नापरम्। असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैव सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति।
—महावाक्यपोनिषद् : कल्याण : योगांक, पृ० ९७ में उद्धृत

५—योगहीनं कथं मोक्षदं भवतीहि भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।
—योगशिख पनिषद् :कल्याण, योगांक, पृ० १०४ में उद्धृत।

कोरा ज्ञान पर्याप्त है और न कोरा योग । मोक्ष के लिए साध्य साधनभाव से योग और ज्ञान दोनों ग्रहणीय है । योगतत्वोपनिषद् में मुक्ति के हेतु योग एवं ज्ञान की समान आवश्यकता निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि योग के विना ज्ञान ध्रुव मोक्ष का प्रदायक कैसे हो सकता है, उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्ष कर्म में असमर्थ है ।[१] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मुक्ति के लिए योगउपनिषद् ज्ञान एवं योग का समान महत्व मानते हैं एवं उनको अन्य-योन्याश्रित बताते हैं ।

'अमृतविन्दूपनिषद्' में मन को वन्धन का कारण बताते हुए कहा गया है कि विषयासक्त मन वन्धन का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण है ।[२] विषयों की आसक्ति से मुक्त एवं हृदय में निरुद्ध मन अपने अभाव को प्राप्त होकर परमपद लाभ करता है ।[३] हृदय में तब तक मन का निरोध करना चाहिए, जब तक उसका क्षय न हो जाय । इसी को ज्ञान और ध्यान कहते हैं, शेष सब न्याय का विस्तार है ।[४] इसी सम्वन्ध में योगकुंडल्युपनिषद् में कहा गया है कि चित्त के दो हेतु हैं, वासना और प्राण । इनमें से किसी एक के नष्ट होने पर दोनों का नाश होता है ।[५] यहाँ अभिप्राय यह है कि मनोजय अथवा प्राणय ।राकेद्वज चित्तनिरोध संभव है । इसीलिए प्राणजय द्वारा चित्तनाश का विधान प्राणायाम आदि साधनों के द्वारा विधेय है । प्राणजय के द्वारा मनोजय स्वतः सिद्ध माना गया है जिससे चित्त की सत्ता नहीं रहती ।

१—योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥
—योगतत्वोपनिषद् : कल्याण : योगांक, पृ० ९८ में उद्धृत ।

२—वन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥
—अमृतविन्दूपनिषद् : कल्याण: योगांक, पृ० ९५ में उद्धृत ।

३—निरोतविषयासंगं संनिरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम् ॥
—वही, वही, पृ० ९५ में उद्धृत ।

४—तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषन्यायोय विस्तरः ॥
—वही, वही, पृ० ९५ में उद्धृत ।

५—हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिस्तद्द्वावपि विनश्यतः ॥
—योगकुंडल्युपनिषद् : कल्याण : योगांक, पृ० ९७ में उद्धृत ।

उपर्युक्त मुख्य विषयों के अतिरिक्त योग उपनिषदों में अनेक प्रासंगिक प्रश्नों पर भी दृष्टिपात किया गया है। जीवस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति आदि विषयों पर भी विचार किया गया है। वस्तुतः अल्पाधिक मात्रा में ये उपनिषद् उन सब विषयों की चर्चा करते हैं, जो साम्प्रदायिक योग के प्रतिपाद्य हैं।

नाथ सम्प्रदाय में योग

गोरक्षनाथ तथा अन्य सिद्ध नाथ योगियों ने जिस साधना मार्ग को प्रस्थापित किया, उसे नाथ-सम्प्रदाय कहते है। नाथ-सम्प्रदाय की साधना पद्धति पूर्णतया योग पर आधारित है। निम्नलिखित पंक्तियों में नाथ सम्प्रदाय में योग का स्वरूप निर्दिष्ट किया जायगा।

नाथ-सम्प्रदाय में अष्टांग योग की भी चर्चा है।[1] पर सामान्यतः षडंग योग मान्य हैं। 'गोरक्षपद्धति' में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक योग के षडंग बताए गए हैं।[2] आसन अनेक हैं किन्तु मुख्य आसन दो ही माने गए है सिद्धासन और पद्मासन।[3] गोरक्षपद्धति में ही प्राणायाम का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्राणवायु जो देह में स्थित हैं और अपानवायु को ऊपर उठाये रोधकर एक ही श्वास में (कुंडलीकर से) रुका (सुषुम्ना द्वार) को खोलकर (सुषुम्ना नाड़ी से चिदाकाश में) ऊर्ध्व गति कराता है।[4] प्राणायाम तीन प्रकार का होता है---रेचक, पूरक और कुंभक।[5] प्रत्याहार

१—सिद्धिसिद्धान्त संग्रह, २।४९।५०।

२—आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदन्ति षट्॥

—गोरक्षपद्धति १।७।

३—आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥

—गोरक्षपद्धति, १।१०।

४—प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात्।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद्गगने गतिम्॥

—गोरक्षपद्धति २।१।

५—रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः॥

—गोरक्षपद्धति २।२।

कोरा ज्ञान पर्याप्त है और न कोरा योग । मोक्ष के लिए साध्य साधनभाव से योग और ज्ञान दोनों ग्रहणीय है । योगतत्वोपनिषद् में मुक्ति के हेतु योग एवं ज्ञान की समान आवश्यकता निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि योग के बिना ज्ञान ध्रुव मोक्ष का प्रदायक कैसे हो सकता है, उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्ष कर्म में असमर्थ है ।[1] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मुक्ति के लिए योगउपनिषद् ज्ञान एवं योग का समान महत्व मानते हैं एवं उनको अन्य-योन्याश्रित बताते हैं ।

'अमृतबिन्दूपनिषद्' में मन को बन्धन का कारण बताते हुए कहा गया है कि विषयासक्त मन बन्धन का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण है ।[2] विषयों की आसक्ति से मुक्त एवं हृदय में निरुद्ध मन अपने अभाव को प्राप्त होकर परमपद लाभ करता है ।[3] हृदय में तब तक मन का निरोध करना चाहिए, जब तक उसका क्षय न हो जाय । इसी को ज्ञान और ध्यान कहते हैं, शेष सब न्याय का विस्तार है ।[4] इसी सम्बन्ध में योगकुंडल्युपनिषद् में कहा गया हैं कि चित्त के दो हेतु हैं, वासना और प्राण । इनमें से किसी एक के नष्ट होने पर दोनों का नाश होता है ।[5] यहाँ अभिप्राय यह है कि मनोजय अथवा प्राणय ाराकेद्वज चित्तनिरोध संभव है । इसीलिए प्राणजय द्वारा चित्तनाश का विधान प्राणायाम आदि साधनों के द्वारा विधेय है । प्राणजय के द्वारा मनोजय स्वतः सिद्ध माना गया है जिससे चित्त की सत्ता नहीं रहती ।

१—योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥
—योगतत्वोपनिषद् : कल्याण : योगांक, पृ० ९८ में उद्धृत ।

२—बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं स्मृतम् ॥
—अमृतबिन्दूपनिषद् : कल्याण: योगांक, पृ० ९५ में उद्धृत ।

३—निरोतविषयासंगं संनिरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम् ॥
—वही, वही, पृ० ९५ में उद्धृत ।

४—तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषःन्यायोय विोतरः।।
—वही, वही, पृ० ९५ में उद्धृत ।

५—हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ॥
—योगकुंडल्युपनिषद् : कल्याण : योगांक, पृ० ९७ में उद्धृत ।

उपर्युक्त मुख्य विषयों के अतिरिक्त योग उपनिषदों में अनेक प्रासंगिक प्रश्नों पर भी दृष्टिपात किया गया है। जीवस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति आदि विषयों पर भी विचार किया गया है। वस्तुतः अल्पाधिक मात्रा में ये उपनिषद् उन सब विषयों की चर्चा करते हैं, जो साम्प्रदायिक योग के प्रतिपाद्य हैं।

नाथ सम्प्रदाय में योग

गोरक्षनाथ तथा अन्य सिद्ध नाथ योगियों ने जिस साधना मार्ग को प्रस्थापित किया, उसे नाथ-सम्प्रदाय कहते है। नाथ-सम्प्रदाय की साधना पद्धति पूर्णतया योग पर आधारित है। निम्नलिखित पंक्तियों मे नाथ सम्प्रदाय में योग का स्वरूप निर्दिष्ट किया जायगा।

नाथ-सम्प्रदाय में अष्टांग योग की भी चर्चा है।[1] पर सामान्यतः षडंग योग मान्य हैं। 'गोरक्षपद्धति' में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक योग के षडंग बताए गए हैं।[2] आसन अनेक हैं किन्तु मुख्य आसन दो ही माने गए है सिद्धासन और पद्मासन।[3] गोरक्षपद्धति में ही प्राणायाम का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्राणवायु जो देह में स्थित है और अपानवायु को ऊपर उठाये रोधकर एक ही श्वास में (कुंडलीकर से) रुका (सुषुम्ना द्वार) को खोलकर (सुषुम्ना नाड़ी से चिदाकाश में) ऊर्ध्व गति कराता है।[4] प्राणायाम तीन प्रकार का होता है--रेचक, पूरक और कुंभक।[5] प्रत्याहार

१—सिद्धिसिद्धान्त संग्रह, २।४९।५०।

२—आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदन्ति षट्॥

—गोरक्षपद्धति १।७।

३—आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥

—गोरक्षपद्धति, १।१०।

४—प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात्।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद्गगने गतिम्॥

—गोरक्षपद्धति २।१।

५—रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः॥

—गोरक्षपद्धति २।२।

का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये पाँच विषय हैं। इनमें चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक् कर्ण इन पाँच ज्ञानेंद्रियों के क्रम है अर्थात् उक्त ज्ञानेन्द्रियों के उक्त विषय क्रम से हैं। जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसे दूसरे के समीप भावना कर क्रमशः शनैः शनैः त्याग करना अर्थात् इन्द्रिय से उसके विषय का अनुभव करके फिर इन्द्रियों को विषय से अलग करना प्रत्याहार है।[1] धारणा के सम्बन्ध में गोरक्षपद्धति में कहा गया है कि 'हृदय में मन एवं प्राण वायु को निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशसंज्ञक पंच भूतों को पृथक्-पृथक् संधार करना धारणा है।'[2] चित्त में योगशास्त्रोक्त प्रकार से निर्मलांतर करके आत्मतत्व का स्मरण करना ध्यान है।[3] मन एवं प्राण को एकत्र करके स्थिर होकर आत्म भावना करने वाले योगी का जब प्राणवायु आत्मा ही में लीन होता है तब अंतःकरण भी लीन होता है, इस अभिन्नस्वरूपता को समाधि कहते हैं।[4] षडंग योग का यह स्वरूप नाथ-सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध है।

नाथ-सम्प्रदाय की साधना पद्धति हठयोग है।[5] हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध प्रधान साधना है।[6] सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य कहा है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र।[7] अतएव सूर्य और चन्द्र के योग को ही 'हठयोग'

१—चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥
—गोरक्षपद्धति २।२२।

२—हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते॥
—वही, २ ५३।

३—स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुदेकः प्रपद्यते।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते॥
—वही, २।६१।

४—यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोऽभिधीयते॥
—वही, २।८७।

५—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२३।

६—वही, पृ० १२३।

कहते हैं।[1] सूर्य और चन्द्र का अभिप्राय इडा और पिंगला नाड़ी भी होता है।[2] इसलिए इडा और पिंगला नाड़ियों को रोकर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु के संचरण को भी हठयोग कहते है।[3] हठयोग को इसी हेतु नाड़ी योग भी कहा जाता है। इस सम्बन्ध में नाथयोगियों ने पिंडस्थ, नाड़ियों, चक्रों आदि का विषद वर्णन किया है। शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ मानी गई हैं[4] जिनमें से मुख्य तीन हैं—इडा, पिंगला एवं सुषुम्ना। इडा नड़ी वामांग में है पिंगला नाड़ी दक्षिणांग में, इसके मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है।[5] सुषुम्ना नाड़ी की छः ग्रन्थियों में पद्माकार के छः चक्र संलग्न हैं। इन चक्रों को क्रमशः आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा माना गया है।[6] योगी जब प्राणवायु का निरोध करके मूलाधार चक्र में सुषुप्त कुंडलिनी शक्ति को उद्-बुद्ध करता है, तब कुंडलिनी क्रमशः षट्चक्रों को भेद कर सप्तम एवं अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से जा मिलती है।[7] कुंडलिनी का सहस्रार या सहस्र दल कमल में विलय ही योगी का लक्ष्य है।

नाथ-सम्प्रदाय में मुख्य रूप से हठयोग का ही वर्णन है, किन्तु अन्य योगों की चर्चा भी की गई है। 'अमरोघ प्रबोध' में चारों प्रकार के योगो की व्याख्या की गई है। इसमें कहा गया है कि चित्त का सतत लय लययोग है, हठयोग प्रभंजनविधानरत है, मंत्रयोग मंत्र-साधना युक्त है एवं राजयोग चित-

---

१—नाथ सम्प्रदाय, १२३।

२—वही, पृ० १२३।

३—वही, पृ० १२३।

४—योगमार्तण्ड, १७ वाँ श्लोक।

५—इडा वहति वामे च पिंगला वहति दक्षिणे
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना सुखरूपिणी॥
—योगविषय, ११ वाँ श्लोक।

६—आधारः स्वाधिष्ठानञ्च मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धिराज्ञाकौलानि षट् चक्राणि शुभानि च॥
—योग विषय, ८ वाँ श्लोक।

७—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२६।

मूलवन्ध को मुक्ति में विशेषरूप से सहायक माना गया है।[१] महा मुद्रा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हृदय में चिवुक गड़ा कर वामपाद की एडी से योनिस्थान को अत्यन्त दृढ़ करके अचेते दाहिना पाद लम्बा करके दोनों हाथों से पादमध्य भाग पकड़ के दृढ़ रोके, तव पेट में पूरक विधि से वायु भरे, कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मन्द मन्द वायु को रेचन करे। यह योगियों के समस्त रोगों का नाश करने वाली महामुद्रा है।[२] जिह्वा को उलट कर कंठ मूलस्थ छिद्र में प्रवेश कराना एवं तदनंतर भ्रूमध्य में निश्चल दृष्टि स्थिर करना खेचरी मुद्रा है।[३] नाभि के ऊपर तथा नीचे का भाग उदर में लग जाय और पेट को पीछे खींचे, इसे उड्डीयानवन्ध कहते हैं। यह मृत्युरूपी गज को निवृत्ति करने के लिए सिंह के समान है।[४] कंठ को नीचे करके हृदय के चार अंगुल अंतर पर ठोडी लगाकर दृढ़ स्थापन करे यह जालंधर वन्ध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है।[५] अपानवायु ऊपर खींच के प्राणवायु से युक्त करना, पाद की एड़ी से गुदा एवं लिंग के मध्य योन स्थान को दृढ़ अचैत के गुदाद्वार को दृढ़ संकुचित करना कि जिससे अपान वायु वाहर न निकले, मूलवन्ध मुद्रा

१—महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः॥
—गोरक्षपद्धति, १।५७।

२—वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसिरतं पादं तथा दक्षिणम्॥
आपूर्य श्वससेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैः रेचयेदेषा।
व्याधिविनाशनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते॥
—गोरक्षपद्धति, १।५८।

३—कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्य विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
—गोरक्षपद्धति, १।६३।

४—उदरं पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंग केसरी॥
—गोरक्ष पद्धति, १।७७।

५—कंठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालंधराख्यो यं जरामृत्युविनाशकः॥
—वही, १।७९।

है।[1] नाथ सम्प्रदाय के भाषा-ग्रन्थों में इन मुद्राओं में से कतिपय का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। 'गोरखबानी' में अमरोली एवं बज्रोली[2] तथा भर्तृहरि के 'सप्त शंख' ग्रन्थ में खेचरी मुद्रा[3] की चर्चा की गई है। वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय में मुद्रा योगसाधना का मुख्य अंग है।

शरीर में तीन ऐसी वस्तुएँ हैं जो परम शक्तिशाली हैं, पर चंचल होने के कारण ये मनुष्य के काम नहीं आ रही हैं। ये तीन वस्तु है—पवन, मन और बिन्दु।[4] इनमें से किसी एक को वश में करने से अन्य भी वशीभूत हो जाती हैं।[5] वस्तुतः प्राणजय और मनोजय के प्राचीन सिद्धान्त के साथ नाथ सम्प्रदाय ने बिन्दुजय का योग और कर दिया। गोपीचंद की सबदी में कहा गया है कि मन के चंचल होने से पवन चलायमान होता है जिससे विन्दु स्खलित होकर शरीर नाश करता है।[6] इससे परित्राण पाने के लिए पवन या प्राणवायु का निरोध करके मन को स्थिर करना चाहिए जिससे बिन्दु अचंचल होता है, फलस्वरूप योगी का शरीर स्थैर्य प्राप्त करता है।[7] 'गोरखबानी' में भी बहुत कुछ इसी पद्धति पर कहा गया है कि पवन के संयम से (नवद्वार) बन्द हो जाते

१—पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते॥

गोरक्ष पद्धति. १।८१

२—वजरी करंतां अमरी राषै अमरि करंतां बाई।
भोग करंतां जे व्यंद राषै ते गोरख का गुरभाई॥

—वही, पृ० ४९।

३—तीजा संख विचारहु पाया।
षेचरी मुद्रा त्यागंत माया॥

—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ७०।

४—नाथसम्प्रदाय, पृ० १२४।

५—वही, पृ० १२४।

६—मन चलंता पवन चलै पवन चलंता बिंद।
बिंद चलंता कंध पडै। यूं भाषै गोपीचंद॥

—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० १९।

७—पवन थिरं ता मन थिर। मन थिरं तौ व्यंद॥
व्यंद थिरंतां कंध थिर। यौं भाषंत गोपीचंद॥

नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० १८।

मूलवन्ध को मुक्ति में विशेपरूप से सहायक माना गया है।[१] महा मुद्रा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हृदय में चिवुक गड़ा कर वामपाद की एड़ी से योनिस्थान को अत्यन्त दृढ़ करके अचेते दाहिना पाद लम्बा करके दोनों हाथों से पादमध्य भाग पकड़ के दृढ़ रोके, तव पेट में पूरक विधि से वायु भरे, कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मन्द मन्द वायु को रेचन करे। यह योगियों के समस्त रोगों का नाश करने वाली महामुद्रा है।[२] जिह्वा को उलट कर कंठ मूलस्थ छिद्र में प्रवेश कराना एवं तदनंतर भ्रूमध्य में निश्चल दृष्टि स्थिर करना खेचरी मुद्रा है।[३] नाभि के ऊपर तथा नीचे का भाग उदर में लग जाय और पेट को पीछे खींचे, इसे उड्डीयानवन्ध कहते हैं। यह मृत्युरूपी गज को निवृत्ति करने के लिए सिंह के समान है।[४] कंठ को नीचे करके हृदय के चार अंगुल अंतर पर ठोडी लगाकर दृढ़ स्थापन करे यह जालंधर वन्ध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है।[५] अपानवायु ऊपर खींच के प्राणवायु से युक्त करना, पाद की एड़ी से गुदा एवं लिंग के मध्य योन स्थान को दृढ़ अचैत के गुदाद्वार का दृढ़ संकुचित करना कि जिससे अपान वायु वाहर न निकले, मूलवन्ध मुद्रा

१—महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम्।
मूलवन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः॥
—गोरक्षपद्धति, १।५७।

२—वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसिरतं पादं तथा दक्षिणम्॥
आपूर्य श्वससेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेदेषा।
व्याधिविनाशनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते॥
—गोरक्षपद्धति, १।५८।

३—कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्ट्य विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
—गोरक्षपद्धति, १।६३।

४—उदरं पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ वन्धो मृत्युमातंग केसरी॥
—गोरक्षपद्धति, १।७७।

५—कंठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिवुकं दृढम्।
वन्धो जालंधराख्यो यं जरामृत्यु विनाशकः॥
—वही, १।७९।

है।[1] नाथ सम्प्रदाय के भाषा-ग्रन्थों में इन मुद्राओं में से कतिपय का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। 'गोरखबानी' में अमरोली एवं वज्रोली[2] तथा भर्तृहरि के 'सप्त शंख' ग्रन्थ में खेचरी मुद्रा[3] की चर्चा की गई है। वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय में मुद्रा योगसाधना का मुख्य अंग है।

शरीर में तीन ऐसी वस्तुएँ हैं जो परम शक्तिशाली हैं, पर चंचल होने के कारण ये मनुष्य के काम नहीं आ रही हैं। ये तीन वस्तु है—पवन, मन और बिन्दु।[4] इनमें से किसी एक को वश में करने से अन्य भी वशीभूत हो जाती हैं।[5] वस्तुतः प्राणजय और मनोजय के प्राचीन सिद्धान्त के साथ नाथ सम्प्रदाय ने बिन्दुजय का योग और कर दिया। गोपीचंद की सबदी में कहा गया है कि मन के चंचल होने से पवन चलायमान होता है जिससे बिन्दु स्खलित होकर शरीर नाश करता है।[6] इससे परित्राण पाने के लिए पवन या प्राणवायु का निरोध करके मन को स्थिर करना चाहिए जिससे बिन्दु अचंचल होता है, फलस्वरूप योगी का शरीर स्थैर्य प्राप्त करता है।[7] 'गोरखबानी' में भी बहुत कुछ इसी पद्धति पर कहा गया है कि पवन के संयम से (नवद्वार) बन्द हो जाते

१—पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते॥

गोरक्ष पद्धति. १।८१

२—बजरी करंतां अमरी राषै अमरि करंतां बाई।
भोग करंतां जे व्यंद राषै ते गोरख का गुरभाई॥

—वही, पृ० ४९।

३—तीजा संख विचारह पाया।
षेचरी मुद्रा त्यागंत माया॥

—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ७०।

४—नाथसम्प्रदाय, पृ० १२४।

५—वही, पृ० १२४।

६—मन चलंता पवन चलै पवन चलंताविंद।
विंद चलंता कंध पडै। यूं भाषै गोपीचंद॥

—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ११।

७—पवन थिरं ता मन थिर। मन थिरं ताँ व्यंद॥
व्यंद थिरंतां कंध थिर। यौं भाषंत गोपीचंद॥

नाथ[illegible]

है एवं विन्दु के संयम से शरीर स्थिर होता है।[1] वस्तुतः काया को अचंचल करके योग साधना के अनुकूल करने से लिए मन' पवन और विन्दु का स्थिर होना नितान्त आवश्यक है। इसी को दृष्टि में रखकर नाथ-सम्प्रदाय ने पवन, मन और विन्दु के जय को इतना महत्व प्रदान किया है।

नाथमत का एक मुख्य सिद्धान्त यह है कि जो कुछ ब्रह्मांड में है वह सभी पिंड में है।[2] पिंड मानों ब्रह्मांड का संक्षिप्त संस्करण है।[3] इस सिद्धान्त का आधार यह कहा गया है कि पिंड उसी प्रक्रिया से बना है, जिससे ब्रह्मांड बना है।[4] इसी साम्य के आधार पर पिंड में ब्रह्मांड के समस्त तत्व ज्यों के त्यों माने गये हैं।[5] मनुष्य शरीर को प्रधान पिंड मानकर इसकी व्यवस्था की गई है यह व्यवस्था 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' ग्रन्थ में बड़े विस्तार से की गई है और बताया गया है कि शरीर के किस स्थान में कौन सा तत्व विद्यमान है।[6] उदाहरणार्थ, 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में बताया गया है कि समस्त वर्ण पिंड में हैं, सदाचार में ब्राह्मण, शौर्य में क्षत्रिय, व्यवसाय में वैश्य और सेवाभाव में शूद्र हैं।[7] पिंड में ही सप्तद्वीप हैं—मज्जा में जम्बूद्वीप, अस्थि में शक्ति-द्वीप, शिरा में सूक्ष्मद्वीप, त्वचा में क्रौञ्चद्वीप, रोम में गोमयद्वीप, नख में श्वेतद्वीप और मांस में प्लक्षद्वीप की अवस्थिति है।[8] शरीर में ही सप्तसमुद्र है—मूत्र में क्षार समुद्र, लालायां में क्षीर समुद्र, कफ में दधि समुद्र, मेदा में घृत

१—पवनां संजमि लागै बंद व्यांद के संजमि थिरह् वै कंद ॥
　　—गोरखबानी, पृ० ४३।

२—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ११०।

३—वही, पृ० ११०।

४—वही, पृ० ११०।

५—वही पृ० ११०।

६　सिद्धसिद्धान्तपद्धति, तृतीय उपदेश।

७—सदाचारे ब्राह्मणः वसन्ति शौर्ये क्षत्रियाः व्यवसाये।
वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुष्टष्टिकलास्वपि चतुःषष्टिवर्णाः॥
　　—सिद्ध सिद्धान्तपद्धति, ३।६।

८—मज्जायां जम्बूद्वीपः मस्थिषु शक्ति द्वीपः
शिरासु सूक्ष्मद्वीपः त्वक्षु क्रौंचद्वीपः
रोमसु गोमयद्वीपः नखेषु श्वेतद्वीपः मांसे। अस्थिनि। प्लक्षद्वीपः
एवं सप्तद्वीपाः॥
　　—सिद्धसिद्धान्त पद्धति, ३।७

समुद्र, वसायां में मधु समुद्र, रक्त में इक्षु समुद्र और शुक्र में अमृत समुद्र है ।[1] पिंड के नव द्वारों में भारतखंड, कश्मीरखण्ड, करैपरखण्ड, श्रीखण्ड, शंखखण्ड, एकपादखंड, गान्धार खण्ड, कैवर्तखण्ड, महामेरुखण्ड, और नवखण्ड, बसते है ।[2] इसके अतिरिक्त पर्वत, नदी, तारामंडल, नवग्रह, यक्ष, पिशाच, राक्षस, भूतप्रेत, नाग, गंधर्व, किन्नर, तीर्थस्थान, वृक्षलता, कीट, पतंग, ऋषि, मुनि इत्यादि की पिंड में अवस्थिति बड़े विस्तार से वर्णित है ।[3] इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि नाथ-सम्प्रदाय में योगी के लिये काया-ज्ञान का कितना महत्व है। आगे चलकर हम यह लक्ष्य करेंगे कि पिंड में ब्रह्मांड की अवस्थिति के नाथपंथीय सिद्धान्त को निर्गुण संत कवियों ने भी आत्मसात् किया है ।

उपर्युक्त पक्तियों में नाथ-सम्प्रदाय में योग-साधना के विकास का स्वरूप निर्धारित किया गया है । इन विषयों के अतिरिक्त ज्ञान एवं योग[4], हंसविद्या या अजपा[5], पंचशून्य[6], पंचवायु[7], सहजावस्था[8], नवचक्र[9], षोडशाधार[10] पंचव्योम[11] आदि विषयों का भी सुविस्तृत विवरण नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में

१—मूत्रे क्षार समुद्रः लालायां क्षीर समुद्रः कफे दधि-
समुद्रः मेदसि घृत समुद्रः वसायाँ मधु समुद्र· रक्ते
इक्षु समुद्रः शुऽक्र मृत समुद्रः एवं सप्तसमुद्राः ॥

—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ३।८ ।

२—नवखण्डाः नवद्वारेषु वसन्ति । भारतखण्डेः काश्मीरखंडः ।
करैपरखंडः श्रीखंडः शंखखंडः एकपादखंडः
गान्धारखंडः कैवर्तखंडः महामेरुखंड· एवं नवखंडः ॥

—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ३।९ ।

३—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ३।१०।१३ ।

४—योगबीज, ६९-७० श्लोक ।

५—गोरक्षपद्धति, १।४४ ।

६—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ६।९४ ।

७—योग विषय, १४ वां श्लोक ।

८—अमरौघप्रबोध ७० वां श्लोक ।

९—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, २।१।१२ ।

१०—वही, २।१४।३१ ।

११—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, २।३० ।

प्राप्त होता है। वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय का योग सम्बन्धी साहित्य विपुल है और उसमें योग के विभिन्न अंगों की साम्प्रदायिक पद्धति पर व्याख्या की गई है।

निर्गुण काव्य में योग

निर्गुण संत-काव्य में योग के तत्व यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध हैं। संत काव्य में योग का स्वरूप शास्त्रीय एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर कम प्राप्त होता है, अधिकतर योग अनुभूतिमय शब्दों में रहस्यात्मक रूप धारण करके प्रकट होता है। पर उसका भेद उद्घाटित करना बहुत कठिन नहीं हैं। उदाहरणार्थ कबीर की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

सुनि मंडल में मंदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुरु प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनाँ काछै॥[१]

'शून्य' आदि योग के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग, मंदला बजने एवं मन के नृत्य करने के उल्लेख से उपर्युक्त वर्णन रहस्यमय हो उठा है। पर इसमें रहस्यमयता कुछ नहीं है। वस्तुतः इन पंक्तियों में कबीर ने सुषुम्नापथ से प्राण-वायु को शून्य या ब्रह्मरंध में लय करके नादानुसंधान रूपी अमृत-फल प्राप्त करने की चर्चा की है। शब्द-ब्रह्म के साक्षात्कार से उनका मन जिस आनन्द की अनुभूति करता है, उसी को व्यक्त करने के लिए कबीर ने मन के नृत्य करने का वर्णन किया है। इसी प्रकार निम्नलिखित उद्धरण में उन्होंने शून्य या ब्रह्मरंध्र में परम ज्योति स्वरूप सहस्रार का वर्णन 'बिन फूलनि फूल्यौ रे अकास' कहकर किया है :

सुंनि मंडल में सोधि लै, परम जोति परकास।
तहवाँ रूप न रेष है, बिन फूलनि फूल्यौ रे अकास।[२]

कबीर ने योग की जिन मुद्राओं का प्रभाव ग्रहण किया उनमें खेचरी प्रसिद्ध है। इसमें योगी जीभ को उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करता है और उसकी दृष्टि भ्रुवों में निबद्ध होती है।[३] सहस्रार स्थित चन्द्रमा से निःसृत

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०।

२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२७

३—ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्
तत्र कंदे हि या योनिः तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः॥
त्रिकोणआकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सततम्।
शिवसंहिता, ५।१०३

अमृत को योगी खेचरी मुद्रा में ऊर्ध्वगा जिह्वा द्वारा पान करता है।[1] इस दशा को गोमांस-सेवन भी कहा गया है क्योंकि योगमार्गीय ग्रन्थों में 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालु-प्रदेश में ले जाने को गोमांस भक्षण कहते हैं।[2] ऊपर जिस चन्द्रमा से निर्झरित सोम रस की चर्चा की गई है वही अमर वारुणी है।[3] कबीर ने खेचरी मुद्रा द्वारा गोमांस-भक्षण न करने वाले योगियों की प्रताड़ना की थी[4] और इसी रस के पान के निमित्त अवधूत योगी को ललकारा था।[5] उन्होंने स्वयं 'गगन रस' या सहस्रार से स्रवित चन्द्रामृत के पान का उल्लेख किया है।[6]

कबीर की रचनाओं में हठयोग में वर्णित नाड़ी, चक्र, कुंडलिनी आदि तत्वों का यथा स्थान वर्णन हुआ है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कबीर ने इन तत्वों का प्रथम वर्णन नहीं किया है अपितु ये उनकी अध्यात्म-साधना के अंग-रूप में दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने योग के प्रसंग में अष्टांग या षडंग-योग के आसन और पवन (प्राणायाम) तत्वों का उल्लेख किया है।[7] नाड़ियों की चर्चा उनके पदों में अनेक स्थलों पर हुई है। उन्होंने इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की चर्चा योग वर्णन के प्रसंग में प्रायः की

१—कबीर, पृ० ४८

२—वही, पृ० ४९

३—वही, पृ० ४९

४—नितै अमावस नितै ग्रहन होइ राहु ग्रास तन छीजै।
सुरही भच्छन करत वेद मुख घन बरिसै तन छीजै॥
—बीजक, शब्द ८२।

५—अवधू, गगनमंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०।

६—अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०।

७—आसन पवन किए दृढ़ रहु रे, मन को मैल छांडिदे वीरे।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०७

है।[1] कुछ स्थलों पर इड़ा एवं पिंगला को कबीर ने सूर्य एवं चन्द्र भी कहा है।[2] कबीर की रचनाओं में पट्चक्रों का कोई विवरण नहीं प्राप्त होता, केवल कुछ उल्लेख मात्र प्राप्त होते हैं। उन्होंने पवन को ऊर्ध्वगामी करके पट्चक्र वेधने की चर्चा की है।[3] उनकी रचनाओं में कुण्डलिनी-योग का विशेष वर्णन नहीं है अपितु कुछ स्थलों पर 'सोवत नागिनी जागी'[4] आदि के प्रयोग से भुजंगिनीरूपा कुंडलिनी-उत्थापन का संकेत किया है। अन्यत्र कुंडलिनी को पनिहारिन एवं सहस्रार को कुवाँ निर्दिष्ट करते हुए कुंडलिनी-योग का भावात्मक स्वरूप भली-भाँति प्रकट किया गया है।[5] वस्तुतः हठयोग से सम्बन्ध रखने वाले मुख्य तत्वों का कबीर ने साँकेतिक एवं संक्षिप्त वर्णन ही किया है।

कबीर ने उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त नादानुसंधान[6], अजपा या हंस मंत्री,[7] पंच प्राण[8] पचीस प्रकृति,[9] त्रिकुटी संगम[10] आदि विषयों की संक्षिप्त एवं सांकेतिक चर्चा की है। वस्तुतः कबीर का योग वर्णन सांकेतिक प्रणाली पर ही

१—इला पिंगला सुषमन नाहीं, ए गुण कहां समांहीं ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८९।

इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १११।

सुखमन नार सहजि समानीं, पीवै पीवनहारा ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०।

२—चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूले पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९४

३—उलटे पवन चक्र षट वेधा, मेर दंड सरपूरा।
उलटे पवन चक्र षट् वेधा, सुंनि सुरति लै लागी ॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ० ९०-९१।

४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १११।

५—आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला आदि विचारि ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६।

६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९०, ११०, १५७।

७—वही, पृ० १०५, १५८, १५९।

८—संत कबीर, पृ० ७६।

९—वही, पृ० ११०, १५८।

१०—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०९।

चलता है। उसमें योग की व्याख्या, विश्लेषण या विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न कहीं नहीं है।

संत-कवियों में सुन्दरदास ही ऐसे कवि है, जिन्होंने योग वर्णन बहुत कुछ शास्त्रीय पद्धति पर किया है। सुन्दरदास ने अष्टाँगयोग का वर्णन ज्ञान समुद्र एवं 'सर्वांगयोग प्रदीपिका' में किया है।[1] 'ज्ञान समुद्र' के तृतीयोल्लास में कवि ने न०बे विभिन्न छंदों में अष्टांगयोग का परिचय कराया है।[2] कवि ने यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मति, जाप, होम-आसन, प्राणायाम, पवन के स्थान, प्राणायाम, क्रिया, कुंभक वर्णन, मुद्रानाम, प्रत्याहार पंचतत्व की धारणा, पृथ्वीतत्व की धारणा, आकाश तत्व की धारणा, ध्यान पदस्थ, ध्यान पिंडस्थ, ध्यान रूपस्थ, ध्यान रूपातीत, ध्यान समाधि आदि का सविस्तार वर्णन-किया है।[3] सुन्दरदास ने चौरासी आसनों का भी उल्लेख किया और उनमें से पद्मासन एवं सिद्धासन को साररूप बताया है।[4] उन्होंने प्राणायाम के प्रकरण में रेचक, पूरक एवं कुंभक का उल्लेख किया है।[5] कुंभक प्राणायाम की सिद्धि के अनन्तर दशध्व नियुक्त नाद स्वतः सिद्ध हो जाता है जिससे सब प्रकार के विषाद एवं भवताप से साधक मुक्त हो जाता है।[6] मुद्राओं के प्रसंग में सुन्दरदास ने महामुद्रा महाबन्धः महावेध, खेचरी उड्यानबन्ध, मूलबंध, जालन्धर बंध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्तिचालनी नामक दश

१—सुन्दर दर्शन, ले० डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० २६।

२—वही, वही, पृ० २६।

३—वही, पृ० २७।

४—चतुराशी आसननि में, सार भूत हौ जानि।
सिद्धासन पद्मासनहिं, नीके कहौं बषानि।।
—ज्ञान समुद्र, तृतीय उल्लास, पृ० ३९।

५—आगे कीजे प्राणायामं। नाड़ी चक्रं पावै ठावं।
पूरैं राषै रेचै कोई। ह्वै निःपापं योगी सोई।।
—ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास, ४३।

६—जवहि अष्ट कुम्भक सधहि, बाजै अनहद नाद।
दस प्रकार की धुनि सुनहिं छूटहि सकल विषाद।।
—ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास, ६६।

प्रसिद्ध मुद्राओं का वर्णन किया है ।[१] प्रत्याहार वर्णन में कवि ने इन्द्रियों के निग्रह पर जोर दिया है । जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ, पैर और सर को अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार साधक को स्वइन्द्रिय अन्तर्मुखी कर लेना चाहिए । जैसे सूर्य की किरणें जलादि रस द्रव्यों को खींच लेती है उसी प्रकार साधक इन्द्रियों का निग्रह करता रहे ।[२] धारणा में कवि ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश तत्व की धारणा का प्रतिपादन किया है ।[३] ध्यान के अन्तर्गत सुन्दरदास ने ध्यान के चार भेदों का उल्लेख करते हुए[४] निर्गुण, निराकार, अखंड, अनादि, शून्य ब्रह्म का रूपातीत ध्यान ही अखंड समाधि का हेतु निर्धारित किया है । सुन्दरदास ने समाधि की दशा में ज्ञाता एवं ज्ञेय व ध्याता एवं ध्येय की एकात्मकता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार नमक तथा पानी मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं अथवा दुग्ध-दुग्ध में, घृत-घृत में और जल जल में मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार समाधि की अवस्था में ध्याता एवं ध्येय एक हो जाते हैं, उनमें लेशमात्र का भी अन्तर नहीं रह जाता है ।[५]

१—मुनि महा मुद्रा महाबन्धः महावेध च खेचरी ।
उड्यानबन्ध सुमूलबन्धहि बन्ध जालन्धर करी ॥
विपरीत करणी पुनि वज्रोली शक्ति चालन कीजिए ।
हम होइ योगी अमर काया शशिकला नित पीजिए ॥
—ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास, ६८ ।

२—श्रवण शब्द कौं ग्रहत हैं नयन ग्रहत हैं रूप ।
गंध ग्रहत हैं नासिका रसना रस की चूप ॥
रसना रस की चूप तुचा सुस्पर्श हि चाहै ।
इनि पंचनि कौं फेरि आतमा नित्याराहै ॥
कूर्म अंगहि ग्रहै प्रभा रवि कर्षय द्रवणं ।
हम करि प्रत्याहार विषय शब्दादिक श्रवणं ॥
—ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास, ६९ ।

३—सुन्दर दर्शन, पृ० ४७-४८ ।

४—वही, पृ० ४८ ।
है शून्याकार जु ब्रह्म आप । दशहू दिशि पूरण अति अमाप ।
यों करय ध्यान सायोज्य होई । तब लगै समाधि अखंड सोइ ॥
—ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास, ८३-८४ ।

५—सुन्दर दर्शन, पृ० ५१ ।

सुन्दरदास प्रणीत अष्टाँग-योग का उपर्युक्त विवरण यह प्रकट करता है कि उनका योग-वर्णन सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित है। कबीर की भाँति उसे रहस्य-मय बनाकर प्रस्तुत करने की भावना सुन्दरदास में रंचमात्र भी नहीं है। अष्टाँग योग की ही भांति नाड़ी, दश वायु एवं चक्रों का वर्णन संत सुन्दरदास ने शास्त्रीय एवं सुस्पष्ट पद्धति द्वारा किया है। उन्होंने अनेक नाड़ियों में से मुख्य दस मानी हैं और इनमें भी साररूप नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना को ही माना है।[1] दश वायु का उल्लेख करते हुए[2] उन्होंने प्राण को हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कंठ में, व्यान समस्त देह में, नाग डकार में, कूर्म नेत्र में, कृकल क्षुधा में, देवदत्त जंभाई में एवं धनंजय को मृत्यु के उपरांत शरीर में व्याप्त माना है।[3] इसके अतिरिक्त कवि सुन्दरदास ने चक्र-निरूपण भी व्यवस्थित ढंग से किया है। षट् चक्रों में से प्रथम मूलाधार, द्वितीय स्वाधिष्ठान, तृतीय मणिपूरक, चतुर्थ अनाहत, पंचम विशुद्ध, षष्ठ आज्ञा चक्र का वर्णन उन्होंने शिवसंहिता, घेरंड संहिता एवं हठयोग प्रदीपिका आदि योग के प्रामाणिक ग्रन्थों की शास्त्रीय पद्धति पर ही किया है।[4]

सुन्दरदास ने राज, हठ, मंत्र, लय नामक सुप्रसिद्ध योगचतुष्टय के वर्णन के साथ ही लक्षयोग, साँख्य योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, चर्चायोग, ब्रह्मयोग, अद्वैतयोग का विस्तृत वर्णन भी किया है।[5] लक्षयोग में उन्होंने ऊर्द्ध, मध्य और वहिर्लक्ष्य का उल्लेख करते हुए बताया है कि ऊर्द्ध लक्ष आकाश में दृष्टि रख कर, मध्य लक्ष मन में ब्रह्मनाड़ी के अभ्यास से और वहिर्लक्ष पंचतत्व की धारणा नासिकाग्रदृष्टि रखकर करना चाहिए।[6] साँख्ययोग में कवि ने सांख्य

१—नाड़ी कही अनेक विधि, हैं दश मुख्य विचार।
इडा पिंगला सुषुमना, सब मँहि ये त्रय सार॥

—ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास, ४४।

२—प्राणापान्त समानहिं जानैं, व्यानोदान पंचमनमानैं।
नाग सु कर्म कृकल सु कहिये। देवदत्त सु धनंजय लहिये॥

—वही, तृतीयोल्लास, ४७।

३—सुन्दर दर्शन, लेखक डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० ५७।

४—वही, पृ० ५९-६३।

५—वही, पृ० ६४-१४७।

६—वही, पृ० ६८।

दर्शन का एवं उसके २५ तत्वों का विवेचन किया है।[1] ज्ञानयोग एवं भक्तियोग में सुन्दरदास ने आत्मज्ञान का उपनिषदोक्त रूप और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति की व्याख्या की है।[2] चर्चायोग में कवि ने ब्रह्म की महत्ता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता की चर्चा या वर्णन को योग कहा है।[3] ब्रह्मयोग में उन्होंने 'अहम् ब्रह्माऽस्मि' का प्रतिपादन किना है।[4] एवं अद्वैतयोग में सर्वात्मवाद का प्रतिपादन करते हुए साधक व ब्रह्म की एकता निर्दिष्ट की है।[5] वस्तुतः सुन्दरदास के विभिन्न योग वर्णन के मूल में विद्यमान भावना सर्वदर्शनसंग्रह है। उन्होंने साम्प्रदायिक योग वर्णन के साथ ही सांख्य, वेदान्त आदि मुख्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उनका विभिन्न योग-वर्णन व्यापक आध्यात्मिक आधार पर अवलम्बित है।

संत-काव्य में योग के विकास में बिहार के दरिया साहब भी उल्लेख्य हैं। दरिया साहब का योग-वर्णन सुन्दरदास की भांति व्यवस्थित तो नहीं है पर उनकी रचनाओं में, विशेष रूप से 'ब्रह्म प्रकाश' ग्रन्थ में योग के तत्वों का अच्छा वर्णन प्राप्त होता है। दरियासाहब के अनुसार सब यौगिक-क्रियायें योग के दो मुख्य प्रकारों में अन्तर्निविष्ट हैं—पिपीलिका योग और विहंगम योग।[6] पिपीलिका योग से उन्होंने हठयोग का अभिप्राय बताया है और विहंगम योग से ध्यान योग निर्दिष्ट किया है।[7] हठयोग या पिपीलिका योग की अपेक्षा दरिया साहब ने विहंगम अथवा ध्यानयोग को श्रेष्ठ माना है।[8] विहंगम या ध्यानयोग के द्वारा उन्होंने ब्रह्मानुभूति का उल्लेख किया भी है।[9] ध्यानयोग के सम्बन्ध में उन्होंने खेचरी, भूचरी, अगोचरी, चाचरी और उन्मुनी मुद्राओं की चर्चा की है[10] और इनमें उन्मुनी की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए उसे महामुद्रा

१—सुन्दर दर्शन, लेखक डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० ७८-९६।

२—वही, पृ० ९७–१२०।

३—वही, पृ० १२७।

४—वही, पृ० १३९-१४०।

५—वही, पृ० १४२-१४६।

६—संत कवि दरिया, पृ० ९४।

७—वही, पृ० १०३।

८—वही, पृ० १०४।

९—बीहंगम चढ़ि गयउ अकासा। वहठि गगन चढ़ि देखु तमासा॥
—दरियासागर, पृ० ५५।

१०—सन्त कवि दरिया, पृ० १००।

कहा है।[1] एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप से खेचरी भूचरी इत्यादि मुद्राओं का खंडन करके उन्मनी मुद्रा धारण का प्रस्ताव किया है।[2]

हठयोग के प्रसंग में दरिया साहब ने नाड़ी, चक्र, कुंडलिनी इत्यादि का वर्णन किया है। मूलाधार चक्र में एक केन्द्र है जिससे बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकली हैं, इनमें तीन प्रधान है इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना।[3] इन्हें गंगा, जमुना और सरस्वती भी कहा जाता है।[4] इडा मूलाधार से निकलकर मेरुदंड के वाम भाग से होती हुई सब चक्रों को भेद कर आज्ञाचक्र के दक्षिण-भाग से आकर ब्रह्मरन्ध्र में अन्य नाड़ियों से मिलकर वाम नासारन्ध्र में प्रवेश करती है।[5] पिंगला भी मूलाधार से निकल मेरुदंड के दक्षिण भाग से होते हुए सभी चक्रों का भेदन करके आज्ञाचक्र के बाम-भाग से आकर ब्रह्मरंध्र में अन्य नाड़ियों से मिलकर दक्षिण नासारन्ध्र में प्रवेश करती है।[6] सुषुम्ना मूलाधार में नाड़ियों के केन्द्र से आरम्भ होकर मेरुदंड के मध्य चलती है एवं सब चक्रों का भेदन करते हुए नासिका के ऊपर ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँचती है।[7] सर्पिणी के आकार की कुंडलिनी मूलाधार स्थित नाड़ी-केन्द्र को पूर्णरूपेण ढंक कर सुषुप्त रहती है और उसकी पूंछ सुषुम्ना के निचले छिद्र में प्रविष्ट होने के कारण उक्त नाड़ी के मुख को अवरुद्ध रखती है।[8] प्राणायाम मुद्रा आदि अनेक क्रियाओं से योगी कुंडलिनी को जाग्रत करता है।[9] जब कुंडलिनी जाग्रत होती है तो सहस्र दल कमल तक पहुँचने के लिए षट्-चक्र का भेदन करती है।[10] ब्रह्मरन्ध्र के तालुमूल में सहस्रदल कमल है जिसमें कुंडलिनी का लय होता है।[11]

१—महा मुंदरा उनमुनि पेखै। अनन्नि भाँति मोती तहं देखै॥
—दरियासागर पृ० ५५।

२—खेचरि भूचरि तजै अगोचरि, उनमुनि मुद्रा धारा।
सरिता तीनि मिले एक संगम, सुभर भरि भरि सारा॥
—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ४२।

३—सन्त कवि दरिया, पृ० ९५।

४—वही, पृ० ९६।

५—वही, पृ० ९५।

६—वही, पृ० ९५।

७—वही, पृ० ९५।

८—वही, पृ० ९५।

९—वही, पृ० ९५।

१०—वही, पृ० १००।

११—वही, पृ० १०१।

योग के उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त दरिया साहब ने सुरति,[१] निरति[२] शब्द,[३] वंसनाल,[४] भंवरगुफा,[५] अजपा,[६] नादानुसंधान,[७] त्रिकुटी या त्रिवेणी,[८] इत्यादि की चर्चा भी की है। वस्तुतः दरिया साहब बिहारी का योग वर्णन साम्प्रदायिक योग के उन सब विषयों की चर्चा करता है, जो कबीर के समय से निर्गुण संत-काव्य के अंग रहे हैं।

साम्प्रदायिक-योग के अतिरिक्त जिस योग की चर्चा निर्गुण-काव्य में प्रायः की गई है, उसे सुरति-शब्द योग कहते हैं। वह योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है, शब्द-योग अथवा सुरति-शब्द योग कहलाता है।[११] सुरति-शब्द योग की चर्चा प्रायः सब सन्त-कवियों ने की है और इसको बड़ा महत्व प्रदान किया है। कबीर की रचनाओं में इस योग का वर्णन है।[१०] परवर्ती संत-काव्य में सुरति-शब्द योग की भावना का और अधिक विकास हुआ। वस्तुतः संत-कवियों के उपरांत उनके धर्म-सम्प्रदायों में सुरति-शब्द योग को महत्व ही नहीं प्रदान किया गया अपितु इसे साम्प्रदायिक-योग से भिन्न संतों का योग निर्दिष्ट किया गया। इस प्रबन्ध के लेखक का विभिन्न पंथानुयायियों से विचार विनिमय उसके इस कथन की पुष्टि करता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब के पूर्ववर्ती सन्त-काव्य में योग के विकास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संत-काव्य में योग्य के मुख्य विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। संत-काव्य में अष्टांग-योग, नाड़ी, पवन, चक्र, कुंडलिनी इत्यादि विषयों का पुनः पुनः उल्लेख हुआ है एवं चतुर्विध–योग की चर्चा की गई है। निर्गुण-काव्य का योग वर्णन शास्त्रीय एवं व्यवस्थित पद्धति पर कम है। वस्तुतः संत सुन्दरदास ही

१—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० १६।
२—दरिया सागर, पृ० ४०।
३—दरिया सागर, पृ० ८।
४—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ४८।
५—वही, पृ० ४१।
६—वही, पृ० ४३।
७—वही, पृ० २९।
८—दरियासागर, पृ० ३।
९—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० २२९।
१०—कबीर की विचारधारा, पृ० २७७।

ऐसे साधक हैं जिन्होंने योग का वर्णन शास्त्रीय पद्धति पर व्यवस्थित एवं सुस्पष्ट ढंग से किया है। कबीर आदि संत-कवियों ने योग के तत्त्वों का उल्लेख अपनी साधना के अंग रूप में किया है जिससे उनकी सम्यक् प्रतीति नहीं हो पाई है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनकी योग-सम्बन्धी युक्तियां विषय से सम्बद्ध नहीं है। कबीर आदि का योग वर्णन रहस्यात्मक होने पर भी स्वविषय से निष्णात है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं।

तुलसी साहब के पूर्ववर्ती संत-काव्य के योग वर्णन की प्रवृत्तियों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

१. योग वर्णन मुख्य रूप से सम्पूर्ण आध्यात्म साधना का अंग है।

२. मुख्य रूप से हठयोग के नाड़ी, चक्र, प्राणायाम इत्यादि प्रसंगों की चर्चा की गई है।

३. योग का शास्त्रीय, व्यवस्थित एवं सम्यक् वर्णन केवल सुन्दरदास ने किया है। इस पृष्ठभूमि से तुलसी साहब के योग वर्णन को समझने में सुविधा होगी।

तुलसी साहब का योग वर्णन

तुलसी साहब का योग वर्णन उनकी सम्पूर्ण अध्यात्म साधना का अंग है। उनके ग्रन्थों में योग के यथेष्ट तत्व उपलब्ध हैं किन्तु यह सामग्री सर्वत्र शास्त्रीय पद्धति पर व्यवस्थित ढंग से नहीं लिखी गई है। तुलसी साहब के योग की सामग्री उनके विभिन्न ग्रन्थों में बिखरी है और उसमें परस्पर शृंखला नहीं है। इन त्रुटियों और कठिनाइयों के होने पर भी संत तुलसी के योग-सम्बन्धी विचारों को निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

योग के अधिष्ठाता शिव

प्राचीनकाल से ही शिव को योग का अधिष्ठाता माना गया है।[१] अतएव योग-सम्प्रदाय के ग्रन्थों के प्रारम्भ में शिव की प्रार्थना एवं महिमा का वर्णन प्रायः किया गया है। 'हठयोगप्रदीपिका' में 'श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु'[२] द्वारा

१—गोरक्षपद्धति, प्रस्तावना, पृ० ३।

२—हठयोग प्रदीपिका, १।१।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में शिव की प्रार्थना की गई है। 'आदि नाथ' का अभिप्राय इस ग्रन्थ के टीकाकार स्वात्माराम योगी ने स्पष्ट शब्दों में 'शिव' बताया है।[१] 'गोरक्षपद्धति' के प्रारम्भ में 'श्रीआदिनाथ' 'प्रणम्य' कहकर शिवस्तुति की गई है।[२] 'योगबीज' के प्रारम्भिक श्लोकों में 'आदिनाथ 'विश्वनाथ' कहकर शिव की स्तुति है और उन्हें स्पष्ट शब्दों में योग-मार्ग का प्रवर्तक कहा गया है :

नमस्ते आदिनाथाय, विश्वनाथाय ते नमः।
नमस्ते विश्वरूपाय, विश्वातीताय ते नमः॥
योगमार्गकृते तुभ्यं महायोगीश्वराय ते।
नमस्ते परिपूर्णाय, जगदानन्दहेतवे॥[३]

इसी ग्रन्थ के अन्त में 'गतो में संशयो नाथ! कृपया तव शंकर'[४] के द्वारा आदिनाथ एवं शिव की अभिन्नता भी प्रतिपादित की गई है। वस्तुतः योगमार्ग के प्रवर्तक महायोगीश्वर शिव ही हैं। इसी भावना को व्यक्त करते हुए तुलसी साहब ने कहा है:—

महादेव तो जोग चलाया। राम राम जोगी नहिं गाया॥[५]

अन्यत्र तुलसी साहब ने कहा है कि निरंजन ने योग का प्रसार किया :—
जोग निरंजन कीन्ह पसारा। यह सब काल जाल भ्रम डारा॥[६]

कबीर पंथी ग्रन्थ 'अनुरागसागर' के दृष्टि-विज्ञान में भी 'धार्यो योग निरंजन राई'[७] कहकर योग से 'निरंजन का अनादि सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ये निरंजन नाथयोगी-सम्प्रदाय के उपास्य-देव सनातन शिव ही हैं।[८] इस प्रकार तुलसी साहब का यह विचार कि शिव ने योग मार्ग का प्रवर्तन एवं प्रसार किया, शास्त्रसम्मत है।

१—हठयोग प्रदीपिका पृ० २
२—गोरक्षपद्धति, १।१।
३—योगबीज, १ एवं ३ श्लोक।
४—वही, १९० श्लोक।
५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ ४३।
६—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३३।
७—अनुरागसागर, पृ० १५।
८—कबीर, पृ० ५२।

अष्टाँग योग

'पातंजल योगसूत्र' में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को अष्टाँग योग कहा गया है ।

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि'
पातंजल योग दर्शन २।२९ ।

तुलसी साहब ने अष्टांग-योग की चर्चा केवल एक स्थान पर की है:—
कोइ अष्टांग जोग जस कीन्हा । परम जोग रस रहे अधीना ॥[१]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अष्टाँग योग का वर्णन नहीं है । यही कारण है कि उनके किसी भी ग्रन्थ में अष्टाँग योग का कोई वर्णन नहीं प्राप्त होता हैं । यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि के लक्षणों की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की है, केवल प्राणायाम का उल्लेख किया है और प्राण अथवा प्राणायाम के तीन प्रकार रेचक, पूरक और कुंभक बताये हैं :—

(क) अब सुनु प्रान ठान गति गाऊं । ता का भेद भाव बतलाऊं ॥
रेचक, पूरक कुंभक कहिए । ता का भेद सबै सुनि लैये ॥[३]
(ख) प्रान तीन गति गाइ सुनावैं, रेचक पूरक कुंभक कहाईं ॥[४]

'हठयोग प्रदीपिका' में भी प्राणायाम के तीन भेद रेचक, पूरक एवं कुंभक का वर्णन है :-

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचक पूरक कुम्भकैः ।[५]
गोरक्षनाथ ने भी प्राणायाम के रेचक, पूरक एवं कुंभक भेद बताए हैं :—

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत् त्रैधा मात्रा द्वादशसंस्कृतः '।[६]

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३० .
२—वही, पृ० ३० ।
३—वही, पृ० ६२ ।
४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६० ।
५—हठयोग प्रदीपिका, २।७१ ।
६—योगमार्तण्ड, श्लोक ९२ ।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि तुलसी साहब द्वारा प्रतिपादित प्राणायाम के भेद योग सम्प्रदाय सम्मत हैं। संत तुलसी ने प्राणायाम के उपर्युक्त भेदों की चर्चा मात्र की है, किन्तु उनकी विधि की कोई व्याख्या नहीं प्रस्तुत की। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार बाह्य वायु का प्रयत्न विशेष से ग्रहण पूरक है, उसका निरोध कुंभक है और कुंभित वायु का प्रयत्न विशेष से गमन रेचक है।[1] 'शिवसंहिता' में इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दाहिने हाथ के अंगुष्ठ से पिंगला (नासिका का दक्षिण छिद्र) को रोक कर इड़ा (नासिका का वाम छिद्र) से वायु पूरक करे और उसे यथाशक्ति रोके, तत्पश्चात् पिंगला से शनैः शनैः वायु को बाहर निकाले अर्थात् रेचक करे। इसी प्रकार पुनः पिंगला से पूरक करके वायु रोक कर यथाशक्ति कुंभक करे, तत्पश्चात् इड़ा से शनैः शनैः रेचक करे।[2] तुलसी साहब ने 'स्वांस बायें दायें बदला'[3] कहकर कदाचित इसकी ओर ही संकेत किया है। इस सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस विषय का अन्य कोई उल्लेख उनकी रचनाओं में नहीं मिलता।

नाद

प्राणायाम की साधना से नाद स्वतः सिद्ध हो जाता है। कहा गया है कि 'प्राणायाम चिराभ्यासैः नादः स्वयं सिद्धः' अर्थात् प्राणायाम के लिए चिर अभ्यास, दीर्घ साधना तथा तत्परता की आवश्यकता होती है, किन्तु नाद प्राणायाम की सिद्धि के अनन्तर स्वतः सिद्ध हो जाता है। 'हठयोगप्रदीपिका' में मन के लय के सर्वोतम साधन के रूप में नाद का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं है केवल कुंभक के समान कुंभक प्राणायाम नहीं है, खेचरी

१—हठयोग प्रदीपिका, २।७ की टीका।

२—ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्ध्य पिंगलां सुधीः।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्ति तु कुम्भयेत्॥
ततस्त्यक्त्वा पिंगलया शनैरेव न वेगतः।
पुनः पिंगलमापूर्य यथाशक्ति तु कुम्भयेत्॥
इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः।
संद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः॥
शिव संहिता, ३।२४-२६।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ ७६।

मुद्रा के तुल्य कोई मुद्रा नहीं है एवं मन के लय के साधनों में अनहद नाद की तुलना में अन्य साधन नहीं है :---

नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशोलयः ॥[1]

योगशास्त्र में नाद कई प्रकार का कहा गया है । 'त्रिपुरसारसमुच्चय' में नाद के पांच भेद वर्णित हैं---भ्रमर, वंशी, घंटा, समुद्र गर्जन एवं मेघगर्जन ।[2] 'हठयोग प्रदीपिका' में नाद के निम्नांकित भेदों की चर्चा है :--

आदौजलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥
अंते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः ।
इति नाना विधा नादाः श्रूयंते देहमध्यशः ॥[3]

संत कवि सुन्दरदास ने बड़े स्पष्ट शब्दों में नाद के दस प्रकार लिखे हैं:—

१.	भ्रमर गुंजार	६.	वीणा ध्वनि
२.	शंख ध्वनि	७.	भेरी ध्वनि
३.	मृदंग ध्वनि	८.	दुंदुभी ध्वनि
४.	ताल ध्वनि	९.	सागर गर्जन
५.	घंटा रव	१०.	मेघघोष[4]

तुलसी साहब ने नाद के भेदों की स्पष्ट चर्चा नहीं की है किन्तु नादानुसंधान के प्रसंग में उन्होंने नाद की अनेक प्रकार की ध्वनियों का उल्लेख किया है :—

१—हठयोग प्रदीपिका, १।४३ ।

२—वही, ४।६७ की टीका ।

३—वही, ४।८५-८६ ।

४—प्रथम भ्रमर गुंजार शंख ध्वनि दुतिम कहिज्जै ॥
त्रितिये वजहि मृदंग चतुर्थ ताल सुनिज्जै ॥
पंचम घन्टा नाद षष्ट वीणा धुनि होई ।
सप्तम वज्जहि भेरि अष्टम दुन्दुभि दोई ॥
अव नवमे गज्जै समुद्र की दशम मेघ घोषहि गुनै ।
कहि सुन्दर अनहद नाद को दश प्रकार योगी सुनै ॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास ६७ ।

(क) किंगरी संख मृदंग मधुर धुन। नाना उठत तरंगा।
निरतत तान ध्यान सुन बाजे, लाजै सुर जगदम्बा री ॥[1]

(ख) उठत अवाज विमल अनहद की, धधकी धुन संख बजो री।[2]

(ग) सवद अवाज अधर घर बाजे, घरज गगन मुख जोड़ी ॥[3]

(घ) अनहद नाद गगनगढ़ गरजत उठत अधर में अपूरव ताने ॥[4]

(ङ) मुरली बीन बजत मधुर, मिरदंग की टकोर धमक।
त्रिकुट तान तुलसी हाल, सवद, घोर अंदर हूँ पै ॥[5]

(च) इत गरजत उत धधक सुनावत, बिच बिच बेन बजावत भारी ॥
अनहद ताल मृदंग मुहचंग बाजे, किंगरी संख घट माहीं ॥[6]

उपर्युक्त उद्धरणों में संत तुलसी ने किंगरी, शंख, मृदंग, गर्जन (समुद्र या मेघ) मुरली, वीणा, वंशी, ताल, ध्वनि, धधक (दुंदुभी) इत्यादि अनहद नाद की विभिन्न ध्वनियों का उल्लेख किया है। इनमें से शंख, मृदंग, ताल ध्वनि, वीणा ध्वनि एवं समुद्र गर्जन का स्पष्ट उल्लेख सुन्दरदास ने 'ज्ञान समुद्र' में किया है।[7] 'हठयोग प्रदीपिका' के उपर्युक्त उद्धरण में भी नाद के इन भेदों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त तुलसी साहब उल्लिखित वंशी एवं किंकणी-ध्वनि का वर्णन भी[8] 'हठयोग प्रदीपिका' के उक्त उद्धरण में प्राप्त होता है। इस प्रकार तुलसी साहब ने नादानुसंधान के प्रसंग में योग शास्त्रप्रतिपादित नाद के लगभग समस्त मुख्य भेदों की चर्चा की है।

मुद्रा

'हठयोग प्रदीपिका' में मुद्राओं का बड़ा महत्व वर्णित हुआ है। इसी ग्रन्थ के अनुसार मुद्राओं का साधन, सुषुम्ना के अधोमुख को अवरुद्ध करने

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १३७।
२—वही, द्वितीय भाग, पृ० १७७।
३—वही, वही, पृ० १९२।
४—वही, वही, पृ० २४६।
५—वही, वही, पृ० २६८।
६—शब्दावली द्वितीय भाग, पृ० २१४।
७—ज्ञानसमुद्र, तृतीयोल्लास, ६७।
८—हठयोग प्रदीपिका, ३।८।

वाली सुषुप्त कुंडलिनी को प्रवुद्ध करने के लिए विधेय है।[1] 'हठयोग प्रदीपिका' में दश मुद्राएँ विस्तार से वर्णित हैं:—

१. महामुद्रा	६. जालन्धर बंध
२. महाबंध	७. विपरीत करणी
३. खेचरी	८. वज्रोली
४. मूलबन्ध	९. शक्तिचालिनी
५. उड्डियान	१०. महावेध[2]

'घेरंड संहिता' में बीस सामान्य मुद्राओं एवं पांच धारणा की मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में पच्चीस मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इन मुद्राओं के नाम इस प्रकार हैं:

१. महामुद्रा	८. खेचरी
२. नभोमुद्रा	९. विपरीतकरणी
३. उड्डीयान	१०. योनि
४. जालंधर	११. वज्राणी
५. मूलबन्ध	१२. शक्तिधारिणी
६. महाबंध	१३. ताड़ागी
७. महावेध	१४. मांडवी[3]

१—हठयोग प्रदीपिका, ३।४-५।

२—महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्॥
—हठयोग प्रदीपिका, ३।६-७।

३—महामुद्रा, नभोमुद्रा उड्डीयान जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी॥
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी।
ताडागी मांडवी मुद्रा शांमवी पंचधारिणी॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पंचविंशतिमुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम्॥
—घेरंड संहिता, ३।१-३।

१५.	शांभवी	२१.	पार्थिवी धारणा
१६.	अश्विनी	२२.	आम्भसीधारणा
१७.	पाशिनी	२३.	वैश्वनरीधारणा
१८.	काकी	२४.	वायवीधारणा
१९.	मातंगी	२५.	नभोधारणा[1]
२०.	भुजंगिनी[1]		

गोरखनाथ की रचनाओं में 'अष्टमुद्रा' नामक एक संक्षिप्त रचना है।[2] इसमें नाथयोगी-सम्प्रदाय की अष्ट मुद्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है। ये मुद्राएँ इस प्रकार हैं:—

१.	मूलनी	५.	चाचरी
२.	जलश्री	६.	अगोचरी
३.	पीरनी	७.	भूचरी
४.	खेचरी	८.	उन्मनी[3]

१—घेरंड संहिता, पृ० ३१।

२—गोरखबानी, पृ० २४७।

३—स्वामी जी अष्ट मुद्रा बोलिए घट भीतरि, ते कौंण कौंण।
अबधू यंद्री मध्ये मूलनी मुद्रा, कामं त्रिष्णा ले उतपनी।
कांम त्रिष्णा समोकृतवा, मुद्रा तो भई मूलनी॥
नाभी मधे जलश्री मुद्रा, काल क्रोध ले उतपनी।
काल क्रोध समोकृतवा, मुद्रा तौ भई जलश्री॥
हृदा मधे पीरनी मुद्रा, ग्यांन दीप ले उतपनी।
ग्यांन दीप समोकृतवा, मुद्रा तौ भई पीरनी॥
मुष मध्ये षेचरी मुद्रा, स्वाद विस्वाद ले उतपनी।
स्वाद विस्वाद समोकृत्वा, मुद्रा तो भई खेचरी॥
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा, गंध विगंध ले उतपनी।
गंध विगन्ध समोकृतवा, मुद्रा तौ भई भूचरी॥
चषि मध्ये चाचरी मुद्रा, दिष्टि विदिष्टि ले उतपनी।
दिष्टि विदिष्ट समोकृतवा, मुद्रा तौ भई चाचरी॥
करण मध्ये अगोचरी मुद्रा, सबद कुसबद ले उतपनी।
सबद कुसबद समोकृतवा, मुद्रा तौ भई अगोचरी॥
ब्रह्मंड असमांनि उनमनी मुद्रा, परम जोति लै उतपनी।
परम जोंति समोकृतवा, मुद्रा तौ भई उनमनी।
यती अष्ट मुद्रा का जाणं भेव। सो आपै करता आपै देव॥
—गोरखबानी, पृ० २४७।

रामानन्द की योग-प्रभावित हिन्दी रचना 'रामरक्षा' है।[1] इसमें पांच मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकार हैं:—

१. चाचरी ३. खेचरी
२. भूचरी ४. अगोचरी
५. उन्मुनी[2]

तुलसी साहब ने योग वर्णन के अन्तर्गत जिन पंच मुद्राओं का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं: —

(क) न्यारा न्यारा नाम बताऊं। पाँचौ मुद्रा पुनि दरसाऊं॥
खेचरि भूचरि चाचरि सोई। और अगोचर उनमुनि होई॥
उनमुनि बसै अकाश के माहां। जोगी बास करै तेहि ठाहीं॥[3]

(ख) चाचरि भूचरि अगोचर, खेचरि खेह लगाई।
उनमुनि उभै अकास के ठाईं, प्रान विधी बतलाई॥[4]

(ग) स्वांसा साधि गगन मन धावा। उनमुनि साधि कै गगन लगावा॥
चाचरि भूचरि अगोचरि जानी। खेचरि मिलि यों पाँच बखानी॥[5]

उपर्युक्त उद्धरणों से संत तुलसी ने पंच मुद्राओं के निम्नलिखित नाम बताये हैं:—

१. चाचरी ३. खेचरी
२. भूचरी ४. अगोचरी
५. उन्मनी

१—रामानन्द की हिन्दी रचनायें पृ० ५।

२—चाचरी, भूचरी, अगोचरी, खेचरी,
उन्मुनी पांच मुद्रा साधते सिद्ध राजा॥
—रामानन्द की हिन्दी रचनायें, पृ० ५।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १३७।

४—वही, वही, पृ० ७।

५—वही, वही, पृ० ४३।

१५. शांभवी
१६. अश्विनी
१७. पाशिनी
१८. काकी
१९. मातंगी
२०. भुजंगिनी[1]
२१. पार्थिवी धारणा
२२. आम्भसीधारणा
२३. वैश्वनरीधारणा
२४. वायवीधारणा
२५. नभोधारणा[1]

गोरखनाथ की रचनाओं में 'अष्टमुद्रा' नामक एक संक्षिप्त रचना है।[2] इसमें नाथयोगी-सम्प्रदाय की अष्ट मुद्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है। ये मुद्राएँ इस प्रकार हैं:—

१. मूलनी
२. जलश्री
३. पीरनी
४. खेचरी
५. चाचरी
६. अगोचरी
७. भूचरी
८. उन्मनी[3]

१—घेरंड संहिता, पृ० ३१।

२—गोरखबानी, पृ० २४७।

३—स्वामी जी अष्ट मुद्रा बोलिए घट भीतरि, ते कौंण कौंण।
अबधू यंद्री मध्ये मूलनी मुद्रा, कामं त्रिष्णा ले उतपनी।
कांम त्रिष्णा समोकृतवा, मुद्रा तो भई मूलनी॥
नामी मधे जलश्री मुद्रा, काल क्रोध ले उतपनी।
काल क्रोध समोकृतवा, मुद्रा तौ भई जलश्री॥
हृदा मधे पीरनी मुद्रा, ग्यांन दीप ले उतपनी।
ग्यान दीप समोकृतवा, मुद्रा तौ भई पीरनी॥
मुष मध्ये षेचरी मुद्रा, स्वाद विस्वाद ले उतपनी।
स्वाद विस्वाद समोकृत्वा, मुद्रा तो भई खेचरी॥
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा, गंध विगंध ले उतपनी।
गंध विगन्ध समोकृतवा, मुद्रा तौ भई भूचरी॥
चषि मध्ये चाचरी मुद्रा, दिष्टि विदिष्टि ले उतपनी।
दिष्टि विदिष्ट समोकृतवा, मुद्रा तौ भई चाचरी॥
करण मध्ये अगोचरी मुद्रा, सबद कुसबद ले उतपनी।
सबद कुसबद समोकृतवा, मुद्रा तौ भई अगोचरी॥
ब्रह्मंड असमांनि उनमनी मुद्रा, परम जोति लै उतपनी।
परम जोति समोकृतवा, मुद्रा तौ भई उनमनी।
यती अष्ट मुद्रा का जाणं भेव। सो आपं करता आपं देव॥
—गोरखबानी, पृ० २४७।

रामानन्द की योग-प्रभावित हिन्दी रचना 'रामरक्षा' है।[1] इसमें पांच मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकार हैं:—

१. चाचरी ३. खेचरी
२. भूचरी ४. अगोचरी
५. उन्मुनी[2]

तुलसी साहब ने योग वर्णन के अन्तर्गत जिन पंच मुद्राओं का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं:—

(क) न्यारा न्यारा नाम बताऊं। पाँचौ मुद्रा पुनि दरसाऊं॥
खेचरि भूचरि चाचरि सोई। और अगोचर उनमुनि होई॥
उनमुनि बसै अकाश के माहां। जोगी बास करे तेहि ठाहीं॥[3]

(ख) चाचरि भूचरि अगोचार, खेचरि खेह लगाई।
उनमुनि उभै अकास के ठाई, प्रान विधी बतलाई॥

(ग) स्वाँसा साधि गगन मन धावा। उनमुनि साधि कै गगन लगावा॥
चाचरि भूचरि अगोचरि जानी। खेचरि मिलि यों पाँच बखानी॥[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से संत तुलसी ने पंच मुद्राओं के निम्नलिखित नाम बताये हैं:—

१. चाचरी ३. खेचरी
२. भूचरी ४. अगोचरी
५. उन्मनी

१—रामानन्द की हिन्दी रचनायें पृ० ५।

२—चाचरी, भूचरी, अगोचरी, खेचरी,
उन्मुनी पांच मुद्रा साधते सिद्ध राजा॥
—रामानन्द की हिन्दी रचनायें, पृ० ५।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १३७।

४—वही, वही, पृ० ७।

५—वही, वही, पृ० ४३।

यही संत तुलसी प्रतिपादित पंच मुद्राएं हैं, जिनका महत्व उन्होंने 'पंच-पुनीत मुद्रा'[1] कहकर प्रकट किया है। 'हठयोग प्रदीपिका' एवं 'घेरंड संहिता' में मुद्रित मुद्राओं से इन मुद्राओं का कोई साम्य नहीं है। इन ग्रन्थों की 'खेचरी' मुद्रा ही ऐसी है जिसका उल्लेख तुलसी साहब ने अपनी पंच मुद्राओं में किया है। पर इस सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी साहब द्वारा प्रतिपादित 'खेचरी' 'हठयोग प्रदीपिका' एवं 'घेरंड संहिता' में वर्णित खेचरी मुद्रा ही हैं। तुलसी साहब ने खेचरी मुद्रा का कोई लक्षण नहीं निर्दिष्ट किया है। अतएव उसका कोई स्वरूप हमारे सम्मुख नहीं है, जिसके आधार पर निष्कर्ष निकाला जाय।

'घेरंड संहिता' में धारणा की पंच मुद्राएं भी वर्णित हैं।[2] योग में पंच-तत्वों की धारणा का विधान है।[3] यह पांच प्रकार की धारणा पार्थिवी, आंमसी, वायवी, आग्नेयी और आकाशी मानी गई हैं एवं इनके आधार पर पार्थिवी मुद्रा, आँमसी मुद्रा,वायवी मुद्रा, आग्नेयी मुद्रा एवं आकाशी मुद्रा का उल्लेख किया गया है।[4] इनकी संख्या भी तुलसी साहब उल्लिखित पंच मुद्राओं की संख्या के समान है, किन्तु इसी आधार पर तुलसी साहब वर्णित मुद्राओं को धारणा की पंचमुद्राएं नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तुलसी साहब ने इन मुद्राओं का कोई ऐसा विवरण नहीं दिया है जिसके आधार पर 'घेरंड संहिता' में वर्णित पंच-मुद्राओं से उनकी तुलना की जा सके।

तुलसी साहब द्वारा प्रतिपादित खेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी एवं उन्मनी मुद्राओं का स्पष्ट उल्लेख 'गोरखनाथ' की 'अष्टमुद्रा' रचना के अंतर्गत किया गया है।[5] इनकी चर्चा हम इसी प्रसंग में कुछ पूर्व कर चुके हैं। पूर्णतया नाम साम्य के कारण यह अनुमान करना असंगत न होगा कि तुलसी साहब ने जिन पंच मुद्राओं का वर्णन किया है, वे गोरक्षनाथ द्वारा प्रतिपादित खेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी और उन्मनी मुद्राएं ही हैं। नाम साम्य के अतिरिक्त

१—उन अपनी इंद्री मन जीता। मुद्रा साधी पांच पुनीता॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ४३।

२—घेरंड संहिता, ३।६३।

३—हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते॥
—गोरक्षपद्धति, २।५३।

४—घेरंड संहिता, ३।६५-७६।

५—गोरखबानी, पृ० २४७।

इनके कुछ लक्षण भी परस्पर मिल जाते हैं। उन्मनी मुद्रा का वर्णन करते हुए गोरक्षनाथ ने कहा है कि 'ब्रह्मंड असथांनि उनमनी मुद्रा'[1] अर्थात् उन्मनी मुद्रा ब्रह्मरंध्र में निष्पन्न होती है। उन्मनी मुद्रा के सम्बन्ध में ठीक यही बात तुलसी साहब ने भी कही है—'उनमुनि बसै अकास के माहाँ'[2] 'उनमुनि उभै अकास के ठाईं'[3] 'उनमुनि साध के गगन लगाना'[4] अर्थात् उन्मनी मुद्रा का आकाश, गगन या ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। इस साम्य से हमारे मत को और भी बल मिलता है कि तुलसी साहब द्वारा प्रतिपादित पंच मुद्राएं नाथ-सम्प्रदाय की खेचरी, चाचरी, अगोचरी, भूचरी एवं उन्मनी ही हैं। इन मुद्राओं का नाथसिद्धों की मुद्राओं के रूप में रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में उल्लेख किया भी गया है—'पाँच मुद्रा साधते सिद्ध राजा'[5]।

अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसी साहब ने जिन पंच मुद्राओं का वर्णन किया है, वे नाथयोगी-सम्प्रदाय की मुद्राएं ही हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि संत तुलसी के समय के पूर्व से ही इन मुद्राओं की चर्चा संत-काव्य में होने लगी थी। बिहार के दरिया साहब ने भी खेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरि एवं उन्मनी मुद्राओं का वर्णन किया है।[6]

नाड़ी संस्थान

योग में नाड़ियों का बड़ा महत्व है। 'शिव संहिता' के अनुसार शरीर में प्रधान नाड़ियां साढ़े तीन लाख हैं, इनमें से चौदह नाड़ियां मुख्य हैं:—

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्।
प्रधानभूता नाड्यस्तुः तासु मुख्याश्चतुर्दश ॥[7]

इन चतुर्दश मुख्य नाड़ियों के नाम सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, पूषा, सरस्वती शंखिनी, यशस्विनी, वरुणा, अलंबुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी हैं:—

१—गोरखबानी, पृ० २४७।

२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १३७।

३—वही, पृ० ७।

४—वही, पृ० ४३।

५—रामानंद की हिन्दी रचनाएं, पृ० ५।

६—संत कवि दरिया, पृ० १००।

७—शिवसंहिता, २।१३।

सुषुम्णेडा पिंगला च गान्धारी हस्तिजिह्वका ।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ॥
वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।[१]

इनमें भी तीन नाड़ियां ही मुख्य हैं, इडा, पिंगला और सुषुम्णा:—

एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिंगलेडा सुषुम्णिका ॥[२]

'गोरक्षपद्धति' में नाड़ी वर्णन प्रकरण' के अन्तर्गत कहा गया है कि लिंगमूल के ऊपर नाभि के कुछ नीचे कन्द के सदृश समस्त नाड़ियों का मूल उत्पत्तिस्थान पक्षी के अंड के समान आकारवाला है। इससे निकलकर बहत्तर हजार नाड़ियाँ ऊपर, नीचे, तिर्छी होकर सर्वांग में व्याप्त है':—

ऊर्ध्वमेढ्रादधोनाभेः कन्दो योनिः खगांडवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ।[३]

बहत्तर सहस्र नाड़ियों में से मुख्य नाड़ियाँ बहत्तर ही हैं। इनमें भी प्राणवाहिनी प्रधान दश ही नाड़ी हैं:—

तेषु नाड़ी सहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्त सु दश स्मृताः ॥[४]

ये दश नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, गान्धारी हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी अलंबुषा, कुहू और शंखिनी हैं:—

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दसमी स्मृता ।[५]

वस्तुतः इन दश नाड़ियों में मुख्य इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ही हैं और इनका वर्णन ही तुलसी साहब ने किया है। तुलसी साहब का नाड़ी:वर्णन संक्षिप्त एवं सांकेतिक है। वह पृथक नहीं है अपितु हठयोग के प्रसंग में उल्लेख मात्र है:—

(क) जोगी जन पवन चढ़ावैं, इडा पिंगला सुखमना आवैं ॥[६]
(ख) इंगल पिंगल सुखमनि के नाहीं। बंक नाल में पवन समाई ॥[७]

१—शिवसंहिता, २।१४-१५ ।
२—वहीं, २।१५ ।
३—गोरक्ष पद्धति, १।२५ ।
४—वही, १।२६ ।
५—गोरक्ष पद्धति, १।२७.२८ ।
६—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३० ।
७—रत्नसागर, पृ० १५१ ।

(ग) जोगी पाँचों मुद्रा साधै। इड़ा पिंगला सुखमनि बाँधै ॥[1]

योग के ग्रन्थों में सुषुम्ना की स्थिति इड़ा और पिंगला के मध्य मानी गई है:—

इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना सुखरूपिणी ॥[2]

तुलसी साहब ने भी प्रायः इसी भाव को व्यक्त करते हुए इडा और पिंगला नाड़ियों के मध्य सुषुम्ना की स्थिति मानी है:—

सुखमनि सुनि धुनि कर आकास। इंगल पिंगल बिच विमल बास ॥[3]

'शिवसंहिता' में इड़ा नाड़ी को गंगा, पिंगला को यमुना और इन दोनों की मध्यवर्ती नाड़ी सुषुम्ना को सरस्वती कहा गया है:—

इड़ा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽतिदुर्लभः ॥[4]

तुलसी साहब ने भी इड़ा पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों को गंगा, यमुना एवं सरस्वती बताया है:—

अगम द्वार खिरकी पहिचानी। गंगा जमुना सरसुती जानी ॥[5]

'शिवसंहिता' में सरस्वती या सुषुम्ना की स्थिति गंगा, जमुना अथवा इड़ा, पिंगला के मध्य मानी गई है।[6] तुलसी साहब ने भी सरस्वती का उल्लेख गंगा और यमुना के मध्य में किया है:

गग जमुन बिच बहत सरसुती, सुरत समझ लख प्यारी ॥[7]

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १३६।

२—योग विषय, श्लोक ११।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ८४।

४—शिवसंहिता, ५।१६५।

५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३५।

६—गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती।
तासान्तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम् ॥
—शिवसंहिता, ५।१६४।

७—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २१२।

सुषुम्णेडा पिंगला च गान्धारी हस्तिजिह्वका ।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ॥
वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।[1]

इनमें भी तीन नाड़ियां ही मुख्य हैं, इडा, पिंगला और सुषुम्णाः—

एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिंगलेडा सुषुम्णिका ॥[2]

'गोरक्षपद्धति' में नाड़ी वर्णन प्रकरण' के अन्तर्गत कहा गया है कि लिंगमूल के ऊपर नाभि के कुछ नीचे कन्द के सदृश समस्त नाड़ियों का मूल उत्पत्तिस्थान पक्षी के अंड के समान आकारवाला है । इससे निकलकर बहत्तर हजार नाड़ियाँ ऊपर, नीचे, तिर्छी होकर सर्वांग में व्याप्त हैं':—

ऊर्ध्वंमेढ्रादधोनाभेः कन्दो योनिः खगांडवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ।[3]

बहत्तर सहस्र नाड़ियों में से मुख्य नाड़ियाँ बहत्तर ही हैं । इनमें भी प्राणवाहिनी प्रधान दश ही नाड़ी हैं:—

तेषु नाड़ी सहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्त सु दश स्मृताः ॥[4]

ये दश नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, गान्धारी हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी अलंबुषा, कुहू और शंखिनी हैं:—

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दसमी स्मृता ।[5]

वस्तुतः इन दश नाड़ियों में मुख्य इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ही हैं और इनका वर्णन ही तुलसी साहब ने किया है। तुलसी साहब का नाड़ीःवर्णन संक्षिप्त एवं सांकेतिक है । वह पृथक नहीं है अपितु हठयोग के प्रसंग में उल्लेख मात्र है:—

(क) जोगी जन पवन चढ़ावै, इडा पिंगला सुखमना आवै ॥[6]
(ख) इंगल पिंगल सुखमनि के नाहीं । बंक नाल में पवन समाई ॥[7]

१—शिवसंहिता, २।१४-१५ ।
२—वहीं, २।१५ ।
३—गोरक्ष पद्धति, १।२५ ।
४—वही, १।२६ ।
५—गोरक्ष पद्धति, १।२७.२८ ।
६—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३० ।
७—रत्नसागर, पृ० १५१ ।

(ग) जोगी पाँचों मुद्रा साधै । इड़ा पिंगला सुखमनि बाँधै ॥[1]

योग के ग्रन्थों में सुषुम्ना की स्थिति इड़ा और पिंगला के मध्य मानी गई है:—

इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना सुखरूपिणी ॥[2]

तुलसी साहब ने भी प्राय: इसी भाव को व्यक्त करते हुए इडा और पिंगला नाड़ियों के मध्य सुषुम्ना की स्थिति मानी है:—

सुखमनि सुनि धुनि कर आकास । इंगल पिंगल बिच विमल बास ॥[3]

'शिवसंहिता' में इड़ा नाड़ी को गंगा, पिंगला को यमुना और इन दोनों की मध्यवर्ती नाड़ी सुषुम्ना को सरस्वती कहा गया है:—

इड़ा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽतिदुर्लभ: ॥[4]

तुलसी साहब ने भी इडा पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों को गंगा, यमुना एवं सरस्वती बताया है :—

अगम द्वार खिरकी पहिचानी । गंगा जमुना सरसुती जानी ॥[5]

'शिवसंहिता' में सरस्वती या सुषुम्ना की स्थिति गंगा, जमुना अथवा इड़ा, पिंगला के मध्य मानी गई है ।[6] तुलसी साहब ने भी सरस्वती का उल्लेख गंगा और यमुना के मध्य में किया है :

गग जमुन बिच बहत सरसुती, सुरत समझ लख प्यारी ॥[7]

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १३६ ।
२—योग विषय, श्लोक ११ ।
३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ८४ ।
४—शिवसंहिता, ५।१६५ ।
५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ९५ ।
६—गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम् ॥
—शिवसंहिता,
७—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २१२ ।

योगशास्त्र में इड़ा और पिंगला नाड़ियों को चन्द्र और सूर्य नाड़ी भी कहा जाता है। 'शिवसंहिता' में इड़ा चन्द्ररूप एवं पिंगला सूर्यरूप कही गई है।[1] तुलसीसाहब ने भी इन नाड़ियों को चन्द्र और सूर्य नाड़ी कहा है। निम्नांकित पंक्तियों में उन्होंने रवि और शशि अर्थात् पिंगला और इड़ा के मध्यमार्ग (सुषुम्ना) के द्वारा गगन को प्राप्त करने का प्रस्ताव किया है :—

चढ़ै कोइ गगन की घाटी। रवी ससि मद्धि में वाटी ॥[2]

अन्यत्र भी उन्होंने चन्द्र (इड़ा) और सूर्य (पिंगला) पर नियंत्रण करके सुषुम्ना द्वारा पवन के ऊर्ध्व गमन का उल्लेख किया है :—

चंद सूर दम दम बस आवा, सुखमनि चटक चढ़ावा हो ॥[3]

'गोरक्षपद्धति' के 'अनुसार इड़ा वामे स्थिता भागे पिंगला दक्षिणे स्थिता'[4] अर्थात् नासिका के वाम भाग में इड़ा एवं दक्षिण भाग में पिंगला नाड़ी स्थित है। तुलसी साहब ने नाड़ियों की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है किन्तु एक स्थान पर उन्होंने इन नाड़ियों की गति को विपरीत बताया है:—

विधि बायें पिंगला गति केरी, इंगला दाहिने फेरी हो।[5]

वस्तुत: यह विपरीत नहीं है। योगशास्त्र में बताया गया है कि सुषुम्ना नाड़ी की अन्तिम सीमा ब्रह्मरन्ध्र है तथा यह मेरुदंड के आश्रय से ऊपर उठी हुई है। इसके वामभाग में रहने वाली इड़ा इस सुषुम्ना के अपर आवृत से आज्ञाचक्र की दाहिनी ओर से होकर वाम नासापुट में गमन करती है।[6] इडा नाड़ी के

१—शिव संहिता, २।१७ की टीका

२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ७६।

३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३१।

४—गोरक्षपद्धति, १।२९।

५—घटरामायण, प्रथम भाग पृ० ३१।

६—सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्ति वे।
ततश्चैषा परावृत्या तदाज्ञापद् मदक्षिणे।
वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ॥

—शिवसंहिता, ५।१२८।

समान ही पिंगला भी आज्ञाचक्र के बाईं ओर से घूमकर दक्षिण नासापुट को गई है।[1] इस स्थिति में इन नाड़ियों को क्रमश: वरणा और असी कहा गया है और इन दोनों नदियों के मध्य में वाराणसी स्थान है जहाँ साक्षात शिव विराजमान हैं।[2] तुलसी साहब जब पिंगला को बाईं ओर एवं इड़ा को दाहिनी ओर फेरने की चर्चा करते हैं तब उनका अभिप्राय इन नाड़ियों का सुषुम्ना के ऊपर आवृत से आज्ञाचक्र के दाहिनी ओर एवं बाईं ओर से घूम कर नासापुटों में जाना ही है।

त्रिवेणी

'शिवसंहिता' में कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्र के मुख में इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों का निश्चय संयोग है एवं इन नाड़ियों के संयोग स्थल या संगम में स्नान करने से ज्ञानी पुरुषों को मुक्ति मिलती है:---

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां संगम: स्याद संशय: ।
तस्मिन् स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्याद विरोधत: ।।[3]

गंगा यमुना एवं सरस्वती अथवा इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों के संगम स्थल में स्नान परम गति का प्रदाता है :---

गंगा यमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
नासान्तुसंगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम् ।।[4]

मृत्युकाल में नाड़ी रूपी इन तीन नदियों की त्रिवेणी का ध्यान मात्र करके साधक मोक्ष प्रदान करता है :---

---

१—तदाकारा पिंगलापि तदाज्ञाकमलोत्तरे ।
दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ।।

—शिवसंहिता, ५।१३३ ।

२—इड़ा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते ।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषित: ।।

—शिवसंहिता, ५।११६ ।

३—शिवसंहिता, ५।१६३ ।

४—वही, ५।१६४ ।

मृत्युकाले प्लतुं देहं त्रिवेण्यां: सलिले यदा ।
विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स तदा मोक्षमाप्नुयात् ।।[१]

तुलसी साहब ने भी ब्रह्मरन्ध्र या शून्य में ही इड़ा पिंगला एवं सुषुम्ना अर्थात् गंगा यमुना और सरस्वती के त्रिवेणी संगम की अवस्थिति मानी है :---

झिलिमिलि झरै सुन्न के माही । गंगा जमुना सरसुति राही ।।
गंगा जमुना सरसुति होई । तिरवेनी संगम है सोई ।।[२]

अन्यत्र इसी विषय की पुनरावृत्ति करते हुए उन्होंने इस संगम स्थल को प्रयाग कहा है :

अगमद्वार खिरकी पहिचानी । गंगा जमुना सरसुती जानी ।।
सूरति चली अगम रस माती । जहां प्रयाग कंज रस राती ।।[३]

एक स्थल पर इन तीन नाड़ियों या नदियों के संगम स्थल को उन्होंने त्रिवेणी स्नान बताया भी है :—

गंग जमुन विच सरसुती, बेनी असनाना हो ।[४]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि तुलसी साहब की त्रिवेणी सम्बन्धी धारणा में और 'शिवसंहिता की धारणा में पूर्ण साम्य है । 'शिवसंहिता' की भाँति ही तुलसी साहब भी त्रिवेणी साधन से मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं :—

त्रिकुटी संगम बेनी घाटा । बसै जीव सत पावै बाटा ।।[५]

अतएव संत तुलसी का त्रिवेणी वर्णन योगशास्त्र सम्मत है ।

१—शिवसंहिता ५।१७१ ।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २२ ।

३—वही, द्वितीय भाग, पृ० ९५ ।

४—वही, द्वितीय भाग, पृ० १७६ ।

५—वही, प्रथम भाग, पृ० २२ ।

चक्र

योग में पिंडस्थ चक्रों या कमलों का महत्वपूर्ण वर्णत किया गया है। नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इनकी विभिन्न संख्यायें एवं विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में ब्रह्मचक्र स्वाधिष्ठान चक्र, नाभि चक्र, हृदयचक्र, कंठचक्र, भूचक्र, निर्वाण चक्र एवं आकाश चक्र नामक नौ चक्रों का वर्णन किया गया है।[१] 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' में भी नौ चक्रों का वर्णन है किन्तु नाम कुछ भिन्न है—ब्रह्म चक्र, स्वाधिष्ठान, नाभि चक्र, हृदय चक्र, कंठ चक्र, तालुचक्र घंटिका, मनोलय एवं नवमं ब्रह्मचक्रं यत्सहस्रदलवारिजम्।[२] इन ग्रन्थों के विपरीत 'गोरक्षपद्धति' में सहस्रार को लेकर सात चक्रों का उल्लेख है:—

> चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्टानं च षट्दलम्।
> नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि॥
> कंठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।
> सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे॥[३]

इस उद्धरण में आधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय, कंठ, भ्रूचक्र एवं सहस्रार का वर्णन है एवं इनके दल क्रमशः चार, छः, दश, बारह, सोलह, दो एवं सहस्र माने गए हैं। वस्तुतः ये सुप्रसिद्ध मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा एवं सहस्रार चक्र हैं। 'योगविषय' में इन सात चक्रों में से प्रथम षट्चक्र का ही उल्लेख किया गया है:—

> आधारश्च गुदे तस्थौ स्वाधिष्ठानञ्च लिंग के।
> मणिपूरं नाभिगतं हृदये चाप्यनाहतम्॥
> विशुद्धि कंठदेशे च आज्ञाचक्रं भ्रुवोर्मुखन्।
> चक्रभेदमितिज्ञात्वा चक्रातीतं निरंजनम्॥[४]

उपर्युक्त पंक्तियों में सुप्रसिद्ध षट्चक्रों का वर्णन है एवं उनके नामों के उल्लेख के साथ पिंड में उनका स्थान भी निर्दिष्ट कर दिया गया है।

१—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, २।१-९।

२—सिद्ध सिद्धान्त संग्रह, २।१-१२।

३—गोरक्षपद्धति, १।१५-१६।

४—योगविषय, श्लोक ९ एवं १०।

'शिवसंहिता में आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा एवं सहस्रार चक्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है प्रथम आधार चक्र या कमल की स्थिति योनि के मूल में है। यह परमप्रकाशमान व, श, ष, स चार वर्ण और चार दल से शोभित है :—

आधारपद्ममेतद्धि योनिर्मस्यास्ति कन्दतः।
परिस्फुरत वादिसान्तचतुर्वर्णं चतुर्दलम् ॥[1]

द्वितीय चक्र या कमल स्वाधिष्ठान है। यह लिंगमूल में स्थित है और व, भ, म, य, र, ल वर्णों एवं छः दल से शोभित है :-

द्वितीयन्तु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्।
वादि लान्तं च षड् वर्ण परिभास्वरषड् दलम् ॥[2]

तृतीय कमल मणिपूरक हैं। यह नाभिस्थल में हैं। यह हेमवर्ण दशदल से शोभित है और ड से फ तक अर्थात् ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ दश वर्ण से युक्त है :—

तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारण्गादिफान्तार्णं शोभितु हेमवर्णकम् ॥[3]

चतुर्थ अनाहत चक्र है। वह हृदय स्थान में है। वह क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, इन बारह दल से युक्त, अति उज्जवल रक्तवर्ण से शोभायमान और प्राणवायु का आधार है:—

हृदयेऽनाहतं नामं चतुर्थ पंकजं भवेत।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम्।
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ॥[4]

पंचम विशुद्ध चक्र है। वह कंठ स्थान में है। वह स्वर्ण के समान कांति से शोभित है सोलह स्वर अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः से युक्त है :—

१—शिवसंहिता, ५।८३।
२—शिवसंहिता, ५।९८।
३—वही, ५।१०४।
[illegible]

कंठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पंचमम् ।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम् ॥[1]

षष्ठ कमल आज्ञा है। इसका स्थान भ्रूमध्य है। इसमें हं क्षं दो बीज हैं एवं सुन्दर श्वेत वर्ण दो दल हैं:—

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥[2]

सप्तम चक्र या कमल सहस्रार है। यह ब्रह्मरन्ध्र में है :—

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।[3]

और यह दिव्य सहस्रदल कमल शरीर के एकदम ऊपर (ब्रह्म रन्ध्र, मूर्धा) है। इसी को कैलाश कहते हैं। इसी स्थान में निराकुल अविनाशी एवं क्षयवृद्धिरहित महेश्वर (शिव) की स्थिति है:—

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥[4]

तुलसी साहब ने भी 'शिवसंहिता' की भाँति ही इन चक्रों को कमल कहा है।[5] कुछ स्थलों पर वे इन्हें चक्र और कमल दोनों ही कहते हैं और इनकी संख्या छः मानी है।[6] इन कमलों का विधिवत् वर्णन संत तुलसी ने इस प्रकार किया है :—

गुदा कर कंवल कहों दल चारी, गनपति बास बिचारी हो।
छै पखड़ी दल कंवल कहाई, बसै ब्रह्मा तेहि ठाई हो ॥

१—शिवसंहिता, ५।११६ ।
२—वही, ५।१२२ ।
३—वही, ५।१२९ ।
४—वही, ५।१८६-१८७ ।
५—षष्ठ कंवल जोगी पुनि गाई । या का तुमको भेद बताई ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३ ।
६—कंवल चक्र षट जोगी गाई । उन कंवलन से न्यारे भाई ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३ ।

दष्ट कँवल दल नाभ बसेरा, बसै विस्नु तेहि तीरा हो ।
दल बारा विधि सिधि हिये माहीं, शिव कैलास कहाई हो ।।
सोला कंठ कंवल विधि ज्ञानी, जगदम्बा जग रानी हो ।
सहस कंवल दल ददि निरंजन, घाट रोकि गल गंजन हो ।।[1]

उपर्युक्त उद्धरण की प्रत्येक पंक्ति में एक एक कमल की चर्चा द्वारा तुलसी साहब ने छः कमलों का परिचय दिया है । इन कमलों की व्यवस्था एवं तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार है:—

(१) प्रथम पंक्ति में तुलसी साहब ने गुदा में स्थित चार दल के कमल की चर्चा की है । और गणेश को इसका देवता बताया है। यह लक्षण 'शिवसंहिता' वर्णित मूलाधार चक्र से पूर्ण साम्य रखते हैं । 'शिवसंहिता' के अनुसार ही इसकी स्थिति योनि में है, चार दल हैं एवं इसके देवता गणेश हैं ।[2] वस्तुतः तुलसी साहब वर्णित यह मूलाधार कमल ही है ।

(२) द्वितीय कमल के लक्षणों में संत तुलसी ने इसके छः दल की चर्चा की है और ब्रह्म को इसका अधिष्ठातृ देवता बताया है । 'शिवसंहिता' के अनुसार छः दल के कमल का स्थान लिंगमूल में है एवं इसके देवता ब्रह्मा हैं ।[3] तुलसी साहब ने इसके स्थान का उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसके छः दल और देवता के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि यह स्वाधिष्ठान कमल है ।

(३) तृतीय कमल का स्थान नाभि बताया गया है एवं इसके दश दल और देवता विष्णु का उल्लेख किया गया है । उपर्युक्त उद्धरण की तृतीय पंक्ति में तृतीय कमल के इन लक्षणों की चर्चा की गई है । 'शिवसंहिता' में भी मणिपूरक या तृतीय कमल के यही लक्षण प्राप्त होते है एवं टीकाकार ने इस पद्म के देवता के रूप में विष्णु का उल्लेख किया है ।[4] अतएव तुलसी साहब द्वारा वर्णित तृतीय कमल मणिपूरक चक्र है ।

(४) चतुर्थ कमल के लक्षणों का वर्णन करते हुए तुलसी साहब ने इसकी स्थिति हृदय में मानी है एवं इसको बारह दल का बताया है । देवता के

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३२ ।

२—शिवसंहिता, ५।८४-८६ की टीका ।

३—वही, ५।९८-९९ की टीका ।

४—वही, ५।१०४-१०५ की टीका ।

रूप में शिव का उल्लेख किया है। 'शिवसंहिता' में चतुर्थ कमल के इन लक्षणों में से बारह दल और हृदय स्थान सम्बन्धी दो लक्षण तो मिल जाते हैं किन्तु मूल पाठ एवं टीका में कहीं भी देवता का उल्लेख नहीं है। 'कल्याण' साधनांक, में चक्रों से सम्बन्धित एक लेख में हृदय स्थित अनाहत चक्र के देवता को 'रुद्र' कहा गया है,[1] जो शिव का ही पर्याय है। इस प्रकार तुलसी साहब वर्णित चतुर्थ कमल शिव संहिता एवं अन्य साक्ष्य के आधार पर अनाहत चक्र या कमल सिद्ध होता है।

(५) पंचम कमल के लक्षणों का विवरण देते हुए संत तुलसी ने इसे षोडसदल युक्त तथा कंठस्थान में स्थित माना है। इसके देवता के रूप में 'जगदम्बा जगरानी' का उल्लेख किया है। 'शिवसंहिता' के पंचम विशुद्ध कमल में स्थान और दल सम्बन्धी ये लक्षण प्राप्त होते हैं, किन्तु देवता के स्थान पर 'जगदम्बा' का उल्लेख न करके टीकाकार ने 'जीवात्मा' का उल्लेख किया है।[2] पर 'कल्याण' साधनांक में कंठस्थित विशुद्ध चक्र के अधिष्ठान देवता को अविद्या कहा गया है।[3] यह मत संत तुलसी के मत से साम्य रखता है, क्योंकि 'जगदम्बा जगरानी' एवं 'अविद्या' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों ही शक्ति तत्व की प्रतीक हैं। अतएव योगशास्त्रानुसार पंचम चक्र विशुद्धचक्र है।

(६) षष्ठ कमल का विवरण देते हुए तुलसी साहब ने इसका स्थान 'दीद' या नेत्र बताया है, इसके सहस्रदल हैं एवं इसमें निरंजन का वास है। शिवसंहिता में षष्ठ कमल का वर्णन दो दल के आज्ञा कमल के रूप में है, सहस्रार के रूप में नहीं। 'शिवसंहिता' के अनुसार सहस्रदल कमल का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, नेत्र नहीं। नेत्र के स्थान या भ्रूमध्य में शिवसंहिता के अनुसार दो दल का आज्ञा कमल है। पर तुलसी साहब ने सहस्रार का स्थान नेत्रों को माना है। अन्यत्र भी सहस्रार का वर्णन करते हुए उन्होंने इसका स्थान उदित मुदित दुइ दीप' अर्थात् नेत्रों को ही माना है।[4] अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि षष्ठ कमल का यह विवरण भ्रमात्मक है। वस्तुतः तुलसी साहब की यह योजना सुनिश्चित एवं सकारण है:—

१—कल्याणः साधनांक, पृ० ३८४।

२—शिवसंहिता, ५।११६ की टीका।

३—कल्याणः साधनांक, पृ० ३८४।

४—उदित मुदित दुई दीप कहावें। ता में सहस कंवल को पावें।।

—घटरामायण द्वितीय भाग, पृ० ४।

दष्ट कँवल दल नाभ वसेरा, वसै विस्नु तेहि तीरा हो ।
दल वारा विधि सिधि हिये माहीं, शिव कैलास कहाई हो ॥
सोला कंठ कंवल विधि ज्ञानी, जगदम्बा जग रानी हो ।
सहस कंवल दल ददि निरंजन, चाट रोकि गल गंजन हो ॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण की प्रत्येक पंक्ति में एक एक कमल की चर्चा द्वारा तुलसी साहब ने छः कमलों का परिचय दिया है । इन कमलों की व्यवस्था एवं तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार है:—

(१) प्रथम पंक्ति में तुलसी साहब ने गुदा में स्थित चार दल के कमल की चर्चा की है । और गणेश को इसका देवता बताया है । यह लक्षण 'शिवसंहिता' वर्णित मूलाधार चक्र से पूर्ण साम्य रखते हैं । 'शिवसंहिता' के अनुसार ही इसकी स्थिति योनि में है, चार दल हैं एवं इसके देवता गणेश हैं ।[2] वस्तुतः तुलसी साहब वर्णित यह मूलाधार कमल ही है ।

(२) द्वितीय कमल के लक्षणों में संत तुलसी ने इसके छः दल की चर्चा की है और ब्रह्म को इसका अधिष्ठातृ देवता बताया है । 'शिवसंहिता' के अनुसार छः दल के कमल का स्थान लिंगमूल में है एवं इसके देवता ब्रह्मा हैं ।[3] तुलसी साहब ने इसके स्थान का उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसके छः दल और देवता के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि यह स्वाधिष्ठान कमल है ।

(३) तृतीय कमल का स्थान नाभि बताया गया है एवं इसके दश दल और देवता विष्णु का उल्लेख किया गया है । उपर्युक्त उद्धरण की तृतीय पंक्ति में तृतीय कमल के इन लक्षणों की चर्चा की गई है । 'शिवसंहिता' में भी मणिपूरक या तृतीय कमल के यही लक्षण प्राप्त होते हैं एवं टीकाकार ने इस पद्म के देवता के रूप में विष्णु का उल्लेख किया है ।[4] अतएव तुलसी साहब द्वारा वर्णित तृतीय कमल मणिपूरक चक्र है ।

(४) चतुर्थ कमल के लक्षणों का वर्णन करते हुए तुलसी साहब ने इसकी स्थिति हृदय में मानी है एवं इसको बारह दल का बताया है । देवता के

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३२ ।

२—शिवसंहिता, ५।८४-८६ की टीका ।

३—वही, ५।९८-९९ की टीका ।

४—वही, ५।१०४-१०५ की टीका ।

रूप में शिव का उल्लेख किया है। 'शिवसहिता' में चतुर्थ कमल के इन लक्षणों में से बारह दल और हृदय स्थान सम्बन्धी दो लक्षण तो मिल जाते हैं किन्तु मूल पाठ एवं टीका में कहीं भी देवता का उल्लेख नहीं है। 'कल्याण' साधनांक, में चक्रों से सम्बन्धित एक लेख में हृदय स्थित अनाहत चक्र के देवता को 'रुद्र' कहा गया है,[१] जो शिव का ही पर्याय है। इस प्रकार तुलसी साहब वर्णित चतुर्थ कमल शिव संहिता एवं अन्य साक्ष्य के आधार पर अनाहत चक्र या कमल सिद्ध होता है।

(५) पंचम कमल के लक्षणों का विवरण देते हुए संत तुलसी ने इसे षोडसदल युक्त तथा कंठस्थान में स्थित माना है। इसके देवता के रूप में 'जगदम्बा जगरानी' का उल्लेख किया है। 'शिवसंहिता' के पंचम विशुद्ध कमल में स्थान और दल सम्बन्धी ये लक्षण प्राप्त होते है, किन्तु देवता के स्थान पर 'जगदम्बा' का उल्लेख न करके टीकाकार ने 'जीवात्मा' का उल्लेख किया है।[२] पर 'कल्याण' साधनांक में कंठस्थित विशुद्ध चक्र के अधिष्ठान देवता को अविद्या कहा गया है।[३] यह मत संत तुलसी के मत से साम्य रखता है, क्योंकि 'जगदम्बा जगरानी' एवं 'अविद्या' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों ही शक्ति तत्व की प्रतीक हैं। अतएव योगशास्त्रानुसार पंचम चक्र विशुद्धचक्र हैं।

(६) षष्ठ कमल का विवरण देते हुए तुलसी साहब ने इसका स्थान 'दीद' या नेत्र बताया है, इसके सहस्रदल हैं एवं इसमें निरंजन का वास है। शिवसंहिता में षष्ठ कमल का वर्णन दो दल के आज्ञा कमल के रूप में है, सहस्रार के रूप में नही। 'शिवसंहिता' के अनुसार सहस्रदल कमल का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, नेत्र नहीं। नेत्र के स्थान या भ्रूमध्य में शिवसंहिता के अनुसार दो दल का आज्ञा कमल है। पर तुलसी साहब ने सहस्रार का स्थान नेत्रों को माना है। अन्यत्र भी सहस्रार का वर्णन करते हुए उन्होंने इसका स्थान उदित मुदित दुइ दीप' अर्थात् नेत्रों को ही माना है।[४] अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि षष्ठ कमल का यह विवरण भ्रमात्मक है। वस्तुतः तुलसी साहब की यह योजना सुनिश्चित एवं सकारण है :—

१—कल्याण: साधनांक, पृ० ३८४।

२—शिवसंहिता, ५।११६ की टीका।

३—कल्याण: साधनांक, पृ० ३८४।

४—उदित मुदित दुई दीप कहावैं। ता में सहस कंवल को पावै॥
—घटरामायण द्वितीय भाग, ६

(क) तुलसी साहब ने सहस्रार के ऊपर दो दल एवं चार दल के कमलों की कल्पना की है[1] एवं चार दल के कमल में सत्य पुरुष (ब्रह्म) की अवस्थिति मानी है।[2] यदि वे सामान्य रूप से सहस्रार की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में मानते तो मूर्धा से ऊपर दो दल एवं चार दल के कमलों के निमित्त अवकाश असंभव था। इसलिए उन्होंने सहस्रार को ब्रह्मरन्ध्र से घसीट कर भ्रूमध्य या नेत्रों में ला पटका।

(ख) तुलसी साहब के अनुसार निरंजन काल पुरुष है[3], सत्य पुरुष या ब्रह्म नहीं।[4] अतएव उसका स्थान ब्रह्मरन्ध्र नहीं हो सकता। इसी प्रकार उसके निवास सहस्रार की अवस्थिति भी मूर्धा में नहीं हो सकती। फलस्वरूप सहस्रार स्थित निरंजन को मय कमल के ब्रह्मांड से नीचे नेत्रों का स्थान प्रदान किया गया। नेत्र स्थान या भ्रूमध्य में योगशास्त्र ने जिस दो दल के आज्ञा कमल को माना है, वह अपने नाम, स्थान एवं विशेषताओं से विमुक्त होकर सहस्रार के ऊपर दो दल के कमल के रूप में स्थित हो गया। उसके ऊपर चार दल का कमल कल्पित करके तुलसी साहब ने चक्र या कमलों की निम्नांकित विधि निर्धारित की :—

(अ) चार दल का कमल ... ब्रह्मरन्ध्र ... सत्य पुरुष का स्थान[5]

(आ) दो दल का कमल नेत्र एवं मूर्धा के मध्य ... शून्य परमात्मा[6]

१—सहस कंवल पार दल दोई, परे चारि दल सोई हो।
ता के परे अगमगढ़ घाटी, नीर तीर गहि बाटी हो।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३३।

२—आगे सखी विधि बात कहौं, दल चारि रहै सत साहिब मेरो।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १२७।

३—सोई निरंजन कहिये काला। आदहि जोति बिछाई जाला।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३७।

४—निरंकार से पुरुष नियारा। सो साहिब संतन का प्यारा।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६४।

५—ता के परे दल चारि कंवल, सो साहिब सत्त पुरुष कहलाई।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १००।

६—ता के परे दल दोई कंवल, सो सुन्न प्रमातम वास कराई।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १००।

(इ) सहस्रदल कमल नेत्र···निरंजन का स्थान[1]

इसके उपरान्त कमल या चक्रों की विधि परम्परानुमोदित है। इसका विवरण विशुद्ध, अनाहत, मणिपूरक, स्वाधिष्ठान एवं मूलाधार चक्र के रूप में तुलसी साहब के चक्र वर्णन में दिया जा चुका है। तुलसी साहब ने नेत्रस्थ सहस्रार के ऊपर के दोनों कमलों को योग के षट् चक्रों से भिन्न संतों का कमल कहा है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि तुलसी साहब ने सहस्रार की स्थिति नेत्र में क्यों मानी एवं योगशास्त्रानुसार भ्रूमध्य या नेत्रस्थ दो दल के आज्ञापद्म में स्थान आदि सम्बन्धी क्या परिवर्तन किए। निर्गुण काव्य के योग वर्णन में संत तुलसी की चक्रों या कमलों सम्बन्धी यह धारणा नितान्त मौलिक है।

चतुर्विध योग

योग चार प्रकार का माना गया है—मंत्र, लय, हठ और राजयोग :—

मन्त्रयोगो लयश्चैव हठो सौ राजयोगक:।[3]

प्राय: इनका पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है, पर कुछ स्थलों पर यह भी कहा गया है कि मन्त्र, लय, हठ और राजयोग यथाक्रम चार भूमिकायें हैं और ये चारों मिलकर एक ही चतुर्विध योग है जिसे महायोग कहते हैं:—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिका: क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥[4]

१—सहस कंवल दल ददि निरंजन, घाट रोकि गल गंजम हो।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३२।

२—कंवल चक्र षट खुल के कहिया। संत कंवल भिनि न्यारे रहिया ॥
ये कंवला षट चक्र से न्यारा। उन को जानै संत विचारा ॥
चारि कंवल दल देव बताई। दोइ दल कंवल कौन से ठाईं।
ये सब कंवल जोग से न्यारा। जोगी न जाने भेद विचारा ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३-४।

३—योगतत्वोपनिषद्, कल्याण : योगांक, पृ० ९८ में उद्धृत।

४—योगशिखोपनिषद्, कल्याण : योगांक, पृ० ९८ में उद्धृत।

गोरक्षनाथ के 'अमरौघप्रबोध' ग्रन्थ में चार प्रकार के योग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चित्त या मन का लय लययोग है, हठयोग पवनविधानरत (प्राणायाम) होता है, मंत्रयोग का सम्बन्ध मन्त्र (सोऽहं जाप) से है एवं चित्त का वृत्ति रहित होना राजयोग है :–

यच्चित्तसञ्जातलय: स लय: ऽदिष्ट: ।
यस्तु प्रभञ्जनविधानरतो हठस्थ: ।।
यो मंत्रमूर्तिवशग: स तु मंत्रयोग: ।
यश्चित्तवृत्तिरहित: स तु राजयोग: ।।[1]

'योगबीज' में चार प्रकार का योग वर्णित है । मंत्रयोग' का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'प्राणवायु हकार से बाहर जाता है एवं सकार से भीतर प्रवेश करता है । हंस-हंस इस अजपागायत्री मंत्र का सर्वजीव सर्वदा जप करते हैं । गुरुवाक्य से सुषुम्ना में सोऽहम्, सोऽहम्, इस प्रकार हंसमन्त्र का विपरीत जप होता है । इसको मंत्रयोग कहते हैं :—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेन्मरुत् ।
हंस हंसेति मन्त्रों यं सर्वजीवा जपन्ति तम् ।।
गुरु वाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जप: ।
सोऽहं सोऽहमिति प्राप्तो मन्त्र योग: स उच्यते ।।[2]

हठयोग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पश्चिम मार्ग (सुषुम्ना-ब्रह्मरन्ध्र) में वायुयोग (वायुगमन) से इसकी प्रतीति होती है, हकार से सूर्य (पिंगला) तथा ठकार से चन्द्र (इडा) कहा जाता है । सूर्य चन्द्र योग से हठयोग होता है :—

प्रतीतिर्वायुयोगाच्च, जायते पश्चिमे पथि ।
हकारेण तु सुर्योऽसौ, ठकारेणेन्द्र उच्यते ।।
सूर्याचन्द्रमसो र्योगाद् हठयोगोऽभिधीयते । ३

लययोग का अभिप्राय व्यक्त करते हुये कहा गया है कि जड़ता के नष्ट होने से क्षेत्रज्ञ (जीव) और परमात्मा का ऐक्य होता है । जीव और शिव की एकता

१—अमरौघ प्रबोध, श्लोक ४ ।
२—योग बीज, श्लोक १४६-१४७ ।
३— [illegible] १४८—१४९ ।

होने पर चित्त विलीन हो जाता है। इस प्रकार लय योग के उदय होने पर पवन स्थिर हो जाता है, और लय से स्वात्मानन्द परमपदरूप सौख्य प्राप्त होता है'---

क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ, तयोरैक्यं यथा भवेत ।
तदैक्ये साधिते देवि ? चित्तं यामि विलीनताम् ॥
पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति ।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दपरम्पदम् ॥[1]

राजयोग में योगी अणिमादि पद प्राप्त करता है :---

अणिमादि पदे प्राप्ते, राजते राजयोगतः ।[2]

'योगबीज' में चार प्रकार के योग का पृथक् पृथक् विवरण देने के साथ 'योग शिखोपनिषद्' की भाँति यह भी कह दिया गया है कि मंत्र, हठ, लय एवं राजयोग, ये एक ही योग की चार अन्तभूमिकायें होती है, जिसे महायोग कहते हैं :---

मन्त्रोहठो लयो राजायोगान्त ्मिकाः क्रमात् ।
एक एक चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।।[3]

तुलसी साहब ने भी चतुर्विध योग की चर्चा करते समय बहुत कुछ इसी पद्धति पर योग की चार गतियों का उल्लेख किया है—

चारि गती वैराग वताऊँ । योग चारि गती गति गाऊँ ।।[4]

इस उद्धरण में 'योग चारि गति गाऊँ से उनका अभिप्राय एक ही योग की चार गतियों (भेदों) से है अथवा योग के चार प्रकार से है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। किन्तु यह अनुमान करना असंगत न होगा कि तुलसी साहब योग के पृथक् पृथक् चार प्रकार मानते थे निम्नलिखित उद्धरणों से हमारे इस अनुमान को समर्थन प्राप्त होता हैं कि वे चार प्रकार के विभिन्न योग का प्रतिपादन करते है :—

१—योगबीज, श्लोक १५०-१५१ ।
२—वही, श्लोक १५२ ।
३—वही, श्लोक १४३-१४४ ।
४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५९ ।

(क) जोगी राह रमक तत तारी, करत जोग जुग चारी हो ।[1]

(ख) जोगी राह रीति दरसाऊँ। भिन भिन जोग विधी विधि गाऊँ ।[2]

इन उद्धरणों में जोग जुग चारी हो, एवं 'भिनि भिनि' शब्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि तुलसी साहब योग के चार प्रकार पृथक् पृथक् मानते थे । इसके अतिरिक्त 'पिरथम जोग' 'दूजा 'जोग' आ द शब्दों का प्रयोग भी यही सूचित करता है कि तुलसी साहब ने योग के चार प्रकारों को भिन्न भिन्न माना है:—

(क) पिरथम परम जोग गति गाऊँ । भिन्न भिन्नता को दरसाऊँ ।।[3]

(ख) दूजा जोग कहों समझाई । इड़ा पिंगला सुषमनि माई ।।[4]

तुलसी साहब ने योग के चार प्रकार का उल्लेख अवश्य किया है किन्तु इनके नाम मंत्र, लय, हठ और राजयोग की चर्चा कहीं नहीं की है। 'प्रथम योग' या 'परम योग' कहकर उन्होंने समाधि योग का का वर्णन किया है[5] एवं 'द्वितीय योग' या षट्चक्र योग' द्वारा उन्होंने हठयोग का प्रतिपादन किया है ।[6] लय और मंत्र योग का उल्लेख नहीं है, पर इसके तत्व प्राप्त होते हैं । यथार्थ यह है कि तुलसी साहब के ग्रन्थों में मंत्र, लय, हठ एवं समाधि योग के तत्व बिखरे हुए हैं। किसी एक स्थान पर व्यवस्थित ढंग से उनका वर्णन नहीं प्राप्त होता है। निम्नांकित पंक्तियों में तुलसी साहब के विभिन्न ग्रन्थों से प्राप्त चतुर्विध योग की सामग्री के आधार पर इनका परिचय प्रस्तुत किया जायगा :

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३१ ।

२—वही, वही, पृ० ३१ ।

३—वही वही, पृ० ६१ ।

४—वही, वही, पृ० ६१ ।

५—पिरथम परम जोग गति गाऊँ । भिन्न भिन्न तेहि को दरसाऊँ ।।
मुद्रा पांच अवस्था चारी । तीनि प्रान पुनि बानी चारी ।।
सहस कँवल दल सुरति लगावै । आतम तत्व अकास समावै ।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ६१ ।

६—दूजा जोग कँवल षट गाऊँ । वर्स तासु पर भेद बताऊँ ।।
षट् चक्र षट जोगी गावैं । तुलसी शब्द माहि समझावैं ।।
— घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३२ ।

(१) मंत्रयोगः—'योग बीज' में वर्णित मंत्र योग की चर्चा हम इस प्रसंग के प्रारम्भ में कर चुके है। उसमें प्रतिपादित किया गया है कि प्राणवायु हकार से बाहर जाता है एवं सकार से भीतर प्रवेश करता है। हंस रूपी इस अजपा गायत्री मंत्र का सब जीव सर्वदा जप करते हैं। गुरु वाक्य जान लेने से सुषुम्ना मार्ग में यही मंत्र उलटी दिशा में उच्चरित हो सोऽहं हो जाता है।[१] इस प्रकार योगी 'वह' (सः) के साथ 'मैं' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। यही मंत्र योग है। तुलसी साहब ने मंत्रयोग का वर्णन इस शास्त्रीय पद्धति पर नहीं किया है किन्तु 'योगबीज' में प्रतिपादित मंत्रयोग के तत्वों का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है:—

> बंकनाल पल पल नल खोली, गति अजपा नहिं बोली हो।
> ओहंग तत सोहंग मत जानी, पवन शब्द संध आनी हो॥[२]

यहाँ ओहंग (हंस मंत्र) का सोहंग (सो हं) में उच्चरित होना मंत्रयोग की अवस्था का ही सूचक है। इस प्रसंग के अतिरिक्त मंत्रयोग सम्बन्धी अन्य कोई उल्लेख संत तुलसी के काव्य में उपलब्ध नहीं है।

(२) लययोगः—'गोरक्षनाथ' ने 'अमरौघप्रबोध' में चित्त के सतत लय को लययोग कहा है।[३] 'योगबीज' में भी चित्त के विलय को लययोग का लक्षण माना गया है।[४] इसी ग्रन्थ में यह कहा गया है कि चित्त लय के समय पवन ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाता है और योगी को आत्मानन्द परम पद प्राप्त होता है।[५] 'हठयोग प्रदीपिका' में चित्त के लय की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चित्त की प्रवृत्ति के दो कारण हैं, एक वासना या मन और दूसरा पवन। वासना (मन) और पवन में से एक के नष्ट होने पर दोनों नष्ट

१—योग बीज, श्लोक १४६।१४७।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३१।

३—अमरौघप्रबोध, श्लोक, ४।

४—योग बीज, श्लोक, १५०।

५—योग बीज, श्लोक १५१।

(क) जोगी राह रमक तत तारी, करत जोग जुग चारी हो।[1]

(ख) जोगी राह रीति दरसाऊँ। भिन भिन जोग विधी विधि गाऊँ।[2]

इन उद्धरणों में जोग जुग चारी हो, एवं 'भिनि भिनि' शब्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि तुलसी साहब योग के चार प्रकार पृथक् पृथक् मानते थे। इसके अतिरिक्त 'पिरथम जोग' 'दूजा 'जोग' आ द शब्दों का प्रयोग भी यही सूचित करता है कि तुलसी साहब ने योग के चार प्रकारों को भिन्न भिन्न माना है:—

(क) पिरथम परम जोग गति गाऊँ। भिन्न भिन्नता को दरसाऊँ ॥[3]

(ख) दूजा जोग कहों समझाई। इड़ा पिंगला सुषमनि माई ॥[4]

तुलसी साहब ने योग के चार प्रकार का उल्लेख अवश्य किया है किन्तु इनके नाम मंत्र, लय, हठ और राजयोग की चर्चा कहीं नहीं की है। 'प्रथम योग' या 'परम योग' कहकर उन्होंने समाधि योग का का वर्णन किया है[5] एवं 'द्वितीय योग' या षट्चक्र योग' द्वारा उन्होंने हठयोग का प्रतिपादन किया है।[6] लय और मंत्र योग का उल्लेख नहीं है, पर इसके तत्व प्राप्त होते हैं। यथार्थ यह है कि तुलसी साहब के ग्रन्थों में मंत्र, लय, हठ एवं समाधि योग के तत्व बिखरे हुए हैं। किसी एक स्थान पर व्यवस्थित ढंग से उनका वर्णन नहीं प्राप्त होता है। निम्नांकित पंक्तियों में तुलसी साहब के विभिन्न ग्रन्थों से प्राप्त चतुर्विध योग की सामग्री के आधार पर इनका परिचय प्रस्तुत किया जायगा :

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३१।

२—वही, वही, पृ० ३१।

३—वही वही, पृ० ६१।

४—वही, वही, पृ० ६१।

५—पिरथम परम जोग गति गाऊँ। भिन्न भिन्न तेहि को दरसाऊँ ॥
मुद्रा पांच अवस्था चारी। तीनि प्रान पुनि बानी चारी ॥
सहस कंवल दल सुरति लगावै। आतम तत्व अकास समावै ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ६१।

६—दूजा जोग कंवल षट गाऊँ। बसैं तासु पर भेद बताऊँ ॥
षट् चक्र षट जोगी गावैं। तुलसी शब्द माहिं समझावैं ॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३२।

(१) मंत्रयोग:—'योग बीज' में वर्णित मंत्र योग की चर्चा हम इस प्रसंग के प्रारम्भ में कर चुके है। उसमें प्रतिपादित किया गया है कि प्राणवायु हकार से बाहर जाता है एवं सकार से भीतर प्रवेश करता है। हंस रूपी इस अजपा गायत्री मंत्र का सब जीव सर्वदा जप करते हैं। गुरु वाक्य जान लेने से सुषुम्ना मार्ग में यही मंत्र उलटी दिशा में उच्चरित हो सोऽहं हो जाता है।[1] इस प्रकार योगी 'वह' (स:) के साथ 'मैं' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। यही मंत्र योग है। तुलसी साहब ने मंत्रयोग का वर्णन इस शास्त्रीय पद्धति पर नहीं किया है किन्तु 'योगबीज' में प्रतिपादित मंत्रयोग के तत्वों का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है:—

बंकनाल पल पल नल खोली, गति अजपा नहिं बोली हो।
ओहंग तत सोहंग मत जानी, पवन शब्द संघ आनी हो॥[2]

यहाँ ओहंग (हंस मंत्र) का सोहंग (सो हं) में उच्चरित होना मंत्रयोग की अवस्था का ही सूचक है। इस प्रसंग के अतिरिक्त मंत्रयोग सम्बन्धी अन्य कोई उल्लेख संत तुलसी के काव्य में उपलब्ध नहीं है।

(२) लययोग:—'गोरक्षनाथ' ने 'अमरौघप्रबोध' में चित्त के सतत लय को लययोग कहा है।[3] 'योगबीज' में भी चित्त के विलय को लययोग का लक्षण माना गया है।[4] इसी ग्रन्थ में यह कहा गया है कि चित्त लय के समय पवन ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाता है और योगी को आत्मानन्द परम पद प्राप्त होता है।[5] 'हठयोग प्रदीपिका' में चित्त के लय की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चित्त की प्रवृत्ति के दो कारण हैं, एक वासना या मन और दूसरा पवन। वासना (मन) और पवन में से एक के नष्ट होने पर दोनों नष्ट

१—योग बीज, श्लोक १४६।१४७।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३१।

३—अमरौघप्रबोध, श्लोक, ४।

४—योग बीज, श्लोक, १५०।

५—योग बीज, श्लोक १५१।

हो जाते हैं ।[1] जिसमें मन का लय होता है, वहीं पवन का लय होता है । और जहां पवन का लय होता है वहीं मन का लय होता है ।[2] अतएव सुषुम्ना नाड़ी के भेदन को भली भांति जानकर और प्राण या पवन को उसमें गत करके ब्रह्मरन्ध्र में निरुद्ध करे ।[3] पवन का ब्रह्मरन्ध्र में निरोध ही लय है तथा इस प्रकार पवन के लय के साथ मन का लय भी हो जाता है ।[4] तुलसी साहब ने लययोग के निम्नलिखित वर्णन में उपर्युक्त योग शास्त्र में वर्णित लययोग की सब मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है:—

गगन वृच्छ के बीच में पंछी पवन चुगाय ।
पंछी पवन चुगाय जाय सोइ भेद लखावै ।
वंकनाल के पार पवन के भवन समावै ।
इंगल पिंगल बिच राह करै जोगी सोई जानै ।
तत अकाश के बीच मूल मन से पहिचानै ।
मन सूरत और पवन को तुलसी दीन लखाय ।
गगन वृच्छ के बीच में पंछी पवन चुगाय ।[5]

अर्थात् गगन रूपी वृक्ष के मध्य (ब्रह्मरन्ध्र) में पवनरूपी प्राणवायुमन रूपी पक्षी को चुगा रही है । इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों की मध्यवर्ती सुषुम्ना नाड़ी

१—हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥

—हठयोगप्रदीपिका, ४।२२ ।

२—मनो यत्र विलीयते पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्रविलीयते ॥

—हठयोगप्रदीपिका, ४।२३ ।

३—ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुसंस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥

—हठयोगप्रदीपिका, ४।१६ ।

४—हठयोग प्रदीपिका, ४।१६ की टीका ।

५—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३८ ।

के द्वारा योगी पवन को उसके भवन (ब्रह्मरन्ध) में पहुँचाता है। मूलतत्व ब्रह्म आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) के मध्य में है। पवन के साथ मन भी वहाँ पहुँच कर उस तत्व को पहचानता है अर्थात् उसमें मिल जाता है।

लययोग के उपर्युक्त उद्धरण में योगशास्त्र वर्णित पद्धति का पूरा प्रयोग है। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार पवन द्वारा मन के गगन या ब्रह्मरन्ध्र में जाकर लय होने का उल्लेख 'पवन के भवन समाने' द्वारा किया गया है। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार ही सुषुम्ना मार्ग से पवन के ऊर्ध्वगमन का उल्लेख इस उद्धरण की तृतीय एवं चतुर्थ पंक्ति में किया गया है। पवन के साथ मन के ब्रह्मरन्ध्र में लय होने का प्रसंग 'गगन वृच्छ के बीच में पंछी पवन चुगाय' कह कर प्रकट किया गया है। इस लय से 'योगबीज' में योगी को जिस 'आत्मानन्द परमपद' प्राप्ति की चर्चा की गई है, वह 'आकाश' या 'गगन' के उल्लेख से स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार तुलसी साहब के लय योग वर्णन में योगशास्त्र के लय सम्बन्धी सब तत्व प्राप्त होते हैं।

अन्यत्र भी लययोग के प्रसंग का संक्षिप्त वर्णन करते हुए उन्होंने इड़ा पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना मार्ग से पवन या प्राणवायु के भवन या ब्रह्मरन्ध्र में निरुद्ध होने का उल्लेख किया है :

इड़ा पिंगला सुखमनि माई। पवन भवन में जाइ समाई ॥[1]

इस उद्धरण में 'जाइ समाई' के द्वारा पवन के ब्रह्मरन्ध्र में लय होने का ही उल्लेख है। पवन के साथ मन का लय स्वयं सिद्ध है, इससे चित्तलय सम्पन्न होता है। यही लययोग है।

(३) हठयोग:—'अमरौघ प्रवोध' में हठयोग प्रभंजन विधानरत अर्थात् प्राणवायु या प्राणायाम योग कहा गया है।[2] योग बीज में कहा गया है कि इड़ा और पिंगला नाड़ियों के योग अर्थात् समीकरण द्वारा सुषुम्ना पथ में वायुगमन से हठयोग सम्पन्न होता है।[3] 'शिव संहिता' में भी कहा गया है कि जब वायु

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८७।
२—अमरौघ प्रवोध, श्लोक ४।
३—योग बीज, श्लोक १४८-१४९।

इड़ा पिंगला को त्याग कर सुषुम्ना रन्ध्र में प्रविष्ट होगा, तब वह आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में गमन करेगा।[1] सुषुम्ना रन्ध्र में वायु के प्रवेश करने पर उसके मुख को अपनी पुच्छ से आच्छादन करने वाली प्रसुप्त कुंडलिनी[2] गुरुप्रसाद से जागृत होकर सब चक्रों या कमलों को भेदती हुई[3] सहस्रार में जाकर विलय हो जायगी। कुंडलिनी के लय के साथ यह चतुर्विध सृष्टि भी परमात्मा में लय हो जाती है।[4]

तुलसी साहब ने भी हठयोग का वर्णन प्रायः इसी पद्धति पर किया है। 'अमरोध प्रबोध' के अनुसार ही उन्होंने हठयोग की नाड़ियों का प्रभंजन विधान-रत प्राणायाम योग कहा है:—

(क) इड़ा पिंगला सुखमन माहीं। स्वांसा पवन चढ़े तेहि राही ॥[5]

(ख) जोगी जोग करत भरमाने। स्वांसा पवन चढ़ावा जाने ॥
इड़ा पिंगला सुखमनि माई। पवन गगन में जाइ समाई ॥[6]

(ग) प्रानायाम जोग कोइ कीन्हा। कोइ कोइ पवन उलट कर लीन्हा ॥[7]

प्राणायाम द्वारा नाड़ियों में पवन संचार का वर्णन करने के साथ ही

१—यदा वायुश्चन्द्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम्।
वायुः परिचितो वायुः सुषुम्णा व्योम्नि संचरेत्।
—शिवसंहिता, ३।७१।

२—संवेष्ट्य सकला नाडीः सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्नाविवरे स्थिता ॥
सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
—शिवसंहिता, ५।७६-७७।

३—सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥
—हठयोगप्रदीपिका, ३।२।

४—अत्र कुंडलिनीशक्तिर्लयं याति कुलाभिधा।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥
—शिवसंहिता, ५।१९३।

५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १३६।
६—वही, वही, पृ० ८७।
७—वही, प्रथम भाग, पृ० ३०।

उन्होंने 'योग वीज' के अनुसार इड़ा और पिंगला नाड़ियों का उल्लंघन करके सुषुम्ना में पवन के प्रवेश का स्पष्ट उल्लेख किया है :—

जोगी जन पवन चढ़ावै । इड़ा पिंगला सुखमना आवै ।।[1]

इस उद्धरण में 'इड़ा पिंगला सुखमना आवै' के द्वारा तुलसी साहब ने इड़ा प्रवाहित प्राणवायु के सुषुम्ना में आने की चर्चा की है ।[1] 'योग वीज' में ही कहा गया है कि प्राण संचार की यह विधि हठयोग सम्पन्न करती है ।[2] उपर्युक्त पंक्तियों में हम कह चुके है कि शिव संहिता के अनुसार सुषुम्ना में प्रवेश करके प्राणवायु आकाश, गगन या ब्रह्मरन्ध्र में जाता है । तुलसी साहब ने भी निम्नलिखित पंक्तियों में रवि शशि अथवा पिंगला और इड़ा के मध्य मार्ग (सुषुम्ना) से प्राण के ऊर्ध्वगमन द्वारा गगन की घाटी या आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश का वर्णन किया है :—

रवि ससि मद्धि में वाटी । चढ़ै कोइ गगन की घाटी ।,[3]

हठयोग के साथ कुंडलिनी योग का सम्बन्ध समादृत है । हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि सम्पूर्ण पर्वत वनों सहित जितनी भूमि है उनका आश्रय (आधार) जिस प्रकार सर्पनामक शेष है, उसी प्रकार योग (हठयोग) के समस्त उपायों का आधार भी कुंडलिनी है ।[4] 'शिवसंहिता' एवं हठयोग प्रदीपिका के आधार पर हम उपर्युक्त पंक्तियों में कह चुके हैं कि सुषुम्नारन्ध्र में वायु के प्रवेश करने पर उसके मुख को आच्छादित करने वाली सुषुप्त कुंडलिनी जाग्रत होकर सब चक्रों एवं कमलों को वेधती हुई सहस्रार में जाकर विलय हो जाती है । तुलसी साहब ने भी कुंडलिनी (वंकनाल) के जाग्रत होकर सुषुम्ना द्वार मे प्रवेश करने ऊर्ध्वगमन का वर्णन किया है —

चढ़ी चेत चाली खड़ी वंक नाली । घनी द्वार पाली प्रवोयं सो थोयं[5]

उन्होंने कुंडलिनी द्वारा षट्चक्र वेध का उल्लेख करते हुए कहा है —

१—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २३० ।

२—योगवीज, श्लोक १४९ ।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ७६ ।

४—सशैलवनधात्रीणां यथाधारो हिनायकः ।।
सर्वेषां योगतन्त्राणां यथाधारो हि कुंडली ।।

—हठयोग प्रदीपिका, ३।१ ।

५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १९३ ।

वंकनाल पट मारग जाई। मन मयाभिन्न सुन्न के माई ॥[१]

अन्यत्र भी उन्होंने कुंडलिनी (वंकनाल) के सहस्रार गमन की चर्चा की है।

स्वांसा धाइ वंक खुल खोलै, सहस कंवल दल पाई ॥[२]

कुंडलिनी का सहस्रार में गमन ही हठयोग का परम प्रतिपाद्य है क्योंकि शिव-संहिता के अनुसार कुंडलिनी योग सिद्ध होने पर यह चतुर्विध सृष्टि भी परमात्मा में लय हो जाती है।

राजयोग (समाधियोग)—गोरक्षनाथ ने 'अमरौघप्रवोध' में राजयोग को चित्तवृत्ति रहित माना है—'यश्चित्तवृत्तिरहितः स तु राजयोगः।[४] 'पातंजल योग दर्शन' ही इस कथन का आधार ज्ञात होता है जिसमें चित्तवृत्ति के निरोध को समाधि योग कहा गया है।[५] उस समय द्रष्टा की अपने स्वरूप (आत्मस्वरूप) में स्थिति होती है।[६] 'योगवीज' में समाधि योग के द्वारा अणिमादिपद प्राप्त होने का वर्णन है—'अणिमादिपदे प्राप्ते, राजते राजयोगतः।[७] अणिमाआदि का अभिप्राय यहां अणिमा इत्यादि सुप्रसिद्ध सिद्धियां ज्ञात होती हैं। तुलसी साहब ने भी समाधि और सिद्धि का सम्वन्ध प्रकट किया है:—

सिध समाधि से सिद्धी आई। कुवा उमंगि जल अगिन वुझाई ॥[८]

किन्तु उनका समाधियोग अथवा राजयोग वर्णन सिद्धि योग न होकर आत्मयोग है। उन्होंने इसे 'सहज समाधि' भी कहा और इसकी साधना द्वारा आत्मतत्व के साक्षात्कार का उल्लेख किया है:—

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ६१।

२—वही, द्वितीय भाग, पृ० ६।

३—शिवसंहिता, ५।१९२।

४—अमरौघप्रवोध, श्लोक ४।

५—योगदर्शन, १।२।

६—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥

योग दर्शन, १।३।

७—योगवीज, श्लोक १५२।

८—रत्नसागर, पृ० १६५।

सेता जोगी सहज समाध लगाइया ।
उनमुनि तत्त अकास सेत तहं पाइया ॥
मुंद्रा थिर करि थोव निरखि जहं देखिया ।
आतम तत्त अकास सेत सोइ लेखिया ॥[1]

समाधि योग की इस अवस्था में प्रकाशित आत्मतत्व प्रकट होता है :--

हुआ नूर का तेज जोति में झलक दिखावा ॥
भया प्रकाश उजार झलक आतम दरसावा ॥[2]

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है:---

थिर मन मेरडंड चढ़ तारी, झलक जोति उँजियारी हो ।
तत अकास आतम विधि जानी, जोग ध्यान गति वानी हो ॥[3]

यही तुलसी साहब का समाधि योग है, जिसे उपर्युक्त उद्धरणों में वे 'सहज समाधि' एवं 'ध्यान योग' भी कहते हैं। इसकी तुलना यदि किसी से की जा सकती है तो शिव संहिता में वर्णित 'राजयोग' से -- जिसमें कहा गया है कि 'वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत्'[4] अर्थात साधक मन को वृत्तिहीन करके स्वयं पूर्ण आत्मरूप हो जाता है। यह लक्षण 'अमरौघ प्रबोध' के चित्त-वृत्तिहीन होने एवं योगसूत्र की आत्मरूप स्थिति सम्बन्धी धारणा से भी साम्य रखता है।

सुरति शब्द योग

योगाभ्यास की कई रीतियां प्रचलित हैं। इन में लक्ष्यगत कोई भेद नहीं है, मुख्य भेद धारणा के सम्बन्ध में है। जिस योगाभ्यास में शब्द की धारणा की जाती है, उसे सुरति शब्द योग अथवा शब्द योग कहते है।[5] इसमें शब्द का किसी वाह्य मंत्र से तात्पर्य नहीं है। शरीर के भीतर और शरीर के वाहर एक निरन्तर अनवरत ध्वनि हो रही है, जिसको अनाहत विना आघात के उत्पन्न ध्वनि कहते हैं।[6] गुरूपदिष्ट मार्ग द्वारा अभ्यास करने से इस ध्वनि की

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ८८।
२—वही, प्रथम भाग, पृ० ३८।
३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३१।
४—शिवसंहिता, ५।२०६।
५—कल्याण : साधनांक, पृ० ३८०।
६—वही, पृ० ३८०।

छोर हाथ में आ जाती है।[१] उसके सहारे चढ़कर चित्त मध्य की भूमिकाओं को पार करता हुआ नाद में विलीन हो जाता है:---

> यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
> तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥
> सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
> नादमेवानुसन्दध्यन्नादे चित्तं विलीयते ॥[२]

योग-उपनिषदों में सुरति शब्द योग का स्वरूप चित्त-नाद लय के रूप में ही वर्णित है। 'सुरति' को स्रोत शब्द का अपभ्रंश मानकर दर्शन ग्रन्थों के आधार पर इसका अर्थ 'चित्तवृत्ति का प्रवाह' भी माना जाता है।[३] अतः योग-उपनिषदों के अनुसार सुरति शब्द योग वह पद्धति हैं जिसमें चित्तवृत्ति के प्रवाह को शब्दोन्मुख करके शब्द या अनाहत नाद में विलय किया जाता है।

'हठयोगप्रदीपिका' में भी नादानुसंधान के प्रकरण में चित्त के नाद में लय होने की भावना द्वारा शब्द योग एवं असंप्रज्ञातसमाधि की स्थापना की गई है: –

> अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलक्ष्यते ॥
> ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥
> मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमंपदम् ॥[४]

'गोरखवानी' में स्पष्ट शब्दों में शब्द को अनाहत नाद एवं सुरति को चित्त कहा गया है:

> अवधू सबद अनाहद सुरति सो चित्त।[५]

इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय में सुरति शब्द योग का अभिप्राय नाद में चित्त का लय ही प्रमाणित होता है। अन्यत्र गोरक्षनाथ ने इसका वर्णन एक रूपक द्वारा इस प्रकार किया है—

१—वही, पृ० ३८०।
२—नादबिन्दूपनिषद्: कल्याण: साधनांक, पृ० ३८० में उद्धृत।
३—कल्याण: साधनांक, पृ० ३८०।
४—हठयोगप्रदीपिका, ५।१००।
५—गोरखवानी, पृ० १९६।

अवधू मनसा हमारी गींद बोलिये, सुरति बोलिये चौगानं ।
अनहृद ले षेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं ॥[१]

नाथ-सम्प्रदाय के अन्य सिद्धों ने भी नाद-चित्त लय के अर्थ में ही शब्द योग का उल्लेख किया है :--

जो पिंडे सोई ब्रह्ंडे ।
करद सबद नित लावौ ।
षिड़की पोलि दुवा दस उपरि
संघे तत मिलावौ ॥[२]

योग प्रभावित रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में भी सुरति शब्द की चर्चा है । इन रचनाओं में भी सुरति का अर्थ शब्दोन्मुख चित्त ही ज्ञात होता है :---

सुरति निरति का तीर छूछिम बासिका पीता ।
कहि रामानंद सबद सवाया और सबै घट रीता ॥[३]

कबीर की रचनाओं में 'सुरति' एवं 'शब्द' का वर्णन नाथ-सम्प्रदाय की सुरति शब्द साधना के अभिप्राय का प्रकटीकरण है । उन्होंने एक स्थल पर स्पष्ट शब्दों में अनाहत नाद में चित्त के विलय द्वारा 'आनन्दपद' प्राप्ति की चर्चा की है ।

संत कवि दरिया (बिहारी) ने अपनी 'शब्दावली' के अनेक स्थलों पर सुरति शब्द योग का वर्णन किया है---

गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहृद तूरा ।
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी ।
पद आनंद काल में छूटें, सुख में सुरति समांनीं ॥[४]

'सुख में सुरति समानी' कहकर कबीर ने नाद में चित्त के लय होने पर आत्मानंद का वर्णन किया है । 'हठयोगप्रदीपिका' के आधार पर हम उपर्युक्त

१—गोरखबानी, पृ० २७ ।
२—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० १२० ।
३—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ० १३ ।
४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९० ।

पंक्तियों में कह चुके हैं कि नाद में चित्त के लय द्वारा असंप्रज्ञात समाधि म परमपद प्राप्त होता है।

कबीर की भाँति ही चरणदास ने भी सुरति शब्द योग का वर्णन किया है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सुरति का अर्थ आत्मा मानकर आत्मा परमात्मा (नाद ब्रह्म) के योग को ही सुरति शब्द योग माना है। प्रमाणों के अभाव में इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, पर निम्नलिखित उद्धरण में 'अमल जु सुरत सनी' द्वारा आत्मा के ब्रह्मानन्द अनुभव को व्यक्त किया गया है:--

जब से अनहद घोर सुनी।
इंद्री थकित गळित कन हूवा, आसा सकल भुनी॥
घूमत नैन सिथिल भइ काया, अमल जु सुरत सनी।[१]

इस वर्णन और कबीर के उपर्युक्त वर्णन में अन्तर यह है कि क़बीर ने 'सुरति समानी' कहकर चित्त के लय का वर्णन किया है, जबकि चरणदास ने 'सुरति प्रेममद से ओतप्रोत हो गई, द्वारा आत्मा की ब्रह्मानन्द स्थिति का वर्णन किया है। डा० बड़थ्वाल ने भी चरणदास में सुरत का अर्थ आत्मा ही माना है।[२] इस प्रकार चरणदास के अनुसार सुरति शब्द योग आत्मा और शब्द-ब्रह्म का योग है।

संत कवि दरिया (बिहारी) ने अपनी 'शब्दावली' के अनेक स्थलों पर सुरति-शब्द का योग वर्णन किया है :—

सुन्न में सुरति गहि नाम लाई॥
देखि के तत्व निःसत्व निर्बान है।
रहो ठहराय सत शब्द पाई॥[३]

इस उद्धरण में 'शब्द' सत्यपुरुष या शब्द-ब्रह्म है- पर सुरति का अर्थ स्पष्ट नहीं है। अन्यत्र दरिया साहब ने सुरति को कमान कहा है और कदाचित् पवनरूपी बाण से षट्चक्र का भेदन करके शब्द-ब्रह्म को प्राप्त करने की चर्चा की है —

१—संत बानी संग्रह, पृ० १२०।
२—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० २७३।
३—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० १५।

संत की चाल तूं समझ बाँकी बड़ी ।
सुरति कमान कसि तीर मारा ॥
पाँचि के मेटि पच्चीस के दल मलो ।
छवों को छेदि पिउ सब्द सारा ॥[1]

इस उद्धरण में भी सुरति का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। संभव है कि उनका सुरति शब्द योग ध्यान-योग की किसी प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता हो। पर इतना निश्चित है कि दरिया साहब चित्तनाद योग को सुरति शब्द योग नहीं मानते हैं।

इसके विपरीत तुलसी साहब का सुरति-शब्द योग वर्णन पूर्णतया स्पष्ट है। उसके स्वरूप को समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं उपस्थित होती। वस्तुतः सुरति शब्द का जितना स्पष्ट रूप तुलसी साहब ने प्रतिपादित किया है, उतना किसी अन्य संत कवि ने नहीं। आध्यात्मिक विचारों में 'ब्रह्म वर्णन' के अन्तर्गत हमने यह प्रतिपादित किया है कि शब्द से तुलसी साहब का अभिप्राय सत्यपुरुष या शब्द-ब्रह्म है:---

सुन्न माहिं से शब्द जो आवै। सोई शब्द सतपुरुष कहावै ॥[2]

तुलसी साहब प्रयुक्त साम्प्रदायिक-शब्दों पर विचार करते समय सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि सुरति का अर्थ तुलसी साहब आत्मा अथवा जीवात्मा मानते हैं:—

जिव आत सोइ सुरति कहाई। या का तेज जोति ठहराई ॥[3]

इस प्रकार तुलसी साहब का सुरति-शब्द योग आत्मा परमात्मा या जीव ब्रह्म का योग है। इसी भाव को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है:—

सुरति-शब्द में जाइ समानी। निःसब्दीगति अगम लखानी ॥[4]

वस्तुतः सुरति-शब्द योग का यह रूप उनके तात्विक सिद्धान्त के अनुकूल भी है जिसके अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है और अंश का अंशी में विषय परमार्थ का

१— दरिया साहब, की शब्दावली पृ० ११।
२—रत्नसागर, पृ० १५१।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७३।
४—वही, प्रथम भाग, पृ० २५।

प्रतिपाद्य है ।[1] सुरति-शब्द योग के सम्बन्ध में यह भाव तुलसी साहब ने निम्नांकित पंक्तियों में और भी स्पष्ट रूप से प्रकट किया है:—

सिंधा बुंद समुंद समाना । लखि सूरति-शब्द ठिकाना ।[2]

अर्थात् सुरति (आत्मा) ने शब्द (परमात्मा) का स्थान देख लिया और इस प्रकार सिंधु की बिन्दु (आत्मा) समुद्र (परमात्मा) में विलय हो गई ।

तुलसी साहब के सुरति-शब्द योग की क्रियात्मक साधना योगमार्गियों की क्रियात्मक साधना से भिन्न नहीं है । वे मन को स्थिर करके सुरति को गगन या ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ाकर ब्रह्म साक्षात्कार की चर्चा करते हैं:—

संतन सुरति निरति ठहराई । मन थिर करि करि गगन चढ़ाई ।
सूरति सूर बीर गई द्वारे । नभ भीतर चढ़ि गगन निहारे ॥[3]

अन्यत्र उन्होंने मेरुदंड के पथ से सुरति के ऊर्ध्वगमन का उल्लेख किया है:—

शब्द सोर जो उठै अखंडा । सुरति राह से चढ़ि गई डंडा ॥[4]

शब्द ब्रह्म और सुरति रूपी आत्मा के योग को निम्नलिखित पंक्तियों में तुलसी साहब ने बहुत कुछ कुंडलिनी-योग की पद्धति पर प्रस्तुत किया है:—

सुरति चढ़ गई अकास में सोर भया ब्रह्मंड ।
सोर भया ब्रह्मंड अंड में धधक चढ़ाई ।
जब फूटा असमान गगन में सहज समाई ।
सुख सहर के बचि ब्रह्म से भया मिलापा ॥[5]

अतएव संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आत्मा को क्रियात्मक योग के द्वारा शब्द-ब्रह्म में मिला देना तुलसी साहब का सुरति-शब्द योग है । इसमें शब्द-ब्रह्म

१—सखि गगन गुरु पद पार सतगुरु सुरति अंश जो आवई ॥
सुरति अंस जो जीव पर गुरु। गगन बस कंजा भई ॥
अलि गगन वार सवार आई । ऐन बस गोगुन रही ॥
सखि ऐन सुरति पंन पावै । नील चढ़ि निरमल भई ॥
जब दीप सीप सुधारि सजि कै । पच्छिम पट पद में गई ॥
गुरु गगन कंज निलाप करिकै । सुरति सजि धजि मिलि रही ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४ ।

२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७९ ।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८६ ।

४—वही, प्रथम भाग, पृ० १८३ ।

५—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३८ ।

की धारणा तो प्रायः वही है जो गोरक्षनाथ एवं कबीर आदि निर्गुणियों में दृष्टिगत होती है, केवल सुरति को आत्मा या जीवात्मा मानकर ब्रह्म जीव अथवा अंशी अंश के योग का प्रतिपादन किया गया है।

पिंड और ब्रह्मांड

प्रकृति पुरुष के शृंगार से उत्पन्न हुए ब्रह्मांड और पिंड दोनों एक हैं। संसार में जो कुछ पिंड है, उसका उसी प्रक्रिया से निर्माण हुआ है जिससे ब्रह्मांड बना है। दोनों में निर्माण के तत्व समान रूप से विद्यमान हैं।[1] वस्तुतः समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध से ब्रह्मांड और पिंड एकत्व सम्बन्ध से युक्त है। इसीलिए नाथमत का प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्मांड में है, वह सब पिंड में है।[2]

इस सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धाचार्यों ने की। गोरक्षनाथ ने बड़े व्यापकत्व के साथ ब्रह्मांड की समस्त विशेषताओं को पिंड में विद्यमान बताया है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' एवं 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' ग्रंथों में इसका सुविस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इसमें ब्रह्मांड में वर्तमान सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, नदी, समुद्र, पर्वत, वन, तीर्थ स्थान, ऋषि, मुनि, पितर इत्यादि को पिंड में अवस्थित बताया गया है।[3] पिंड में ब्रह्मांड की इन विशेषताओं का उल्लेख करने के साथ ही इनका स्थान भी निर्दिष्ट किया गया है।[4] नाथ-सम्प्रदाय में योग का विकास अंकित करते समय हमने विस्तार से इनका वर्णन किया है, अतएव यहाँ पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

नाथ-सम्प्रदाय के भाषा ग्रंथों में भी इस सिद्धान्त का सुविस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। गोरक्षनाथ के गुरुभाई चौरंगीनाथ ने 'प्राणसंकली' के अन्तर्गत पिंड में ब्रह्मांड की स्थिति बताते हुए कहा है कि इस शरीर में सुमेर, अष्ट-कुलनाग, अष्ट पाताल, सप्त स्वर्ग, पंचभूत, सप्तवार, पन्द्रह तिथि, सत्ताइस नक्षत्र, नवग्रह, बारह राशि, सर्व देव-देवता, चतुर्युग इत्यादि सब कुछ विद्य-

---

१—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ११०

२—ब्रह्मांडवर्ति यत् किंचित्,
तत् पिंडेऽप्यस्ति सर्वथा।
—सिद्धसिद्धान्त संग्रह, ३।२

३—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, तृतीय उपदेश।

४—वही, वही,

मान हैं।[1] इसी शरीर में गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, देवनदी और गोमती नामक सप्त नदियां हैं।[2] गंगा नदी जीभ के दक्षिण में, यमुना जीभ के बाईं ओर, जिभ्या के मध्य में सरस्वती, एवं पवन नाड़ी में नर्मदा का स्थान है, अन्य नाड़ी में गोदावरी, मेरुदंड के मध्य देवनदी एवं मूत्रनाड़ी में गोमती की अवस्थिति है।[3] पिंड में ही केदार, सागर, गया, प्रयाग, वाराणसी नामक पंच-तीर्थ हैं एवं इनका स्थान क्रमशः शिर, उदर, कंठ, नाभि तथा पूर्ण पिंड है।[4] इस प्रकार 'प्राण संकली' में ब्रह्मांड के अनेक तत्वों की पिंड में समाविष्ट का प्रतिपादन किया गया है।

कबीर ने भी पिंड एवं ब्रह्मांड के एकत्व का वर्णन किया है।[5] चक्र, नाड़ी, त्रिवेणी, मानसरोवर इत्यादि योग के परम्परागत तत्वों को पिंडस्थ मानने के साथ उन्होंने शरीर के अन्दर की कोटि तीर्थ, काशीधाम, कमलापति,

---

१—एवं शरीरे आदिमेर, अष्टकुलनाग, अष्ट पाताल, चतुर्दश भवन ॥
सपत द्वीप, सपत सागर, सपत सलिला, सपत पाताल, सप्त सुर्ग,।
पंच भूत, सात बार, पंद्रह तिथि, सत्ताइस नक्षत्र, नवग्रह।
बारह राशि, सर्व देव देवता, चतुर्जुग संख्या।
बाहरि भीतर एक सतगुरु कथंता, सपुत्र श्रोता, कायारा विचार।
चौरासी षंड ग्यानं।

—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ३८।

२—गंगा जमुना सरस्वती नरबदा गोदावरी देवनदी गोमती
एते सरीरे सपत सलला बसै।

—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ४१।

३—जिभ्या दषण पासै गंगा बसै, जिभ्या बामै पासै जमुना बसै।
मध्य जिभ्या सरस्वती बसै, पवन नाड़ी नरबदा बसै।
अनिनाड़ी गोदावरी बसै, मेर मध्ये देवनदी बसै, मूत्रनाड़ी गोमती।
बसै, इति शरीर मध्ये सप्त सरिता बसै।

नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ४१-४२।

४—पंचतीर्थ केदार सागर गया प्रयाग वाराणसी।
सिरे केदार बोलीयै, उदरे सागर बोलियै, कंठे गया बोलीयै।
नाभि प्रयाग बोलीयै, सकल व्यापक वाराणसी बोलियै, ये सरीरे
पंचतीर्थ बोलियै।

नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ४२।

५—जो ब्रह्मांडि पिंड सो जानु। मान सरोवर करि स्नानु॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६९।

बैकुंठवासी ब्रह्मा विष्णु देवताओं का उल्लेख किया है।[1] कबीर की भाँति ही दादू दयाल ने भी विस्तार से ब्रह्मांड के दृश्य और अदृश्य पदार्थों को काया में बताया है।[2] उनके अनुसार पिंड में सृजनकर्ता, ओंकार, आकाश, पृथ्वी, पवन, प्रकाश, (अग्नि) जल, चन्द्र, सूर्य, तूर्यनाद, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अभेद अलख (ब्रह्म), दास (भक्त) विविध विलास, वाद्य, नाद ध्वनि, सौभाग्य शय्या, भाग्य मंगलचर्या और जय ध्वनि है।[3] कबीर के शिष्य संत धर्मदास ने भी पिंड में ही मानसरोवर, पाँच कहार, लोहा, लुहार, माली और उनके कार्य कलाप की अवस्थिति मानी है।[4] सन्त कवि दरिया ने काया के अन्दर ही शिव, शक्ति, जीव, काम. क्रोध. त्रिवेणी. अमृत. इत्यादि की स्थिति का वर्णन किया है।[5]

१—काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुंठवासी॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४५।

२—दादू दयाल की वाणी, द्वितीय भाग, पृ० १५१-१५६।

३—काया माहैं सिरजनहार। काया माहैं ओंकार॥
काया माहैं है आकास। काया माहैं धरती पास॥
काया माहैं पवन प्रकास। काया माहैं नीर निवास॥
काया माहैं ससिहर सूर। काया माहैं बाजै तूर॥
काया माहैं तीन्यू देव। काया माहैं अलख अभेव॥
काया माहैं खेलै दास। काया माहैं विविध विलास॥
काया माहैं बाजे बाजे। काया माहैं नाद धुनि साजे॥
काया माहैं सेज सुहाग। काया माहैं मोटे भाग॥
काया माहैं मंगल चार। काया माहैं जै जै कार॥
—दादू दयाल की वाणी, द्वितीय भाग, पृ० १५१ एवं १५६।

४—घटहि में मानसरोवर। घाट बंधावो हो।
घटहि में पाँच कहार। दूलह नहलावहि हो॥
घटहि में लोह लुहार। तो कंगना डावहि हो।
घटहि में मन ससमाली। तौ मौर लै आवहि हो॥
—धरमदास की शब्दावली, पृ० ४८।

५—काया में जिव औ सिव संग सक्ति है।
काया में काम औ क्रोध छावै॥
काया में त्रिवेनी की लहरि तरंग है।
काया में अमी सुख धार आवै॥
—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ९।

मान हैं।[1] इसी शरीर में गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, देवनदी और गोमती नामक सप्त नदियां हैं।[2] गंगा नदी जीभ के दक्षिण में, यमुना जीभ के बाईं ओर, जिभ्या के मध्य में सरस्वती, एवं पवन नाड़ी में नर्मदा का स्थान है, अन्य नाड़ी में गोदावरी, मेरुदंड के मध्य देवनदी एवं मूत्रनाड़ी में गोमती की अवस्थिति है।[3] पिंड में ही केदार, सागर, गया, प्रयाग, वाराणसी नामक पंच-तीर्थ हैं एवं इनका स्थान क्रमशः शिर, उदर, कंठ, नाभि तथा पूर्ण पिंड है।[4] इस प्रकार 'प्राण संकली' में ब्रह्मांड के अनेक तत्वों की पिंड में समाविष्ट का प्रतिपादन किया गया है।

कबीर ने भी पिंड एवं ब्रह्मांड के एकत्व का वर्णन किया है।[5] चक्र, नाड़ी, त्रिवेणी, मानसरोवर इत्यादि योग के परम्परागत तत्वों को पिंडस्थ मानने के साथ उन्होंने शरीर के अन्दर की कोटि तीर्थ, काशीधाम, कमलापति,

---

१—एवं शरीरे आदिमेर, अष्टकुलनाग, अष्ट पाताल, चतुर्दश भवन ॥
सपत द्वीप, सपत सागर, सपत सलिला, सपत पाताल, सप्त सुर्ग,।
पंच भूत, सात बार, पंद्रह तिथि, सत्ताइस नक्षत्र, नवग्रह।
बारह राशि, सर्व देव देवता, चतुर्जुग संख्या।
बाहरि भीतर एक सतगुरु कथंता, सपुत्र श्रोता, कायारा विचार।
चौरासी षंड ग्यानं।

—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ३८।

२—गंगा जमुना सरस्वती नरबदा गोदावरी देवनदी गोमती
एते सरीरे सपत सलला वसै।

—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ४१।

३—जिभ्या दछण पासै गंगा वसै, जिभ्या बामै पासै जमुना वसै।
मध्य जिभ्या सरस्वती वसै, पवन नाड़ी नरवदा वसै।
अनिनाड़ी गोदावरी वसै, मेर मध्ये देवनदी वसै, मूत्रनाड़ी गोमती।
वसै, इति शरीर मध्ये सप्त सरिता वसै।

नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ४१-४२।

४—पंचतीर्थ केदार सागर गया प्रयाग वाराणसी।
सिरे केदार बोलीयै, उदरे सागर बोलियै, कंठे गया बोलीयै।
नाभि प्रयाग बोलीयै, सकल व्यापक वाराणसी बोलियै, ये सरीरे
पंचतीर्थ बोलियै।

नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ४२।

५—जो ब्रह्मांडि पिंड सो जानु। मान सरोवर करि स्नानु॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६९।

वैकुंठवासी ब्रह्मा विष्णु देवताओं का उल्लेख किया है।[1] कबीर की भाँति ही दादू दयाल ने भी विस्तार से ब्रह्मांड के दृश्य और अदृश्य पदार्थों को काया में बताया है।[2] उनके अनुसार पिंड में सृजनकर्ता, ओंकार, आकाश, पृथ्वी, पवन, प्रकाश, (अग्नि) जल, चन्द्र, सूर्य, तूर्यनाद, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अभेद अलख (ब्रह्म), दास (भक्त) विविध विलास, वाद्य, नाद ध्वनि, सौभाग्य शय्या, भाग्य मंगलचर्या और जय ध्वनि है।[3] कबीर के शिष्य संत धर्मदास ने भी पिंड में ही मानसरोवर, पाँच कहार, लोहा, लुहार, माली और उनके कार्य कलाप की अवस्थिति मानी है।[4] सन्त कवि दरिया ने काया के अन्दर ही शिव, शक्ति, जीव, काम. क्रोध. त्रिवेणी. अमृत. इत्यादि की स्थिति का वर्णन किया है।[5]

१—काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे वैकुंठवासी॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४५।

२—दादू दयाल की वाणी, द्वितीय भाग, पृ० १५१-१५६।

३—काया माहैं सिरजनहार। काया माहैं औंकार॥
काया माहैं है आकास। काया माहैं धरती पास॥
काया माहैं पवन प्रकास। काया माहैं नीर निवास॥
काया माहैं ससिहर सूर। काया माहैं बाजै तूर॥
काया माहैं तीन्यू देव। काया माहैं अलख अभेद॥
काया माहैं खेलै दास। काया माहैं विविध विलास॥
काया माहैं बाजे बाजे। काया माहैं नाद धुनि साजे॥
काया माहैं सेज सुहाग। काया माहैं मोटे भाग॥
काया माहैं मंगल चार। काया माहैं जै जै कार॥
—दादू दयाल की वाणी, द्वितीय भाग, पृ० १५१ एवं १५६।

४—घटहि में मानसरोवर। घाट बंधावो हो।
घटहि में पाँच कहार। दूलह नहलावहि हो॥
घटहि में लोह लुहार। तो कंगना डावहि हो।
घटहि में मन सतमाली। तौ मौर लें आवहि हो।
—धरमदास की शब्दावली, पृ० ४८।

५—काया में जिव औ सिव संग सक्ति है।
काया में काम औ क्रोध छावै॥
काया में त्रिवेनी की लहरि तरंग है।
काया में अमी सुख धार आवै॥
—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ९।

मान हैं।[1] इसी शरीर में गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, देवनदी और गोमती नामक सप्त नदियां हैं।[2] गंगा नदी जीभ के दक्षिण में, यमुना जीभ के बाईं ओर, जिभ्या के मध्य में सरस्वती, एवं पवन नाड़ी में नर्मदा का स्थान है, अन्य नाड़ी में गोदावरी, मेरुदंड के मध्य देवनदी एवं मूत्रनाड़ी में गोमती की अवस्थिति है।[3] पिंड में ही केदार, सागर, गया, प्रयाग, वाराणसी नामक पंच-तीर्थ हैं एवं इनका स्थान क्रमशः शिर, उदर, कंठ, नाभि तथा पूर्ण पिंड है।[4] इस प्रकार 'प्राण संकली' में ब्रह्मांड के अनेक तत्वों की पिंड में समाविष्ट का प्रतिपादन किया गया है।

कबीर ने भी पिंड एवं ब्रह्मांड के एकत्व का वर्णन किया है।[5] चक्र, नाड़ी, त्रिवेणी, मानसरोवर इत्यादि योग के परम्परागत तत्वों को पिंडस्थ मानने के साथ उन्होंने शरीर के अन्दर की कोटि तीर्थ, काशीधाम, कमलापति,

---

१—एवं शरीरे आदिमेर, अष्टकुलनाग, अष्ट पाताल, चतुर्दश भवन ॥
सपत द्वीप, सपत सागर, सपत सलिला, सपत पाताल, सप्त सुर्ग,।
पंच भूत, सात वार, पंद्रह तिथि, सत्ताइस नक्षत्र, नवग्रह।
बारह राशि, सर्व देव देवता, चतुर्जुग संध्या।
बाहरि भीतर एक सतगुरु कथंता, सपुत्र श्रोता, कायारा विचार।
चौरासी पंड ग्यानं।
—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ३८।

२—गंगा जमुना सरस्वती नरबदा गोदावरी देवनदी गोमती
एते सरीरे सपत सलला बसै।
—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ४१।

३—जिभ्या दछण पासै गंगा बसै, जिभ्या बामै पासै जमुना बसै।
मध्य जिभ्या सरस्वती बसै, पवन नाड़ी नरबदा बसै।
अनिनाड़ी गोदावरी बसै, मेर मध्ये देवनदी बसै, मूत्रनाड़ी गोमती।
बसै, इति शरीर मध्ये सप्त सरिता बसै॥
नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ४१-४२।

४—पंचतीर्थ केदार सागर गया प्रयाग वाराणसी।
सिरे केदार बोलीयै, उदरे सागर बोलियै, कंठे गया बोलीयै।
नाभि प्रयाग बोलीयै, सकल व्यापक वाराणसी बोलियै, ये सरीरे
पंचतीर्थ बोलियै।
नाथसिद्धों की बानियां, पृ० ४२।

५—जो ब्रह्मांडि पिंड सो जानु। मान सरोवर करि स्नानु॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६९

बैकुंठवासी ब्रह्मा विष्णु देवताओं का उल्लेख किया है।[1] कबीर की भाँति ही दादू दयाल ने भी विस्तार से ब्रह्मांड के दृश्य और अदृश्य पदार्थों को काया में बताया है।[2] उनके अनुसार पिंड में सृजनकर्ता, ओंकार, आकाश, पृथ्वी, पवन, प्रकाश, (अग्नि) जल, चन्द्र, सूर्य, तूर्यनाद, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अभेद अलख (ब्रह्म), दास (भक्त) विविध विलास, वाद्य, नाद ध्वनि, सौभाग्य शय्या, भाग्य मंगलचर्या और जय ध्वनि है।[3] कबीर के शिष्य संत धर्मदास ने भी पिंड में ही मानसरोवर, पाँच कहार, लोहा, लुहार, माली और उनके कार्य कलाप की अवस्थिति मानी है।[4] सन्त कवि दरिया ने काया के अन्दर ही शिव, शक्ति, जीव, काम, क्रोध, त्रिवेणी, अमृत, इत्यादि की स्थिति का वर्णन किया है।[5]

१—काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुंठवासी॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४५।

२—दादू दयाल की वाणी, द्वितीय भाग, पृ० १५१-१५६।

३—काया माहैं सिरजनहार। काया माहैं औंकार॥
काया माहैं है आकास। काया माहैं धरती पास॥
काया माहैं पवन प्रकास। काया माहैं नीर निवास॥
काया माहैं ससिहर सूर। काया माहैं वाजै तूर॥
काया माहैं तीन्यू देव। काया माहैं अलख अभेव॥
काया माहैं खेलै दास। काया माहैं विविध विलास॥
काया माहैं बाजै बाजे। काया माहैं नाद धुनि साजे॥
काया माहैं सेज सुहाग। काया माहैं मोटे भाग॥
काया माहैं मंगल चार। काया माहैं जै जै कार॥
—दादू दयाल की वाणी, द्वितीय भाग, पृ० १५१ एवं १५६।

४—घटहि में मानसरोवर। घाट बंधावो हो।
घटहि में पाँच कहार। दूलह नहलावहि हो॥
घटहि में लोह लुहार। तो कंगना ढावहि हो।
घटहि में मन सतमाली। तो मौर लै आवहि हो॥
—धरमदास की शब्दावली, पृ० ४८।

५—काया में जिव औ सिव संग सक्ति है।
काया में काम औ क्रोध छावै॥
काया में त्रिवेनी की लहरि तरंग है।
काया में अमी सुख धार आवै॥
—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ९।

इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय की भांति ही निर्गुण-काव्य में भी पिंड में ब्रह्मांड के चर अचर और दृश्य अदृश्य पदार्थों की समाविष्टि का सिद्धान्त विस्तार से वर्णित है।

तुलसी साहब के आध्यात्मिक सिद्धान्तों में भी पिंड में ब्रह्मांड की स्थिति का सिद्धान्त समादृत है।[1] उनका कथन है कि जो कुछ ब्रह्मांड में, वह सब पिंड में है।[2] इस कथन की विस्तृत व्याख्या करते हुए उन्होंने 'घटरामायण' के प्रारम्भ में पिंड में ब्रह्मांड के विभिन्न पदार्थों की स्थिति का उल्लेख किया है एवं घट में उनका स्थान भी निर्दिष्ट किया है। इनके नाम अधिकतर साधना-परक हैं। कुछ का अभिप्राय स्पष्ट होता है, शेष रहस्यमय बने रहते हैं। अतएव उनकी परिगणना एवं उल्लेख से अधिक व्याख्या संभव नहीं है। तुलसी पूर्ववर्ती निर्गुण काव्य में उनका वर्णन अप्राप्य होने के कारण तुलनात्मक पद्धति भी विशेष सहायक नहीं होती।

पिंड के रहस्य को स्पष्ट करते हुए तुलसी साहब ने कहा है कि घट के भीतर ब्रह्मांड के कोटि सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। घट में अठारह गंडा नदियां, सात समुद्र, नभ और नीर हैं। इसी में राजा प्रजा, योद्धा सामन्त हिन्दू तुर्क हैं। पिंड में ही समस्त कर्म, नियम, दया, धर्म और पाप पुण्य की स्थिति है। शरीर में दंड और बन्धन है, इसी में बास और बसन हैं। घट में ही कामिनी फाग खेलती है। पिंड में पट् पलास प्रस्फुटित हुए हैं, इसी में स्वर्ग नरक हैं और यहीं जन्म मरण होता है।। घट के भीतर नृत्य होता है, राग एवं अलाप सुनाई देते है। पिंड में चार वेद, असंख्य ब्रह्म, सात स्वर्ग, पाताल और कराल काल हैं। शरीर में अड़सठ तीर्थ, गंगा नदी, स्नानकर्ता, और तीन लोक समाविष्ट है। घट में ही पर्वत, वृक्ष, दश अवतार, हाथी घोड़, और हिरण आदि हैं। इसमें ऊँचे नीचे पर्वत है, जिनसे प्रत्येक समय झरना बहता है। घट में मगर, मच्छ, बस्ती एवं उजाड़ प्रदेश हैं। पिंड में ही सुकदेव, व्यास, नारद, आदि ऋषि मुनि एवं शारदा है। वस्तुतः इस शरीर का विधान अनेक रूप

१—पिंड माहिं ब्रह्मंड दिखाना। ता को तुलसी करो बखाना।
—घटरामायण प्रथम भाग, पृ० १०।

२—जो बाहिर सोइ पिंड दिखाई। देखा जाय पिंड के माहीं।।
—घटरामायण प्रथम भाग, पृ० ३८।

सम्पन्न ब्रह्मांड का विधान ही है, अतएव इसका प्रसार कहाँ तक वर्णित किया जाय।[1]

संत तुलसी ने पिंड के अवरुद्ध द्वारों को उन्मुक्त करके इसका भेद प्राप्त किया और उसी के आधार पर विभिन्न मुख्य भेदों की आन्तरिक स्थिति एवं स्थान का निर्देश किया।[2] तुलसी साहब प्रतिपादित घट के इस रहस्य का निम्नलिखित पंक्तियों में वर्णन किया गया है।

१—कोटिन सूर ब्रह्मांड के माहीं। कोटिन कोटि देखि रव ठाहीं॥
घट विचार घट ही के माहीं। ता में ब्रह्मा विष्नु रहाई॥
सिव संकर सब घट में फंदा। घट में नदी अठारा गन्डा॥
घट में देखे सात समुंदर। जिन से जन पहुँचे नभ अंबर॥
घट में जोधा सामंत होई। घट में राजा परजा सोई॥
घट में हिन्दू तुर्क दोइ जाती। घट में कुला कर्म की पाती॥
घट में नेम दया अरु धर्मा। घट में पाप पुन्य बहु कर्मा॥
घट में डंड बंध दोउ भाई। जो कछु बाहरि सो घट माई॥
घट में वास बसन जग लागा। घट में कामिनि खेलै फागा॥
घट में घट पलास सोइ फूला। घट में लोग प्रजा झकझूला॥
घट में स्वर्ग नर्क हैं दोई। घट में जनम मरन पुनि होई॥
घट में नाच कूद रें माई. घट में राग अलाप सुनाई॥
घट में चारो वेद रहाई। घट में असंख्य ब्रह्म समाई॥
घट में सात स्वर्ग पाताला। घट में बैठा काल कराला॥
घट में अरसठ तीरथ माई। घट में गंगा धार बहाई॥
घट में लोग करें अस्नाना। घट में तीनों लोक समाना॥
घट में पर्वत बृच्छ पहारा। घट में बैठे दस औतारा॥
घट में हाथी घोड़ा होई। घट में हिरन रीछ सब कोई॥
ऊँच नीच पर्वत झक झाई। निसि दिन झरना बहत रहाई॥
मगर मच्छ घट माँहि मंझारा। घट में बस्ती और उजारा॥
घट में सुकदेव व्यास अरु नारद। घट में ऋषी मुनी अरु सारद॥
कहं लगि घट का कहौं पसारा। घट में अनेक विधान संवारा॥

—घटरामायण प्रथम भाग, पृ० ४३-४४।

२—तुलसी तन तारा खोलि किवारा। पैठि मंझारा सार लई॥
आगे पुनि गाऊँ बरनि सुनाऊँ। इत सब के स्थान मई॥

—घट रामायण, प्रथम भाग, पृ० ४४।

१७. वारुन
१८. कुंभेर
१९. जगजाय
२०. ग्रेधुंध
२१. विधान
२२. सुभपती
२३. छेरती
२४. उतरंत
२५. तिरंत
२६. पूरबो
२७. सरभो
२८. उग्रभीत
२९. किबलास
३०. करनास
३१. नदसूर
३२. पदमूर
३३. करतीत
३४. धरजीत
३५. मनमास
३६. सरसूत
३७. दरदीत
३८. उपमार
३९. अभियार
४०. अतरीत
४१. ताईत
४२. सुखमन्द
४३. सकलतेज
४४. मनसोत
४५. जगजोत
४६. उपजीत
४७. जगजीत
४८. परराज
४९. असमन्द
५०. नलपती
५१. ब्रह्मराज
५२. मंदीप
५३. सतसूक
५४. बीजमन्द
५५. बीजवन्द
५६. अजसार
५७. नितनाल
५८. शब्दाल
५९. गिरनाल
६०. सुपपाल
६१. रूपान
६२. लैंजार
६३. लौलार
६४. करिहाट
६५. करुनाट
६६. वैराग
६७. अवधूत
६८. आकाश
६९. जगवास
७०. सुनसूत
७१. मनभूत
७२. निरधार
७३. सतसार
७४. आसोग
७५. तनभोग
७६. जगजोग
७७. मनरोग
७८. सलरुंद
७९. सलसोख
८०. सुखरोग
८१. ज्ञानकुंभ
८२. मैनाऊंघ

८३ सीराद ८४ त्रिक्रोध[1]

८५ लैयाद

तुलसी साहब ने पिंड में इनका स्थान निर्दिष्ट नहीं किया है। उन्होंने पवन के जिन पचासी नामों का उल्लेख किया है, उनका वर्णन उपलब्ध साहित्य में कहीं नहीं मिलता। अतएव तुलना द्वारा इनका स्पष्टीकरण भी संभव नहीं है।

४. काया में सोलह गगन हैं।[2] इनके नाम निम्नांकित हैं:—

१.	निसाधर	९.	कदलीकंद
२.	पृथ्वीपद	१०.	जमरस
३.	विरिछसुर	११.	हरिहृदय
४.	दिलंभी	१२.	अधर
५.	हिरावद	१३.	कलंगीरूप
६.	निरंजन	१४.	धुंधरूप
७.	पुलंधर	१५.	मुक्तिकर
८.	सफानल	१६.	निजधाम[3]

संत तुलसी ने उपर्युक्त सोलह गगन या आकाश के पिंड में स्थिति स्थान नहीं बताए हैं। अतएव यह ज्ञात करना संभव नहीं है कि सोलह गगन से उनका अभिप्राय क्या है। गगन के साथ सोलह की संख्या का प्रयोग भी

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १३-१५।

२—आगे सुनहु गगन का लेखा। सोला गगन पिंड में देखा।।
विधि विधि नाम कहौं समझाई। चित दे सुनो गगन कर नाइ।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १५।

३—परथम गगन निसाधर मोखा। दूसर गगन पृथ्वी पद पोखा।।
तीसर गगन बिरिछ सुर सोघा। चौथा गगन दिलंभी गोधा।।
पंचम गगन हिरापद स्यामा। षष्टम गगन निरंजन नामा।।
सप्तम गगन पुलंधर चीन्हा। अष्टम गगन सफानल कीन्हा।।
कदली कंद नवौं कर नामा। दसवौं गगन जमरस के ठामा।।
एकादश गगन हरि हिरदे नामा। द्वादस गगन अधर परमाना।।
तेरा गगन कलंगी रूपा। चौधा गगन है धुंधं सरूपा।।
पंद्रा गगन मुक्ति कर नामा। सोला गगन गुप्त निज धामा।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १५-१६।

उपलब्ध साहित्य में प्राप्त नहीं होता है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' प्रभृति नाथ-पंथी ग्रन्थों में पंचव्योम का उल्लेख अवश्य है[1] पर सोलह गगन की चर्चा कहीं नही है।

५. घट में छः भंवर गुफा है। उनके नाम ये है :—[2]

१.	बेहद	४.	उन्मनी
२.	निरधारी	५.	हरीहद
३.	मुक्तिपद	६.	अधररंग[2]

एक भंवर गुफा की चर्चा संत-काव्य में प्रायः की गई है किन्तु छः भंवर गुफाओं का उल्लेख एवं उपयुक्त नामों का वर्णन कहीं नहीं किया गया है। अतएव इनका निश्चित अर्थ ज्ञात करना संभव नहीं है।

६. पिंड में छः त्रिकुटी हैं।[3] इनके नाम और स्थान इस प्रकार हैं:—

	नाम	स्थान
१	रुकमन्दर	यहां काल चक्र चलता है।
२	विजयवल	यहां पट्दल कमल है।
३	मुक्तिमणि	यहाँ मन और बुद्धि सुखपूर्वक निद्रित हैं।
४	शब्दनी	यहां नव नाड़ी निद्रित हैं।
५	गोमती	यहां अष्टदल कमल खिला है।

१—आकाशं पराकाशं महाकाशं तत्त्वाकशं सूर्याकाशमिति व्योमपंचकम् ॥
—सिद्धसिद्धान्त पद्धति, २।३०।

२—परथम बेहद नाम सुनइया। भंवर गुफा विच वास करइया ॥
दूसर नाम निरखि निरधारी। तीसर नाम मुक्ति पद प्यारी ॥
चौथा नाम उनमुनी स्याना। सोइ सब जोगिन का विसरामा ॥
पंचम नाम हरी हद सूना। छठवां चदर अधर रंग घूना ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६।

३—आगे भाखौं भेद निहारा। छं त्रिकुटी घट माहि निहारा ॥
जा को नाम ठाम दरसाऊँ। भिनि भिनि भाव भेद समझाऊँ ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६।

६ हंसमुखी यहाँ हंसपक्षी (मुक्तात्मा) रहते है।[1]

संत-काव्य में एक त्रिकुटी का वर्णन सर्वत्र प्राप्त है किन्तु छ: त्रिकुटियों की चर्चा तुलसी साहब के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलती। इनके नाम से भी विशेष कुछ ज्ञात नहीं होता, पर स्थान निर्दिष्टि से कुछ अनुमान किया जा सकता है। 'रुकमन्दर' की स्थिति तुलसी साहब ने 'काल चक्र' में मानी है। साम्प्रदायिक शब्दों के विवेचन में हमने यह प्रमाणित किया है कि तुलसी साहब 'निरंजन' को काल मानते हैं। अतएव 'कालचक्र' सहस्रार हो सकता है, क्योंकि उसी मे निरंजन की स्थिति है। इस प्रकार 'रुकमन्दर' का सम्बन्ध सहस्रार से अनुमानित करना असंगत न होगा। 'विजयबल' का स्थान तुलसी साहब ने 'षट्दल कमल' बताया है। षट्दल कमल स्वाधिष्ठान चक्र है।[2] अतएव विजय बल को स्वाधिष्ठान से अनुस्यूत करना अयुक्तियुक्त न होगा। 'मुक्तिमणि' के निर्दिष्ट स्थान के आधार पर कुछ अनुमान करना संभव नहीं है। यही स्थिति शब्दनी की है। कदाचित् उसका सम्बन्ध शब्द-ब्रह्म के स्थान अर्थात् चार दल के कमल से हो, जिसका वर्णन हम चक्र प्रकरण में कर चुके हैं। 'गोमती' का स्थान तुलसी साहब ने अष्टदल बताया है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' के अनुसार अष्टदल का कमल हृदय में है।[3] 'गोमती' से उनका अभिप्राय हृदय स्थित इस अष्टदल के कमल से ज्ञात होता है जहां उन्होंने इस पंचम त्रिकुटी की स्थिति मानी है। हंसमुखी के स्थान निर्देश से किसी प्रकार का अनुमान संभव नहीं है।

१—प्रथम कहौं रुकमन्दर नाऊँ। काल को चक्र फिरै तेहि ठाऊँ।।
दूसर बली बिजै बल सोई। षटदल कंवल फूल जहं होई।।
तीसर नाम कुतमनि जोई। मन बुधि निद्रा से सुत सोई।।
चौथा नाम सब्दनी होई। नौनाड़ी सुपने ये सोई।।
पंचम नाम गोमती गाऊँ। अठदल कंवल फूल तेहि ठाऊँ।।
हंसमुखी छठवीं कर नामा। हंस विहंग बसै तेहि ठामा।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १६-१७।

२—शिव संहिता

३—चतुर्थ हृदयाधारमष्टदल कमलमधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां।
लिंगाकारां ज्योतिर्ध्यायेत् सैव हंसकला सर्वेन्द्रियवश्या भवति।।
—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, २।४।

७. घट में वत्तीस नाल हैं।' इनके नाम और स्थान इस प्रकार हैं:—

नाम	स्थान
१-अभयातेज	
२-रहस	चार दल का कमल
३-कनक	चौंसठ योगिन का वास
४-बिकट	बहत्तरवां कोठा
५-घुंघर	काल का वास
६-रूपरम	निर्गुण का वास
७-सेत	मन की कला का वास
८-अभयामत	चार कामिनियों का वास
९-मुकरमा	द्वादश दूत का वास
१०-हरि संग्रह	राम लक्ष्मण का वास
११-मुक्तामणि	कलसरदूत का वास
१२-पोहपपट	नभ द्वार
१३-नटनौली	
१४-नटवर	छप्पन कोटि मेघ का विश्रामस्थल
१५-गगन	यहाँ कूप से निरन्तर जल गिरता है
१६-सुखमनि	सुकृत का स्थान
१७-अनूप	अंड का वास
१८-बिमलसुर	तैंतिस कोटि देवता का वास
१९-भंवर	कुंभ का वास
२०-अजोरक	सुरति-शब्द का मिलाप स्थल
२१-हंसदे	मानसरोवर
२२-संतअंकित	अशोकवन
२३-नागर	यमवियुक्त स्थान
२४-विपम	निजधाम
२५-पदम्सुर	माया रहित स्थान
२६-गोधर	प्रवेश द्वार
२७-त्रिकुट	रावण का स्थान
२८-सेतद्वार	सात समुद्र
२९-सिखरशैल	अगम अक्षर का वास

१—आगे घट का भेद बखाना। बतिस नाल घट भीतर जाना ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १९।

३०-अधर	निरंजन का वास
३१-	सुरति–कमल
३२-वंकनाल	शब्द-शून्य[1]

तुलसी साहब प्रचारित वत्तीसनाल और उनके स्थानों का वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया। इनमें से ३१ का नाम एवं १ और १३ का स्थान उन्होंने निर्दिष्ट नहीं किया है। वत्तीसवीं 'वंकनाल' के अतिरिक्त शेष नाम उनकी कल्पना ज्ञात होते हैं। इनका उल्लेख अन्यत्र नहीं प्राप्त होता।

८. पिंड में सोलह द्वार हैं।[2] ये इस प्रकार हैं:—

नाम	स्थान
१. प्रथम द्वार	सहस्रदल कमल
२. द्वितीय द्वार	अक्ह कमल
३. तृतीय द्वार	गगन के नीचे
४. चतुर्थ द्वार	अधर के मध्य (काल निवास)
५. पंचम द्वार	मन का वास
६. षष्ठ द्वार	भंवर गुफा
७. सप्तम द्वार	पंचभूतों के लय का स्थान
८. अष्टम द्वार	मूलचक्र
९. नवम द्वार	ताल (मानसरोवर)
१०. दशम द्वार	अधर
११. एकादश द्वार	गुप्त
१२. द्वादश द्वार	गुप्त
१३. त्रयोदश द्वार	गुप्त
१४. चतुर्दश द्वार	गुप्त
१५. पंचदश द्वार	सत्यलोक

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १९-२१।

२—घट घट में सब लखि परा, भिनि भिनि अगम पसार।
तन बिच सोला द्वार को, तुलसी कहत पुकार।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३०।

१६. षोडश द्वार अगमपुर[१]

संतसाहित्य में नव द्वारों[२] एवं ब्रह्मरन्ध्र को मिलाकर दश द्वार[३] की चर्चा प्रायः की गई है, पर सोलह द्वार का वर्णन तुलसी साहब की निजी कल्पना है। सोलह द्वार का वर्णन उपलब्ध निर्गुण काव्य में कहीं नहीं है एवं तुलसी साहब ने भी इन द्वारों का भेद स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित नहीं किया है।

१. तुलसी साहब ने पिंड भेद एवं उसके स्थानों का वर्णन किया है।[४] ये इस प्रकार हैं।

	नाम	स्थान
१	पृथ्वी का माया	मैनागिरि देश
२	सूर्य का तेज	उदयागिरि पर्वत
३	चन्द्र की ज्योति	चंदागिरि पर्वत
४	पानी का मूल	निरन्जन के नेत्र
५	कमल-पुष्प	अक्षय द्वीप
६	वायु की नाभी	रंभा के पेड़ (पेट)
७	गणेश की स्वादी	मानसरोवर

१—पहला सहस कंवल में द्वारा। दूसर अलह कंवल के पारा॥
तीसर द्वार गगन के नीचे। चौथा द्वार अधर के बीचे॥
जहवां बैठा कदर काला। जिनहिं बिछाया जग जप जाला॥
पांचव द्वार बसौं दिसि बाहिर। मन रस बैठा जग में जाहिर॥
भंवर गुफा बिच छठवां द्वारा। कंवल भंवर तहं बसै नियारा॥
सतवां द्वार बसो के दहिना। पांचों सून भूत बिन सैना॥
अठवां मूल चक्र के माहीं। बैठा मूल मोह रस राहीं॥
नौवां द्वार ताल में होई। स्वांसा पवन चलावै सोई॥
ये नौ द्वार काल के जाना। दसवां द्वार अधर बखाना॥
द्वार चारि गुप्त गुहराई। जानै साध संत जिन पाई॥
ऐसे चौथा भेद पुकारा। पंद्रा द्वार सत्त के पारा॥
सोला खिरकी अगम निसानी। जा में सत साहिब की बानी॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३०।

२—संत कबीर, पृ० ८५।
३—संत कबीर, पृ० ८६।
४—आगे घट का भेद बताई। अब यो सुनो कहो समझाई॥
अब या का अरथंन सुनाऊं। घट में ठौका ठौर बताऊं॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४०।

	नाम	स्थान
८	समुद्र का स्रोत	समीरुख
९	आकाश का पोत	वाराह का मस्तक
१०	सुरति-सहदानी	शब्द
११	जीव का वाणी	अष्ट कमल
१२	जीव का नाम	शून्य-कमल
१३	सुरति का स्थान	दो दल कमल
१४	ध्यान की सुरति	गगन के ऊपर
१५	ज्ञान की मूर्ति	ब्रह्मांड-कमल
१६	सुरति की निरति	शब्द में
१७	सुमेर की जड़	नाग का हृदय
१८	तिल भर हाड़	पंचेन्द्रियां
१९	गगन का कलेजा	राग का आकार
२०	मन का मुख	षट्दल कमल
२१	काम की आदि	शंकर की सुरति
२२	देह का तेज	हरि
२३	पिंड का पिंजर	पृथ्वी
२४	शिव का ध्यान	शब्द-कमल
२५	वेद का भेद	चार दल कमल
२६	गुणी का गुण	षट्दल-कमल
२७	राग का रस	पुरुष-शब्द
२८	सुर का आकार	शून्य
२९	आकार की आदि	अनाहत नाद
३०	अंत की समाधि	सत्यलोक
३१	माया की ध्वनि	चतुर्दश कमल
३२	ध्वनि की शून्यता	वेद का मूल
३३	शून्य का शब्द	निरन्तर
३४	ज्ञान का मूल	नाम[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में पिंड के जिन भेदों और स्थानों का वर्णन किया गया है, उससे इनका रहस्य स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः यह समस्त विषय साधनापरक है एवं स्थानों और नामों की कल्पना तुलसी साहब की व्यक्तिगत उद्भावना है। कुछ विषय अवश्य परम्परानुमोदित है। उदाहरणार्थ सुरति का

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४०-४७।

स्थान शब्द निर्दिष्ट करना, परम्परागत है। यह बोधगम्य भी है क्योंकि सुरति-शब्द योग की चर्चा निर्गुण-काव्य में बराबर की गई है। इस प्रकार के परम्परागत विषयों को छोड़कर अधिकतर प्रसंग रहस्यमय ही बने रहते हैं।

१०. पिंड में बहत्तर कोठे है।[१] तुलसी साहब ने इनके निम्नलिखित नाम और स्थान बताए हैः—

	नाम	स्थान
१.	उतेसुर	ब्रह्मा
२,	धर्मगंध	विष्णु
३.	धुनधर	शंकर
४.	रक्तमणि	वरुण
५.	हरिसंग्रह	आठसुमेरु
६.	विजयधुंध	मन की कला
७.	नगरा	अन्नदेव
८.	रुकम	मदन गोपाल
९.	गोड़मन	माया
१०.	उघड़ू	सहस्र कोटि सूर्य
११.	करमौनी	ज्योति
१२.	विषमदे	सुर नर मुनि
१३.	मलदू	चौसठ लाख योगिनी
१४.	गगनधर	लक्ष्य अलक्ष्य
१५.	हम सुन्दर	सुगन्ध
१६.	अतिसुर	पाँच बाजार
१७.	शिपरचल	अठारह गंडा नदी
१८.	कड़ेसुर	जीव का तेज
१९.	बंकचल	मुरली
२०.	कुलंग	सुकृत वाद्य
२१.	भानसुर	अलख निरंजन
२२.	धुंधेसुर	मन का ध्यान
२३.	तरंगीताल	काल

१—कोठा बहत्तर कहेउ बखानी। ये घट भीतर जो पहिचानी।।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४७।

	नाम	स्थान
२४	कंठसुर	सुमति विचार
२५	प्रकृती	मल पति
२६	मुदापल	प्रधान पवन
२७	सुताचल	अलिप्त मन
२८	धरनीधर	माया मोह
२९	कमची	मेघ
३०	निर्मल	साहिब (सत्यपुरुष)
३१	कटोमल	नव नाथ
३२	बनासुर	नौ कुत्ते
३३	अनंधू	यम तेज
३४	जमाउत	यमुना नदी
३५	सकरद्	कामदेव
३६	गनकू	क्रोध, क्लेश
३७	धुरधंधा	कृष्ण
३८	वंशवल	चौदह कामिनियाँ
३९	करियाधर	दया धर्म
४०	किरिकोता	सात समुद्र
४१	मौरादे	नौ कुल के नाग
४२	कुंमेसुर	बारह कुंभ
४३	मगताधर	भय त्रास
४४	कुसमाधर	चार वेद
४५	मायारट	रोग दोष
४६	मलयागिरि	हंस
४७	हलासुर	अड़सठ तीर्थ
४८	कुकुरंदर	सत्य सुकृत
४९	मरमी	पवन आकाश
५०	धूधर	हरि का तेज
५१	मजकुर	सहस्रदल कमल
५२	जरादे	अग्नि
५३	तेराधर	धीर गंभीर
५४	सिसंधर	सत्य, सन्तोष
५५	हिंडोला	नौ नाड़ी

	नाम	स्थान
५६	गिरधर	अठारह मार
५७	कफादे	मृत्यु
५८	समेरवल	मंगल पुरुष
५९	छे गुंदर	आत्म रूप
६०	धोलाधर	त्रैलोक
६१	जैसुंदर	वलधर पुरुष
६२	हीरापुर	नीर
६३	कलाकर	चौदह भुवन
६४	तिलविक्रम	जल, थल, कुंभ
६५	सुरतसर	जप, तप, यज्ञ
६६	शिखरचल	असंख्य योगी
६७	अनंदी	अकाल
६८	त्रिवादे	चित्त का चक्र
६९	सनीता	ज्ञानी वृद्ध
७०	सलीका	शून्य की ध्वनि
७१	उदाधर	जगपालक
७२	गंजधर	कर्ममूल[1]

बहत्तर कोठों का उल्लेख गोरखबानी में प्राप्त है।[2] कबीर ने भी अपनी रचनाओं में बहत्तर खंड की चर्चा की है।[3] इस प्रकार योग और सन्त काव्य में बहत्तर कोठों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी के आधार पर तुलसी साहब ने बहत्तर कोठों का वर्णन किया है। इन कोठों के नाम एवं स्थान की कल्पना उन्होंने स्वयं की है। तुलसी पूर्ववर्ती निर्गुण-काव्य में पिंडस्थ कोठों की यह रहस्यमय विधि कहीं भी वर्णित नहीं है।

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४५, ४७

२—अठारह मार कोट कंठजरा लाइले, बहतर कोठडी निपाई।
नव सुत्र ऊपरै जंत्र फिरै, तब कायागढ लिया न जाई ॥
—गोरखबानी, पृ० १२१।

३— गज नव गज दस गज इकीस पुरीआ एक तनाई।
साठ सूत नव खंड बहतरि पाटु लगो अधिकाई ॥
संत कबीर, पृ० ५७।

११. घट में चौरासी सिद्ध हैं।[४] इनके नाम इस प्रकार हैः—

१ अगोनी
२ अजर दया
३ पवनगिरि
४ उचंद कंवल
५ उदद कंवल
६ पेषनादार
७ नालीवर
८ कोमार
९ बालागिरि
१० जैदेव
११ नलमोवर
१२ परसोत्तम
१३ त्रिकुमिल
१४ पुरुषोपत
१५ नलवोती
१६ बाइभक्ष
१७ नाल पाजरी
१८ पायापाल
१९ जैपाल
२० अजया काल
२१ केदारली
२२ रतनागिरि
२३ मेलमहंत
२४ उदया
२५ झकझेला
२६ उषम जार
२७ मनउलगिरि
२८ सरपसोप
२९ जंमीर नागर
३० हंस मोह
३१ विराज
३२ ललित दया
३३ करुनामय
३४ बाप जार
३५ जीव भूपन
३६ उदीत साह
३७ जगतधार
३८ साहपाल
३९ परनपोष
४० नौनागर
४१ ज्ञानपती
४२ साधगिरि
४३ नलादेव
४४ राहन अपढ़
४५ सुकृत जीव
४६ ऊच माया
४७ सिंह नाद
४८ सहज तेज
४९ वैरंगनाद
५० फूल काज
५१ केदार कोठ
५२ सुचलोन
५३ मजागुनी
५४ तानी गंभीर
५५ जगपती
५६ गंधर्वसूत

४—सिध चौरासी घट में होई। ता को देखा सुरति बिलोई॥

— घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४८

	नाम	स्थान
५६	निरधर	अठारह मार
५७	कफादे	मृत्यु
५८	सुमेरवल	मंगल पुरुष
५९	छै सूंदर	आत्म रूप
६०	धौलाधर	त्रैलोक
६१	जैसुंदर	बलधर पुरुष
६२	हीरापुर	नीर
६३	कलाकर	चौदह भुवन
६४	तिलविक्रम	जल, थल, कुंभ
६५	सुरतसर	जप, तप, यज्ञ
६६	शिखरचल	असंख्य योगी
६७	अनंदी	अकाल
६८	त्रिवादे	चित्त का चक्र
६९	सनीता	ज्ञानी वृद्ध
७०	सलीका	शून्य की ध्वनि
७१	उदाधर	जगपालक
७२	गंजधर	कर्ममूल[1]

बहत्तर कोठों का उल्लेख गोरखबानी में प्राप्त है।[2] कबीर ने भी अपनी रचनाओं में बहत्तर खंड की चर्चा की है।[3] इस प्रकार योग और सन्त काव्य में बहत्तर कोठों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी के आधार पर तुलसी साहब ने बहत्तर कोठों का वर्णन किया है। इन कोठों के नाम एवं स्थान की कल्पना उन्होंने स्वयं की है। तुलसी पूर्ववर्ती निर्गुण-काव्य में पिंडस्थ कोठों की यह रहस्यमय विधि कहीं भी वर्णित नहीं है।

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४५,४७

२—अठारह मार कोट कंठजरा लाइले, बहत्तर कोठडी निपाई।
नव सुत्र ऊपरैं जंत्र फिरै, तब कायागढ लिया न जाई॥
—गोरखबानी, पृ० १२१।

३—गज नव गज दस गज इकीस पुरीआ एक तनाई।
साठ सूत नव खंड बहतरि पाटु लगो अधिकाई॥
संत कबीर, पृ० ५७।

११. घट में चौरासी सिद्ध हैं।[४] इनके नाम इस प्रकार हैं:—

१ अगोनी	२९ जंभीर नागर
२ अजर दया	३० हंस मोह
३ पवनगिरि	३१ बिराज
४ उचंद कंवल	३२ ललित दया
५ उदद कंवल	३३ करुनामय
६ पेषनादार	३४ बाप जार
७ नालीवर	३५ जीव भूपन
८ कोमार	३६ उदीत साह
९ बालागिरि	३७ जगतधार
१० जैदेव	३८ साहपाल
११ नलमोवर	३९ परनपोप
१२ परसोत्तम	४० नौनागर
१३ त्रिकुमिल	४१ ज्ञानपती
१४ पुरुषोपत	४२ साधगिरि
१५ नलवोती	४३ नलादेव
१६ वाइभक्ष	४४ राहन अपढ़
१७ नाल पाजरी	४५ सुकृत जीव
१८ पायापाल	४६ ऊच माया
१९ जैपाल	४७ सिंह नाद
२० अजया काल	४८ सहज तेज
२१ केदारली	४९ वैरंगनाद
२२ रतनागिरि	५० फूल काज
२३ मेलमहंत	५१ केदार कोठ
२४ उदया	५२ सुचलोन
२५ झकझेला	५३ मजागुती
२६ उषम जार	४५ तानी गंभीर
२७ मनउतगिरि	५५ जगपती
२८ सरपसोष	५६ गंधर्वसूत

४—सिध चौरासी घट मैं होई। ता को देखा सुरति बिलोई ॥
— घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४८

५७ रतनागिरी	७१ तेनौगार
५८ सरोजमल	७२ कालमुनी
५९ कुल कुंभ	७३ प्रेममुनी
६० पिगोभ	७४ हंस करनाग
६१ गोड़ आसन	७५ मलमोद
६२ पक्षपती	७६ कूरनाकर
६३ भाड़नाद	७७ सुपन सरीप
६४ पोहय माल	७८ सुरति लोक
३५ नरदया	७९ साध वाच
६६ इन्द्रमनी	८० सुख वाच
६७ डंभीर	८१ नेह वाच
६८ कहूकिवोहळ	८२ वस करन
६९ जंमीरनाद	८३ भयमेटन
७० थालपती	८४ सुच भाव[1]

'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में पिंड में अनन्त सिद्धों की अवस्थिति मानी गई है।[2] इनमें मुख्य चौरासी सिद्ध ही माने गए हैं, जिनका उल्लेख कबीर ने 'सिध चउरासीह माइआ महि खेला'[3] कहकर किया है। प्रेमदास ने 'सिद्ध वंदना' में पचास से अधिक सिद्धों एवं उनके नामों का वर्णन किया है[4] 'सिद्ध वन्दना' के अनुसार ये इस प्रकार हैं:—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, चरपटराय, भर्तृहरि, बालगुंदाई, पृथ्वीनाथ, हाडीभडंगं, ठीकर नाथ, जलंधरनाथ, काणूहपा, गोपीचन्द, औघड़देव, वालनाथ, अजयपाल, अनुमान, नरसिंहदेव हालीपाव, मुकुंद, भारथी, मालीपाव, मीडकीपावं, हरताली, काणेरी, धूंधलीमल, झुरकट, टनटनी, चौरंगीनाथ, कंथडंपायं, विघ, कलापी, कागभुसंड, कागचंडं वरिपक्षि, सूरानन्द, मैरुनंद, सांवरानंद चुणकरनाथ, पूरणधीर, आत्माराम, गरीबनाथ, भडंगनाथ, दडगडनाथ, देवदत्त, सुपदेव, कपलदेव, सनकसनंदन, हस्तमल, अष्टावक्र रामानंद, कबीर, कान्ह, कमाल, हरीदास, महरवान, ध्रू, प्रहलाद, पीपा आदि।[5] सिद्धों की इस सूची और तुलसी साहब की सूची में कोई साम्य नहीं है। 'हठ-

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ४८-५०।
२—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ३।१३।
३—संत कबीर, पृ २१९।
४—नाथसिद्धों की वानियाँ, पृ० ३,५।
५—नाथसिद्धों की वानियां, पृ० ३,५।

योग प्रदीपिका' में कतिपय नाथ सिद्धों के नामों का उल्लेख इस प्रकार है :— आदिनाथ, मत्स्येन्द्र, शावर, आनन्दभैरव, चौरंगी, मीन, गोरक्ष, विरुपाक्ष, विलेशय, मन्थान भैरव, सिद्धि, वुद्ध, कंथडि, कोरंटक, सुरानन्द, सिद्धपाद चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपालि, विन्दुनाथ, काम चंडीश्वर, अल्लाम, प्रभु, देव, घोड़ा चोली, टिंटणि, मानुकी, नारदेव, खंड और कापालिक ।[1] इन नामों में और तुलसी साहब प्रतिपादित चौरासी सिद्धों के नामों में भी कोई साम्य दृष्टिगत नहीं होता ।

महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने चौरासी सहजयानी सिद्धों की सूची इस प्रकार दी है— लूहिपा, लीलापा, विरूपा, डोम्मीपा, शवरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मनिपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शान्तिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कराहपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शलिपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, अजोगिपा, कालापा, धोम्भिपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुकुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महीपा, अचिन्तिपा, मलहपा, नलिनपा, भूसुकपा, इन्द्रभूति, मेकोपा, कट्टलिपा, कमरिपा, जालंधरपा, राहुलपा, धर्मरिपा, मेदनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुंडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, धोकरिपा जमानत, चर्पटीपा, चम्पकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमारिपा, चवरिपा, मणिभद्रा, मेखलपा, कनखलापा, कलाकलापा, कान्तालीपा, धहुलिपा, उधलिपा, कपालपा, किलापा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतुलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा, समुदपा, भलिपा ।[2] चौरासी सिद्धों के इन नामों और तुलसी साहब वर्णित नामों में भी कोई समता दृष्टिगत नहीं होती ।

१—श्री आदिनाथमत्स्येंद्रशावरानंद भैरवाः ।।
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षविलेशयाः ।।
मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ।।
कोरंटकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ।।
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ।।
कपाली विन्दनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ।।
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोड़ा चोली च टिंटिणिः ।।
मानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ।।
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।।
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंतिते ।।

हठयोग प्रदीपिका, १।५-९ ।

२—गंगा पुरातत्वांक 'पृ० २२१, २२४

आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने 'नाथ-सम्प्रदाय' में नाथ-सम्प्रदाय के छिहत्तर सिद्धों की एक सूची 'वर्णरत्नाकर' के आधार पर प्रस्तुत की है। यह तालिका इस प्रकार है—मीननाथ, गोरक्षनाथ, चौरंगीनाथ, चामरी, तंतिपा, हालिपा, केदारिपा, धोंगपा, दारिपा, विरूपा, कपाली, कमारी, कान्ह, कनखल, मेखल, उन्मन, काँडलि, धोबी, जालंधर, टोंडी, मवह, नागार्जुन, दौली, भिषाल, अचिति, चम्पक, ढेण्टस, भुम्बरी, बाकलि, तुजी, चर्पटी, भाढे, चाँदनी, कामरी करतव, धर्मपापतग, भद्र, पातलिभद्र, पलिहिह, भानु, मीन, निर्दय, सवर, सांति, भर्तृहरि, भीषण, भट्टी, गगनपा, गमार, मेनुरा, कुमारी, जीवन, अघोसाधव, गिरिवर, सियारी, नागवलि, विभवत्, सारंग, विविकधज, मगरधज, अचित, विचित, नेचक, चारल, नाचन, भीलो, पाहिल, पासल, कमल-कंगारि, चिपिल, गोविंद, भीम, भैरव, भद्र, भमरी, और भुरुकुटी।[1] नाथ-सम्प्रदाय के इन छिहत्तर सिद्धों के नाम और तुलसी साहब प्रतिपादित सिद्धों के नामों में भी कोई साम्य नहीं है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि तुलसी साहब उल्लिखित चौरासी सिद्धों के नाम उपर्युक्त किसी भी परम्परा के नामों से नहीं मिलते। इसके दो कारण हो सकते हैं:—

(क) तुलसी साहब ने उपर्युक्त परम्पराओं से किसी भिन्न परम्परा में प्राप्त नामों का उल्लेख किया हो।

अथवा

(ख) ये नाम उनकी मौलिक उद्भावना हों।

हमारा यह अनुमान है कि जिस प्रकार तुलसी साहब ने भंवरगुफा, त्रिकुटी, नाल, कोठों आदि के नाम स्वयं निर्धारित किए हैं उसी प्रकार सिद्धों के नाम भी उनकी स्वतन्त्र उद्भावना हैं। वस्तुतः परम्परा से कुछ भिन्न वर्णन करने की प्रवृत्ति हम तुलसी साहब में बराबर लक्षित करते हैं, अतएव सिद्धों के नाम भी उसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं।

१२. घट में पचीस प्रकृतियां हैं।[2] इनके नाम इस प्रकार हैं:—

१	भाव	४	उपमजार
२	ज्ञाता	५	इन्द्रजै
३	देहंधर	६	मोद्धधि

१—नाथ सम्प्रदाय, पृ० २७–३१।

२—प्रकृति पचीस कहों अनुसारी। ये सब घट के माहिं बिचारी॥

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५०।

७	सुषमजार	१६	अभयानन्द
८	मोहधन	१७	चतुरदाय
९	केदारखंड	१८	कजाकोग
१०	सफाकन्द	१९	उचालम्भ
११	नलदपा	२०	दयाभवन
१२	उदासमुद्र	२१	ईस भोग
१३	चंचलराज	२२	कामिनि जोग
१४	भजागु	२३	मोहजार
१५	मजानन्द	२४	नौ जोग[1]

२५. भंवर सोग

'गोरखबानी' में बताया गया है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पंचभूत में से प्रत्येक तत्व की पांच-पांच प्रकृतियां मिलकर पच्चीस प्रकृति होती हैं।[2] इनके नाम इस प्रकार हैं:—

पृथ्वी .. अस्थि, माँस, त्वचा, नाड़ी, रोम।
जल .. लाला, मूत्र, प्रस्वेद, शुक्र, सुनीति।
अग्नि .. क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आलस्य, क्रोध।
वायु .. गाना, दौड़ना, वलगण, ज्ञान, अगोचरी।
आकाश .. माया, मोह, लज्जा, राग, द्वेष।[3]

१—घटरामायण प्रथम भाग, पृ० ५०–५१।

२—पंच तत बोलिये पृथ्वी, आप तेज बाई आकास, येक मेक तत्त संजुगत पंच पंच परकीरती बोलिये॥

—गोरखबानी, पृ० २२३।

३—प्रथम पृथ्वी प्रकीरती बोलिये अस्य मास तुचा नाड़ी रोम। एती पृथ्वी। को प्रकीरती बोलिये॥
दुतिये आप प्रकीरति बोलिये लाल मूत्र प्रसेद शुकर सुनीत। एती आप की प्रकीरति बोलिये॥
तृतीये तेज प्रकीरत्ति बोलिये षुध्या तृसा न्यंद्रा आऴकस क्रोध। एती तेज प्रकीरति बोलिये॥
चतुरथे बाई प्रकीरति बोलिये गांवण धावण बलगण ज्ञान अगोचरि। एती बाई प्रकीरति बोलिये।
पंचमें आकास प्रकीरति बोलिये माया मोह लज्जा राग द्वेष। एती पंच तत्त पचीस परकीरति का भेद बोलिये॥

—गोरखबानी, पृ० २२३।

अन्यत्र भी पचीस प्रकृतियों के नाम लगभग वही हैं[१], जिनका उल्लेख 'गोरखबानी' में हुआ है । तुलसी साहब द्वारा प्रतिपादित नामों में और इनमें किसी प्रकार का साम्य नहीं है । वस्तुतः ये नाम भी उनकी निजी कल्पना पर आधारित हैं ।

१३. पिंड में निम्नलिखित पंचवायु हैं:—

	नाम	स्थान
१	अपान	नाभि
२	प्रान	मानसरोवर
३	समान	हृदय
४	उदान	कंठ
५	व्यान	समस्त शरीर[२]

पंचप्राण वायुओं के ये नाम शिवसंहिता[३] घेरंड संहिता[४], सिद्धसिद्धान्त-पद्धति[५], योगमार्तंड[६], शारदातिलकतंत्र,[७] आदि ग्रन्थों में समान रूप से उल्लिखित हैं । पर इनके स्थान सम्बन्ध में तुलसी साहब और योगशास्त्र के ग्रन्थों में मतभेद है । शिवसंहिता' के अनुसार हृदय स्थान में प्राण, गुदा में अपान, कंठ में उदान और समस्त शरीर में व्यान वायु है ।[८] 'घेरंड संहिता'[९] एवं 'योग-

---

१—सिद्धसिद्धान्त संग्रह, १।३८.४१ ।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५२ ।

३—शिवसंहिता, ३।४ ।

४—घेरंडसंहिता ५।५९ ।

५—सिद्धसिद्धान्त पद्धति, १।६८ ।

६—योगमार्तंड, श्लोक २२।२४ ।

७—शारदातिलक, १।४४ ।

८—हृदि प्राणो गुदे पानः समानो नाभिमंडले ।
उदानः कंठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥
—शिवसंहिता, ३।७ ।

९—हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुदमंडले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कंठमध्यगः ॥
व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधानाः पंच वायवः ॥
—घेरंड संहिता, ५।६०.६१ ।

मार्तंड"[1] में प्राय: एक सी शब्दावली में पंचप्राणवायुओं के स्थान 'शिवसंहिता' के अनुसार ही वर्णित हैं। इस प्रकार योगशास्त्र के समस्त उपलब्ध ग्रंथों में पंचप्राणवायु के स्थान सम्बन्धी धारणाएं अभिन्न हैं। इनमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। इस धारणा में और तुलसी साहब की पंचवायुओं के स्थान सम्बन्धी धारणा में साम्य कम, मतभेद अधिक है। योगशास्त्र के उपर्युक्त ग्रंथों के अनुसार वे उदान एवं व्यान का स्थान तो कंठ एवं समस्त शरीर मानते हैं किन्तु शेष तीन प्राण, अपान और समान की स्थिति भिन्न बताते हैं। योगशास्त्र के उपर्युक्त उल्लिखित ग्रन्थों के अनुसार प्राण का स्थान 'हृदय' है, तुलसी साहब ने प्राण का स्थान 'मानसरोवर' बताया है। 'शिवसंहिता,' 'घेरंड संहिता' एवं योगमार्तंड के अनुसार अपानवायु का स्थान 'गुदा' है, तुलसी साहब के मत से 'नाभि' है। इसी प्रकार योग में समान की स्थिति 'नाभि' है किन्तु सन्त तुलसी ने 'हृदय' निर्दिष्ट की है। इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता कि यह मतभेद लिपिकार के प्रमाद के कारण है अथवा तुलसी साहब की व्यक्तिगत धारणा के कारण।

१४. पिंड में नौ नाड़ियाँ हैं।[2] इनके नाम इस प्रकार हैं:—

१ इड़ा	६ करजाप
२ पिंगला	७ हंसवदनी
३ सुषुम्ना	८ हरिकामिनी
४ भामिनी	९ बरना[3]
५ रमना	

'गोरखबानी' में नौ नाड़ियों की चर्चा की गई है।[4] अन्यत्र भी नाथसिद्धों

१—हृदि प्राणो वशी नित्यं अपानो गुदमंडले।
समानो नाभिदेशे तु उदान: कंठमध्यग: ॥
व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधाना पंच वायव: ॥
—योगमार्तंड श्लोक, २३.२४।

२—घट भीतर नौ नारी माखी। सो तुलसी ने देखा आंखी ॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५२।

३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५२।

४— नव नाड़ी बहोतरि कोठा। ए अष्टांग सब झूठा ॥
—गोरखबानी, पृ० ४६।

की रचनाओं में नौ नाड़ियों का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1] किन्तु इन रचनाओं में इनके नाम नहीं वर्णित हैं । तुलसी साहब ने पिंडस्थ नौ नाड़ियों के जिन नामों की चर्चा ऊपर की है उनमें इडा, पिंगला, सुषुम्ना एवं वरुणा नामक चार नाड़ियों का वर्णन 'शिवसंहिता' में प्राप्त होता है,[2] शेष नाम योग और शैवतंत्र के किसी भी उपलब्ध ग्रन्थ में दृष्टिगत नहीं होते । ये नाम भी संत तुलसी की निजी उद्भावना ज्ञात होते हैं ।

१५-काया में बाइस शून्य हैं ।[3] इनके नाम निम्नांकित हैं:—

१	घुंधार	१२	नौखंड
२	सन्दार	१३	अलख
३	नौनार	१४	पलक
४	अजसार	१५	खलक
५	बिलंद	१६	झलक
६	सुखनंद	१७	सरवाट
७	अछरंद	१८	दसघाट
८	सबसंध	१९	खिरकाट
९	ब्रह्मंड	२०	अजअठ
१०	सबअंड	२१	सतलोक
११	भौखंड	२२	परमोख[4]

योगशास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थों में पंचशून्य आदि का उल्लेख प्राप्त

१—नव नाडी सो भरि ले सली ।
अगिन न बलै नाभी की तली ।।
—नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० ११७ ।

२—सुषुम्णेडा पिंगला च गान्धारी हस्तिजिह्वका ।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ।।
वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।
—शिवसंहिता, २।१४,१५।

३—बाइस सुन्न घटमांहि, जानि संत कोई परखिहैं ।
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५३ ।

४—घटरामायण प्रथम, भाग, पृ० ५३ ।

होता है,[1] किन्तु बाइस शून्य की कोई चर्चा नहीं है। शून्यों के उपर्युक्त नाम भी कहीं नहीं दृष्टिगत होते। निश्चय ही इन नामों की कल्पना तुलसी साहब ने स्वयं की है।

उपर्युक्त बाइस शून्यों का रहस्योद्घाटन करते हुए तुलसी साहब ने कहा है कि सत्यपुरुष से उत्पन्न सोलह निर्गुण हैं, उपर्युक्त शून्यों में से प्रत्येक शून्य एक निर्गुण के बराबर है।[2] इस प्रकार सोलह शून्य सोलह निर्गुण के बराबर हो गए।[3] शेष छः शून्यों का रहस्य प्रकट करते हुए उन्होंने बताया है कि सत्रहवें शून्य में हंस, अठारहवें में परमात्मा, उन्नीसवें में पुरुष, बीसवें में शब्द, इक्कीसवें में सत्यलोक एवं बाईसवें शून्य में अगमपुर है।[4] इस रहस्योद्घाटन से तुलसी साहब की २२ शून्यों की धारणा यथेष्ट स्पष्ट हो जाती है।

१—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ६।९४।

२—सतकेतसतनाम कहइया। ता से निरगुन ब्रह्म जो गइया॥
सोला निरगुन कहिके भाखा। भिन भिन भेद कहौं मैं ताका॥
एक सुन्न एक निरगुन होई। निरगुन सुन्न एक है सोई॥

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५४।

३—यह सब पिंड ब्रह्मंड के माई। सोला निरगुन सुन्न समाई॥

—घटरामायण, प्रथम, भाग, पृ० ५४।

४—सत्ता सूरति चलिचाल, ताल तट देखिया।
मानसरोवर घाट, हंस तहं पेखिया॥
सुन अठरा के माँहि, जाइ निर्ख देखिया।
आतम से परे भिन्न, परमातम पेखिया॥
सुन्न, उलट उन्नीस, चेति आगे चली।
खिरकी अजब अनूप, पुरुष ता में मिली॥
परे पुरुष पद चीन्ह, गई सुन बीस में।
शब्द पुरुष सुखधाम, सुन्न इक्कीस में॥
गैब नगर पिय पार, सखी सतलोक तो।
चढ़ी अगमपुर धाइ, पाइ पति पै गई॥
बाइस सुन वर्तमान, जान कोइ लेइंगे।
कोनो जिन जिन सैल, संत सोइ कहैंगे॥

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ५४,५५।

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी साहब के पिंड एवं ब्रह्माण्ड के समत्व का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। उनका यह सिद्धांत भेद प्रभेद युक्त है। इससे सम्बन्धित विभिन्न विषयों के नूतन नाम निर्धारित करने में उन्होंने अपनी परम्परावियुक्त स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है। इनमें से अधिकतर नाम साधनापरक हैं तथा स्पष्टीकरण के अभाव में रहस्यमय बने रहते हैं। वस्तुतः पिंड में ब्रह्मांड का विविध रूप सम्पन्न प्रसार उन्होंने स्वानुभूति के आधार पर अनुभव किया था।[१] इस प्रकार तुलसी साहब का पिंड ब्रह्मांड वर्णन उनकी अन्तर्मुखी योग साधना का मुख्य अंग है।

———

१—पिंड माहिं ब्रह्मंड, देखा निज घट जोइ के।

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १०।

षष्टम् अध्याय

पंथ परिचय

तुलसी साहब के पंथ का नाम साहिब पंथ है। इस तथ्य का उल्लेख हम जीवनी में कर चुके हैं कि तुलसी साहब के शिष्य उन्हें बहुधा 'साहिब जी' कह कर सम्बोधित करते थे। इस सम्बोधन के आधार पर ही उनके पंथ का नाम 'साहिब पंथ' निर्धारित हुआ।

पंथ का महत्व

तुलसी साहब का पंथ कबीर, दादू एवं नानक पंथ की भांति व्यापक तथा संगठित नहीं है किन्तु इससे इसका महत्व कम नहीं होता। इस पंथ ने अपने सीमित क्षेत्र में ही सदाचार, नैतिकता एवं अटूट धर्मनिष्ठा के द्वारा तथाकथित निम्न जातियों में आत्म विश्वास एवं स्वाभिमान का संचार किया है। तुलसी मन्दिर, हाथरस के वर्तमान आचार्य महंत संत श्री प्रकाशदास जी ने इस प्रबन्ध के लेखक को बताया कि साहिब पंथ में नैतिकता एव सदाचार पर विशेष रूप से बल दिया जाता है। इसलिए नैतिकता तथा सदाचार सम्बन्धी अपराध साहिब पंथ में बहुत कम होते हैं। स्वधर्मनिष्ठा के कारण भी साहिब पंथी 'साहिब जी' के धार्मिक विचारों को बड़ी श्रद्धा से ग्रहण करते हैं एवं उनके प्रतिपालन में सर्वदा तत्पर रहते हैं। वस्तुतः साहिब पंथ का सामाजिक एवं धार्मिक महत्व यही है कि इसके द्वारा नैतिकता, सदाचार एवं धर्मनिष्ठा को प्रश्रय प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज को सद्‌पथ पर चलने की प्रेरणा देकर साहिब पंथ लोक कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

प्रसार क्षेत्र

साहिब पंथ का प्रसार क्षेत्र हाथरस और उसका निकटवर्ती प्रदेश ही नहीं है अपितु इसके अनुयायी अल्पाधिक संख्या में देश के अनेक नगरों में फैले हुए हैं।[1] साहिब पंथ के अनुयायी समान रूप से ग्राम और नगरों में

१—रत्नासागर, भूमिका, पृ० १।

विद्यमान है ; महंत प्रकाश दास से ज्ञात हुआ कि हाथरस के अतिरिक्त, अलीगढ़ मुरादाबाद, आगरा और कानपुर आदि नगरों में पंथ के अनुयायी अन्य नगरों की अपेक्षा अधिक संख्या में रहते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि ग्राम में रहने वाले साहिब पंथी अधिकतर पश्चिमी उत्तर प्रदेश में निवास करते हैं। वस्तुतः मुख्य रूप से साहिब पंथ का प्रसार क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश है किन्तु दूरस्थ नगरों में रहने वाले साहिब पथियों के कारण इस पंथ का प्रसार देश के अनेक भागों में हो गया है।

पंथ के अनुयायी एवं उनकी संख्या

साहिब पंथ के अनुयायियों को दो पृथक भागों में विभाजित किया जा सकता है

(१) संसारी
(२) विरक्त

महंत प्रकाश दास से ज्ञात हुआ कि संसारी को गृहस्थ और विरक्त को साधु कहा जाता है। सिद्धान्त रूप में हिन्दू, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मावलम्बी पंथ में दीक्षा ले सकते हैं, पर व्यवहार में अधिकतर मध्य एवं निम्न जातियों के हिन्दू ही पंथ में प्रवेश करते हैं। पंथ का अनुयायी स्वयं को साहिब पंथी कहता है।

साहिब पंथ के अनुयायियों की निश्चित संख्या किसी भी स्रोत से ज्ञात नहीं हो सकी। अलीगढ़ गजेटियर में साहिब पंथियों का कोई उल्लेख नहीं है। महंत प्रकाशदास से पत्र द्वारा इस सम्बन्ध में जिज्ञासा निष्फल रही। 'रत्न-सागर' की भूमिका में यह उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है कि तुलसी साहब के अनुयायी अब तक 'हजारों की संख्या' में देश के नगरों में विद्यमान हैं।[१] 'घटरामायण' की भूमिका में भी इनके अनुयायियों के सम्बन्ध में 'हजारों की संख्या' का उल्लेख किया गया है।[२] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि साहिब पंथ के अनुयायियों की संख्या कई सहस्र है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इससे अधिक कहना संभव नहीं है।

१—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० ३।

स्थापना तिथि

महंत प्रकाशदाश पंथ का स्थापना काल तुलसी साहब के समय में ही मानते हैं। किन्तु यह मत अमान्य है। तुलसी साहब ने अपने जीवन काल में पंथ नहीं चलाया। संत तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उन्होंने पंथ की[1] स्थापना नहीं की। घटरामायण के कई स्थलों पर संत तुलसी ने पंथवाद की तीव्र आलोचना की है।[2] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि तुलसी साहब पंथ स्थापना के विरोधी थे एवं अपना पंथ भी नहीं चलाया।

संत तुलसी के दिवंगत होने के उपरान्त सूर स्वामी उनके स्थान पर सत्संग कराने लगे। महंत प्रकाशदास से विदित हुआ कि सूरस्वामी तुलसी साहब के प्रधान गुरुमुख शिष्य थे और उनके उपरान्त आचार्य गद्दी के अधिकारी हुए। संत तुलसी दास के जीवन चरित्र में हमने यह प्रस्थापित किया है कि तुलसी साहब की मृत्यु तिथि सम्वत् १९०५ अथवा सन् १८४८ है। तुलसी मन्दिर, हाथरस में स्थापित सूरस्वामी की समाधि पर उनकी मृत्य तिथि सम्वत् १९३३ उत्कीर्ण है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सम्वत् १९०५ से १९३३ के २८ वर्षों के मध्य सूरस्वामी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। प्रश्न यह है कि सूर स्वामी के आचार्यत्व के उपर्युक्त २८ वर्षों में पंथ की स्थापना हुई अथवा नहीं ? इस प्रबन्ध के लेखक का विचार है कि सूर स्वामी के आचार्य काल में भी सम्प्रदाय रूप में पंथ की स्थापना नहीं हुई थी। निम्नलिखित कारणों से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

(१) सूरस्वामी तुलसी साहब के गुरुमुख एवं प्रधान शिष्य थे। उनकी रचनाओं से प्रकट होता है। कि अपने गुरु संत तुलसी के प्रति उनमें असीम एवं अटूट श्रद्धा थी। अतएव यह असंभव ज्ञात होता है कि सद्गुरु का स्थापना विरोधी मत जानते हुए वे तुलसी साहब की मृत्यु के कुछ समय उपरान्त ही उनके आदर्शों का परित्याग करके पंथ स्थापित करते।

(२) सूरस्वामी की समाधि पर अंकित मृत्यु तिथि के साथ उनका परिचय सूरस्वामी साहब कहकर दिया गया है। इसके विपरीत उनके उपरान्त

१—तुलसी ता से पंथ न कीन्हा। भेष जगत भया पंथ अधीना।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १३३।

२—घटरामायण, प्रथम भाग पृ० १६८।१९०।
एवं घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १२३,१९१।

दिवंगत आचार्यों के नाम के साथ 'महंत' शब्द युक्त है। उदाहरणार्थ,सूरस्वामी की मृत्यु के उपरान्त आचार्य पद के अधिकारी उनके शिष्य दर्शनदास की समाधि पर 'महंत दरशन दास जी' अंकित है। यह यथेष्ट सांकेतिक है। महंत का पंथ से अनिवार्य सम्बन्ध है। 'सूरस्वामी' के परिचय में 'महंत' शब्द की अनुपलब्धि यह प्रकट करती है कि उनके आचार्यत्व में भी पंथ की साम्प्रदायिक स्थापना नहीं हुई थी।

सूरस्वामी के उपरांत उनके शिष्य दर्शनदास आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। तुलसी मन्दिर, हाथरस में इनकी समाधि पर इनके नाम के साथ 'महंत' शब्द अंकित है। कुछ ही पूर्व हम कह चुके हैं कि पथ और 'महंत' का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। पंथ के अभाव में महंत नहीं होता और महंत के अभाव में पंथ नहीं। अतएव हमारा यह अनुमान निराधार नहीं है कि पंथ की स्थापना महंत दर्शनदास के समय में हुई क्योंकि पंथ के आचार्यों में सर्व प्रथम इनके ही नाम के साथ 'महंत' शब्द युक्त है।

सूरस्वामी की समाधि से उनकी मृत्यु तिथि सम्वत् १९३३ ज्ञात होती है। दर्शनदास की समाधि पर उनकी मृत्यु तिथि सम्वत् १९६३ अंकित है। अतएव दर्शनदास का कार्यकाल सम्वत् १९३३ एवं सम्वत् १९६३ के मध्य के तीस वर्ष तक प्रतिष्ठित रहा। उनके कार्यकाल में अर्थात् सम्वत् १९३३ से १९६३ के मध्य किसी समय साहिब पंथ साम्प्रदायिक संगठन के रूप में प्रस्थापित हुआ।

उपर्युक्त निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) तुलसी साहब के जीवनकाल में पंथ की स्थापना नहीं हुई।

(२) तुलसी साहब के उपरान्त सूरस्वामी सत्संग कराते रहे किन्तु उन्होंने भी पंथ प्रस्थापित नहीं किया।

(३) पंथ की स्थापना सूरस्वामी के उपरांत महन्त दर्शनदास के कार्यकाल अर्थात् १९३३ से १९६३ के मध्य किसी समय हुई।

आचार विचार के नियम

साहिब पंथ में जाति पाँति का भेद सिद्धांतरूप में नहीं है। साधुओं अथवा विरक्तों के निमित्त जाति का प्रयोजन ही नहीं होता किन्तु गृहस्थों के सम्बन्ध में यह सिद्धांत सम्पूर्ण रूप से व्यवहृत नहीं हो पाता। महन्त प्रकाशदास से इस प्रबन्ध के लेखक को विदित हुआ कि विभिन्न जातियों के व्यक्ति एक पंथ के अनुयायी होते हुए भी अपनी जातियों में ही विवाह आदि सम्बन्ध करना पसन्द करते हैं। उनके विवाह आदि के विधि विधान हिन्दू समाज के साधारण विधि विधानों की भांति ही होते हैं। उनमें किसी प्रकार भी विशिष्टता

नहीं होती। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साहिब पंथ का ढांचा यथेष्ट लचीला है एवं हिन्दू समाज की परम्पराओं से पृथक नहीं है।

जन्म और मृत्यु सम्बन्धी आचार विचार के नियम प्रायः वही हैं जो सामान्यतः हिन्दू समाज में प्रचलित हैं। जन्म के समय हिन्दू समाज के समस्त आचार विचारों का पालन किया जाता है। मृत्यु के समय गृहस्थ के शव का दाह संस्कार किया जाता है तथा साधु के शव को समाधिस्थ करने की प्रथा है।[1] साधु के दाह संस्कार का सर्वथा निषेध है।

साहिब पंथ के अनुयायी प्रत्येक व्यक्ति के हाथ का भोजन नहीं करते। महन्त प्रकाशदास की साक्षी पर यह कहा जा सकता है कि भोजन सम्बन्धी निषेध नियमों एवं आचार विचार का पालन गृहस्थ दृढ़ता से नहीं कर पाते हैं। संत प्रकाशदास ने यह भी बताया कि 'निगुरा' अर्थात् जो व्यक्ति गुरुमुख नहीं होता, उसके हाथ का भोजन सर्वथा वर्जित है। इस आचारगत विचार का पालन सम्पूर्ण पंथ दृढ़तापूर्वक करता है। यदि कोई व्यक्ति इसका उल्लंघन करता है तो उसका सामाजिक स्तर गिर जाता है।

गृहस्थों के समान ही महन्त के लिए भी आचार विचार के विधि निषेध सम्बन्धी नियम समादृत हैं। महन्त भी प्रत्येक व्यक्ति के हाथ का भोजन नहीं ग्रहण करते हैं। उनके भोजन की व्यवस्था भंडारी करता है। यात्रा के समय भी महन्त भंडारी के द्वारा प्रस्तुत भोजन ही ग्रहण करते हैं।

साहिब पंथ में तामसिक एवं मादक वस्तुओं का व्यवहार वर्जित है। महन्त प्रकाशदास से ज्ञात हुआ कि मांस मदिरा आदि वस्तुओं का भोजन में प्रयोग निषिद्ध है। अधिकांश पंथानुयायी इस सम्बन्ध में पूर्ण आचार विचार पालन करते हैं।

दीक्षा विधि

साहिब पंथ में दीक्षा की विधि सरल और सहज है। संत प्रकाशदास के अनुसार दीक्षा का अभिलाषी व्यक्ति स्नान आदि के उपरांत शुभ्र एवं स्वच्छ वस्त्र पहन कर धर्म गुरु के निकट जाता है। धर्मगुरु उसको सुरति शब्द का अभ्यास कराते हैं तथा पांच नामों का उपदेश देते हैं। ये पाँच नाम साधारण व्यक्तियों से गुप्त रखे जाते हैं। इसका रहस्य पंथ में दीक्षित होने वाला व्यक्ति ही जानता है। इस अभ्यास और उपदेश को ग्रहण करने के उपरान्त दीक्षा पूर्ण हो जाती है। दीक्षा की यही संक्षिप्त विधि साहिब पंथ में प्रचलित है।

१— महन्त प्रकाशदास के पत्र के आधार पर।

दीक्षा के समय गृहस्थ को वेश परिवर्तन नहीं करना पड़ता, पर साधुओं के लिए वेश परिवर्तन विधेय है। साधु का मुंडन किया जाता है और गेरुआ वस्त्र धारण करना पड़ता है। दीक्षा के उपरान्त साधु के लिए सर्वदा गेरुआ वस्त्र धारण करने का नियम है।

दीक्षा के उपरान्त गृहस्थ और साधु समानरूप से साहिब पंथी कहे जाते हैं।

विशेष उत्सव

साहिब पंथ के अनुयायी सामान्यतः हिन्दू धर्म के होली, दिवाली, दशहरा आदि उत्सव मनाते है किन्तु वर्ष में एक बार पंथ का विशिष्ट उत्सव होता है। यह उत्सव प्रत्येक साल जेठ सुदी दुइज को तुलसी साहब की हाथरस स्थित समाधि पर मनाया जाता है। महन्त प्रकाशदास से इस उत्सव का निम्नलिखित विवरण प्राप्त हुआ है।

इस अवसर पर देश के प्रत्येक भाग से तुलसी साहब के अनुयायी हाथरस आते हैं। इनमें गृहस्थ सत्संगी व विरक्त साधु होते हैं। इनका उद्देश्य उत्सव के आयोजनों में भाग लेना एवं संत तुलसी की समाधि के दर्शन करना होता है। इस अवसर पर तुलसी मन्दिर में तुलसी साहब की समाधि की आरती होती है एवं सत्संग, व्याख्यान, धर्म चर्चा आदि की व्यवस्था की जाती है।

उत्सव के दिन भंडारा होता है। भंडारे में पंगतें पड़ती हैं तथा सब अनुयायी भोजन करते हैं। इस अवसर पर देश प्रदेश से अभ्यागत सहस्रों अनुयायी प्रसाद प्राप्त करते हैं, एवं संध्या से अर्द्ध रात्रि पर्यन्त भोजन का क्रम चलता रहता है। महन्त प्रकाशदास जी से विदित हुआ कि साहिब पंथ के अनुयायी प्रत्येक मास की सुदी दूज को विशेष महत्व प्रदान करते है तथा अपने मुख्य कार्यक्रम इसी तिथि को सम्पन्न करना श्रेयस्कर समझते हैं। इस तिथि को साहिब पंथ के अनुयायी धार्मिक महत्व इसलिए प्रदान करते हैं कि इस तिथि अर्थात् सुदी दुइज को तुलसी साहब दिवंगत हुए थे।

वेश भूषा

साहिब पंथ के अनुयायियों की चर्चा करते समय हमने कहा है कि पंथानुयायी दो प्रकार के होते हैं संसारी और विरक्त। संसारी या गृहस्थ की वेशभूषा में कोई विशेषता नहीं होती। वे साधारणतः अन्य सम्प्रदाय के व्यक्तियों की भाँति सब प्रकार के वस्त्र पहनते हैं। गृहस्थ के वस्त्र के सम्बन्ध में साहिब पंथ किसी प्रकार का विधि निषेध नहीं रखता। पर साधुओं के लिए वस्त्र का विशिष्ट विधान अवश्य है। दीक्षा के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि साहिब पंथ में

साधु होने पर गेरुआ धारण करने का नियम है। साधु प्रायः गेरुएं रंग का लम्बा ढीला कुरता पहनते है और गेरुआ धोती को तहमद या लुंगी के रूप में लपेटे रहते है। हाथरस में इस प्रबन्ध के लेखक को कई साहिब पंथी साधुओं से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। उनकी वेशभूषा यही थी।

वस्त्र के अतिरिक्त साहिब पंथी साधुओं की वेशभूषा में अन्य उल्लेखनीय बात ये है कि अधिकांश साधु दाढ़ी मूंछ एवं लम्बे केश रखते है जिनको प्रायः वे पीछे की ओर खींचे रहते हैं। महन्त के लिए माथे पर तिलक का विधान है किन्तु सामान्य साधुओं के निमित्त तिलक विधेय नहीं हैं। साधु प्रायः नंगे पैर रहते है और आवश्यकता पड़ने पर खड़ाऊं का प्रयोग भी कर लेते हैं।

साधना

दीक्षा के प्रसंग में हमने बताया है कि दीक्षित व्यक्ति को सुरति-शब्द योग का अभ्यास कराया जाता है तथा पांच नामों का उपदेश दिया जाता है। सुरति शब्द योग का अभ्यास एवं पांच नाम के उपदेश में ही पंथ की साधना पद्धति निहित है। सुरति शब्द योग का वर्णन करते समय हम यह निर्दिष्ट कर चुके हैं कि इसका अर्थ आत्मा को परमात्मा से युक्त करना अथवा जीव को ब्रह्म में लय करना है। महन्त प्रकाशदास ने भी स्वीकार किया है कि पंथ में सुरति शब्द योग का यही अभिप्राय ग्रहण किया जाता है। पंथानुयायी के लिए इसका अभ्यास अर्थात् साधना विधेय है। इसके अतिरिक्त पांच नाम का उपदेश पंथ की साधना का अंग है। ये नाम दीक्षा लेने वाले व्यक्ति को ही बताए जाते हैं। अतएव इस सम्बन्ध में महन्त प्रकाशदास ने स्पष्ट रूप से कुछ न बताकर केवल इतना संकेत किया कि इन नामों को जानकर इनके द्वारा ही क्रम से शब्दानुसंधान या शब्द भेदन होता है। हमारा अनुमान यह है कि शब्दानुसंधान के ये पाँच नाम वही हैं जिनका उल्लेख तुलसी साहब ने पांच अखंडित शब्द कह कर 'घटरामायण' में किया है।[1] ये नाम इस प्रकार हैं—सत्य शब्द, शून्य शब्द, अच्छर शब्द, ओंकार शब्द और निरन्जन शब्द।[2] हमारा अनुमान यह है कि

१—पाँचौ सब्द अखंडित कहिया। तुम खंजरी पर सब्द सुनइया॥
—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १८४।

२—पांच सब्द का कहौ विधाना। न्यारा न्यारा ठाम ठिकाना॥
सत्त सब्द पहिले परवाना। सो कोइ साधू बिरले जाना॥
दूजा सब्द सुन्न के माई। तीजा अच्छर सब्द कहाई॥
चौथा ओंकार विधि गाई। पंचम सब्द निरंजन राई॥
—वही, प्रथम भाग, पृ० १८४-१८५।

उलटे क्रम से इन पांच शब्दों का भेदन करके साधक सत्य शब्द का अनुसंधान करता है। यथा—निरंजन शब्द, ओंकार शब्द, अच्छर शब्द, शून्य शब्द, एवं सत्य शब्द। पंचम अर्थात् सत्य शब्द ही साहिब पंथियों के शब्दानुसंधान का लक्ष्य ज्ञात होता है। अस्तु साहब पंथ की साधना में जिन पांच नामों का उपदेश निहित है, वे उपर्युक्त पाँच शब्द ही ज्ञात होते हैं तथा इस अनुमान की पुष्टि महन्त कथित शब्दानुसंधान के संकेत से होती है।

उपासना

साहिब पंथ में उपासना के साधन जप और प्रार्थनाएँ हैं। महन्त प्रकाशदास ने बताया कि जप प्रत्येक समय अपेक्षित है और साधक को पूर्णत्व तब प्राप्त होता है जब उसके रोम रोम से स्वतः जप होने लगता है। इससे उनका अभिप्राय हंस या अजपा मंत्र ज्ञात होता है।

उपासना साधन के रूप में पंथ में कुछ विशेष प्रार्थनाएँ प्रचलित हैं। तुलसी साहब, सूरस्वामी एवं गरीब साहब की रचनाओं में से एकत्र करके ये प्रार्थनाएँ 'तुलसी संध्या वन्दन' नामक पुस्तक में संग्रहीत की गई हैं। इस पुस्तक में यह भी निर्दिष्ट है कि किस समय कौन सी प्रार्थना करनी चाहिए। प्रातः काल एवं सायंकाल का समय प्रार्थना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त माना गया है तथा उद्बोधन एवं गुरुवन्दना के रूप में इस समय की प्रार्थनाएँ समादृत हैं।

१. प्रातःकाल की प्रार्थना

भोर कोई जागो रे जागो, क्या सोवो नींद भर घोर ॥टेक॥
बदली घुमड़ घोर अंधियारी, पहरू करत है सोर।
जागे जिन तिन तपन निवारी, घर मूसत हैं चोर ॥१॥टेक॥
पाँच पचीस बसैं घट माहीं, साईं निपट कठोर।
मोर और तोर देत झक झोला, चलत नेक नहिं जोर ॥२। टेक॥
तलवी तीन द्वार पर प्यादे, साधै कपट की डोर।
आवत जात नेक नहिं रोकै, एक न मानत मोर ॥३॥टेक॥
तुलसी दास बाज यह बसती, कह कह हार निहोर।
कोतवाल कलबूत समाना, हाकिम अंधा घोर ॥४॥टेक॥[1]

२. सायंकाल की प्रार्थना

प्रथमं गुर आदि अभै विनवं, निरभै निरलंभ प्रकास पदं ॥१॥
पदमं घुरधाम, अनाम अजं, जो भजे नमि नंदन मामि नयं ॥२॥
गुन तीन अतीत गुना गवनं, पद पंथ अतंत जो अंत मनं ॥३।

१—तुलसी संध्या वन्दन, पृ० ६।

तज मूल अतूल रमे कवलं, रवि कंज करंज कला किरनं ।।४।।
अर्वित अमोल मिलो मुनियं, सो अडोल अबोल लखो कवलं ।।५।।
मन मंजन अंज जला जवनं, तत रंग न संग अली पवनं ।।६।।
निरसंक निहाल जो हाल हियं, जहां काल न जाल दयाल पियं ।।७।।
नहीं अंड न खंड अकै अलखं, सो भर्प तुलसी न तकै खलकै ।।८।।
तन मन्न बदन्न न भेद भनं, घर संत जो अंत अतंत तनं ।।९।।

बदन भेद तन मन कह्यो, अंडा अलख अधार ।
अलख खलक के पार है, सो संतन मत सार ।।[1]

उपर्युक्त प्रार्थनाएँ ही मुख्य प्रार्थनाएँ हैं । इनके अतिरिक्त प्रातःकाल की आरती, सायंकाल की आरती, गौरी पाठ इत्यादि का विधान भी है ।[2]

प्रणाम पद्धति

साहिब पंथ के अनुयायी परस्पर अभिवादन में 'साहिब जी' 'बंदगी' या 'सतनाम' कहते हैं । इस प्रवन्ध के लेखक का व्यक्तिगत अनुभव है कि प्रायः 'सतनाम' अथवा 'बंदगी' के साथ ये लोग 'साहिब' शब्द जोड़कर 'सतनाम साहिब' अथवा 'बंदगी साहिब' का प्रयोग करते है ।

महंत अथवा धर्मगुरु के प्रति प्रणाम करने की विशेष पद्धति है । हाथरस प्रवास के समय लेखक ने स्वयं इस पद्धति को महंत के प्रति व्यवहृत होते देखा है । इसके अनुसार पंथानुयायी महंत या धर्मगुरु के सम्मुख पैर के बल बैठता है, तत्पश्चात् दोनों हाथों को मिलाकर अपने सामने भूमि पर टेकता है । फिर सिर झुका कर भूमि पर टिके हाथों तक ले जाकर महंत को प्रणाम करता है । सिर उठाते समय महंत से नेत्र मिलाते हुए वह 'साहिब जी' का उच्चारण करता है । धर्मगुरु से नेत्र मिलाने की इस प्रक्रिया को दृष्टि-साधन कहते है और यह प्रणाम का अनिवार्य अंग है । इस विधि से महंत अथवा धर्मगुरु के सम्मुख चार बार प्रणाम करने के उपरान्त उनके पैर के अंगूठे का स्पर्श करने पर प्रणाम की क्रिया पूर्ण होती है ।

स्त्रियों के लिए प्रणाम की उपर्युक्त पद्धति कुछ संक्षिप्त कर दी गई हैं । स्त्रियाँ धर्मगुरु के सम्मुख साधारण रूप से बैठकर भूमि पर सिर टेकते हुए

१—तुलसी सन्ध्या वंदन, पृ० ११-१२ ।
२—वही, पृ० ७, १२, १६, २५ ।

उलटे क्रम से इन पांच शब्दों का भेदन करके साधक सत्य शब्द का अनुसंधान करता है। यथा—निरंजन शब्द, ओंकार शब्द, अच्छर शब्द, शून्य शब्द, एवं सत्य शब्द। पंचम अर्थात् सत्य शब्द ही साहिब पंथियों के शब्दानुसंधान का लक्ष्य ज्ञात होता है। अस्तु साहब पंथ की साधना में जिन पांच नामों का उपदेश निहित है, वे उपर्युक्त पाँच शब्द ही ज्ञात होते हैं तथा इस अनुमान की पुष्टि महन्त कथित शब्दानुसंधान के संकेत से होती है।

उपासना

साहिब पंथ में उपासना के साधन जप और प्रार्थनाएं हैं। महन्त प्रकाशदास ने बताया कि जप प्रत्येक समय अपेक्षित है और साधक को पूर्णत्व तब प्राप्त होता है जब उसके रोम रोम से स्वतः जप होने लगता है। इससे उनका अभिप्राय हंस या अजपा मंत्र ज्ञात होता है।

उपासना साधन के रूप में पंथ में कुछ विशेष प्रार्थनाएँ प्रचलित हैं। तुलसी साहब, सूरस्वामी एवं गरीब साहब की रचनाओं में से एकत्र करके ये प्रार्थनाएँ 'तुलसी संध्या वन्दन' नामक पुस्तक में संग्रहीत की गई हैं। इस पुस्तक में यह भी निर्दिष्ट है कि किस समय कौन सी प्रार्थना करनी चाहिए। प्रातःकाल एवं सायंकाल का समय प्रार्थना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त माना गया है तथा उद्बोधन एवं गुरुवन्दना के रूप में इस समय की प्रार्थनाएँ समादृत हैं।

१. प्रातःकाल की प्रार्थना

भोर कोई जागो रे जागो, क्या सोवौ नींद भर घोर ॥टेक॥
बदली घुमड़ घोर अंधियारी, पहरू करन है सोर।
जागे जिन तिन तपन निवारी, घर मूसत हैं चोर ॥१॥टेक॥
पांच पचीस बसैं घट माहीं, साईं निपट कठोर।
मोर और तोर देत झक झोला, चलत नेक नहिं जोर ॥२॥ टेक॥
तलबी तीन द्वार पर प्यादे, साधैं कपट की डोर।
आवत जात नेक नहिं रोकैं, एक न मानत मोर ॥३॥टेक॥
तुलसी दास बाज यह बसती, कह कह हार निहोर।
कोतवाल कलबूत समाना, हाकिम अंधा चोर ॥४॥टेक॥[1]

२. सायंकाल की प्रार्थना

प्रथमं गुर आदि अभै विनवं, निरभै निरलंभ प्रकास पदं ॥१॥
पदमं धुरधाम, अनाम अजं, जो भजै नमि नंदन मामि नयं ॥२॥
गुन तीन अतीत गुना गवनं, पद पंथ अतंत जो अंत मनं ॥३।

१—तुलसी संध्या वन्दन, पृ० ६।

तज मूल अतूल रमै कवलं, रवि कंज करंज कला किरनं ॥४॥
आवित अमोल मिलो मुनियं, सो अडोल अबोल लखो कवलं ॥५॥
मन मंजन अंज जला जवनं, तत रंग न संग अली पवनं ॥६॥
निरसंक निहाल जो हाल हियं, जहां काल न जाल दयाल पियं ॥७॥
नहीं अंड न खंड अकै अलखं, सो भर्प तुलसी न तर्क खलकं ॥८॥
तन मन्न बदन्न न भेद भनं, घर संत जो अंत अतंत तनं ॥९॥

बदन भेद तन मन कह्यो, अंडा अलख अधार।
अलख खलक के पार है, सो संतन मत सार ॥[1]

उपर्युक्त प्रार्थनाएँ ही मुख्य प्रार्थनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त प्रातःकाल की आरती, सायंकाल की आरती, गौरी पाठ इत्यादि का विधान भी है।[2]

प्रणाम पद्धति

साहिब पंथ के अनुयायी परस्पर अभिवादन में 'साहिब जी' 'बंदगी' या 'सतनाम' कहते हैं। इस प्रबन्ध के लेखक का व्यक्तिगत अनुभव है कि प्रायः 'सतनाम' अथवा 'वंदगी' के साथ ये लोग 'साहिब' शब्द जोड़कर 'सतनाम साहिब' अथवा 'वंदगी साहिब' का प्रयोग करते हैं।

महंत अथवा धर्मगुरु के प्रति प्रणाम करने की विशेष पद्धति है। हाथरस प्रवास के समय लेखक ने स्वयं इस पद्धति को महंत के प्रति व्यवहृत होते देखा है। इसके अनुसार पंथानुयायी महंत या धर्मगुरु के सम्मुख पैर के बल बैठता है, तत्पश्चात् दोनों हाथों को मिलाकर अपने सामने भूमि पर टेकता है। फिर सिर झुका कर भूमि पर टिके हाथों तक ले जाकर महंत को प्रणाम करता है। सिर उठाते समय महंत से नेत्र मिलाते हुए वह 'साहिब जी' का उच्चारण करता है। धर्मगुरु से नेत्र मिलाने की इस प्रक्रिया को दृष्टि-साधन कहते हैं और यह प्रणाम का अनिवार्य अंग है। इस विधि से महंत अथवा धर्मगुरु के सम्मुख चार बार प्रणाम करने के उपरान्त उनके पैर के अंगूठे का स्पर्श करने पर प्रणाम की क्रिया पूर्ण होती है।

स्त्रियों के लिए प्रणाम की उपर्युक्त पद्धति कुछ संक्षिप्त कर दी गई है। स्त्रियां धर्मगुरु के सम्मुख साधारण रूप से बैठकर भूमि पर सिर टेकते हुए

१—तुलसी सन्ध्या वंदन, पृ० ११-१२।
२—वही, पृ० ७, १२, १६, २५।

'साहिब जी' का उच्चारण करती हैं और सिर उठाकर धर्मगुरु के पैर के अंगूठे का स्पर्श करती है। महंत प्रकाशदास ने बताया कि स्त्रियों के लिए दृष्टिसाधन तथा प्रणाम की चार आवृत्तियां आवश्यक नहीं है। एक या दो बार करने से ही उनका प्रणाम अंगीकृत होता है।

साहिब पंथ की उपर्युक्त प्रणाम पद्धति का मूल रूप 'घटरामायण' में प्राप्त है।[1] इसमें शेख तकी का, तुलसी साहब के प्रति प्रणाम व्यक्त करने के प्रसंग में, हाथ जोड़ना एवं सिर भूमि पर टेकने का उल्लेख तो है ही, 'नेक नजर अपनी करो' द्वारा दृष्टि साधन का उल्लेख भी कर दिया गया है। अतएव यह अनुमान करना असंगत न होगा कि 'घटरामायण' की इस पद्धति को ही कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के साथ पंथ में स्वीकार किया गया है।

विशिष्ट व्यक्तित्व

साहिब पंथ के विशिष्ट व्यक्तियों में 'सूरस्वामी, गरीब साहब, गिरधारीदास तथा देवी साहिब उल्लेखनीय हैं। ये चारों व्यक्ति संत तुलसी के शिष्य थे। सूरस्वामी, तुलसी साहब के दिवंगत होने के उपरान्त आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने कुछ शब्दों की रचना की है जो हस्तलिखित रूप में तुलसी मन्दिर, हाथरस में सुरक्षित हैं। गरीब साहब भी तुलसी साहब के शिष्य थे। सूरस्वामी के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने पर इन्होंने सूरस्वामी को सतगुरु मानकर उनके प्रति तुलसी साहब के समान श्रद्धा प्रकट की। इससे इनकी अनुशासनप्रियता का परिचय प्राप्त होता है। गरीब साहब ने भी कतिपय पदों की रचना की जो उनकी अप्रकाशित शब्दावली में सुरक्षित है। तुलसी साहब पंथ के संत कवियों में केवल सूरस्वामी और गरीब साहब की रचनायें ही उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से पंथ में इनका विशिष्ट स्थान है।

गिरधारीदास भी तुलसी साहब के परमशिष्य थे। महंत प्रकाशदास से विदित हुआ कि किसी कारणवश इनको तुलसी साहब का साथ छोड़ना पड़ा अन्यथा ये ही उनके उत्तराधिकारी शिष्य थें। तुलसी साहब से पृथक रहकर भी गिरधारीदास उनको ही गुरु मानते रहे एवं पूर्वी क्षेत्रों में उनके विचारों का

---

१ — तकी दस्त दोउ जोड़ि कै, करि सलाम सिर टेक।
नेक नजर अपनी करो, बंदा तकी निहाल ।।

—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ८५

प्रचार करते रहे। महन्त प्रकाशदास का यह कथन है कि 'राधास्वामी सम्प्रदाय' के 'स्वामी जी महराज' को गिरधारी दास से ही उपदेश प्राप्त हुआ था। जो कछ भी हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गिरधारीदास का साहिब पंथ में विशेष स्थान है। गुरु से पृथक होकर भी उन्हीं के विचारों का दूरस्थ क्षेत्रों में प्रचार करना गिरधारीदास के व्यक्तित्व को निश्चय ही विशिष्टता प्रदान करता है।

देवी साहिब भी तुलसी साहब के शिष्य थे।[1] इन्होंने तुलसी साहब की 'घटरामायण' का सम्पादन किया[2] एवं देश प्रदेश की यात्राओं के द्वारा तुलसी साहब के विचारों का प्रचार किया।[3] इन्होंने भ्रमण के द्वारा पश्चिमोत्तर भारत के प्रायः समस्त नगरों में तुलसी साहब के विचारों का 'संतमत' के नाम से प्रचार किया।[4] संतमत के रूप में देवी साहिब ने तुलसी साहब के विचारों का जितना व्यापक एवं व्यवस्थित रूप निर्धारित करके सामान्य जनता में उसका प्रचार किया, उतना अन्य कोई साहिब पंथी नहीं कर पाया है। इसीलिए तुलसी साहिब के विचारों से प्रभावित संत सत्संग आश्रमों में इनका नाम आदर से लिया जाता है तथा इन्हें संतमत का आचार्य भी कहा जाता है।[5]

विशिष्ट स्थान

साहिब पंथ के केन्द्र हाथरस के निकटवर्ती प्रदेशों में ही पंथ के विशिष्ट स्थान विद्यमान हैं। इनकी संख्या अधिक नहीं है। साहिब पंथ का प्रमुख स्थान किला दरवाजा, हाथरस के निकट स्थित तुलसी मन्दिर है। यहाँ तुलसी साहब की समाधि बनी हुई है। उनकी समाधि के पास ही सूरस्वामी, दर्शनदास इत्यादि पंथ के आचार्यों एवं महन्तों की समाधियाँ बनी हुई हैं। वस्तुतः तुलसी मन्दिर, हाथरस पंथ का सर्वप्रमुख स्थान तथा केन्द्र है। हाथरस से कुछ दूर पर जोगिया ग्राम है, जहाँ तुलसी साहब ने सर्वप्रथम सत्संग प्रारम्भ किया था।[6] यह स्थान भी पंथ का विशिष्ट स्थान माना जाता है तथा श्रद्धालु अनुयायी तुलसी साहिब की समाधि के दर्शन के साथ जोगिया ग्राम भी जाते हैं। पंथ का तृतीय स्थान पन्नीगली, आगरा में है। आगरा प्रवास के समय तुलसी साहब

१—देवीसाहिब का जीवन चरित्र' पृ० ८ एवं १२।

२—वही, पृ० २२।

३—वही, पृ० २४-२८।

४—वही, पृ० ३७।

५—घटरामायण, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० २।

६—रत्नसागर, भूमिका, पृ० १।

पंथ की आचार्य परम्परा

साहिब पंथ के सर्वोच्च धर्मगुरु को आचार्य कहते हैं। तुलसी साहब के उपरांत आचार्य पद पर उनके गुरुमुख शिष्य सूरस्वामी प्रतिष्ठित हुए। ये सम्वत् १९०५ से १९३२ तक अर्थात् २८ वर्ष आचार्य पद पर रहे। सूरस्वामी के दिवंगत होने पर इनके शिष्य महन्त दर्शनिदास आचार्य पद पर आसीन हुए। इनका कार्यकाल सम्वत् १९३३ से १९६३ अर्थात् ३० वर्ष है। इनके महाप्रस्थान के उपरान्त इनके शिष्य महन्त मथुरादास गद्दी के अधिकारी हुए। इनका कार्यकाल सम्वत् १९६३ से सम्वत् १९८३ है। इन २० वर्षों तक मथुरादास आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। महन्त मथुरादास के उपरान्त उनके शिष्य महन्त सन्त श्री प्रकाशदास आचार्य गद्दी के अधिकारी हुए और इस समय उनके आचार्यत्व में पंथ प्रकाश पा रहा है। निम्नलिखित तालिका से साहिब पंथ की आचार्य परम्परा स्पष्ट हो जायगी।[1]

तुलसी साहब | प्रवर्तक |
|
सूरस्वामी | सम्वत् १९०५-१९३२
|
दर्शनिदास | सम्वत् १९३३-१९६३
|
मथुरादास | सम्वत् १९६३-१९८३
|
प्रकाशदास | वर्तमान।

सप्तम अध्याय

काव्य कला

जिस शब्द रचना में रसज्ञ या सहृदय को रस की अनुभूति हो उसी को काव्य कहते हैं। परन्तु भावुक या सहृदय को रसानुभूति काव्य के अर्थ द्वारा होती है, शब्द मात्र से नहीं। इस रसानुभूति को ग्राह्य करने की क्षमता उसी में होगी जो शब्द के आवरण में निहित अर्थ को हृदयंगम कर सके। अर्थानुसंधान की योग्यता में केवल शास्त्रों और काव्यों का ज्ञान ही अपेक्षित नहीं, अपितु पाठक को इतना सहृदय होना चाहिये कि वह काव्य की सूक्ष्म अन्तर्धाराओं को हृदयंगम कर सके और उसकी विलक्षणता एवं विशेषताओं को आत्मसात् कर सके।

भारतीय काव्यादर्श

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं को विविध रूप में प्रकट किया है। कुछ विद्वान काव्य को शब्दनिष्ठ मानते हैं और कुछ विद्वान उसे समानरूप से शब्द एवं अर्थनिष्ठ मानते हैं। काव्य को शब्दनिष्ठ निर्दिष्ट करने वालों का कथन है कि 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'। इस मीमांसा सूत्र से शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है। अतएव काव्य को शब्दनिष्ठ कहने से उनकी अर्थनिष्ठा स्वयं प्रकट हो जाती है। शब्द और अर्थ के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न विद्वानों ने 'काव्य' की अन्य विशेषतायें भी प्रतिपादित की है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में काव्य की निम्नलिखित विशेषताएं बतलाई हैं—

(१) काव्य मृदु एवं ललित पदों से युक्त हो।

(२) उसमें अगूढ़ शब्द और अर्थ का सौष्ठव हो।

(३) वह सरल और सुगम हो।

(४) वह युक्तियुक्त भी हो।

(५) नृत्य में उसका उपयोग किया जा सके।
(६) रस के अनेक स्रोत बहाने वाला हो।[1]

भामह के अनुसार काव्य शब्द एवं अर्थ विशिष्ट होता है।[2] वामनाचार्य ने काव्य का लक्षण गुण एवं अलंकार को बतलाया है।[3] कुन्तल ने वक्रोक्ति गर्भित शब्दार्थ को ही काव्य माना है।[4] विश्वनाथ के मत से रसयुक्त वाक्य काव्य है।[5] इन समस्त परिभाषाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिभाषा मम्मटाचार्य की है। उन्होंने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवनलंकृती पुनः क्वापि'[6] के द्वारा कहा है कि दोष रहित एवं गुण अलकार सहित शब्दार्थ काव्य है। इसमें काव्य के शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार आदि मुख्य तत्वों की चर्चा आ जाती है। वस्तुतः काव्य की आत्मा, आकार एवं सौंदर्य सम्बन्धी अनिवार्य विशेषताएं इस परिभाषा की सीमा में समाविष्ट हैं।

इस प्रकार भारतीय काव्याचार्यों ने काव्य के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार से विचार किया है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भी विद्वानों में परस्पर मतैक्य नहीं है। नाट्यशास्त्र में रस को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया गया है।[7] भामह, उद्भट एवं दंडी आदि ने अलंकारों को महत्व प्रदान किया है।[8] कुंतल वक्रोक्ति को ही काव्य का मूल तत्व मानते हैं।[9] आनन्दवर्द्धन ने

१—मृदुललितपदाढ्यं गूढ़शब्दार्थ हीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्ति मन्नृत्ययोज्यम्
बहुकृतरसमार्गं सन्धि-सन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्॥
—नाट्यशास्त्र, १६।११८।

२—काव्यालंकार, १।१६।

३—काव्यालंकारसूत्र, १।१-३।

४—शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हाद्कारिणि।
वक्रोक्ति जीवित, १।७।

५—वाक्यं रसात्मकं काव्यं।
—साहित्यदर्पण, १।३।

६—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

७—संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० ५२।

८— " " पृ० १०२।

९— " " पृ० १७५।

ध्वनि सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है।[1] क्षेमेन्द्र काव्य में औचित्य के पक्षपाती हैं।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के स्वरूप की भांति ही उसकी आत्मा के सम्बन्ध में विद्वानों के मत भिन्न भिन्न हैं।

काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी आचार्यों में बड़ा मतभेद है। भरत मुनि ने कहा है कि धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान की शिक्षा एवं कायरों को साहस, वीर जनों को उत्साह, शोकार्तजनों को सात्वना, उद्विग्न चित्त वालों को विश्रान्ति, काव्य प्रणेता कवि को सम्मान, यश और द्रव्य आदि प्राप्ति के लिए काव्य एक अद्भुत साधन है।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार यश, द्रव्य, व्यवहार, ज्ञान, दुःखनाशादि काव्य रचना के मूल प्रयोजन हैं।[4] भामह के मत से काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का साधन है।[5] साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ भामह के प्रस्तुत कथन से पूर्णतया सहमत हैं।[6] कतिपय विद्वान आनन्द को ही काव्य का मूल प्रयोजन मानते हैं।[7] वस्तुतः दर्शन की भांति ही साहित्य के क्षेत्र में भी स्वतन्त्र चिन्तन भारतीय मनीषा की विशेषता है जिसके कारण काव्य के क्षेत्र में भी विभिन्न मत प्रचलित हो गए हैं।

पाश्चात्य काव्यादर्श

भारतीय काव्यवेत्ताओं की भाँति ही पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी काव्य के स्वरूप का विवेचन किया है। अरस्तू के अनुसार काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।[8] आधुनिक शब्दावली में इसकी व्याख्या की जा सकती है कि काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास द्वितीय पृ० १८०।

२— " प्रथम भाग पृ० १३३।

३—नाट्यशास्त्र, १ १०९—१२४।

४—काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर क्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कांता सम्मिततयो पदेशयुजे।
—काव्यप्रकाश, श्लोक, २।

५—धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
प्रीति करोति कीर्तिश्च च साधुकाव्य निषेवणम्॥
—काव्यालंकार, १।२

६—साहित्यदर्पण, पृ० १०।

७—सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वदन।
समुद्भूतं विगति तवेद्यांतरमानन्दं।

८—अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० २६।

जीवन का पुनः सृजन है।[1] ड्राइडन ने काव्य को मानव प्रकृति की अनुकृति माना है।[2] शेली ने काव्य की कल्पना को अभिव्यक्ति कहा है।[3] मैथ्यूआर्नाल्ड ने काव्य में विचार तत्व को महत्वपूर्ण माना है।[4] टी० एस० इलियट ने काव्य को भाषा का विशिष्ट प्रयोग कहा है।[5] इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों की भांति ही पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों में भी काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं।

कतिपय पाश्चात्य साहित्याचार्यों की दृष्टि में काव्य का लक्ष्य नीति और धर्म है।[6] किन्तु समस्त पाश्चात्य साहित्य शास्त्री यह नहीं मानते कि काव्य का प्रयोजन नैतिकता से सम्बन्ध है। एवरक्रोम्बी इस प्रकार की किसी मान्यता का पक्षपाती नहीं है। उसका कथन है कि अनुभव को प्रेषणीयतापूर्वक अभिव्यक्त करना ही काव्य का उद्देश्य है।[7] किन्तु इस प्रकार की मान्यता के पक्षपाती भी अधिक नहीं हैं। वर्सफोल्ड ने 'जजमेन्ट इन लिटरेचर' में लिखा है कि काव्य का विषय सम्पूर्ण मानव जीवन एवं उसकी क्रिया है।[8] यदि पाश्चात्य साहित्य पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी लौकिक जीवन एवं ऐश्वर्य पर सर्वाधिक आस्था है। जीवन तत्व को जितना महत्व पाश्चात्य साहित्याचार्यों ने दिया है, उतना भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने नहीं दिया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारतीय काव्य जीवन से असम्पृक्त है, किन्तु जिस प्रकार इस देश में काव्य को मोक्षादि के प्रयोजन से सम्बद्ध किया गया है, वैसी कोई धारणा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अपना स्थान नहीं बना सकी है।

१—अरस्तू का काव्य शास्त्र पृ० २७।
२—क्रिटिकल ऐप्रोचेज टु लिटरेचर पृ० ७४।
३— " पृ० ११२।
४— " पृ० १३०।
५— " पृ० १५८।
६—इन एवरी एज ऐण्ड इन एवरी ह्यूमैन सोसाइटी देयेर इग्जिस्टस ए रेलिजस सेन्स आफ ह्वाट् इज गुड ऐण्ड ह्वाट् इज बैड कामन टू दैट होल सोसाइटी, ऐण्ड इट इज दिस रेलिजस कन्सेप्शन दैट डिसाइड्स दी वैल्यूज आफ दी फीलिंग्स ट्रान्समिटेड बाई आर्ट।
—ह्वाट् इज आर्ट, पेज २८-१२९.
७—प्रिंसिपुल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पेज० ३०.
८—जजमेन्ट इन लिट्रेचर, पे० १५.

सन्तों का काव्यादर्श

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के काव्यादर्श एवं काव्य प्रयोजन का अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि हिन्दी के मध्ययुगीन संत कवियों ने उपर्युक्त आदर्शों एवं प्रयोजनों को स्वीकार नहीं किया है। सन्तों के काव्य से स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक ऐश्वर्य एवं यश की इच्छा से उन्होंने रचना नहीं की। उन्होंने काव्य का कोई प्रचलित आदर्श भी ग्रहण नहीं किया। काव्य, काव्यशास्त्र छंद, पिंगल आदि के नियमों का न उन्होंने अध्ययन किया और न उन्हें इन पर आस्था थी, परन्तु काव्यशास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ रह कर भी संतों ने जिस कोटि के शक्तिशाली काव्य की रचना की, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि काव्य की आत्मा पुष्ट एवं दृढ़ है तब वाह्यावरण और अन्य उपकरणों के प्रति बहुत सजग न रह कर भी प्रभावात्मक काव्य की रचना की जा सकती है।

संत काव्य की आत्मा उसका दर्शन तत्व है। उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त ही सन्तों ने विभिन्न काव्य रूपों को स्वीकार किया। काव्य-रचना सन्तों का उद्देश्य नहीं है, अपितु काव्य के द्वारा अनुभूत दर्शन के गहन प्रसंगों को व्यक्त करना उनका लक्ष्य है। सन्तों ने अलौकिक विषय को काव्य द्वारा व्यक्त किया है। कबीर ने कहा है कि अनुरागी (कवि) तो वही है जो ब्रह्मानुभव का गायन करता है, सांसारिक विषयों का गायन व्यर्थ है।[1] संत रैदास ने भी कहा है कि समस्त कथा-वार्ता व्यर्थ है, यदि उसका लक्ष्य प्रभु नहीं है।[2] संत काव्य में उस काव्य की निन्दा एवं आलोचना की गई है, जिसमें परमात्मा का नाम (यशोगान) विस्मृत कर दिया गया हो।[3] संत सुन्दरदास समस्त संत-कवियों में

१—जग भव का गावना का गावै।
अनुभव गावै सो अनुरागी है।
—संत दर्शन, पृ०२१६ पर उद्धृत।

२—थोथा पंडित थोथी बानी।
थोथी हरि बिनु सभै कहानी॥
—रैदास की बानी, पृष्ठ २६।

(३) कलि महं कठिन विवादी भाई,
कानि सन्त की मानत नाहीं मन आवै तस गाई॥
बहु विद्या पढ़ि शब्द-साखी-जहां तहां गोहराई॥
वामे काम-रस-बसनि-सुवासर रचि बहु भेष बनाई॥
करिकै स्वांग पुजावहिं सबते नहीं विवेक करि जाई॥
विज्ञानी ज्ञानी कविता में नाम दीन्ह विसराई॥
—शब्द सागर, प० १६३।

सर्वाधिक शिक्षित थे एवं उनका काव्य छन्द, पिंगल एवं अलंकारादि की दृष्टि से पुष्ट है। सुन्दरदास का कथन है कि साहित्यशास्त्र के नियमों के अनुसार काव्य निस्संदेह अपेक्षित है, किन्तु 'हरिजन' के अभाव में सुन्दर काव्य भी निस्सार है।[1] जिस प्रकार प्राणविहीन शरीर आकर्षण रहित हो जाता है, उसी प्रकार 'हरिजस' के बिना काव्य फीका और नीरस प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सुन्दरदास काव्य सौन्दर्य, काव्य-सरसता, काव्य सौष्ठव इत्यादि को ब्रह्म चर्चा के आधीन मानते हैं। सुन्दर दास की यह विचारधारा सन्तों के काव्यादर्श को हृदयंगम करने में बड़ी महत्वपूर्ण है। सुन्दरदास सन्तों में सर्वाधिक शिक्षित होते हुए भी यही मानते थे कि काव्य की आत्मा ब्रह्म-दर्शन है, चमत्कार, कला और साहित्यशास्त्र की विदग्धता का प्रदर्शन नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि सभी सन्तों का काव्यादर्श ब्रह्म का यशोगान है। इन कवियों ने काव्य के महत्व को वहीं तक स्वीकार किया है, जहाँ तक वह ब्रह्म के स्मरण में सहायक हो सके। सन्तों ने आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के निमित्त काव्य को स्वीकार किया है, पर काव्य ही सब कुछ है, इस भाव का समर्थन किसी भी कवि ने नहीं किया है। मारवाड़ के सन्त दरिया साहब ने निम्नलिखित शब्दों में सन्तों के काव्यादर्श को भलीभांति प्रकट किया है:—

सकल कवित का अर्थ है, सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात॥[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त कवियों की दृष्टि में वास्तविक काव्य प्रभु स्मरण है। यही समस्त काव्य का अर्थ भूत तत्व है और सार भूत कथनी भी यही है। इसी का प्रतिपादन सन्त काव्य का लक्ष्य है। अतएव

---

(१) नख शिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीको लागै।
अंग हीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भागै॥
अक्षर घटि बढ़ि होई पुड़वत नर ज्यो चल्लै॥
मात घटै बढ़ि कोइ मनो मतवारा हल्लै॥
ओढ़ेर कांण सो तुक अमिल अर्थहीन अंधो यथा।
कहि सुन्दर हरिजस जीव है हरिजस बिन मत कहि यथा॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ९७२

(२) दरिया साहब की बानी, पृ० ९।

ः सन्त काव्य में छन्द, पिंगल, भाषा, व्याकरण पर ध्यान नहीं दिया गया तो सन्तों के काव्यादर्श के अनुकूल ही है जिसके अनुसार उनके काव्य की आत्मा भु स्मरण' ही मुख्य तत्व है, शेष सब निरर्थक और गौण है।

लसी साहब की काव्य—कला

सन्त तुलसी के काव्य पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व र्ती सन्त कवियों की भांति ही उनकी रचना का विषय दर्शन है। उनकी समस्त ाव्य शक्ति ब्रह्म के यशोगान, शरीर और संसार की असारता एवं अनित्यता ो उपासना के प्रत्याख्यान में व्यय हुई है। भक्ति साधना के प्रसंग में तुलसी ाहब ने साधक की विभिन्न अनुभूतियों और कठिनाइयों का, इन्द्रियों और काम, ोध, मद, लोभ, मोह आदि शत्रुओं का, गुरु महिमा, साधु-स्तुति, संत-महिमा, सत्संग महत्व अहिंसा आदि का वर्णन किया है। उन्होंने लोक में प्रचलित पाखण्ड और बाह्माचार का खण्डन करने के प्रसंग में संसार के पाखण्डियों और कर्मकाण्डियों की निन्दा करते हुए जप, तप, तीर्थ, पूजा आचार आदि की निष्फलता के विषय में रचना की है। दर्शन के मुख्य सिद्धांतों के प्रतिपादन के साथ ही सन्त तुलसी ने प्रसंगवश नीति और उपदेश का वर्णन भी किया है। सन्त तुलसी के वर्ण्य विषय की इस चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक अर्थ में जिसे काव्य-रस कहते हैं वह उनकी रचनाओं में अनुपलब्ध है, किन्तु काव्य का लोकोत्तर चमत्कार-अध्यात्म रस-विद्यमान है। कबीर की भांति ही जीव और ब्रह्म के विरह और मिलन की भावनाओं को श्रृंगार की जिन उक्तियों के द्वारा संत तुलसी ने व्यक्त किया है, उनकी तन्मयता और उत्कट अनुभूति किसी भी सत् काव्य की शोभावृद्धि कर सकती है। भगवान के विरह की व्याकुलता, उनके साक्षात्कार का उल्लास, मिलन दशा और उसकी अवर्णनीय अनुभूति एवं तन्मयता का बड़ा अनुभूतिमय वर्णन सन्त तुलसी ने किया है। निम्नांकित पंक्तियों में काव्य-दृष्टि से तुलसी साहब की मुख्य विशेषताओं का प्रतिपादन किया जायगा।

रस

साहित्य शास्त्र में नव रस का विधान है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में पहले श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत नामक आठ रसों का उल्लेख किया है,[1] तत्पश्चात शान्त रस[2] की चर्चा करके सुप्रसिद्ध

(१) श्रृंगार हास्यकरुणा रौद्रवीर भयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥
—नाट्यशास्त्र, ६।१६।

(२) अत शान्तो नाम.........। मोक्षाध्यात्मसमुत्थ शान्त रसो नाम। सम्भवति।.........एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।
—नाट्यशास्त्र पृ० ३२४-३३।

नव रस की स्थापना की है। 'साहित्यदर्पण' में भी इन नवरसों का वर्णन हुआ है।[1] सन्त तुलसी की रचनाओं में शान्त एवं श्रृंगार रस का वर्णन उपलब्ध है। यदि भक्ति रस को एक स्वतन्त्र रस माना जाय, तो कहा जा सकता है कि तुलसी साहब ने शान्त, भक्ति एवं श्रृंगार रस का वर्णन किया है। भरत मुनि ने भक्ति को शान्त रस के अन्तर्गत ही माना है।[2] कतिपय आचार्यों ने भक्ति को रस ही नहीं माना है,[3] किन्तु सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने इसे सर्वोपरि रस सिद्ध किया है।[4] वस्तुतः भक्ति को शान्त रस के अन्तर्गत ही मानना समीचीन है क्योंकि इसका लक्ष्य भी साधक की वृत्तियों का शमन है। अतएव संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि तुलसी साहब ने मुख्यतः शान्त एवं श्रृंगार रस प्रधान रचना की है।

(१) शान्त रस प्रधान उक्तियाँ

शान्त रस में अनित्यत्व दुःखमयत्व आदि से सम्पूर्ण संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप आलम्बन होता है।[5] शान्त रस की उक्तियों में मुख्यतः संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का प्रतिपादन करके जीव का उद्बोधन किया जाता है:—

(क) खिलकत का खेल जान झूठ पसारा ॥
इक पल में फना होत जक्त असारा ॥[6]

(ख) सुपना जग जान चलो री, अपना कोइ नाहीं भलो री ॥[7]

(ग) हमको जग क्या करना री, टुक जीवन पै मरना री ॥
इक दिन देह वदन विनसेगा, अगिनि अंग जरनारी ॥[8]

(घ) थिर न कोइ या जग में री, सौदागर लादि चलोरी ॥
सतगुर सोध बोध विन मारग, जमपुर फांस फंसेरी ॥[9]

१—साहित्यदर्पण, ३।१८२।
२—संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० ८९।
३—संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० ९०-९१।
४— " " " पृ० ९२-९६।
५—साहित्यदर्पण, ३।२४६-२४७।
६—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० २३।
७— " द्वितीय भाग, पृ० १७५।
८— " " पृ० १७७।
९— " पृ० १७६।

भक्ति सम्बन्धी उक्तियाँ

(क) परम पद्मभूतं सो महिमा अतूलं । कटे घोर सूलं अनन्त अपारं ।
कही तोल बानी अकथ गति की कहानी ।[1]
कहां लौं बखानी सो चरनारविंद ॥

(ख) मैं अति कुटिल कराल हूं बार बार सरनाय ॥
बार बार सरनाय चरन घर धारूँ घूरी ॥[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से सन्त तुलसी की शान्त रस सम्बन्धी उक्तियों का परिचय प्राप्त हो जाता है। इनका उद्देश्य समानरूप से वृत्तियों का शमन है।

(२) शृंगार रस सम्बन्धी उक्तियाँ

शृंगार रस का स्थायीभाव रति है।[3] सामान्य स्त्री-पुरुषों के हृदय में उत्पन्न रति भाव लौकिक शृंगार की निष्पत्ति करता है एवं भक्त के हृदय में भगवत् विषयक रति या अनुराग की उत्पत्ति प्रेमाभक्ति या अलौकिक शृंगार का कारण होती है। तुलसी साहब की शृंगार विषयक उक्तियां अलौकिक प्रेम की अभिव्यञ्जना करती हैं। जब आत्मा स्त्री रूप में परमात्मा रूपी पति के प्रति अपना प्रणय व्यक्त करती है, तब अलौकिक शृंगार प्रादुर्भूत होता है। आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति करते हुए भी इसमें लौकिक दाम्पत्य भावना पूर्ण विद्यमान रहती है। इसीलिए इसमें शृंगार के तत्व विद्यमान रहते हैं, किन्तु इस अलौकिक शृंगार वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है उत्कृष्ट अनुभूति। सन्त तुलसी की मिलन और विरह सम्बन्धी उक्तियों में प्रियतम परमपुरुष के सान्निध्य और वियोग का बड़ा प्रवेगपूर्ण हुआ है। इस वर्णन में वर्णन में मार्मिक अनुभूति व्यक्त हुई है। संयोग शृंगार की उक्तियों की अपेक्षा वियोग शृंगार की उक्तियों में विरह जन्य व्यथाभाव, उत्कट विरहानुभूति की प्रेषणीयता से परिपूर्ण है। सन्त तुलसी की वियोग भावना के निम्नलिखित वर्णन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

विरह वर्णन

सन्त तुलसी ने प्रेम में विरह-तत्व का बड़ा अनुभूतिपूर्ण वर्णन किया है। वियोगिनी आत्मा पतिरूप परमात्मा से वियुक्त होकर अन्तरालवर्तिनी वेदना से व्याकुल होकर मर्म की पीड़ा शब्दों के मिस अनावृत करती है। उसकी मर्म

१—घटरामायण द्वितीय भाग, पृ० १९३।
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४०।
३—साहित्य दर्पण, ३।१८६।

पीड़ा मर्मभेदी है। उसका वियोग साधारण वियोग नहीं है। यह तो उस पुरुष का वियोग है, जिसके योगमात्र से समस्त वियोग निमिषमात्र में दूर हो जाता है। पर उसकी अप्राप्ति की वेदना से व्याकुल होकर वियोगिनी प्रत्येक आशा से पराभूत अपने भाग्य को ही दोष देने लगती है—

विरह लहर नागिन डसैं, बिन सइयां तड़प उचाट।
चमक उठै जस बीजुली, छतियन धड़क समात॥
प्रबल अगिनि हिय में उठै, एरी धुंआ प्रगट न होइ॥
सोई अकेली सेज पै, पूरब लिख्यौ री बियोग॥[1]

इस मर्मान्तिक वियोग की व्यथा अल्पकालीन दुःख नहीं है, यह तो कल्पों का कलपना है—

कल्प कल्प कलपत भये, जुग जुग जोवत बाट।
कोइ री सोहागिनि ना मिली, पूछौ पिया घर-घाट॥[2]

इस दीर्घकालव्यापी विरह के कारण वियोगिनी के नेत्रों से अविरल अश्रुपात हो रहा है और शरीर क्षीण हो गया है—

नैन नीर ढुरि ढुरि बहै, कसकै तन मन पीर।
जिन पिय की बिरहा बसै, छिन छिन छीन सरीर॥[3]

विरह—व्यथा के अतिरेक में वियोगिनी का अन्न-जल छूट गया है और वह व्याकुल होकर प्रियतम की रट लगाये हुए—

दर्द दिवानी अन्न न पानी, बिथा विरह बल नहिं भावे।
तन बिच पीर धीर नहिं मन को, पिया पिया की रट लावे॥[4]

विरह का दुःख सहते हुए एवं प्रियतम-मिलन से निराश होकर वियोगिनी के सम्मुख एकमात्र मृत्यु ही शेष रह जाती है। संत तुलसी ने वियोग की अन्य दशाओं की अपेक्षा मरण दशा का वर्णन अनेक बार किया है। वस्तुतः मरण भावना द्वारा ही असह्य एवं उत्कट विरहानुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव होती है। संत तुलसी की वियोगिनी प्रियतम के विरह-जन्य दुःख से प्रपीड़ित होकर आत्मघात का निश्चय करती है—

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ९३।
२— " " " ९३।
३— " " " ९१।
४—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १४७।

पिया पीर दुख दर्द की, का से करूं गोहार।
मारि कटारी मरि रहूं, गहूं विपत सिर भार ॥[1]

प्रियतम के वियोग में उसे कुछ भी नहीं भाता, एकमात्र मरण निःशेष है–

कछू न सुहावे मोको पिया के वियोगी
बिरह की बेली हेली फैली चहुं दिस कूं, दरस दुखी जस रोगी।
अस री हिलोर मोर मन आवे, तन तजि अब न जियोगी ॥[2]

परम पुरुष के वियोग की यह व्यथा तो विरले ही जानते हैं। जो जानते हैं, उनके लिए मरण ही एकमात्र उपाय है—

प्रीतम पीर पिरानी, दरद कोइ बिरले जानी।
मुरदा ह्वै करि खाक मिली अब, जब पट अमर लिखानी।
तुलसी यहि मारग मुसकिल का, घड़ बिन सीस बिकानी ॥[3]

इससे तुलसी साहब की उत्कट बिरहानुभूति का अनुमान किया जा सकता है। विरह वर्णन में उन्होंने बड़ी गहरी भावुकता का परिचय दिया है। अनुभूति की गहराई के कारण ही उनकी विरह सम्बन्धी उक्तियों में प्रभावात्मकता है।

संयोग वर्णन

तुलसी साहब की रचनाओं में श्रृंगार के संयोग पक्ष के वर्णन भी उपलब्ध हैं। ये वर्णन विरह वर्णन की तुलना में अधिक नहीं हैं, तथापि संयोग भावना को उज्जीवित करने में समर्थ हैं। संयोग श्रृंगार के वर्णनों में मिलन की उत्कृष्टता व्यक्त करने के लिए तुलसी साहब ने जिस वर्णन पद्धति का प्रयोग किया है, उससे उनके श्रृंगार वर्णन में स्थूलत्व आ गया है। निम्नलिखित उद्धरण में वर्णित श्रृंगार भावना आत्मा और परमात्मा के मिलन का वर्णन लौकिक रीति की पद्धति पर करती है—

१—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १४८।
२— " " पृ० २३८।
३— " " पृ० २५१।
४— " " पृ० २१८।

एरी माई प्रीतम परस प्रास बस बतियां ।
केल करत रस रतियां बिताई ॥
अली सुरत संग कीन्हा । पिया बस रस पीना ।
बहियाँ पकर पट पलंग सुलाई ॥
रहसि रहसि पिया गले से लगाई ॥[1]

आत्मा और परमात्मा की इस केलि-कथा में संयोग श्रृंगार की सूक्ष्म अनुभूति अप्राप्त है। इसका कारण यही है कि कवि ने मिलन की उत्कटता के आवेग को व्यक्त करने के लिए स्त्री और पुरुष के रति आचरण का आधार ग्रहण किया है, किन्तु मिलन जन्य सुख वर्णन में यह स्थूलता नहीं रहती। उस अवस्था में पत्नी रूप आत्मा जिस परम सुख का अनुभव करती है, वह अवर्णनीय है—

रस कस समझ सुरत पिया पद को, मोसो कछु कहत न जाती[2]

पत्नी रूप आत्मा और पति रूप परमात्मा का यह मिलन सुख शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उस 'अजब' अलौकिक सुख की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है—

पति पुरुष सेज संवारत सजनी। अजब अलि सुख का कही ॥[3]
मुख बैन कहनि न सैन आवै। चैन चौज चिन्हावही ॥

वस्तुतः परम मिलन के महोत्सव के इस परम सुख की अनुभूति ही की जा सकती है। शब्दों द्वारा इसको व्यक्त करना असंभव है।

उपर्युक्त पंक्तियों में सन्त तुलसी के काव्य के भावपक्ष की मुख्य विशेषताओं का वर्णन किया गया। इससे प्रकट होता है कि रस की दृष्टि से तुलसी साहब ने शांत और श्रृंगार रस का वर्णन ही किया है। श्रृंगार रस में संयोग की अपेक्षा विरह की उक्तियों में तुलसी साहब की सूक्ष्म अनुभूति भली भांति प्रकट हुई है। तुलसी साहब का विरह वर्णन संत काव्य के भावपक्ष का उल्लेखनीय विषय है।

१—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २१८।

२—शब्दावली, द्वितीय भाग पृ० १६२।

३—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २ ।

गुण

कतिपय आचार्यो ने गुणों को काव्य का सौंदर्यवर्द्धन करने वाला उपादान मान कर उन्हें अलंकारों से अधिक महत्व प्रदान किया है। वामनाचार्य ने गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म और अलंकारों को गुणाकृत सौन्दर्य को बढ़ाने वाला माना है।[१] वामनाचार्य के इस कथन से मम्मट आदि आचार्य सहमत नहीं हैं तथापि उन्होंने भी काव्य में गुणों का महत्व स्वीकार किया है।[२] गुणों की संख्या के सम्बन्ध में भी आचार्यो में बड़ा मतभेद है। भरत मुनि[३] और वामनाचार्य[४] ने दस गुण माने हैं। अग्निपुराण में गुणों की संख्या उन्नीस मानी गई है।[५] भोज ने चौबीस गुणों की चर्चा की है।[६] पर मम्मटाचार्य ने ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक गुणों को ही महत्व प्रदान किया है।[७]

जहाँ तक तुलसी साहब की रचनाओं का सम्बन्ध है, उसमें माधुर्य एवं प्रसाद गुण उपलब्ध है। पर माधुर्य एवं प्रसाद गुण उनकी रचनाओं में सर्वत्र नहीं दृष्टिगत होता। माधुर्यगुण के सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का मत है कि टवर्ग के चार वर्ण ट, ठ, ड, ढ, छोड़कर 'क' से 'म' तक वर्णो वाले छोटे समास या समास के अभाव वाली वर्ग के अन्त्याक्षर (ङ, ण, न, म) युक्त—सानुस्वार वर्णों वाली मधुर रचना होती है।[८] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संत तुलसी साहब ने गुणों सम्बन्धी इस नियम का ध्यान नहीं रखा है। उनकी उक्तियों में उपलब्ध माधुर्य गुण काव्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार निर्धारित नहीं हुआ है, अपितु आत्माभिव्यक्ति के प्रसंग में स्वतः आ गया है। संत तुलसी के काव्य में माधुर्य गुण को प्रकट करने वाले निम्नांकित उद्धरण हमारे मन्तव्य को स्पष्ट कर देंगे—

१—काव्यालंकार सूत्र, ३।१।१—२।

२—संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० १५०।

३—संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० १४९।

४— „ „ पृ० १४९।

५— „ „ पृ० १४९।

६— „ „ पृ० १४९।

७— „ „ पृ० १४९।

८—काव्य प्रकाश, अष्टम उल्लास, सू० ९९।

(क) मैं पिया की बलिहार प्यार मोहिं से कियो।
दीन्ह पलंग सुख साज काज रहयो हियो ॥[1]

(ख) उमगत झनक झकोरी, झमाझम खेलूंगी होरी निठोरी।
सैयां के संग रंग झकझोरी, केसर माट ढुरोरी।
प्यारी पिया रंग रूप भये हैं, जैसे कांच कटोरी।
डारो रंग संग सुख सागर, तुलसी बांह गहोरी ॥[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत तुलसी के काव्य में प्राप्त माधुर्यगुण शास्त्रीय नियमों के अधीन नहीं है, अपितु आत्माभिव्यक्ति का एक अंग है।

जहाँ तक प्रसादगुण का सम्बन्ध है, वह संत तुलसी की 'रत्नसागर' आदि रचनाओं में उपलब्ध है किन्तु सर्वत्र उसके दर्शन नहीं होते। दर्शन के दुरूह विषय, हठयोग के प्रसंग, जटिल पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से संत तुलसी के काव्य में प्रसाद गुण पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है। किन्तु अनेक स्थलों पर उनकी रचनाओं का अर्थ समझने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ऐसे स्थलों पर रचना स्पष्ट है और उसका अर्थ सहज बोधगम्य है—

(क) दिन चार है बसेरा। जग में नहीं कोइ तेरा ॥
सब ही बटाऊ लोग हैं। उठ जाइंगे सवेरा ॥[3]

(ख) स्वामी करो मोर निरवारा। मैं अब लागेउ चरन तुम्हारा ॥
अस अस दया करो हे स्वामी। मन रहै चरन माहि लपटानो ॥[4]

इस प्रकार के स्थल उनके काव्य में बहुत अधिक नहीं हैं। अधिकतर दर्शन चर्चा से उनकी रचनायें दुर्बोध हो उठी हैं। इससे प्रसादगुण का ह्रास हो गया है।

अलंकार

काव्य में अलंकारों का स्थान अत्यन्त प्राचीनकाल से समादृत है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में सर्व प्रथम उपमा, रूपक, दीपक और यमक नाम के

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६।
२—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १७०।
३— ,, प्रथम भाग, पृ० ७८।
४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८५।

अलंकारों का उल्लेख किया गया है।[1] दंडी ने कहा है कि काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में अलंकार का महत्व स्वीकृत है। अलंकारों को काव्य का सौंदर्यवर्द्धन करने वाला तत्व माना गया है। पर संत काव्य में अलंकारों का प्रयोग काव्य के सौंदर्यवर्द्धन की दृष्टि को ध्यान में रख कर नहीं किया गया हैं। सन्त काव्य में अलंकार अभिव्यक्ति के प्रवाह में स्वतः आ गये है। उनके लिए प्रयत्न या चेष्टा नहीं की गई है। संत तुलसी के काव्य में भी अलंकार स्वतः उत्पन्न होने वाली उक्तियाँ हैं। उनके काव्य में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार समानरूप से उपलब्ध हैं।

शब्दालंकार

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष मुख्य है। तुलसी साहब की रचनाओं में अनुप्रास का प्रयोग सर्वाधिक है। अनुप्रास में एक या अनेक वर्ण अनेक (दो या अधिक) वार आते हैं। तुलसी साहब की रचनाओं में प्राप्त अनुप्रास के अनेक उदाहरणों में से कुछ यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।:—

(क) अलख की पलक पर खलक का खेल है।[3]

(ख) सर साधि सुन्न सुधादि जानो। ध्यान धरि जब थिर युवा ॥[4]

(ग) कर कृत करम मित्र भये ऊधो, सूधो कठिन कुलाहल काले ॥[5]

(घ) विष रस विषम विषय मन माहीं, धोई तुलसी वुद्धि मैली ॥[6]

अनुप्रास का एक भेद छेकानुप्रास है। इसमें एक या अधिक वर्ण दो बार आते हैं। इसका प्रयोग संत तुलसी की रचनाओं में प्रायः प्राप्त होता है—

१—नाट्यशास्त्र १७।४३।

२—काव्यादर्श, २।१।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६।

४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १.।

५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २४६.

६—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १६२.

(क) मैं पिया की बलिहार प्यार मोहिं से कियो।
दीन्ह पलंग सुख साज काज रह्यो हियो ॥[1]

(ख) उमगत झनक झकोरी, झमाझम खेलूंगी होरी निठोरी।
सैयां के संग रंग झकझोरी, केसर माट ढुरोरी।
प्यारी पिया रंग रूप भये हैं, जैसे कांच कटोरी।
डारो रंग संग सुख सागर, तुलसी बाँह गहोरी ॥[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत तुलसी के काव्य में प्राप्त माधुर्यगुण शास्त्रीय नियमों के अधीन नहीं है, अपितु आत्माभिव्यक्ति का एक अंग है।

जहाँ तक प्रसादगुण का सम्बन्ध है, वह संत तुलसी की 'रत्नसागर' आदि रचनाओं में उपलब्ध है किन्तु सर्वत्र उसके दर्शन नहीं होते। दर्शन के दुरूह विषय हठयोग के प्रसंग, जटिल पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से संत तुलसी के काव्य में प्रसाद गुण पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है। किन्तु अनेक स्थलों पर उनकी रचनाओं का अर्थ समझने में प्रयत्न नही करना पड़ता। ऐसे स्थलों पर रचना स्पष्ट है और उसका अर्थ सहज बोधगम्य है—

(क) दिन चार है बसेरा। जग में नहीं कोइ तेरा ॥
सब ही बटाऊ लोग हैं। उठ जाइ गे सवेरा ॥[3]

(ख) स्वामी करो मोर निरवारा। मैं अब लागेउ चरन तुम्हारा ॥
अस अस दया करो हे स्वामी। मन रहै चरन माहिं लपटानो ॥[4]

इस प्रकार के स्थल उनके काव्य में बहुत अधिक नहीं हैं। अधिकतर दर्शन चर्चा से उनकी रचनायें दुर्बोध हो उठी हैं। इससे प्रसादगुण का ह्रास हो गया है।

अलंकार

काव्य में अलंकारों का स्थान अत्यन्त प्राचीनकाल से समादृत है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में सर्व प्रथम उपमा, रूपक, दीपक और यमक नाम के

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६।
२—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १७०।
३— ,, प्रथम भाग, पृ० ७८।
४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८५।

अलंकारों का उल्लेख किया गया है।[1] दंडी ने कहा है कि काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में अलंकार का महत्व स्वीकृत है। अलंकारों को काव्य का सौंदर्यवर्द्धन करने वाला तत्व माना गया है। पर संत काव्य में अलंकारों का प्रयोग काव्य के सौंदर्यवर्द्धन की दृष्टि को ध्यान में रख कर नहीं किया गया हैं। सन्त काव्य में अलंकार अभिव्यक्ति के प्रवाह में स्वतः आ गये है। उनके लिए प्रयत्न या चेष्टा नहीं की गई है। संत तुलसी के काव्य में भी अलंकार स्वतः उत्पन्न होने वाली उक्तियाँ हैं। उनके काव्य में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार समानरूप से उपलब्ध हैं।

शब्दालंकार

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष मुख्य है। तुलसी साहब की रचनाओं में अनुप्रास का प्रयोग सर्वाधिक है। अनुप्रास में एक या अनेक वर्ण अनेक (दो या अधिक) वार आते हैं। तुलसी साहब की रचनाओं में प्राप्त अनुप्रास के अनेक उदाहरणों में से कुछ यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।:—

(क) अलेख की पलक पर खलक का खेल है।[3]

(ख) सर साधि सुन्न सुधादि जानो। ध्यान धरि जब थिर युवा ॥[4]

(ग) कर कृत करम मित्र भये ऊधो, सूधो कठिन कुलाहल काले ॥[5]

(घ) विष रस विषम विषय मन माहीं, धोई तुलसी वुद्धि मैली ॥[6]

अनुप्रास का एक भेद छेकानुप्रास है। इसमें एक या अधिक वर्ण दो बार आते हैं। इसका प्रयोग संत तुलसी की रचनाओं में प्रायः प्राप्त होता है——

१—नाट्यशास्त्र १७।४३।

२—काव्यादर्श, २।१।

३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ६।

४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १.।

५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २४६.।

६—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १६२.।

(क) जो कोइ सखी सुहागन होवै, कहे तन तपन वुझाइ।[1]
(ख) मनी मान ने धनी न चीन्हा, चिड़या चुग गई खेत।[2]

अनुप्रास का दूसरा प्रसिद्ध भेद वृत्यनुप्रास है। इसमें एक या अधिक वर्ण तीन या अधिक वार आते हैं। तुलसी साहब की रचनाओं में इस वृत्यनुप्रास का प्रयोग भी प्राप्त है।

(क) विन स्वामी सिंगार सुहागिन, नानत तोवा ताइ।[3]
(ख) कर कृत करग मित्र भये ऊधो, सूधो कठिन कुलाहल काले।[4]

श्रुत्यनुप्रास के उदाहरण भी इनकी रचनाओं में खोजे जा सकते हैं, पर हैं बहुत कम। जो हैं भी उनमें एक स्थान से उच्चारण किए जाने वाले कुछ ही वर्णों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ :—

सर साधि सुन्न सुधारि जानो। ध्यान धरि जब थिर थुवा॥

इसमें स, ध और थ वर्णों का भी प्रयोग किया गया है, जिनका उच्चारण एक स्थान (दन्त) से होता है।[5] वस्तुतः इस प्रकार के अनुप्रास का प्रयोग प्रायः पूर्व योजना के अनुसार अर्थात् प्रयत्नज होता है। इसीलिए इसका प्रयोग कम है क्योंकि तुलसी आदि संत कवियो ने प्रयत्न से सचेष्ट होकर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है।

अनुप्रास का अन्तिम भेद अन्त्यानुप्रास है। इसमें शब्दों या चरणों के अन्त में अन्तिम दो स्वरों की, वीच के व्यंजन सहित, आवृत्ति होती है।

(क) सम सील लील अपील पैलै। खेल खुलि खुलि लखि परै।[7]
(ख) मिलि तूल मूल अतूल स्वामी। धाम अविचल बस रही।[8]
(ग) अन्दर अनूपरूप भूप साहिवी।[9]

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १।
२— „ „ पृ० ११८।
३— „ „ पृ० १।
४ - „ द्वितीय भाग, पृ० २४६।
५—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १।
६—अलंकार-पारिजात पृ० ६।
७—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १।
८—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० २।
९—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० १६।

उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब की रचनाओं में प्रायः अनुप्रास के सब भेद प्रयुक्त हुए हैं।

शब्दालंकारों में श्लेष का प्रमुख स्थान होता है। शब्द-श्लेष अलंकार वहां माना जाता है जहां वाक्य में एक से अधिक अर्थ वाले शब्द का प्रयोग किया जाय। शब्द एक बार आता है, पर उसके अर्थ एक से अधिक होते हैं। तुलसी साहब ने श्लेष-परक अर्थ लगाने के लिए अनेक शब्दों को बहुत तोड़ा-मरोड़ा है किन्तु श्लेष का अलंकार रूप में प्रयोग बहुत कम किया है। श्लेष के अच्छे उदाहरण दो चार ही प्राप्त होते हैं।

(क) पिउ तजि के दधि बेचन आई। जब से गुजरी नाम कहाई।[1]
(ख) जब गोपाल गौ पालन लागे। रस दधि मोल बिकन जब लागे।[2]

प्रथम उदाहरण के गुजरी शब्द में श्लेष है। एक अर्थ है दधि बेचने वाली गुजरिया, दूसरा अर्थ है प्रियतम को छोड़ कर बाजार में आने वाली गई-गुजरी (पतित) स्त्री। आत्मा (गुजरी) और परमात्मा (पिउ) के सम्बन्ध में इस उदाहरण को अर्थ-श्लेष का उदाहरण भी कहा जा सकता है। वस्तुतः वहां आध्यात्मिक अर्थ ही कवि का प्रतिपाद्य है।

"द्वितीय उदाहरण में "गौ" शब्द में श्लेष है। "गौ" के यहां दो अर्थ हैं—गाय और इन्द्रिय। इसका अर्थ भी अध्यात्मपरक है। पर प्रथम उदाहरण की भांति यह व्यञ्जनापूर्ण नहीं है।

यमक भी शब्दालंकारों में मुख्य है। यमक तब होता है, जब शब्द अनेक बार आता है और अर्थ प्रत्येक बार भिन्न होता है। कभी-कभी पूरा शब्द दुबारा न आकर उस शब्द का कुछ अंश दुबारा आता है, उस अवस्था में भी यमक होता है। तुलसी साहब की रचनाओं में यमक का प्रयोग भी श्लेष की भांति कम है। ये उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

(क) चाह जो मार चमार है। तमसा तन तजि आस।
पवन सुरति आधी चढ़ी। तिनका तिनके पास ॥[3]

१—रत्नसागर, पृ० ५३।
२— ,, पृ० ५३।
३—रत्नसागर, पृ० १४०।

(ख) विप रस विषम विषय मन माहीं, धोई तुलसी बुधि मैली ।[1]
(ग) तप तपना नहिं जोग समावा, साधो री सूरत साफ ।[2]

इन्हें अच्छे उदाहरण नहीं कहा जा सकता। यमक की अपेक्षा लाटानुप्रास के कुछ अच्छे प्रयोग इनके काव्य में प्राप्त हैं। लाटानुप्रास उस स्थान पर होता है जब कोई शब्द दो या अधिक बार अर्थात अनेक बार आए, अर्थ प्रत्येक बार एक ही हो परन्तु अन्वय प्रत्येक बार भिन्न हो। तुलसी साहब द्वारा प्रयुक्त निम्नलिखित उदाहरण से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा :—

सिंध बुन्द सागर मिला, सोई सिंव कहाना हो ।[3]

यहां "सिंव" शब्द एक से अनेक बार आया है, दोनों बार अर्थ एक ही है, परन्तु अन्वय प्रत्येक बार भिन्न है।

शब्दालंकारों में पुनरुक्ति-प्रकाश की भी गणना होती है। पुनरुक्ति-प्रकाश वहां माना जाता है, जहां शब्द की आवृत्ति हो, प्रत्येक वार अर्थ वही हो, और अन्वय भी प्रत्येक बार वही हो। तुलसी साहब की रचनाओं में इसके उदाहरण मिल जाते हैं—

(क) बूंदा सिंव समान, मिलि सागर सागर भयौ ।[4]
(ख) जुग जुग जनम धरे तन तुलसी, आवागमन निवास ॥[5]
(ग) काम बान मन में बसे, जुग जुग से भरमान ॥[6]

इन उदाहरणों में 'सागर सागर' 'जुग जुग' के प्रयोग में पुनरुक्ति प्रकाश के लक्षणों को देखा जा सकता है।

अर्थालंकार

काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को अधिक महत्व प्राप्त है और इनका प्रयोग न्यूनाधिक मात्रा में सभी कवियों ने किया है। तुलसी

१—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १६२।
२— ,, ,, पृ० २४७।
३—घटरामायण ,, पृ० १७६।
४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७६।
५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २४७।
६—रत्नसागर, पृ० २७।

साहब की रचनाओं में भी मुख्यतया रूपक, उदाहरण आदि अर्थालंकारों का और गौण रूप से उत्प्रेक्षा, विभावना आदि का प्रयोग हुआ है।

रूपक एक प्रमुख अलंकार है। मध्य युग के संत कवियों को यह अलंकार बहुत प्रिय था। जायसी, सूर, तुलसी आदि सुप्रसिद्ध कवियों की लोक प्रिय रचनाओं में इसके अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं। मानस के आदिकाण्ड में तुलसीदास का 'मानस रूपक' तो सांग रूपक के सिद्धहस्त प्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है। संत तुलसी साहब की रचनाओं मे भी रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है। इनमें तुलसीदास आदि काव्य-मर्मी साधकों के प्रयोग की उत्कृष्टता तो नहीं पर कुछ रूपक अच्छे बन पड़े हैं।

रूपक अलंकार तब होता है जब एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप किया जाय अर्थात् एक वस्तु को दूसरी वस्तु का रूप दिया जाय, अर्थात् एक वस्तु को दूसरी वस्तु बना दिया जाय। इसके तीन भेद होते हैं—सांग, निरंग और परम्परित। तुलसी साहब ने प्रायः सांग रूपक का प्रयोग किया है। इन सांग रूपकों में युद्ध का रूपक बांधना उन्हें विशेष प्रिय है, यद्यपि अन्य प्रकार के रूपक भी प्राप्त होते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में वे अगम तत्व को हस्तगत करने के लिए युद्ध का सांग रूपक बांधते हैं।

सिरवर के मुकर पर अजब संदूक है।
सुरति बंदूक गज गुमठ मारा ॥
विमल वैराग बारूत पर बैठि के।
ज्ञान निस्सान लेइ गगिनफारा ॥
जोग रह राह मन तोड़ तोड़ा किया।
मंत्र से मगन रस अगिनि जारा ॥
करन बंदूक की राह रंजक धरी।
गोली गढ़ तोड़ गई गगन पारा ॥
दास तुलसी सतसंग के रंग से।
तोड़ फरफंद वसी अगम धारा ॥[1]

भेप का यह रूपक भी उल्लेखनीय है।

पद नेक न जानै भेख भये।
टोपी तत सुरति की सेती, भगति भाल सिर तिलक दिये।
गुदरी ज्ञान मरम की कंठी, कुबरी धीरज धरन गहे।

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२।

सील सनेह छिया की झोली, सब घट आतम निरखि रहे।
चित मन चनन सरन की तोंबी, परनसार लखि हरन हिये।
जतन कोपी न आड बंद आसा, अस मलीन मति दूरि किये।
तुलसी तमक साध बिसरावैं, सो भर प्याला अमल पिये।[1]

इनके कुछ छोटे रूपक अच्छे बन पड़े हैं। उदाहरण के निमित्त ये रूपक प्रस्तुत किए जाते हैं।

(क) राम विवेक चढ़े दे डंका, ज्ञान निसान घुरो री।
जोग वैराग लिये उमरावन, तुलसी गढ़ राव मिलो री॥[2]

(ख) प्रीति के पान चित्त कर चूना, लौ की लौंग धरो री।
करमन काढ़ि करो मन कत्था, सुरत सुपारी धरोरी॥[3]

(ग) नर पंछी मन पींजरा, ज्ञान पंख भयो नास।
सतसंग वृछ पाये बिना, ब्रह्म अकास न पास॥[4]

अन्तिम उदाहरण में पंखहीन पक्षी के रूपक द्वारा जीव की दशा को व्यक्त करने वाले आध्यात्मिक अर्थ में चमत्कार की सुन्दर प्रतिष्ठा हुई है। सत् संग रूपी वृक्ष को न पाने पर ब्रह्म रूपी आकाश के दूर रहने की भावना बड़ी युक्ति युक्त है।

जिस प्रकार शब्दालंकार में अनुप्रास का सर्वाधिक प्रयोग तुलसी साहब ने किया है, उसी प्रकार अर्थालंकारों में उदाहरण अलंकार का प्रयोग तुलसी साहब ने प्रचुर परिमाण में किया है। उदाहरण अलंकार का प्रयोग उनके प्रत्येक ग्रन्थ में किया गया है। 'शब्दावली' एवं 'रत्नसागर' में तो पग-पग पर उदाहरण अलंकार दृष्टिगत होता है। जिन दो वाक्यों का साधारण धर्म भिन्न है उनमें वाचक शब्द के द्वारा समता दिखाई जाय तो उदाहरण अलंकार माना जाता है।[5]

१—शब्दावली पृ० १११।
२— „ द्वितीय भाग, पृ० १७६।
३—शब्दावली द्वितीय भाग, पृ० १६८।
४—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १५३।
५ काव्य प्रदीप, पृ० १७८।

(क) जैसे तड़फती मीन नीर पीर ज्यों सहूं।
जैसे चकोर चंद चाह चित्त से चहू ॥[1]

(ख) देखि पिया को रूप भूप कोइ ना लयैं।
ज्यों भुजंग मणि भाव भूमि भूमी दियैं।[2]

(ग) बदन ज्यों ओस का पानी। अगर यों जान जिंदगानी।[3]

(घ) ज्यों जल बिन रहै तड़प मीन। आठ पहर रहै बिरह लीन।[4]

(ङ) ज्यौं समुद्र की लहर कहर अस आइये।[5]

(च) पूस ओस जल बुंद ज्यों, बिनसत बदन बिचारा।[6]

(छ) तुलसी चरन सरन सतगुर बिना ग्रासत रबि जस केत।[7]

(ज) पिया बिन जिया जैसे कोलहू तिल तेल मिलत ॥[8]

(झ) नेनी नेम प्रेम रुपयन सो, ज्यों कसबिन को नाच रे ॥[9]

(ञ) ज्यों सुपने में देख तमासा। यों बांधे मन झूंठी आसा ॥[10]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदाहरण अलंकार का तुलसी साहब ने कितना अधिक प्रयोग किया है।

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा अलंकार मुख्य होता है। यह अलंकार सामान्यतया प्रयुक्त होता है, पर तुलसी साहब ने इनका प्रयोग बहुत कम किया है उपमा अलंकार वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु को दूसरी के समान बताया

१—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० ४।
२— „ प्रथम भाग, पृ० ५।
३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५९।
४— „ „ पृ० ८६।
५— „ „ पृ० ८७।
६— „ „ पृ० ९४।
७— „ „ पृ० ११८।
८— „ द्वितीय भाग, पृ० २४०।
९— „ „ पृ० २४०।
१०—रत्नसागर, पृ० ८।

परमपद्ममूलं सो महिमा अतूलं।
कटे घोर मूलं अनंतं अपारं ॥[1]

(ख) अली आत्मरूपं अकासं सरूपं। रवी भास भूपं अनंतं अनूपं ॥
निराकार कारं भई जोति जारं। लई विस्व भारं सम्हारं ॥[2]

राजस्थानी शब्दावली

(क) वारी सहेली प्यारी, आली मैं तो थारे संग वाली ॥
महाने तो भेद दीजो लारे लीजो, प्यारे से मिलन नित नित कीजो।
जिवड़ो काज म्हारे सीझे, पिया के महल चेत चाली ॥
अगम लखापी सुरत थारी दासी, पासी अविनासी पूरा पद वासी।[3]

पंजाबी शब्दावली

(क) सानू कित होदा वे, साडे नाल ढूंढत देस।
डगर विसरांदी वे ॥
पतियां लिखों ने तैंडा भेद भुलादी वे।
मारग तुझ नू मैं खोज हिरांदी वे ॥
सुकर गुजारूं दा दीद दरगाह में वे।
जाटी दिल दर्द अरज गुलरांदी वे ॥
मैडो तो पुकार पंथ दा मिलना वे।
तुलसी तन व्याकुल पीर पिव दी वे।[4]

(ख) यह सानूं साडे बिच नाल न औंदा।
तैंडी जटी दा जोर न जाओंदा ॥

मैडे पत पिउ परचे पाओंदा, सब संतन की सुरत भाओंदा ॥
सानू गुर पूरा पार दिखाओंदा, मैडो आद नजर घर आओंदा ॥[5]
तुलसी तत मत चित चाओंदा, मेरी सुरत नाम गुन गाओंदा ॥

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १९३।
२— ,, ,, पृ० १९४।
३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २२६।
४—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १५८—१५९।
५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २२८।

अरबी-फारसी शब्दावली

(क) करे कोइ ख्याल फहमीदे। जिगर अंदर खुलें दीदे ।।
अगर आदम कोइ इक था। हकीकत सुन खड़ा हंसता ।।
दिलों में ना हुई हाजम। जिकर सुनाना नहीं लाजिम ।।
कुफर बे फहम फरमाई। नहीं आकीन में आई ।।[१]

(ख) तुलसी खलक कुल ख्याल है, आसिक मुहब्बत कर सही।
खोजो मुहम्मद दिल रहम, जिस इस्म से आलम हुआ ।।
तुलसी नबी निरखै नहीं, जह लग मुसल्लम है नहीं।
रब रूह मरहम न हुआ, रब देख अन्दर है सही ।।[२]

(ग) बंदे तलासी में रहे। बातिल मुरीदी जिन करी ।।
महरम जिन्हें आसान है। मुस्किल मुकरवै पै अमल ।।
कारिम करम बखसी करैं। दिल के रहम रहबर मिलैं ।।
तुलसी अधर पैं लौ चढ़ै। मुरसिद मंजिल फाजिल फजल ।।[३]

इसके अतिरिक्त इनकी भाषा में अन्य शब्द प्रभाव नगण्य हैं। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि इनकी भाषा में खड़ी बोली के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—

(क) कोइ ज्ञान से ब्रह्म बखान कहै, नहिं ब्रह्म के भेद को जानता है।।
कागदों की साख से भाख कहै, लख ब्रह्म का भेद न पावता है।।[४]

(ख) मेढक अधम कहै हंस से, यह कूप से भारी कहा।
हंसा कहे दरियाव की गति, जन्म से ह्वांही रहा ।।
दोनों में यह प्रतिवाद उत्तर, परसपर होता रहा।
हिरदे कठिन मन मेढका, जड़ टेक में अपनी रहा।[५]

१— रत्नसागर, पृ० १७३।
२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ८४।
३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५९।
४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४३।
५—रत्नसागर, पृ० ७३।

परमपद्ममूलं सो महिमा अतूलं।
कटे घोर मूलं अनंतं अपारं ॥[1]

(ख) अली आत्मरूपं अकासं सरूपं। रवी भास भूपं अनंतं अनूपं ॥
निराकार कारं भई जोति जारं। लई विस्वं भारं सम्हारं ॥[2]

राजस्थानी शब्दावली

(क) वारी सहेली प्यारी, आली मैं तो थारे संग चाली ॥
म्हाने तो भेद दीजो लारे लीजो, प्यारे से मिलन नित नित कीजो।
जिवड़ो काज म्हारे सीझे, पिया के महल चेत चाली ॥
अगम लखामी सुरत थारी दासी, पासी अविनासी पूरा पद वासी ।[3]

पंजाबी शब्दावली

(क) सानू कित होदा वे, साडे नाल ढूंढत देस।
डगर विसरांदी वे ॥
पतियां लिखों ने तैंडा भेद भुलादी वे।
मारग तुझ नू मैं खोज हिरांदी वे ॥
सुकर गुजारूं दा दीद दरगाह में वे।
जाटी दिल दर्द अरज गुलरांदो वे ॥
मैंडो तो पुकार पंथ दा मिलना वे।
तुलसी तन व्याकुल पीर पिवंदी वे।

(ख) यह सानूं साडे विच नाल न औंदा।
तैंडी जटी दा जोर न जाओंदा ॥

मैंडे पत पिउ परचे पाओंदा, सब संतन की सुरत भाओंदा ॥
सानू गुर पूरा पार दिखाओंदा, मैंडी आद नजर घर आओंदा ॥[5]
तुलसी तत मत चित चाओंदा, मेरी सुरत नाम गुन गाओंदा ॥

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १९३।
२— ,, ,, पृ० १९४।
३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २२६।
४—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १५८—१५९।
५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २२८।

द्वारा उन्होंने भाषा को मूर्त सौन्दर्य प्रदान किया है। यहाँ यह कह देना नितान्त आवश्यक है कि मुहावरों, कहावतों एवं चित्र-सृष्टि का प्रयोग उन्होंने काव्यादर्श सामने रख कर नहीं किया था, तथापि प्रयोग के औचित्य की दृष्टि से यह किसी भी व्युत्पन्न कवि की कीर्ति का कारण हो सकता है। इस संबंध में निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त हैं—

(क) करिंदे कहत कोठारी। नृपति की मति गई मारी ॥[१]
(ख) तोड़ो जम के दंत संत सरना तको।[२]
(ग) मनी मान से धनी न चीन्हा, चिड़िया चुग गइ खेत।[३]
(घ) सूरत धाय पाय पिउ प्यारे, छानी दूध और पानी।[४]
(च) तजि पिया प्यार यार संग अटकी, चलै दैंया पांव पटकती ॥[५]
(छ) चर और अचर चराचर खानी, घानी में डारि पिलायो।[६]
(ज) घंट बजाय अंगूठा बतायो, खायो प्रसाद पुजारी।[७]
(झ) तुलसी हंस होय सतगुर को, आवे न आड़े आँच।[८]
(त) भर्म उठे नहिं कैसे भाई। इन्द्री मन मिलि मौज बसाई ॥[९]
(थ) जो कोइ कहे संत को चीन्हा। तुलसी हाथ कान पर दीन्हा ॥[१०]
(द) उनका बार अंक नहिं होवे। वे नित पाँव पसारे सोवें ॥[११]
(ध) फिरते फिरे चिकनिया जैसा। सेखी बड़ी गांठि नहिं पैसा ॥[१२]

मुहावरों और कहावतों के प्रयोग में भी तुक आदि की आवश्यकता के अनुसार स्वतन्त्रता से काम लिया गया है। जैसे 'अगूंठा दिखाना' के लिए 'अगूंठ बतायो' 'मौज उड़ाई के स्थान पर' मौज बसाई' इत्यादि। इसके

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ७२।
२— ,, ,, पृ० ८७।
३— ,, द्वितीय भाग, पृ० ११८
४— ,, ,, पृ० १६८
५— ,, ,, पृ० १७०।
६— ,, ,, पृ० १७९
७— ,, ,, पृ० १९०।
८— ,, ,, पृ० २४०।
९—रत्नसागर, पृ० १९।
१०— ,, पृ० २६।
११— ,, पृ० २९।
१२— ,, पृ० ३७।

तुलसी साहब ने एक स्थान पर परिवार या कुटुम्ब को 'संशय का कोट' कहा है—

सुत मात पिता नर पुरुष जगत का नाता।
यह सब संशय का कोट कुटुम्ब दुख दाता ॥[1]

यहां परिवार को कोट बताना बड़ा युक्ति युक्त है। वस्तुतः परिवार भी सीमित अर्थों में एक प्रकार का किला ही होता है जिसमें आज्ञा देने वाले, आज्ञा लेने वाले, योग्य और अयोग्य सभी प्रकार के सैनिक रहते हैं। कोट का निर्माण रक्षा की दृष्टि से होता है, उसी प्रकार कुटुम्ब का संगठन भी संरक्षण की भावना से संयुक्त रहता है और जिस प्रकार 'कोट' शब्द उसके अन्दर रहने वाले समूह को भी व्यक्त करता है, उसी प्रकार 'परिवार' भी। इस प्रकार की समानता को दृष्टि में रखकर प्रयोग करना वस्तुतः गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।

एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि मन के कारण काल का जाल जगत में फैला हुआ है और यही मन या काल जीव की 'सुधि बुधि निचोड़ लेता है'—

जा से काल जाल जग माहीं, सोइ सुधि बुधि लीन्ह निचोरी ॥[2]

यहां सुधि बुधि का निचोड़ लिया जाना, अच्छा प्रयोग है। 'निचोड़ी' शब्द के प्रयोग द्वारा 'सुधि बुधि' के नितान्त अभाव को भली भांति व्यक्त किया गया है।

तुलसी साहब की भाषा में कुछ शब्द-चित्र भी प्राप्त होते हैं। ये शब्द चित्र अधिक नहीं हैं, पर जहां है वहां बड़े सजीव और स्वाभाविक हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में मनुष्य की क्रुद्धावस्था का शब्द-चित्र और एक सर्प की क्रुद्धावस्था का शब्दचित्र प्रस्तुत किया जाता है। मनुष्य की अपेक्षा सर्प का चित्रांकन बड़ा सजीव और स्वाभाविक है—

(क) द्वार बाग घर रहे भुजंगा। वह डसि खाइ जाइ जेहि संगा ॥
भीतर से सन्मुख को दौड़ा। फन फटकारि फिरे चहुं ओरा ॥[3]

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५५।
२—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १७३।
३—रत्नसागर, पृ० १७०।

(ख) नैनू स्यामा यों कर ब्रोले : नाक फुलार वचन अस वोले ॥
नैन सुरख और मूछें मोड़ी। भुजा चढ़ी पुनि भौहें टेढ़ी ॥
मुख से कड़कि स्वाल अस डारा। तुलसी तुम से करिहों रारा ॥[1]

इन शब्द चित्रों में कवि का पर्यवेक्षण स्पष्ट झलकता है। विशेपरूप से सर्प के सम्बन्ध में 'फन फटकारि फिरे चहुँ ओरा' उसके पर्यवेक्षण एवं चित्रांकन क्षमता का अच्छा उदाहरण है। इसमें फन फटकार कर चारों ओर चक्कर काटते सर्प का चित्र नेत्रों के सम्मुख सजीव हो उठता है। द्वितीय उद्धरण में भी नैनू और स्यामा की क्रुद्ध आकृति का शब्द-चित्र यथेष्ट सजीव एवं स्वाभाविक है।

तुलसी साहब ने एक स्थल पर भाव को मूर्त रूप ही नहीं प्रदान किया है, उसके व्यक्तिकरण (परसोनिफिकेशन) द्वारा एक अच्छा शब्द-चित्र भी खड़ा कर दिया है जिसमें काल व्यक्ति का रूप धारण करके सजीव रूप में समारे सम्मुख आता है।

काल जबर जुलमी बड़ा, खड़ा रहै मैदान।
कर कमान खैंचे फिरे, मारे गोसा तान ॥[2]

युद्ध क्षेत्र (जगत) में हाथ में कमान चढ़ाए काल का यह दुर्दमनीय चित्र उसके प्रतिपक्षी (जीव) को विचलित कर देने के लिए पर्याप्त है।

तुलसी साहब की भाषा की विशेषताओं की उपर्युक्त चर्चा से उसके गण दोष पर प्रकाश पड़ता है। उसमें जहां शब्द-चित्र, कहावत, मुहावरे आदि के गुणों का प्रयोग है, वहीं अनेक भाषाओं की शब्दावली के प्रयोग एवं व्याकरण विरुद्धता से संत काव्य की भाषा के परम्परागत दोषों का प्रवेश भी है। यह पहले ही कहा जा चुका है, संत कवियों का उद्देश्य साधना है उसके माध्यम की पुष्टि के प्रति वे जागरूक नहीं हैं। अतएव काव्यादर्श के शास्त्रीय नियमों की कसौटी पर इनकी रचनाओं को निर्ममतापूर्वक कसना उचित नहीं है। पर उन स्थलों की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहता जहां तुलसी साहब ने श्लेषपरक अर्थ लगाने के लिए शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा और विकृत किया है। इस त्रुटि को अवश्य बचाया जा सकता था।

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ११६।
२—रत्नसागर, पृ० ८८।

छन्द

संत तुलसी ने मुख्यतः 'शब्द' का प्रयोग किया है यह शब्द वास्तव में पद का वाचक ज्ञात होता है। तुलसी साहब के शब्द अधिकतर राग-रागनियों और पदों के रूप में है। संत काव्य में शब्द के अतिरिक्त 'साखी' का प्रयोग भी किया गया है। 'साखी' दोहे से साम्य रखने वाला छन्द है। इसके और दोहे के आकार में बड़ी समानता है। वस्तुतः इन छन्दों को सधुक्कड़ी छन्द कहा जाता है। इनमें पिंगल के नियमों पर ध्यान नहीं रखा गया है। साधकों ने गेयत्व की दृष्टि से अपने नियमानुसार इनकी रचना की है। तुलसी साहब के शब्द भी गेयत्व की दृष्टि से ही प्रस्तुत किए गए हैं।

साखी एवं शब्द के अतिरिक्त तुलसी साहब ने रत्नसागर, घटरामामायण एवं पद्मसागर की रचना दोहे—चौपाई और सोरठा में की है। कतिपय स्थलों पर उन्होंने सवैय्या एवं कुंडलियां छन्द का प्रयोग भी किया है। 'शब्दावली' में गजल एवं रेखता का प्रयोग भी प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त केहरा, हिंडोला, वसन्त, चाचर इत्यादि छन्दों में भी उनकी रचनाएं प्राप्त होती हैं। इन छन्दों का प्रयोग अधिकतर ग्रामीण—काव्य में किया जाता है। संभव है कि परम्परा के अतिरिक्त रमते साधुओं के संसर्ग से ये छन्द संत तुलसी को प्राप्त हुए हों।

इस प्रकार विविधता की दृष्टि से संत तुलसी ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। किन्तु इन छन्दों के प्रयोग में बड़ी अव्यवस्था है। ये पिंगल के नियमों के अनुसार नहीं बंधे हैं। इन छन्दों के प्रयोग में कवि ने गेयत्व और लय की दृष्टि से ही काम लिया है।

अष्टम अध्याय

तुलसीसाहब प्रयुक्त परिभाषिक शब्द

निरंजन

'निरंजन' शब्द का अर्थ अंजन रहित है। अंजन माया है, अतएव 'निरंजन' माया रहित अर्थात् निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म है। 'हठयोग प्रदीपिका' आदि योग के ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए किया भी गया है।

सदा नादानुसंधानात् क्षीणंते पाप संचयाः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्त-मारुतौ ॥[1]

अर्थात् नादानुसंधान से योगी के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और उसका चित्त व प्राण निरंजन में विलीन हो जाता है। अभिप्राय यह है कि निरंजन हठयोगी का परम साध्य है। ज्ञान जब तक निरंजन के साक्षात्कार तक नहीं उठता, तब तक संसार के नाना पदार्थों में भेद-दृष्टि बनी रहती है।

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यते विविधानि च ॥[2]

नाथमत

नाथ-सम्प्रदाय के विभिन्न ग्रन्थों में 'निरंजन' का प्रयोग ब्रह्म के अर्थ में ही किया गया हैं। 'योग विषय' में निरंजन की महिमा प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि ज्ञानस्वरूप एवं जन्म मरण से रहित निरंजन सर्वव्यापी है—

आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम्।
दृश्यते देहरूपेण सर्वव्यापी निरंजन ॥[3]

स्पष्ट है कि यहाँ 'निरंजन' ब्रह्म है। नाथ-पंथ के भाषा साहित्य में भी 'निरंजन' ब्रह्म या नाथ पद का ही पर्याय है। गोरख नाथ की रचनाओं में निरंजन शब्द परमात्मपद के लिए ही प्रयुक्त हुआ है—

१—हठयोग प्रदीपिका, ४।१०४।
२—शिव संहिता, २।४८।
३—योग विषय, श्लोक २७।

(क) नाथ निरंजन आरती गाऊँ। गुरदयाल अग्यां जो पाऊँ ॥[१]
(ख) सकल भवन उजियारा होई। देव निरंजन ओर न कोई ॥[२]
(ग) सोई निरंजन डाल न मूल, सर्व व्यापीक सुषम न अस्थूल।[३]
(घ) दसवें द्वार निरंजन उनमन बासा, सबदें उलटि लमांनां।
भणंत गोरखनाथ मछीद्रं नां पूता अविचल थीर रहांनां।[४]

इस प्रकार 'निरंजन' शब्द नाथ-योगियों के यहाँ नाथ-पद अर्थात् ब्रह्मरंध्र या दशम द्वार में अवस्थित ब्रह्म का अर्थ रखता है।

रामानंद

डा० बड़थ्वाल द्वारा नाना स्रोतों से संग्रहीत रामानन्द की हिन्दी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। इन पर योग-मार्ग का प्रबल प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। रामानन्द की इन रचनाओं में भी 'निरंजन' ब्रह्म ही है—

(क) पिंड प्राण की रक्षा श्री नाथ निरंजन करे।[५]
(ख) अखिल पुरुष निरंजन निराकार की चक्र फिरे वाढ़ वाढ़्या ॥[६]

यहाँ निरंजन उस परमात्म पद का ही सूचक हैं, जो नाथयोगियों का अभिप्रेत है।

निर्गुणमत

संत-काव्य के प्रवर्तक एवं रामानन्द के शिष्य कबीर की रचनाओं में भी 'निरंजन' शब्द का प्रचुर प्रयोग किया गया है। उन्होंने भी निरंजन को एकमात्र सार तत्व बताया है और उसी को जानकर [आत्म] विचार करने का परामर्श दिया है—

(क) अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु विचार।[७]
(ख) अंजन उतपति वरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई ॥[८]

१—गोरखबानी, पृ० १५७।
२—गोरखबानी, पृ० १५७।
३—गोरखबानी, पृ० ३९।
४—गोरखबानी, पृ० ९८।
५—रामानंद की हिन्दी रचनाएं, पृ० ३।
६—रामानंद की हिन्दी रचनाएं, पृ० ४।
७—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०२।
८—वही वही, पृ० २०२।

अंजन से कबीर माया का अर्थ ग्रहण करते हैं (क० ग्रं० पद २३६) अतएव उनका निरंजन मायारहित सार तत्त्व है। वस्तुतः वह निर्गुण निराकार ब्रह्म है।

> गोव्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
> तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया ॥[1]

दादू ने तो प्रत्येक साखी-अंग के प्रारम्भ में निरंजन की वंदना की है। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे निरंजन को परम आराध्य मानते थे।

> दादू नमो नमो निरंजनं, नमस्कार गुर देवतः।
> बंदन सर्व साधवा, प्रणामं पारगतः ॥[2]

अतएव यह स्पष्ट है कि 'निरंजन' शब्द का प्रयोग कबीर, दादू आदि संत साधकों ने ब्रह्म के लिए किया है। पर कबीर-पंथ में इस शब्द के अर्थ का विकास आश्चर्य जनक ढंग पर हुआ। वहां निरंजन ब्रह्म न रहकर काल पुरुष बन गया, जिसने समस्त सृष्टि पर अधिकार कर रखा है। निरंजन की इस यमवत् धारणा के कारणों पर विद्वानों ने विचार किया हैं और इसे पंथ में अन्तर्भुक्त बाह्य प्रभाव के रूप में माना है।[3] जो भी हो 'निरंजन' शब्द के परिवर्तित अर्थ का आभास 'बीजक' में ही प्राप्त होने लगता है।

> (क) अलख निरंजन लखइ न कोई। जेहि बंधे बंधा सब लोई।
> जिहि झूठे बंधा सो अपाना। झूठा बचन सांचि कर माना।[4]

> (ख) मैं सिरजौं मैं मारहूं, मैं जारौं मैं खांव।
> जल-थल में मैं रमि रह्यौ, मोर निरंजन नांव ॥[5]

यदि 'बीजक' के टीकाकार श्री विचारदास के साम्प्रदायिक अर्थानुसार यहां हम निरंजन को काल पुरुष न भी माने, तब भी यह मानना पड़ेगा

१—कबीर ग्रन्थावलीपृ० १६२।
२—दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग, पृ० १।
३—कबीर, पृ० ५२।
४—बीजक, रमैनी २२, पृ० ३८।
५—बीजक, रमैनी २१ की साखी, पृ० ३७।

कि निरंजन का स्वरूप 'बीजक' में परिवर्तित अवश्य हो गया है। 'कबीर ग्रन्थावली' में निरंजन ब्रह्म है। वह बद्ध-जीव को मुक्त करता है। इसके विपरीत 'बीजक' का निरंजन सारी सृष्टि को बन्धन में डालने वाला है। यहां वह जीव के परित्राण के विरुद्ध अपने दुर्दमनीय सृष्टि और संहारकर्ता के रुप में अवस्थित है। वस्तुतः अन्तर्भुक्त प्रभाव के अतिरिक्त यही वह स्वरूप भेद है जिसने धीरे धीरे उस अर्थ भेद की नींव डाली जिससे आगे चल कर निरंजन ब्रह्म से काल बन गया। तत्पश्चात् कबीर-पंथी साधकों ने कबीर के नाम पर अनेक पदों की रचना करके निरंजन का 'दानवत्व' प्रतिष्ठित कर दिया।[1] 'अनुरागसागर' में धर्मराय निरंजन के कई रूप उपलब्ध हैं। वह सृष्टि कर्ता हैं,[2] वही कालपुरुष एवं धर्मराज है[3] और उसी ने सत्यपुरुष के संधान पर आवरण डाल दिया है।[4] कबीर-पंथ की निरंजन विषयक इस

१—अवधू निरंजन जाल पसारा।

स्वर्ग-पताल-जीव-मृत मण्डल तीन लोक विस्तारा।
ब्रह्मा-बिस्नु-सिव प्रगट कियो है ताहि दियो सिर भारा॥
ठांव ठांव तीरथ-व्रत थाप्यो ठगने को संसारा।
माया-मोह कठिन बिस्तारा आपु भयो करतारा॥
सतगुरु शब्द को चीन्हत नाहीं कैसो होय उबारा।
जारि-भूंजि कोइला करि डारै फिरि फिरि लै अवतारा॥
अमरलोक जहां पुरुष विराजै तिनका मूंदा द्वारा॥
जिन साहब से भये निरंजन सो तो पुरुष है न्यारा॥
कठिन कालतें बांचा चाहो गहो सब्द टकसारा।
कहैं कबीर अमर करि राखो मानो शब्द हमारा॥

—कबीर की शब्दावली, पृ०

२—यहि विधि भये तत्वगुन तीनो। धरमराय तब रचना कीन्हीं॥

—अनुराग सागर, पृ०

३—आवे जहं यम जीव सतावे। काल निरंजन जीव नचावे॥

—अनुरागसागर, पृ० ३

४—कहे निरंजन पुनि सुनि रानी। अब अस करहु आदि भवानी॥
ऐसो मता वृढ़हो जानो। पुरुष भेद नहिं पावै प्रानी॥

—अनुरागसागर, पृ० १

धारणा का संत तुलसी पर पूर्ण प्रभाव पड़ा था। उन्होंने भी कबीर-पंथ की भांति ही निरंजन को ज्योति के संयोग से सृष्टिकर्ता, काल और मन बताया है।

तुलसी साहब

तुलसी साहब का निरंजन सृष्टिकर्ता है। वह ज्योति या माया के संयोग से सृष्टि करता है।

(क) जोती निरंजन की है नारी। दोनों मिलि कीन्हा विस्तारी ॥[1]

(ख) सृष्टि भई तब अगम अपारा। जोति निरंजन जाल पसारा ॥[2]

संत तुलसी के अनुसार निरंजन एवं ज्योति ने मिल कर इस जागतिक प्रपंच के द्वारा ब्रह्म पर आवरण डाल दिया है।

(क) निरंजन जोती ने भाई। वह गुरु की राह छिपाई ॥[3]

जीव के बंधन के कारण भी यही है :—

(क) ये ठगनी ठग मिली जाल पसारा। जीव बांधि चौरासी डारा ॥[4]

संत तुलसी का निरंजन सृष्टिकर्ता होने के अतिरिक्त काल और यम भी है।

(क) जानि निरंजन काल को, जाल जगत सब कोई।[5]

(ख) ये जोगिन का वाक बिलासा। काल निरंजन का जहं वासा ॥[6]

तुलसी साहब ने निरंजन का सम्बन्ध योगियों से तो बनाए रखा है किन्तु ब्रह्म-पद से अपदस्थ करके उसे कालपुरुष बना दिया है। 'ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वही मन है' के सिद्धान्तानुसार तुलसी साहब ने निरंजन का स्थान सहस्रार-निर्दिष्ट करते हुए उसे मन भी कहा है।

[क] कंवल सहस्र समाधि लगावै। मन सोइ काल निरंजन पावै ॥[7]

अन्यत्र भी तुलसी साहब ने स्पष्ट शब्दों में निरंजन को मन कहा है।

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५७।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १३७।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५७।

४— वही वही पृ० १५७।

५—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०३।

६—रत्नसागर, पृ० १५१।

७—घटरामायण प्रथम भाग, पृ० ३३।

कि निरंजन का स्वरूप 'बीजक' में परिवर्तित अवश्य हो गया है। 'कबीर ग्रन्थावली' में निरंजन ब्रह्म है। वह बद्ध-जीव को मुक्त करता है। इसके विपरीत 'बीजक' का निरंजन सारी सृष्टि को बन्धन में डालने वाला है। यहां वह जीव के परित्राण के विरुद्ध अपने दुर्दमनीय सृष्टि और संहारकर्ता के रूप में अवस्थित है। वस्तुतः अन्तर्भुक्त प्रभाव के अतिरिक्त यही वह स्वरूप भेद है जिसने धीरे धीरे उस अर्थ भेद की नींव डाली जिससे आगे चल कर निरंजन ब्रह्म से काल बन गया। तत्पश्चात् कबीर-पंथी साधकों ने कबीर के नाम पर अनेक पदों की रचना करके निरंजन का 'दानवत्व' प्रतिष्ठित कर दिया।[1] 'अनुरागसागर' में धर्मराय निरंजन के कई रूप उपलब्ध हैं। वह सृष्टि कर्ता हैं,[2] वही कालपुरुष एवं धर्मराज है[3] और उसी ने सत्यपुरुष के संधान पर आवरण डाल दिया है।[4] कबीर-पंथ की निरंजन विषयक इस

१—अवधू निरंजन जाल पसारा।

स्वर्ग-पताल-जीव-मृत मण्डल तीन लोक विस्तारा।
ब्रह्मा-विस्नु-सिव प्रगट कियो है ताहि दियो सिर भारा॥
ठांव ठांव तीरथ-व्रत थाप्यो ठगने को संसारा।
माया-मोह कठिन विस्तारा आपु भयो करतारा॥
सतगुरु शब्द को चीन्हत नाहीं कैसो होय उबारा।
जारि-मूंजि कोइला करि डारै फिरि फिरि लै अवतारा॥
अमरलोक जहां पुरुष विराजै तिनका मूंदा द्वारा॥
जिन साहब से भये निरंजन सो तो पुरुष है न्यारा॥
कठिन कालतें बांचा चाहो गहो सब्द टकसारा।
कहैं कबीर अमर करि राखो मानो शब्द हमारा॥

—कबीर की शब्दावली, पृ० ५४।

२—यहि विधि भये तत्वगुन तीनो। धरमराय तब रचना कीन्हीं॥

—अनुराग सागर, पृ० १४।

३—आये जहं यम जीव सतावे। काल निरंजन जीव नचावे॥

—अनुरागसागर, पृ० ३३।

४—कहे निरंजन पुनि सुनि रानी। अब अस करहू आदि भवानी॥
ऐसो मता दृढ़हो जानो। पुरुष भेद नहिं पावै प्रानी॥

—अनुरागसागर, पृ० १४।

धारणा का संत तुलसी पर पूर्ण प्रभाव पड़ा था। उन्होंने भी कबीर-पंथ की भांति ही, निरंजन को ज्योति के संयोग से सृष्टिकर्त्ता, काल और मन बताया है।

तुलसी साहब

तुलसी साहब का निरंजन सृष्टिकर्ता है। वह ज्योति या माया के संयोग से सृष्टि करता है।

(क) जोती निरंजन की है नारी। दोनों मिलि कीन्हा विस्तारी ॥[1]

(ख) सृष्टि भई तब अगम अपारा। जोति निरंजन जाल पसारा ॥[2]

संत तुलसी के अनुसार निरंजन एवं ज्योति ने मिल कर इस जागतिक प्रपंच के द्वारा ब्रह्म पर आवरण डाल दिया है।

(क) निरंजन जोती ने भोई। वह गुरु की राह छिपाई ॥[3]

जीव के बंधन के कारण भी यही है :—

(क) ये ठगनी ठग मिली जाल पसारा। जीव बांधि चौरासी डारा ॥[4]

संत तुलसी का निरंजन सृष्टिकर्ता होने के अतिरिक्त काल और यम भी है।

(क) जानि निरंजन काल को, जाल जगत सब कोई।[5]

(ख) ये जोगिन का बाक बिलासा। काल निरंजन का जहं वासा ॥[6]

तुलसी साहब ने निरंजन का सम्बन्ध योगियों से तो बनाए रखा है किन्तु ब्रह्म-पद से अपदस्थ करके उसे कालपुरुष बना दिया है। 'ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वही मन है' के सिद्धान्तानुसार तुलसी साहब ने निरंजन का स्थान सहस्रार निर्दिष्ट करते हुए उसे मन भी कहा है।

[क] कंवल सहस्र समाधि लगावै। मन सोइ काल निरंजन पावै ॥[7]

अन्यत्र भी तुलसी साहब ने स्पष्ट शब्दों में निरंजन को मन कहा है।

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५७।

२—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० १३७।

३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १५७।

४— वही वही पृ० १५७।

५—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०३।

६—रत्नसागर, पृ० १५१।

७—घटरामायण प्रथम भाग, पृ० ३३।

[क] मनहिं निरंजन पुरुष वखानी। इच्छा जोति नारि कहानी ॥[1]

संत तुलसी ने निरंजन के निर्गुण, निराकार, निर्वाण, निरंजन एवं धर्मराज इत्यादि पांच नामों का उल्लेख भी 'घटरामायण' के एक स्थल पर किया है।

[क] पांच नाम निरगुन के जाना। निरगुन निराकार निरबाना।
और निरंजन है धर्मराई। ऐसे पांच नाम गति गाई।[2]

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब के ग्रन्थों में 'निरंजन' का अर्थ सृष्टिकर्ता, काल और मन है।

शून्य

'शून्य' शब्द का प्रयोग बौद्ध-परम्परा से सम्बद्ध माना जाता है किन्तु बहुत पूर्व से यह शब्द अबौद्ध-परम्पराओं में परमतत्व के विभिन्न नामों में एक माना गया है। 'महाभारत' में विष्णु के सहस्र नामों का उल्लेख करते समय शून्य भी उनका एक नाम बताया गया है।[3] शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'सर्व विशेष रहित्वात् शून्यवत शून्य'[4] अर्थात् समस्त विशेषणों से रहित होने के कारण विष्णु शून्य है।

बौद्धमत

बौद्ध-दर्शन में नागार्जुन के शून्यवाद ने इस शब्दों को विशिष्ट महत्व प्रदान किया। शून्यवाद के आधार पर 'शून्य' शब्द की परिभाषा भी शून्य तत्व की अनिर्वचनीयता की ओर ही संकेत करती है। नागार्जुन का कथन है कि शून्य को न तो शून्य कह सकते हैं और न अशून्य ही कह सकते हैं; वह शून्याशून्य भी नहीं है। इसी प्रकार उसे न शून्य एवं न अशून्य ही कहा जा सकता है—

शून्यमिति न व्यक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत।
उभयं नोभयं नैव प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥[5]

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७१।
२—वही वही, प्रथम भाग, पृ० ७३।
३—महाभारत, अनुशासन पर्व, पृ० ४७५।
४—विष्णु सहस्र नाम, शांकर भाष्य, पृ० २१३–२१४।
५—कबीर, पृ० ७१ में उद्धृत

विज्ञानवादी बौद्धों ने शून्य को क्रमशः परमार्थ सत्ता का रूप प्रदान करने की चेष्टा की। विज्ञानवाद में भी शून्यता लक्षणों का अभाव है[1] आगे चलकर वज्रयानी सिद्धों ने इसी तत्व को 'महासुख' की संज्ञा दी और यह साधक की केवलावस्था का द्योतक भी मानलिया गया है। वस्तुतः सिद्धों के समस्त तत्वज्ञान की मूलभित्ति विज्ञानवाद की शून्य कल्पना थी।[2]

सिद्धमत

बौद्ध-सिद्धाचार्यों की रचनाओं में शून्य को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया एवं चित्त की शून्यात्मकता, जगत की शून्यता आदि की विचारणा का प्रस्ताव किया गया।[3] सरहपाद ने परमपद को व्यक्त करने के लिए 'शून्य' अथवा 'शून्य निरंजन' शब्द का प्रयोग किया है—

(क) सुण्ण णिरंजण परमपउ, सुइणों (अ) माअ सहाव।
भावहु चित्त-सहावता, णम णासिज जइ जाव॥[4]

(ख) सुण्ण णिरञ्जण परमपउ, ण तहि पुण्ण ण (उ) पाव।
पन्च कामगुण भोअणेहिं, णिच्चिन्त थियेहिं॥[5]

सिद्ध-काव्य में अन्यत्र भी 'शून्य' साधक के परम प्राप्तव्य की भूमिका है—

(क) विसअ विसुद्धे णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ।
उड्डी वोहिअ-काउ जिम पलुटिअ तहवि पडेइ॥[6]

(ख) मारहु चित णिवाणें हणिआ। तहुअण सुण्ण णिरंजन पलिआ।[7]

नाथमत

नाथ-सम्प्रदाय की रचनाओं में भी 'शून्य' का प्रयोग किया गया है। 'हठयोग प्रदीपिका' में 'तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने'[8] के प्रयोग से

१—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० ११६।
२—सिद्ध साहित्य, पृ० ३३६।
३—सिद्ध-साहित्य, पृ० १७२।
४—सरहपाद का दोहाकोष, पृ० ३०।
५—वही वही, पृ० ३०।
६—हिन्दी काव्य धारा, पृ० १०।
७—वही वही, पृ० १७२।
८—हठयोग प्रदीपिका, ३।५३।

'शून्य' शब्द ब्रह्म का वाचक प्रतीत होता है। अन्यत्र समाधि की दशा में ब्रह्मानुभूति का व्यक्त करने के लिए 'शून्याशून्य परं पदम'[1] कहा गया है। हठयोग प्रदीपिका' में ही 'सुषुम्ना शून्य पदवी'[2] के द्वारा ब्रह्म-भाव व्यक्त किया गया है सुषुम्ना मध्य-प्राण-संचार के द्वारा ही ब्रह्मानुभूति होती है। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि योग सम्प्रदाय में 'शून्य' शब्द का प्रयोग ब्रह्म-भाव को ही व्यक्त करता है।

गोरखनाथ की रचनाओं में भी शून्य शब्द का प्रयोग किया गया है। 'गोरखबानी' में 'शून्य' का अर्थ ब्रह्म भाव ही है। एक स्थल पर गोरखनाथ ने शून्य के परिचय से साधक की स्थिरावस्था का उल्लेख करके इस शब्द के ब्रह्मत्व को ही प्रकट किया है—

सुंनि कै परचैं भया सथीर। निहचल जोगी गहर गम्भीर।[3]

अन्यत्र उन्होंने 'गगन मंडल में सुंनि द्वार'[4] द्वारा शून्य का स्थान भी निर्दिष्ट कर दिया है। योगमत में गगन या आकाश का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र के अर्थ में किया गया है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गोरखबानी' में शून्य का प्रयोग ब्रह्म के लिए किया गया है।

रामानन्द

योगमत से प्रभावित रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में भी 'शून्य' शब्द का प्रयोग नाथपंथीय अर्थ में ही किया गया है—

काढ्या कढे न जाल्या सूक उतिपति परलै नाहि।
सुन मंडल में भौंर गुप्त जहां पांचू तहां भलाई।।[5]

निर्गुणमत

रामानन्द के शिष्य कबीर की रचनाओं में 'शून्य' का प्रयोग अनेक बार ब्रह्म या परमतत्व की अभिव्यक्ति के किए किया गया है—

(क) तत पाया तन बीसरचा जब मनि धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान।।[6]

१—हठयोग प्रदीपिका, ४।३।
२— " " ३।४।
३—गोरखबानी, पृ० ७३।
४— " " ६०।
५—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ० १५।
६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५।

(ख) सुंनि मंडल में मंदला बाजे, तहां मेरा मन नाचै ।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै ।।[1]

अन्यत्र उन्होंने स्पष्ट रूप से शून्य मंडल में परमतत्व के अनुसंधान का प्रस्ताव किया है—

सुंनि मंडल में सोधि लै, परम जोति परकास ।
तहवां रूप न रेष है, बिन फूलनि फूल्यो रे अकास ।।[2]

कबीर के अनुयायी धर्मदास की रचनाओं में भी 'शून्य' का ब्रह्म भाव स्पष्ट है—

(क) सुन्न महल के भीतर में, सिव सक्ति विराजत है ।[3]
(ख) सुन्न महल में दीपक बारो, बिना तेल बाती ।[4]
(ग) छटएँ छैयो चक्र बेधै, सुन्न भवन मन लावै ।
विगसै कंवल काया के भीतर तब चंदा दरसावै ।।[5]

अन्तिम उद्धरण में 'शून्य', का प्रयोग स्पष्ट रूप से ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार के लिए किया गया है।

दादू दयाल ने तो स्पष्ट शब्दों में शून्य का सम्बन्ध निरञ्जन निराकार ब्रह्म से बताया है—

ब्रह्म सुन्न तहं ब्रह्म है, निरञ्जन निराकार ।
नूर तेज जहं जोति है, दादू देखण हार ।।[6]

नानक की रचनाओं में शून्य का वर्णन परमतत्व के रूप में किया गया है और शून्य-शब्द से सृष्टि की चर्चा की गई है, जो वस्तुतः योगियों के अविगत ब्रह्म से ऊंकार शब्द की उत्पत्ति वाले सिद्धान्त का निर्गुण संस्करण ज्ञात होता है। यहां भी शून्य का प्रयोग ब्रह्म के अर्थ में ही है—

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११० ।
२—वही वही, पृ० १२७ ।
३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ५८ ।
४—वही वही, पृ० ५८ ।
५— " " ७७ ।
६—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृ० ५८

आपही तत्व निःतत्व है आपही ।
आपही सुन्न में शब्द देखा ॥[1]

तुलसी साहब

संत तुलसी ने भी 'शून्य' के परम्परागत अर्थ को ग्रहण किया है। इस प्रसंग में हम देखेंगे कि परम्परागत अर्थ से कुछ भिन्न अर्थों में भी वे शून्य का प्रयोग करते हैं, पर प्रमुखतया वे शून्य का प्रयोग परमतत्व या ब्रह्म के लिए ही करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शून्य में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है--

(क) सुन्न सहर के बीच ब्रह्म से भया मिलावा।[2]
(ख) सुन्न सहर विच ब्रह्म समाना। चढ़ि चढ़ि देखें संत सुजाना ॥[3]

एक स्थल पर उन्होंने सुषुम्ना द्वारा शून्य में सुरति लगाने की चर्चा की है--

(क) सुखमनि सेज संवारि सुन्नि में सुरति लगाई।[4]

यहां उनका अभिप्राय सुषुम्ना पथ से शून्य या ब्रह्मरन्ध्र में सुरति—आत्मा की समाधि-लगाने से है। यहां भी 'शून्य' परमतत्व या ब्रह्म का बोध कराता है।

कई स्थलों पर तुलसी साहब ने शून्य में शब्द की चर्चा की है।

(क) सुन्न सहर से सब्द आदि नित उठै अवाजा।[5]
(ख) सुन में सब्द लख पावा ।[6]
(ग) सुनि धुन सबद बूझी, आगे को अगम सूझी ।[7]

वस्तुतः यहां 'शून्य में शब्द' का अर्थ है शून्य या गगन में शब्द या नाद का उत्पन्न होना। गोरखनाथ आदि नाथ-पंथियों ने इसी को गगन या

१—वही वही, पृ० १५।
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३८।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० २७
४—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० २७।
५—वही वही, पृ० ३०।
६—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ८०।
७—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २१७।

(क) सुन्न शब्द से उठ झंकार । सुन्न शब्द से ओ अंकार ।[1]
सुन्न शब्द ते पवनु विचार । सुन्न शब्दि ते अगनीचार ।

(ख) उलटै मनु जीव सुन्नि समावै । नानक शब्दे शब्दि मिलावै ।[2]

अन्य सन्त-कवियों की भांति ही गुलाल साहब भी इस शब्द का प्रयोग ब्रह्म-भाव को प्रकट करने के लिए ही करते हैं—

(क) सुन्न नगर में आसन पाई जगमग जोति जगावे ।[3]
शून्य सिखर सरोज फूलो बंक नालहिं जानि ।[4]

(ग) सुन्न सिखर चढ़ जाइब हो बाजत अनहद तार ।[5]

दरिया साहब ने भी शून्य का प्रयोग किया है। उनके शून्य विषयक मन्तव्य को समझने में कठिनाई नहीं होती क्योंकि उन्होंने स्पष्ट रूप से सृष्टि के कारणभूत तत्व को "साहिब" और "सुन्न" बताया है, जो कि कर्त्ता या कार्य ब्रह्म निरंजन से भिन्न है—

आदि औ अन्त यह मध्य मण्डल रचा
ताहि साहेब को सुन्न जानी ।
कर्ता उठाय के धुन्ध धोखा धरे ।
कहै दरिया सुनु मूढ़ प्रानी ॥[6]

अन्यत्र भी वे 'शून्य' का प्रयोग ब्रह्म के अर्थ में करते दृष्टिगत होते हैं—

(क) ज्ञान का घोड़ला सुन्न में दौड़िया ।
सुन्न में सुरति है शब्द सारा ॥[6]

(ख) आपही गगन में मगन है आप ही
आप ही तिरकुटी भंवर पेखा ॥[7]

१—प्राण संगली, पृ० २०२ ।
२—वही वही, पृ० १३० ।
३—गुलाल साहब की बानी, पृ० २ ।
४—वही वही, पृ० २१ ।
५—वही वही पृ० ४१ ।
६—दरिया साहब की शब्दावली, पृ०
७—दरिया साहब की शब्दावली, पृ०

आपही तत्व निःतत्व है आपही ।
आपही सुन्न में शब्द पैसा ॥[1]

तुलसी साहब

संत तुलसी ने भी 'शून्य' के परम्परागत अर्थ को ग्रहण किया है । इस प्रसंग में हम देखेंगे कि परम्परागत अर्थों से कुछ भिन्न अर्थों में भी वे शून्य का प्रयोग करते हैं, पर प्रमुखतया वे शून्य का प्रयोग परमतत्व या ब्रह्म के लिए ही करते हैं । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शून्य में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है--

(क) सुन्न सहर के बीच ब्रह्म से भया मिलावा ।[2]
(ख) सुन्न सहर बिच ब्रह्म समाना । चढ़ि चढ़ि देखें संत सुजाना ॥[3]

एक स्थल पर उन्होंने सुषुम्ना द्वारा शून्य में सुरति लगाने की चर्चा की है--

(क) सुखमनि सेज संवारि सुन्नि में सुरति लगाई ।[4]

यहां उनका अभिप्राय सुषुम्ना पथ से शून्य या ब्रह्मरन्ध्र में सुरति—आत्मा की समाधि-लगाने से है । यहां भी 'शून्य' परमतत्व या ब्रह्म का बोध कराता है ।

कई स्थलों पर तुलसी साहब ने शून्य में शब्द की चर्चा की है ।

(क) सुन्न सहर से सब्द आदि नित उठै अवाज ।[5]
(ख) सुन में सब्द लख पावा ।[6]
(ग) सुनि धुन सबद बूझी, आगे को अगम सूझी ।[7]

वस्तुतः यहां 'शून्य में शब्द' का अर्थ है शून्य या गगन में शब्द या नाद का उत्पन्न होना । गोरखनाथ आदि नाथ-पंथियों ने इसी को गगन या

१—वही वही, पृ० १५ ।
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३८ ।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० २७
४—शब्दावली, प्रथम भाग पृ० २७ ।
५—वही वही, पृ० ३० ।
६—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ८० ।
७—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २१७ ।

ब्रह्मरन्ध्र में नादश्रवण कहा है[1] और कबीर आदि संत साधकों ने भी शून्य या गगन में अनाहत नाद की चर्चा की है। साधनामार्ग में इसे शब्द—ब्रह्म कहा जाता है। निम्नांकित उद्धरण से प्रमाणित हो जायगा कि तुलसी साहब भी 'सुन्न के शब्द' का अर्थ ब्रह्म या शब्दब्रह्म मानते हैं—

सुन्न माहिं से सब्द जो आवे। सोई सब्द संत पुरुष कहावे॥[2]

इस प्रसंग में यह उल्लेख आवश्यक है कि तुलसी साहब नाथयोगी एवं पूर्ववर्ती सन्तों की भाँति शून्य को गगन या ब्रह्मरन्ध्र तो मानते हैं किन्तु वहाँ सहस्रदल कमल नहीं मानते। योग-वर्णन में हम प्रस्थापित कर चुके हैं कि सहस्रदल कमल का स्थान सन्त तुलसी ने नेत्रों को माना है, ब्रह्मरन्ध्र नहीं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कभी-कभी तुलसी साहब 'सार शब्द' या शब्द-ब्रह्म सत्यपुरुष के स्थान को 'सुन्न सहर के बाहिरे महासुन्न के पार'[3] निर्दिष्ट करते हैं, जिससे उनका अभिप्राय योगियों के शून्य (सहस्रार) के पार ब्रह्म की अवस्थिति बताना है। इसी बात को उन्होंने शून्य एवं महाशून्य के पार समाधि लगाकर सत्यपुरुष के दर्शन की निम्नलिखित चर्चा द्वारा प्रकट किया है—

सुन्न और महासुन्न के पारी। जहं वह जाय लगावे तारी॥
सत्तपुरुष के दरसन पावे। तीन लोक के पार कहावे॥[4]

इस उद्धरण में 'शून्य' और 'महाशून्य' द्वारा उन्होंने योगियों के सहस्रार अथवा साधना की स्थूल स्थितियों का उल्लेख किया है तथा सूक्ष्म-ब्रह्म की सत्ता इनके परे बताई है।

अन्यत्र भी तुलसी साहब के सार-शब्द या सत्यपुरुषरूपी शब्द-ब्रह्म को योगियों के सहस्राररूपी शून्य के पार निर्दिष्ट किया है—

शब्द सुन्न के पार, सार सोई सब्द कहावे।[5]

वस्तुतः यह व्यवस्था उन्हें सत्यपुरुष को निरंजन के ऊपर सिद्ध करने के लिए करनी पड़ी क्योंकि साम्प्रदायिक सन्त-काव्य के अनुसार निरंजन ब्रह्म न

१—योग मार्तण्ड, श्लोक १७८।
२—रत्नसागर, पृ० १५१।
३—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०।
४—रत्नसागर, पृ० ११३।
५—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३९।

होकर कालपुरुष है। अतएव उसके स्थान शून्य या सहस्रार (नेत्रस्थ) के ऊपर सत्यपुरुष (ब्रह्म) का स्थान अनिवार्य है।

इस प्रकार सन्त तुलसी ने 'शून्य' का प्रयोग तीन अर्थों में किया है—

१—मुख्यरूप से परमतत्व के अर्थ में।
२—शब्द ब्रह्म सत्यपुरुष के स्थान के रूप में।
३—योगियों के शून्य अथवा सहस्रार के अर्थ में।

गगन

'गगन' शब्द 'आकाश' का पर्याय है। सर्वव्यापी ब्रह्म की आकाश रूप में कल्पना शैव—सिद्धों के ग्रन्थों में प्राप्त होती है। 'निर्वाणमन्जरी' में परब्रह्म को आकाश की भांति सर्वव्यापी निर्दिष्ट किया गया है—

यदाकाशवत्सर्वगं शान्तरूपपं परं ज्योतिनिराकार शून्यं वरेण्यम्।
यदाद्यन्तशून्यं परं शंकराख्यं यदन्तर्विभाव्यं तदेवाहमस्मि ॥[१]

इस प्रकार 'आकाश' ब्रह्मबोधक शब्द है। नाथ—सम्प्रदाय में आकाश एवं गगन दोनों का प्रयोग हुआ है और दोनों ही परब्रह्म बोधक हैं।

नाथमत

गोरक्षनाथ ने अपनी रचनाओं में आकाश एवं गगन का ब्रह्मवाच्य अर्थ ही ग्रहण किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में 'आकाश' को सदाशिव या परब्रह्म कहा है—

आकाश तत सदासिव जांण। तसि अभिअंतरि पद निरवांण ॥[२]

गोरक्षनाथ ने 'योगमार्तण्ड' में सनातन निर्गुण शिव का 'गगन' रूप में ? वर्णन किया है—

निर्गुणञ्च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम्।
भ्रूमध्ये दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥
निर्मलं गगनाकारं मरीचि जलसन्निभम्।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगमवाप्नुयात् ॥[३]

१—निर्वाण मंजरी, श्लोक १२।
२—गोरखबानी, पृ० ५७।
३—योगमार्तण्ड, श्लोक १६७-१६८।

अन्यत्र भी गगन सिपर महि सबद प्रकास्या,[1] 'गगन मंडल में ऊंधा कूवा तहां अमृत का बासा'[2] गगन मंडल में अनहद बाजे[3] गगन मंडल में तेज 'चमके'[4] द्वारा गोरक्षनाथ ने गगन का ब्रह्म—भाव ही व्यक्त किया है। सिद्ध योगी घोड़ाचोली ने भी 'गगन मंडल में रहनि हमारी बाजे अनहद तूरा[5] सिद्ध पृथ्वी नाथ ने 'गगन आलण करे सिवपुरी संचरे[6] सिद्ध सतवंती ने गगन मंडल चढ़ि प्रीतम प्रसो[7] के द्वारा स्पष्ट शब्दों में गगन से ब्रह्मबोध कराया है। वस्तुतः गगन का अभिप्राय ब्रह का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है। सिद्धयोगी भर्तृहरि की निम्नलिखित पंक्तियों में दशम द्वार ब्रह्म-रन्ध्र में शिव या ब्रह्म की अवस्थिति निर्दिष्ट है और उसी को 'गगन-स्थान' कहा है—

नव द्वारे जडिले कपाट। दसवे द्वारे सिव घरिवाट।
दोई लख चन्दा एक लखि भान। वेध्या मृग गगन स्थान॥[8]

इससे गगन का 'ब्रह्म' एवं ब्रह्मरन्ध्र भाव नितान्त स्पष्ट हो जाता है।

रामानंद

रामानंद की हिन्दी रचनाओं में भी गगन ब्रह्म बोधक शब्द है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियां दृष्टव्य हैं—

(क) गगन गरंजत धुनि ध्यान लागा[9]
(ख) गगन गरजे हीरा नीपजे।[10]
(ग) सुन गगन में ध्वजा फहराई पूछो सबद भयो प्रकासा।[11]

१—गोरखबानी, पृ० २।
२—गोरखबानी, पृ० ९।
३—गोरखबानी, पृ० १२।
४—गोरखबानी, पृ० १९।
५—नाथसिद्धों की बानियां, पृ० २३।
६—वही वही, पृ० ९०।
७—वही वही, पृ० १२२।
८—Siddha Siddhanta Paddhati and other works of Nath Yogis, Page 77.
९—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं पृ० १
१०—वही वही, पृ० १२।
११—वही वही, पृ० ४५।

यहां गगन या ब्रह्मरन्ध्र में नादानुसंधान का वर्णन किया गया है।

निर्गुणमत

निर्गुण संत-काव्य में भी गगन ब्रह्म-भाव की अभिव्यक्ति करता है। कबीर ने शून्य ब्रह्म में मन के लय होने की चर्चा गगन या ब्रह्म-रन्ध्र में नाद श्रवण के द्वारा की है—

गगन गरजि मन सुंनि समाना, बाजे अनहद तूरा ॥[1]

अन्यत्र उन्होंने गगन मंडल की साधना से अमर होने का उल्लेख किया है—

जरा मरण व्यापै कुछ नाहीं गगन मंडल लै लागी ॥[2]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की रचनाओं में गगन परम्परागत अर्थ में ही ब्रह्म-भाव के लिए प्रयुक्त हुआ है।

संत धर्मदास ने भी गगन का प्रयोग ब्रह्मभाव व्यक्त करने के लिए ही किया है—

(क) गगन में अनहद बाजत है।[3]
(ख) गगन मंदिल में सतगुरु बोले, सुनि लै सब्द हमारा ॥[4]
(ग) गगन जोति गरजे असमाना देखो दृष्टि धुजा फहराना ॥[5]

यहां भी गगन में नाद-श्रवण का वर्णन किया गया है। योग वर्णन में हम कह चुके हैं कि प्राणवायु के सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने पर योगी नादानुसंधान करता है। यही भाव उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित है। अतएव यहां गगन ब्रह्मरन्ध्र का भाव प्रकट करता है।

संत दरिया साहब (विहार) ने भीपरम्परागत ब्रह्मभाव को व्यक्त करने के लिए ही 'गगन' का प्रयोग किया है—

(क) गगन गरजत अहै बुन्द अखंडिता।[6]

(ख) गगन मंडल बिच भयो है बास,
सींचत चकोर तहं चुगं सुवास ॥[7]

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९०।
२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९६।
३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ५८
४—वही वही, पृ० २७।
५—वही वही, पृ० १८।
६—दरिया साहब की शब्दावली पृ० ११।
७—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० २३।

इस प्रकार तुलसी साहब के पूर्ववर्ती निर्गुण-काव्य में 'गगन' सामान्यतः ब्रह्मभाव और विशेष रूप से ब्रह्मरन्ध्र का अभिप्राय रखता है।

तुलसी साहब

तुलसी साहब ने भी परम्परागत अर्थ में ही 'गगन' का प्रयोग किया है। निम्नलिखित पंक्तियों में संत तुलसी 'गगन मंडल' के मध्य स्थित तेजयुक्त ब्रह्म का वर्णन 'झिलमिल झलकता नूर' द्वारा करते हैं—

गगन मंडल के बीच में झिलमिल झलकत नूर ।
तुलसी जब मुरदा बने तब पावै गुर पूर ।[१]

तुलसी साहब ने ब्रह्म-भाव व्यक्त करने के लिए गगन के उर्दू पर्याय 'आसमान' का प्रयोग भी किया है। निम्नलिखित उद्धरणों से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा।

(क) रूह को असमान बीच अन्दर लावै ।[२]
(ख) अन्दर असमान बीच आलम अल्ला ।।[३]

प्रथम उद्धरण में आत्मा (रूह) को गगन ब्रह्म से युक्त करने का प्रस्ताव है तथा द्वितीय उद्धरण में स्पष्ट कहा गया है कि पिंडस्थ गगन (ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का वास है।

अन्यत्र तुलसी साहब ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "गगन" ही तेज-पुरुष ब्रह्म है।

तेज पुरुष गगन, तीर मारो, चढ़ि चीन्हो ।[४]

'घटरामायण' में इस प्रसंग को और भी स्पष्ट करते हुए संत तुलसी ने कहा है कि सर्वव्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार गगन में होता है—

सबमें व्यापक ब्रह्म समाना । दरसे गगन फोड़ि असमाना ।।[५]

'घटरामायण' में ही 'सुनि सैल' के द्वारा 'गगन ब्रह्म' को प्राप्त करने का वर्णन किया गया है—

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३८ ।
२— ,, ,, पृ० १७ ।
३— ,, ,, पृ० १७ ।
४— ,, द्वितीय भाग, पृ० २६८ ।
५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८९ ।

संत कृपा सुति सैल लखाने । तब चढ़ि गगन ब्रह्म को पावै ॥[1]

अतएव यह प्रमाणित होता है कि तुलसी साहब ने 'गगन' का प्रयोग नाथपंथी सिद्धाचार्यों एवं निर्गुणमतवादी संतों के परम्परागत अर्थ में ही किया है। 'गगन' शब्द से तुलसी साहब ने ब्रह्म अर्थ ही ग्रहण किया है। यह पिंडस्थ ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्ध रखता है।

खसम

'खसम' शब्द का अर्थ (ख=आकाश—सम=समान) आकाश के समान या शून्यवत् है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग सिद्ध साहित्य में प्राप्त होता है, किन्तु इसकी भावना प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'आकाशवत् सर्वगतश्च पूर्ण, जैसे प्रयोग मे मिलती है। पर वहां खसम शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है।

सिद्धमत

सिद्ध साहित्य में खसम का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। सरहपा की निम्नलिखित चौपाई में दो वार यह शब्द आया है—

सब्ब रूअ तहिं खसम करिज्जइ। खसम सहावें मण वि धरिज्ज ॥[2]

इसमें प्रथम 'खसम' का अर्थ स्पष्ट नहीं है किन्तु दूसरा प्रयोग मन के खसम स्वभाव धारण करने का अर्थ प्रकट करता है। वस्तुतः सरहपा ने यहां 'खसम' का प्रयोग शून्यवत् व्यापक एवं उज्ज्वल मन के लिए किया है जो सहजयानी साधक की सहजावस्था या शून्यावस्था का बोधक है। मन के शून्यवत् होकर बन्धन-मुक्त होने के अर्थ में ही लुईपा ने खसम-स्वभाव से बन्धन-मुक्त होने की चर्चा की है-

सहज महातरु फरिअइ तिलोए। खसम सहावे वाणते मुकक कोइ ॥[3]

मन की शून्यवत् स्थिति उस समय होती है जब वह सम्पूर्ण और नितान्त निर्विषय एवं निरवलंव हो जाता है। योगियों ने भी समाधिस्थ मन का वर्णन शून्योपम और गगनोपम कहकर किया है। "अवधूत गीता" में अवधूत की गगनोपमावस्था का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है।[4] हठयोग प्रदीपिका में भी आकाश के समान पूर्ण ब्रह्म या गगनोपम अवस्था में आत्मनिष्ठा का उल्लेख है—

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १।
२—सरहपाद का दोहाकोष, पृ० ३२।
३—हिन्दी काव्य धारा, पृ० १३७।
४—अवधूत गीत, पृ० ३।३-४।

'खमध्ये कुरु चात्मानत्ममध्ये च खं कुरू ।।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।'[1]

नाथमत

गोरक्षनाथ ने भी निर्मल, आकाशवत् एकार और सर्वव्यापक आत्मरूप परमाराध्य के ध्यान का प्रस्ताव किया है–

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगीमुक्ति मवाप्नुयात् ।।[2]

अतएव 'खसम' स्वभाव या मन की शून्यवत् स्थिति सिद्धों की परम प्राप्तव्य सहजावस्था है और नाथ-योगी भी आकाशवत्, गगनवत् या शून्यवत् सर्वव्यापी परम सत्ता के उपासक हैं किन्तु इनके भेद को न समझने वाले कभी कभी बड़ा भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। सिद्ध-साधना में शून्यवत् स्थिति द्वारा मन सहजावस्था प्राप्त करता है, जबकि नाथ योगी मन को वशीभूत करते आत्मतत्व का साक्षात्कार करता है। एक में मन की परिणति ही सब कुछ है, दूसरे में मन की परिणति द्वारा आत्मलाभ परम प्राप्तव्य है। नैरात्म्य और आत्म के इस भेद को समझ लेना आवश्यक है । इसके अतिरिक्त नाथपंथियों की रचनाओं में गगन मंडल या गगन शिखर जैसे शब्द परमतत्व के अथ में प्राप्त हो जाते हैं,[3] पर उन्होंने 'खसम' शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं किया है। निश्चय ही ने इसके नैरात्म व्यञ्जक भाव को समझते होंगे। किन्तु सन्तों ने इस शब्द का पुनः पुनः प्रयोग किया है सन्त-कवि प्रायः ब्रह्म को पतिरूप में मानकर 'खसम' शब्द का प्रयोग करते है। इस प्रकार सिद्धों के शब्द में नाथयोगियों के भाव को रखकर ही सन्तों ने 'खसम का प्रयोग किया हैं। 'खसम' द्वारा सन्तों ने सिद्धों के नैरात्म्य भाव की उपासना नहीं की है अपितु नाथयोगियों के आत्मभाव की उपासना की है।

निर्गुणमत

कबीर ने कई स्थलों पर 'खसम' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से ब्रह्म के लिए किया है-

---

१—हठयोग प्रदीपिका, पृ० ४।५५।
२—गोरक्ष पद्धति, २।७४।
३—गोरखबानी, पृ० १,२,९,१२।

(क) कहु कबीर तेई नर भूले । खसम बिसारि माटी संग रुले ॥[1]

(ख) जो जन लेहि खसम का नाउ । तिनकै सद बलिहारै जाउ॥[2]

(ग) खसमहि जाणि खिया करि रहै । तौ होइ निरवशी पद लहै ॥[3]

किन्तु इस शब्द का एक दूसरा अर्थ भी सन्तों ने ग्रहण किया है । इसका आधार अरबी का खसम शब्द है जिसका अर्थ पति होता है । पति या स्वामी के अर्थ में कबीर ने इस शब्द का प्रयोग किया है—

खसम मरै बा नारि न रोवै, रखवाला औरे होवै ॥[4]

इस स्थल पर खसम शब्द कुछ निकृष्ट पति के अर्थ में व्यक्त हुआ है, पर सन्तकाव्य में पति के अर्थ में या परमात्मारूपी पति के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग प्राप्त है—

(क) मैं कुलवन्ती खसम पियारी । जांचत तूं लै दीपक बारी ॥[5]

(ख) काहु कहौं कुछ कहत न आवै, नाहक जग बौराई हो ।
अपने खसम नेक नहिं जाने परपुरुष पहं जाई हो ॥[6]

तुलसी साहब

खसम के प्रयोग की उपर्युक्त परम्परा संत तुलसी को भी प्राप्त हुई थी । उनके ग्रन्थों में परम्परा-गत अर्थ में ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियां दृष्टव्य हैं जिनमें ब्रह्म के अर्थ में 'खसम' का प्रयोग किया गया है—

(क) खोल के चसम लख खसम कोज ले ।
जान भ्रम खानि भव भीख मांगी ॥[7]

(ख) ऐन के अधर दुइ चसम के बीच में ।
खसम को खोज जहं झलक तारा ॥[8]

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६७ ।
२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २९३ ।
३—वही वही, पृ० ३१० ।
४— „ पृ० २११
५—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ७ ।
६—गुलाल साहब की बानी, पृ० २२ ।
७—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० ११ ।
८—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १३ ।

प्रथम उद्धरण में हृदय नेत्र खोल कर खसम या ब्रह्म के अनुसंधान का उपदेश है तथा द्वितीय उद्धरण में भृकुटि—मध्य ध्यान द्वारा ब्रह्म उपलब्धि की चर्चा की गई है। अतएव इन उद्धरणों में 'खसम' ब्रह्म का ही पर्याय है।

एक स्थल पर तुलसी साहब ने मन को खसम कहा है, पर सिद्धों के अर्थ में नहीं अपितु पति के अर्थ में। यहां 'नारि' वा स्त्री (आत्मा) मनरूपी पति से अपने शरीर को भस्म करने का प्रस्ताव करती है—

माहुर प्याला घोरि के, पियूं कटोरा झारि।
नारि कहे मन खसम से, भसम करूं तन जारि ॥[१]

निम्नलिखित पंक्ति में भी संत तुलसी ने 'खसम' शब्द का प्रयोग पति के अर्थ में ही किया—

माई बाप आप से उपजी, खुद खसम की कीन्ह खुवारी।[२]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि संत तुलसी ने 'खसम' शब्द का प्रयोग संतकाव्य की परम्परा के अनुसार ब्रह्म और पति के उभय अर्थ में किया है।

भ्रमरगुहा

'सिद्धसिद्धांतपद्धति के द्वितीय उपदेश में वज्रोली मुद्रा के सम्बन्ध में भ्रमर—गुहा' का उल्लेख किया गया है—

'चतुर्थ मेढ़ाधार लिंग संकोचने ब्रह्म ग्रंथिय भित्वा भ्रमरगुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे विन्दुस्तम्भनं भवति एषा वज्रोली प्रसिद्धा ॥

उपर्युक्त उद्धारण में भ्रमर—गुहा का स्थान मेढ़ के निकट माना गया है। कबीर जैसे आदि संत-कवियों ने भ्रमर-गुहा का उल्लेख किया है किन्तु इसके स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है। वे भ्रमर-गुहा की स्थिति सहस्रार या ब्रह्मरन्ध्र में बताते हैं। किन्तु इसके पूर्व कि सन्त—काव्य में भ्रमर-गुहा का अनुसंधान किया जाय, कुछ योगमार्गी रचनाओं में इस शब्द के प्रयोग पर दृष्टिपात आवश्यक है।

२—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १४८।
३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १६८।
४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४३।

नाथमत

नाथयोगी-सम्प्रदाय के भाषा-ग्रंथों में 'भ्रमर-गुहा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ -

(क) अगम अगोचर रहै निहकाम। भंवर गुहा नांहीं विसराम ।
जुगति न जांणै जागै राति। मन काहू के न आवै हाथि ॥[1]

(ख) भ्रमर गुफा मैं मन थरि ध्यानें, बैस्या आसण वाली ।
चेतनि रावल यह भरि छाक्या, जुग-जुग लागी ताली ॥[2]

(ग) उलटै कमल सहस्रदल बास, भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास ।
सुणि मथुरा सिव गोरख कहैं, परम तत ले साधू लहै ॥[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में भ्रमर-गुफा में 'मन थरि ध्याने' और 'उलटै कमल सहस्रदल बास' 'भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाथ-साम्प्रदाय के भाषासाहित्य में भ्रमर-गुफा का स्थान सहस्रार कमल या ब्रह्मरन्ध्र माना गया हैं। योग की अन्य रचनाओं से इसका समर्थन हो जाता है। डा० बडथ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, नामक ग्रन्थ में किसी सहजानन्द जोगी की 'जोगमंजरी' 'नामक रचना से उद्धरण दिया है जिसके अनुसार भ्रमर-गुफा ब्रह्मरन्ध्र का ही पर्याय है—

अब ब्रह्मरन्ध्र ब्रह्म को धाया। भ्रमर गुफा है ताको नामा ॥
जहाँ सहस दल कमल ध्यावै। नासा आगे दृष्टि रहावै ॥[4]

निर्गुणमत

निर्गुण-काव्य में भ्रमर-गुहा के इस अर्थ की पुष्टि होती है। ब्रह्म का धाम समझ कर ही कबीर ने भ्रमर गुफा के घाट में चन्द्रामृत रूपी रसपान की चर्चा की है—

नीझर झरै रस पीजिये, तहां भंवर गुफा के घाट रे ।
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जो हाथि रे ॥[5]

१—गोरखबानी, पृ० ४६ ।
२—गोरखबानी, पृ० १२२ ।
३—गोरखबानी, पृ० १२४ ।
४—हिन्दीकाव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ४०७ ।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८ ।

प्रथम उद्धरण में हृदय नेत्र खोल कर खसम या ब्रह्म के अनुसंधान का उपदेश है तथा द्वितीय उद्धरण में भृकुटि—मध्य ध्यान द्वारा ब्रह्म उपलब्धि की चर्चा की गई है। अतएव इन उद्धरणों में 'खसम' ब्रह्म का ही पर्याय है।

एक स्थल पर तुलसी साहब ने मन को खसम कहा है, पर सिद्धों के अर्थ में नहीं अपितु पति के अर्थ में। यहां 'नारि' वा स्त्री (आत्मा) मनरूपी पति से अपने शरीर को भस्म करने का प्रस्ताव करती है—

माहुर प्याला घोरि के, पियूं कटोरा झारि।
नारि कहे मन खसम से, भसम करूं तन जारि ॥[२]

निम्नलिखित पंक्ति में भी संत तुलसी ने 'खसम' शब्द का प्रयोग पति के अर्थ में ही किया—

माई बाप आप से उपजी, खुद खसम की कीन्ह खुवारी।[३]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि संत तुलसी ने 'खसम' शब्द का प्रयोग संतकाव्य की परम्परा के अनुसार ब्रह्म और पति के उभय अर्थ में किया है।

भ्रमरगुहा

'सिद्धसिद्धांतपद्धति के द्वितीय उपदेश में वज्रोली मुद्रा के सम्बन्ध में भ्रमर—गुहा' का उल्लेख किया गया है—

'चतुर्थं मेढ़ाधार लिंगं संकोचने ब्रह्म ग्रंथियं भित्वा भ्रमरगुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे विन्दुस्तम्भनं भवति एषा वज्रोली प्रसिद्धा ॥

उपर्युक्त उद्धारण में भ्रमर—गुहा का स्थान मेढ़ के निकट माना गया है। कबीर जैसे आदि संत-कवियों ने भ्रमर-गुहा का उल्लेख किया है किन्तु इसके स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है। वे भ्रमर-गुहा की स्थिति सहस्रार या ब्रह्मरन्ध्र में बताते हैं। किन्तु इसके पूर्व कि सन्त—काव्य में भ्रमर-गुहा का अनुसंधान किया जाय, कुछ योगमार्गी रचनाओं में इस शब्द के प्रयोग पर दृष्टिपात आवश्यक है।

२—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १४८।
३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १६८।
४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ४३।

नाथमत

नाथयोगी-सम्प्रदाय के भाषा-ग्रंथों में 'भ्रमर-गुहा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ-

(क) अगम अगोचर रहै निहकाम। भंवर गुहा नांहो विसराम।
जुगति न जांणें जागें राति। मन काहू के न आवे हाथि॥[1]

(ख) भ्रमर गुफा मैं मन थरि ध्याने, वैस्या आसण वाली।
चेतनि रावल यह भरि छाक्या, जुग-जुग लागी ताली॥[2]

(ग) उलटै कमल सहस्रदल वास, भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास।
सुणि मथुरा सिव गोरख कहैं, परम तत ले साधू लहै॥[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में भ्रमर-गुफा में 'मन थरि ध्याने' और 'उलटै कमल सहस्रदल वास' 'भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाथ-साम्प्रदाय के भाषासाहित्य में भ्रमर-गुफा का स्थान सहस्रार कमल या ब्रह्मरन्ध्र माना गया है। योग की अन्य रचनाओं से इसका समर्थन हो जाता है। डा० बडथ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, नामक ग्रन्थ में किसी सहजानन्द जोगी की 'जोगमंजरी' 'नामक रचना से उद्धरण दिया है जिसके अनुसार भ्रमर-गुफा ब्रह्मरन्ध्र का ही पर्याय है—

अब ब्रह्मरन्ध्र ब्रह्म को धाया। भ्रमर गुफा है ताको नामा॥
जहाँ सहस दल कमल ध्यावै। नासा आगे दृष्टि रहावै॥[4]

निर्गुणमत

निर्गुण-काव्य में भ्रमर-गुहा के इस अर्थ की पुष्टि होती है। ब्रह्म का धाम समझ कर ही कबीर ने भ्रमर गुफा के घाट में चन्द्रामृत रूपी रसपान की चर्चा की है—

नीझर झरै रस पीजिये, तहां भंवर गुफा के घाट रे।
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जो हाथि रे॥[5]

१—गोरखबानी, पृ० ४६।
२—गोरखबानी, पृ० १२२।
३—गोरखबानी, पृ० १२४।
४—हिन्दीकाव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ४०७।
५—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।

औंधा कूप

औंधा कूप का शाब्दिक अर्थ 'उलटा कुंवां' है। योगमत में 'उलटा कुंवा' का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रदल कमल के लिए किया जाता है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

नाथमत

नाथ-सम्प्रदाय की उपलब्ध रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग अधिक नहीं है। गोरखनाथ की 'सबदी' में केवल एक स्थान तर 'ऊंधा कुवा' का प्रयोग मिलता है। यह यथेष्ट स्पष्ट है—

गगन मंडल में ऊंधा कूवा तहां का वासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाय पियासा॥[1]

"गगन मंडल" का प्रयोग नाथ-सम्प्रदाय में ब्रह्मरन्ध्र या दसम द्वार स्थित सहस्रार के लिए किया जाता है। नाथ-सम्प्रदाय में सहस्रार या सहस्रदल कमल को पारिभाषिक शब्दावली में औंधा कूप या 'ऊंधा कूवा' कहते हैं क्योंकि यह अधोमुख माना गया है। 'शिव संहिता' में वताय: गया है कि इस सहस्र दल सरोरुह से स्रवित अमृत का पान करके योगी अमरत्व प्राप्त करता है—

तस्माद्गलितपीयूषं पिबेयोदी निरन्तरम्।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे॥[2]

गोरक्षनाथ ने उपर्युक्त शब्द में जिस अमृत की चर्चा की है वह सहस्रार से स्रवित होने वाला पीयूष ही है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-पंथ में ऊंधा कुवा या औंधा कूप' सहस्र दल कमल या सहस्रार चक्र के लिए प्रयुक्त होता था।

निर्गुण मत

नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित कबीर की रचनाओं में भी इस शब्द का प्रयोग अधोमुख सहस्रार के लिए किया गया है। यहाँ पनिहारिन (कुण्डलिनी) के 'औंवा कुंवा' (सहस्रार-ब्रह्म) में लय द्वारा हंस या मुक्तात्मा के अमृतरूपी जल पीने की चर्चा की गई है—

१—गोरखवानी, पृ० ९।
२—शिवसंहिता, ५।१९२

आकासे मुखि औंधा कुंवा पाताले पनिहारि।
ता का पांणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि॥[1]

यह जल वास्तव में अमृत ही है जिसके सहस्र दल कमल से स्रवित होने का उल्लेख ऊपर किया गया है। दरिया साहब (बिहार) ने स्पष्ट रूप से इस जल को अमृत तत्व कहा भी है—

अभी ततु तहं पीवै पानी। कुंवल नाल तहं सुरति समानी॥[2]

यहाँ भी सुरति के कमल के सामने अर्थात् आत्मा का सहस्रदल में जल या अमृत पान कहा गया है।

धर्मदास ने भी सुरति सुहागिन (आत्मा) द्वारा 'उर्ध्वमुख कुंइया' (सहस्रार) से जल भरने की चर्चा की है—

हमारे देसवा उर्धमुखः कुंइयां, साकर वा की खोरिया।
सुरत सुहागिनि जल भर लावै, विन रसरी विन डोरिया॥[3]

यहां भी उर्ध्वमुख कूप सहस्रार या ब्रह्म का ही द्योतक है। अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने 'औंधा कुंवा' का वर्णन किया है और धर्मदास ने 'उर्धमुख कुंइया' की चर्चा की है। किन्तु इनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। संत-काव्य में औंधा कुंवा, उर्धमुख कुंइया, उरधमुख कूप, अंधा कूप, अजर कूप आदि का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। इनमें से अधिकांश का प्रयोग संत तुलसी ने किया है।

तुलसी साहब

उपर्युक्त पंक्तियों से यह विदित हो जाता है कि नाथ-सम्प्रदाय और कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों की रचनाओं में 'औंधा कूप' ब्रह्म, अमरत्व एवं सहस्रार का सूचक है। तुलसी साहब भी इसे ब्रह्म और अमरत्व का प्रतीक मानते हैं किंतु इसका स्थान सहस्रदल कमल नहीं मानते। तुलसी साहब के योग-वर्णन में हम उल्लेख कर चुके हैं कि उन्होंने निरंजन को सहस्रार में मानते हुए सहस्रार का स्थान नेत्रों को निर्धारित किया है तथा सत्यपुरुष या ब्रह्म की अवस्थिति ब्रह्मरन्ध्र स्थित चार दल के कमल में मानी है। इसीलिए तुलसी साहब ने 'औंधा कुंवा' को नेत्रस्थ निरंजन के स्थान सहस्रदल कमल के परे

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६।
२—दरिया सागर, पृ० २२।
३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ३५।

औंधा कूप

औंधा कूप का शाब्दिक अर्थ 'उलटा कुंवां' है। योगमत में 'उलटा कुंवा' का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रदल कमल के लिए किया जाता है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

नाथमत

नाथ-सम्प्रदाय की उपलब्ध रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग अधिक नहीं है। गोरखनाथ की 'सबदी' में केवल एक स्थान पर 'ऊंधा कुवा' का प्रयोग मिलता है। यह यथेष्ट स्पष्ट है—

गगन मंडल में ऊंधा कूवा तहां का बासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाय पियासा॥[1]

"गगन मंडल" का प्रयोग नाथ-सम्प्रदाय में ब्रह्मरन्ध्र या दसम द्वार स्थित सहस्रार के लिए किया जाता है। नाथ-सम्प्रदाय में सहस्रार या सहस्रदल कमल को पारिभाषिक शब्दावली में औंधा कूप या 'ऊंधा कूवा' कहते हैं क्योंकि यह अधोमुख माना गया है। 'शिव संहिता' में बताया गया है कि इस सहस्र दल सरोरुह से स्रवित अमृत का पान करके योगी अमरत्व प्राप्त करता है—

तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम्।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे॥[2]

गोरक्षनाथ ने उपर्युक्त शब्द में जिस अमृत की चर्चा की है वह सहस्रार से स्रवित होने वाला पीयूष ही है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-पंथ में ऊंधा कुवा या औंधा कूप' सहस्र दल कमल या सहस्रार चक्र के लिए प्रयुक्त होता था।

निर्गुण मत

नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित कबीर की रचनाओं में भी इस शब्द का प्रयोग अधोमुख सहस्रार के लिए किया गया है। यहाँ पनिहारिन (कुण्डलिनी) के 'औंधा कूंवा' (सहस्रार-ब्रह्म) में लय द्वारा हंस या मुक्तात्मा के अमृतरूपी जल पीने की चर्चा की गई है—

१—गोरखबानी, पृ० ९।
२—शिवसंहिता, ५।१९२

आकासे मुखि औंधा कुंवा पाताले पनिहारि ।
ता का पांणी को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि ॥[1]

यह जल वास्तव में अमृत ही है जिसके सहस्रदल कमल में [illegible] का उल्लेख ऊपर किया गया है। दरिया साहब (बिहार) ने स्पष्ट रूप से इस जल को अमृत तत्व कहा भी है—

अमी ततु तहं पीवै पानी । कुंवल नाल तहं सुरति समानी ॥[2]

यहां भी सुरति के कमल के सामने अर्थात् आत्मा का सहस्रदल में [illegible] या अमृत पान कहा गया है।

धर्मदास ने भी सुरति सुहागिन (आत्मा) द्वारा 'उर्ध्वमुख कुंइया' (सहस्रार) से जल भरने की चर्चा की है—

हमारे देसवा उर्धमुख कुंइयां, साकर वा की खोरिया ।
सुरत सुहागिनि जल भर लावै, बिन रसरी बिन डोरिया ॥[3]

यहां भी उर्ध्वमुख कूप सहस्रार या ब्रह्म का ही द्योतक है। अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने 'औंधा कुंवा' का वर्णन किया है और धर्मदास ने 'उर्ध-मुख कुंइया' की चर्चा की है। किन्तु इनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। संत-काव्य में औंधा कुंवा, उर्धमुख कुंइया, उरधमुख कूप, अंधा कूप, अमर कूप आदि का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। इनमें से अधिकांश का प्रयोग संत तुलसी ने किया है।

तुलसी साहब

उपर्युक्त पंक्तियों से यह विदित हो जाता है कि नाथ-सम्प्रदाय और कबीर आदि पूर्ववर्ती सन्तों की रचनाओं में 'औंधा कूप' ब्रह्म, अमरत्व एवं सहस्रार का सूचक है। तुलसी साहब भी इसे ब्रह्म और अमरत्व का प्रतीक मानते हैं किंतु इसका स्थान सहस्रदल कमल नहीं मानते। तुलसी साहब के योग-वर्णन में हम उल्लेख कर चुके हैं कि उन्होंने निरंजन को सहस्रार में मानते हुए सहस्रार का स्थान नेत्रों को निर्धारित किया है तथा सत्यपुरुष या ब्रह्म की अवस्थिति ब्रह्मरन्ध्र स्थित चार दल के कमल में मानी है। इसीलिए तुलसी साहब ने 'औंधा कुंवा' को नेत्रस्थ निरंजन के स्थान सहस्रदल कमल से परे

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६।
२—दरिया सागर, पृ० २२।
३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ३५।

माना है। निम्नलिखित उद्धरण में तुलसी साहब ने औंधा कूप द्वारा ब्रह्म भाव को व्यक्त करते हुए उसकी अवस्थिति 'सिंध पौलि के पार' अर्थात् काल निरंजन की सीमा के परे मानी है—

सिंध पौलि के पार झार नित उठि उठि आवै।
जहां उरध मुख कूप धूप बिन रवि दरसावै॥[1]

अन्यत्र उन्होंने इसका स्थान आकाश अर्थात् गगन या ब्रह्मरन्ध्र कहा भी है—

लखि अकाश औंधा कुआ हुआ नूर का तेज।[2]

एक स्थल पर वे आकाश स्थित 'औंधा कुंवा' में सुरति या आत्मा के प्रवेश का उल्लेख करके कूप के ब्रह्म-प्रतीकत्व को स्पष्ट कर देते हैं—

लखि अकाश औंधा कुंवा, ता में सुरति समाना हो।
गगन गिरा गरजत भई फूटा असमाना हो॥[3]

'औंधा कुआ' को सन्त-काव्य में 'अंध कूप' भी कहा गया है। तुलसी साहब ने भी पिंडस्थकूप के आत्म-रूप होने की चर्चा की है—

तन में जो अंधा कूप है। वोही तुम्हारा रूप है।[4]

एक स्थल पर वे इसे 'अधर कूप' कहते है और कोटि सूर्यों के समान तेज के वर्णन द्वारा उसके ब्रह्मत्व की पुष्टि करते हैं—

अधर कूप अति अनूप दमक तेज रवि करोड़।[5]

अन्यत्र उन्होंने इसको 'अजर' कूप भी कहा है जिसे प्राप्त करके सुरति या आत्मा-कर्मबन्धन से मुक्त हो जाती है—

अजर कूप भारी सो सूरत संवारी। कटे कर्म बन्ध 'ब्रसे बुंद सिंधं।[6]

यहां बूंद आत्मा या सुरति के लिए और सिंधु ब्रह्म या अजर कूप के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'औंधा कुंवा' तुलसी साहब के ब्रह्म-भाव का द्योतक है।

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३०।
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३८।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७६।
४—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० ५७।
५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २६४।
६—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १९३।

नाद बिन्द

नाद और बिन्दु की कल्पना योगियों ने सृष्टि के सम्बन्ध में बहुत पूर्व से की है। नाद सूक्ष्म शब्द-तत्व का क्रियमाण स्वरूप है जो क्रमशः स्थूल रूप में परिणत होता हुआ सृष्टि का कारण होता है। मूल ऊंकार के अभिव्यक्त रूप नाद ही के स्थूलत्व में परिणत होने पर सृष्टि का कार्य प्रारम्भ होता है। यह नाद मानव शरीर के भीतर भी व्यष्टि रूप में वर्तमान है और साधक पूर्णत्व प्राप्त करने पर इसका अनुभव करता है।

नाथ—मत

नाथमत में नाद वस्तुतः शब्द-ब्रह्म का प्रतिनिधि है और इसका अनु-संधान योगी को बन्धन मुक्त कर देता है—

नाद ही तौ आछै बाबू सब कछू निधांनां।
नाद ही थैं पाइये परम निरवांनां॥[1]

इसके विपरीत बिंदु उस क्रियामाण शक्ति का परिचायक शब्द है जिसके नाद-ब्रह्म के साथ सम्मिलन को योगी परम प्राप्तव्य समझता है। इस बिन्दु को योगियों ने कभी कभी जीव-तत्व भी कहा है और उसे जीव-शक्ति के रूप में वीर्य का पर्याय भी माना है—

(क) भग मुखि व्यंद अगनि मुषि पारा। जो राषै सो गुरू हमारा॥[2]
(ख) भरि भरि षाऊं त विंद बियापै, क्यों सीझति जल व्यंद की काया॥[3]

साधना के द्वारा अधोमुख प्रवृत्ति का विन्दु जब ऊर्ध्वमुख होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है, उस समय योगी इस चतुर्विध सृष्टि से मुक्त होकर लोकोत्तर नाद में लीन हो जाता है—

नाद के घरि व्यंद गरजै, बाजत अनहद तूरं।[4]

रामानंद

इसी विषय की चर्चा रामानन्द की हिंदी रचनाओं में 'नादविन्द क मिलने पर रंग रेला' और 'गांठी पड़ना' एवं इस अवस्था में मन के कहीं न जाने या स्थिर होने के द्वारा व्यक्त की गई है—

१—गोरखबानी, पृ० ९९।
२— " पृ० ४९।
३— " पृ० १२।
४—गोरखबानी, पृ० २०।

माना है। निम्नलिखित उद्धरण में तुलसी साहब ने औंधा कूप द्वारा ब्रह्म भाव को व्यक्त करते हुए उसकी अवस्थिति 'सिंघ पौलि के पार' अर्थात् काल निरंजन की सीमा के परे मानी है—

सिंघ पौलि के पार झार नित उठि उठि आवै।
जहां उरध मुख कूप धूप बिन रवि दरसावै ॥[१]

अन्यत्र उन्होंने इसका स्थान आकाश अर्थात् गगन या ब्रह्मरन्ध्र कहा भी है—

लखि अकाश औंधा कुआ हुआ नूर का तेज।[२]

एक स्थल पर वे आकाश स्थित 'औंधा कुंवा' में सुरति या आत्मा के प्रवेश का उल्लेख करके कूप के ब्रह्म-प्रतीकत्व को स्पष्ट कर देते हैं—

लखि अकाश औंधा कुंवा, ता में सुरति समाना हो।
गगन गिरा गरजत भई फूटा असमाना हो ॥[३]

'औंधा कुआ' को सन्त-काव्य में 'अंध कूप' भी कहा गया है। तुलसी साहब ने भी पिंडस्थकूप के आत्म-रूप होने की चर्चा की है—

तन में जो अंधा कूप है। वोही तुम्हारा रूप है।[४]

एक स्थल पर वे इसे 'अधर कूप' कहते हैं और कोटि सूर्यों के समान तेज के वर्णन द्वारा उसके ब्रह्मत्व की पुष्टि करते हैं—

अधर कूप अति अनूप दमक तेज रवि करोड़।[५]

अन्यत्र उन्होंने इसको 'अजर' कूप भी कहा है जिसे प्राप्त करके सुरति या आत्मा-कर्मबन्धन से मुक्त हो जाती है—

अजर कूप भारी सो सूरत संवारी। कटे कर्म बन्ध 'बसे बुंद सिंधं।[६]

यहां बूंद आत्मा या सुरति के लिए और सिंधु ब्रह्म या अजर कूप के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'औंधा कुंवा' तुलसी साहब के ब्रह्म-भाव का द्योतक है।

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३०।
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ३८।
३—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७६।
४—शब्दावली प्रथम भाग, पृ० ५७।
५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २६४।
६—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १९३।

का यह योग अनिवार्य है। गोरखनाथ की रचनाओं में काया की सृष्टि के सम्बन्ध में इसी ओर इंगित किया गया गया है—

आदि नाथादि पार ब्रह्म ऊं शिव सकती। नाद विंद ले काया उतपती।[1]

तुलसी साहब

इसी बिचार की पुष्टि करते हुये संत तुलसी साहब ने कहा है—

नादहि बिंद देह को साजा। पूजो पाहन मो केहि काजा॥[2]

इतना ही नहीं, तुलसी साहब ने नाद और विन्दु के विस्तार द्वारा संसार की सृष्टि बताई हैं--

(क) नाद बिंद कीन्हा विस्तारा। ऐसे रचि संसार संवारा॥[3]

(ख) नाद बिंद जग किया वसेरा।[4]

अन्यत्र भी वे नाद बिन्दु के विस्तार इस असार संसार में अज्ञानी आत्मा का उद्बोध न करते हैं—

सुरति सुहागिन जाग, जनम सब सोय गंवायो री।
नाद बिंद विस्तार, सार कुछ खोज न पायो री॥[5]

नाद बिंद के प्रयोग में यहीं तुलसी साहब की मौलिकता का परिचय प्राप्त होता है। संसार को उन्होंने नाद और बिन्द का विस्तार कहने के साथ ही असार भी बताया है। जहां कुछ सार न प्राप्त हो वह परोक्ष में असार ही होता है। इसका कारण है। तुलसी साहब इस जगत को निरंजन और ज्योति अर्थात् मन और माया के संयोग से प्रादुर्भूत मानते हैं और इनकी सृष्टि को मायिक तथा सत्यपुरुष के संधान पर आवरण डालने वाली समझते हैं। इसीलिए वे नाद विन्दु के विस्तार रूप संसार को असार कहते हैं।

अन्यत्र उन्होंने बिन्दु की वीर्य के रूप में चर्चा की है और यह भी कहा हैं कि बहुतेरे साधक आदि नाद के भी आदि कारण को स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर पाते—

१—गोरखबानी, पृ० २४१।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६६।
३—रत्नसागर, पृ० १५।
४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७०।
५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १८३।

(क) नाद विंद मिल भया रंग रैला ।।[1]
(ख) नाद विन्द गांठी पड़गा मनवा कहीं न जाई ।।[2]

विन्दु या क्रियमाण शक्ति को वीर्य का पर्याय कबीर ने भी माना है--
सुप्नें विन्द न देई झरना, ता काजी कूं जुरा न मरणा ।।[3]

इसके साथ ही वे 'जल बूंद थैं ज्यनि प्यंड वांध्यां'[4] कहकर गोरक्षनाथ के समान ही जल-व्यंद या शुक्र से काया निर्माण की चर्चा करते हैं। कबीर भी गोरक्षनाथ की भांति ही उस वीर्यवती साधना की ओर संकेत करते हैं जिसमें विन्दु ऊर्ध्वगामी पवन के साथ ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सोकर साधक को अनाहत नाद में लीन कर देता है-

अवधू नादें व्यंद गगन गाजै, सवद अनाहद वोलै ।[5]

निर्गुणमत

कबीर ने नाद और विन्दु की इस साधना के द्वारा गोविन्द के मिलने की चर्चा अन्यत्र भी की है--

नादहि व्यंद कि व्यंदहि नाद नादहि व्यंद मिलै गोव्यंद ।।[6]

एक स्थल पर कबीर ने जीवात्मा को नाव कहा है भवसागर पार करने के निमित राम नाम जिसका कर्णधार है और यह नाव या जीव का वाहक शरीर नादविन्दु से बना है--

नाद व्यंद की नाव री, राम नाम कनि-हार ।
कहैं कबीर गुण गाइले गुर गंमि उतरौ पार ।।[7]

यहां नाद और विन्दु जीव-सृष्टि के दो तत्वों के रूप में उपस्थित किये गये हैं। इन्हें शिव और शक्ति, ब्रह्म और माया अथवा चेतन और जड़ तत्व कहा जा सकता हैं। नाद तन है, विन्दु जड़। नाद ब्रह्मवाचक शब्द है, विन्दु क्रियात्मक शक्ति या माया। समष्टि या व्यष्ठि की सृष्टि में पुरुप और प्रकृति

१—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ० ४।
२—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ० १५।
३—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २००।
४—वही वही, पृ० १६९।
५— " पृ० १५४।
६—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९८।
७—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९४।

का यह योग अनिवार्य है। गोरखनाथ की रचनाओं में काया की सृष्टि के सम्बन्ध में इसी ओर इंगित किया गया गया है—

आदि नाथादि पार ब्रह्म ऊं शिव सकती। नाद विंद ले काया उतपती।[1]

तुलसी साहब

इसी विचार की पुष्टि करते हुये संत तुलसी साहब ने कहा है—

नादहि विंद देह को साजा। पूजो पाहन मो केहि काजा ॥[2]

इतना ही नहीं, तुलसी साहब ने नाद और विन्दु के विस्तार द्वारा संसार की सृष्टि बताई हैं--

(क) नाद बिंद कीन्हा विस्तारा। ऐसे रचि संसार संवारा ॥[3]

(ख) नाद बिंद जग किया बसेरा।[4]

अन्यत्र भी वे नाद विन्दु के विस्तार इस असार संसार में अज्ञानी आत्मा का उद्‌बोध न करते हैं—

सुरति सुहागिन जाग, जनम सब सोय गंवायो री।
नाद विंद विस्तार, सार कुछ खोज न पायो री ॥[5]

नाद बिंद के प्रयोग में यहीं तुलसी साहब की मौलिकता का परिचय प्राप्त होता है। संसार को उन्होंने नाद और बिन्द का विस्तार कहने के साथ ही असार भी बताया है। जहां कुछ सार न प्राप्त हो वह परोक्ष में असार ही होता है। इसका कारण है। तुलसी साहब इस जगत को निरंजन ओर ज्योति अर्थात् मन और माया के संयोग से प्रादुर्भूत मानते हैं और इनकी सृष्टि को मायिक तथा सत्यपुरुष के संधान पर आवरण डालने वाली समझते हैं। इसीलिए वे नाद बिन्दु के विस्तार रूप संसार को असार कहते हैं।

अन्यत्र उन्होंने बिन्दु की वीर्य के रूप में चर्चा की है और यह भी कहा हैं कि बहुतेरे साधक आदि नाद के भी आदि कारण को स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर पाते—

१—गोरखबानी, पृ० २४१।

२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६६।

३—रत्नसागर, पृ० १५।

४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७०।

५—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १८३।

विद वदन वैराट में, उपजें विनसावें हो।

नाद आद की आद को, सुपने नहिं पावें हो ॥[१]

यहाँ आदि नाद ऊंकार है। तुलसी साहब के अनुसार यह योगियों का मन्तव्य है। तुलसी साहब इसके भी ऊपर शब्दब्रह्म सत्यपुरुष को मानते हैं। यहां उन्होंने उसे ही ऊंकार का आदि कारण बताया है। यही ऊंकार निरंजन है और सृष्टि से सम्बद्ध होने के कारण सत्यपुरुष की अपेक्षा स्थूलता से परिबद्ध है। संत तुलसी के सृष्टि-क्रम में निरंजन को सत्यपुरुष से उत्पन्न कहा भी गया हैं और 'नाद आद की आद' के द्वारा उपर्युक्त उद्धरण में तुलसी साहब ने निरंजन (ऊंकार) के कारण भूत तत्व की ओर ही इंगित किया हैं।

सुरति निरति

'सुरति' शब्द को संस्कृत 'स्रोत' का अपभ्रंश मानते हुए डा० सम्पूर्णानन्द ने इसे चित्तवृत्तियों का प्रवाह कहा है।[२] इस मत से असहमत होते हुए डा० बड़थ्वाल ने इसका अर्थ स्मृति माना है।[३] डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने सुरति को अन्तर्मुखी वृत्ति बताया है।[४] वस्तुतः सुरति का संत काव्य में एक निश्चित अर्थ नहीं है। इस शब्द का प्रयोग आधे दर्जन से अधिक अर्थों में हुआ हैं। स्वयं डा० बड़थ्वाल ने इस तथ्य की ओर संकेत किया हैं।[५] 'सुरति' के सब अर्थों की व्याख्या हमारा प्रतिपाद्य नहीं हैं तथापि इस शब्द के अर्थ-विकास की निम्नांकित रूपरेखा से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

सिद्धमत

सुरति का सर्वप्रथम प्रयोग वज्रयानी सिद्धाचार्यों की साधनापरक रचनाओं में मिलता हैं। सिद्ध सरहपाद की रचनाओं में यह शब्द प्रेम-क्रीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०९।
२—विद्यापीठ त्रैमासिक पत्रिका, भाग २, पृ० १३५।
३—हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृ० ४१८-४१९।
४—कबीर, पृ० २४८।
५—हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृ० ४१९।

(क) सो परमेसरु कासु कहिज्जइ। सुरअ कुमारी जीम पडिज्जइ ॥[१]

(ख) कमल कुलिस बेवि मज्झ ठिउ, सो जो सुरअ-विलास।
को न रमइ णह तिहु अणहिं, कस्स ण पूरइ आस ॥[२]

यहां स्पष्ट है कि सरहपाद इसे कमल—कुलिश योग का पर्याय ही मानते हैं जिसका मैथुन परक अर्थ सिद्ध-साहित्य में समादृत है।

सिद्ध कण्हपा की रचनाओं में भी 'सुरति' का अर्थ प्रेम-क्रीड़ा ही है। निम्नांकित उद्धरण में वे सम्पूर्ण रात्रि सुरत-प्रसंग में व्यतीत करने का प्रस्ताव करते हैं—

अहणिसि सुरअ–प्रसंगे जाअ। जोइणि जाले रअणि पोंहाअ ॥[३]

नाथमत

योग—सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक ग्रंथों में 'सुरति' शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु नाथ-सम्प्रदाय की साधनापरक रचनाओं में यह शब्द प्रायः प्रयुक्त हुआ है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि नाथ-सम्प्रदाय में 'सुरति' शब्द बज्रयानी साधकों के माध्यम से आया। पर नाथसम्प्रदाय में सुरति का मैथुन-परक अर्थ नहीं ग्रहण किया गया। सुरति के साथ निरति की व्यवस्था करके नाथयोगियों ने सुरति शब्द योग की साधना—प्रणाली प्रस्थापित की जिसमें शब्द-नाद ब्रह्म है, सुरति शब्दोन्मुख चित है एवं निरति सुरति या शब्दोन्मुख चित्त की वह अवस्था है जब शब्द के साक्षात्कार से वह निरावलम्ब हो जाता है।

गोरखबानी के निम्नलिखित प्रसंग से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा।

गोरख-स्वामी कौण सो सब्द कौंण सो सुरति।
कौण सो बंध कौंण सो निरति।
दुबध्या मेटै कैसें रहै। सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ॥
मछिंद्र—अबधू सबद अनाहद सुरति सो चित।
निरति निरालंभ लागै बंद ॥
दुबध्या मेटि सहज मैं रहै।
ऐसा विचार मछिंद्र कहै ॥[४]

१—सरपाद का दोहा कोष, पृ० १६।
२—सरहपाद का दोहा कोष, पृ० ७५।
३—हिन्दी काव्य धारा, पृ० १५२।
४—गोरखवानी, पृ० १६९।

विंद वदन वैराट में, उपजें विनसावें हो।

नाद आद की आद को, सुपने नहिं पावें हो ॥[1]

यहाँ आदि नाद ऊंकार है। तुलसी साहब के अनुसार यह योगियों का मन्तव्य है। तुलसी साहब इसके भी ऊपर शब्दब्रह्म सत्यपुरुष को मानते हैं। यहां उन्होंने उसे ही ऊंकार का अदि कारण बताया है। यही ऊंकार निरंजन है और सृष्टि से सम्वद्ध होने के कारण सत्यपुरुष की अपेक्षा स्थूलता से परिवद्ध है। संत तुलसी के सृष्टि—क्रम में निरंजन को सत्यपुरुष से उत्पन्न कहा भी गया हैं और 'नाद आद की आद' के द्वारा उपर्युक्त उद्धरण में तुलसी साहब ने निरंजन (ऊंकार) के कारण भूत तत्व की ओर ही इंगित किया हैं।

सुरति निरति

'सुरति' शब्द को संस्कृत 'स्रोत' का अपभ्रंश मानते हुए डा० सम्पूर्णानन्द ने इसे चित्तवृत्तियों का प्रवाह कहा है।[2] इस मत से असहमत होते हुए डा० बड़थ्वाल ने इसका अर्थ स्मृति माना है।[3] डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने सुरति को अन्तर्मुखी वृत्ति वताया है।[4] वस्तुतः सुरति का संत काव्य में एक निश्चित अर्थ नहीं है। इस शब्द का प्रयोग आधे दर्जन से अधिक अर्थों में हुआ हैं। स्वयं डा० बड़थ्वाल ने इस तथ्य की ओर संकेत किया हैं।[5] 'सुरति' के सब अर्थों की व्याख्या हमारा प्रतिपाद्य नहीं हैं तथापि इस शब्द के अर्थ—विकास की निम्नांकित रूपरेखा से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

सिद्धमत

सुरति का सर्वप्रथम प्रयोग वज्रयानी सिद्धाचार्यों की साधनापरक रचनाओं में मिलता हैं। सिद्ध सरहपाद की रचनाओं में यह शब्द प्रेम-क्रीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

१—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १०९।

२—विद्यापीठ त्रैमासिक पत्रिका, भाग २, पृ० १३५।

३—हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृ० ४१८-४१९।

४—कबीर, पृ० २४८।

५—हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृ० ४१९।

(क) सो परमेसरु कासु कहिज्जइ । सुरअ कुमारी जीम पडिज्जइ ॥[1]

(ख) कमल कुलिस बेवि मज्झ ठिउ, सो जो सुरअ-विलास ।
को न रमइ णह तिहु अणहिं, कस्स ण पूरइ आस ॥[2]

यहां स्पष्ट है कि सरहपाद इसे कमल—कुलिश योग का पर्याय ही मानते हैं जिसका मैथुन परक अर्थ सिद्ध-साहित्य में समादृत है ।

सिद्ध कण्हपा की रचनाओं में भी 'सुरति' का अर्थ प्रेम-क्रीड़ा ही है । निम्नांकित उद्धरण में वे सम्पूर्ण रात्रि सुरत-प्रसंग में व्यतीत करने का प्रस्ताव करते हैं—

अहणिसि सुरअ-प्रसंगे जाअ । जोइणि जाले रअणि पोंहाअ ॥[3]

नाथमत

योग—सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक ग्रंथों में 'सुरति' शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु नाथ-सम्प्रदाय की साधनापरक रचनाओं में यह शब्द प्रायः प्रयुक्त हुआ है । इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि नाथ-सम्प्रदाय में 'सुरति' शब्द बज्रयानी साधकों के माध्यम से आया । पर नाथसम्प्रदाय में सुरति का मैथुन-परक अर्थ नहीं ग्रहण किया गया । सुरति के साथ निरति की व्यवस्था करके नाथयोगियों ने सुरति शब्द योग की साधना—प्रणाली प्रस्थापित की जिसमें शब्द-नाद ब्रह्म है, सुरति शब्दोन्मुख चित हैं एवं निरति सुरति या शब्दोन्मुख चित्त की वह अवस्था है जब शब्द के साक्षात्कार से वह निरावलम्ब हो जाता है ।

गोरखबानी के निम्नलिखित प्रसंग से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा ।

गोरख-स्वामी कौण सो सब्द कौंण सो सुरति ।
कौण सो बंध कौंण सो निरति ।
दुवध्या मेटै कैसें रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ॥

मछिंद्र—अबधू सबद अनाहद सुरति सो चित् ।
निरति निरालंभ लागै बंद ॥
दुबध्या मेटि सहज मैं रहै ।
ऐसा विचार मछिंद्र कहै ॥[4]

१—सरपाद का दोहा कोष, पृ० १६ ।
२—सरहपाद का दोहा कोष, पृ० ७५ ।
३—हिन्दी काव्य धारा, पृ० १५२ ।
४—गोरखबानी, पृ० १६९ ।

'गोरखबानी' में अन्यत्र कहा गया है कि सुरति साधक है, शब्द सिद्धि है, द्वैत को मिटा कर निरति दशा में रहना साधक का लक्ष्य है—

अवधू सुरति सो साधक सबद सो सिधि
दुहुं को मेटि निरति में रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै ॥[1]

वस्तुतः साधक जीव है, शब्द ब्रह्म है। इस द्वैत का प्रत्याख्यान निरति अवस्था में सम्भव है, जब सुरति (जीव) का शब्द (ब्रह्म) से योग होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सुरतिरूपी जीवात्मा का द्वैतानुभव शब्दानुसंधान द्वारा निरति की अवस्था में नष्ट होता है। आगे हम लक्ष्य करेंगे कि सुरति का जीवात्मा अर्थ संत काव्य में उपलब्ध है।

निर्गुणमत

कबीर की रचनाओं में भी सुरति-निरति का परिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है—

सुरति समांणीं निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वंभ दुवार ॥[2]

डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने इस उद्धरण में सुरति को प्राप्ता आत्मा एवं निरति को प्राप्तव्य आत्मा बताया है और इनके तादात्म्य से परमार्थ कहा है।[3] सुरति और निरति का यह अर्थ नाथ-योगियों की परम्परा के निकट ही है, जिसका परिचय हम कुछ पूर्व दे चुके हैं। नाथयोगियों की भांति ही कबीर ने भी निरति के 'निरधार' या निरावलम्ब होने का स्पष्ट उल्लेख किया है।

कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में सुरति एवं मन को दो भिन्न वस्तुएं बताया गया है—

सुरति ढीकुली लेजल्यौ, मन नित ढोलनहार।
कंवल कुवां में प्रेम रस, पीवै बारंबार ॥[4]

१—गोरखबानी, पृ० २००।
२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४।
३—कबीर की विचारधारा, पृ० २८२।
४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८।

पर गुलाल साहब डंके की चोट पर भीखा से कहते हैं कि सुरति ही मन है—

भीखा यही सुरति मन जानो। सत्य एक दूसर मति मानो ॥[1]

संत-काव्य में मन के अर्थ में सुरति का प्रयोग बहुत कम मिलता है। वस्तुत: मन सुरति को शब्दोन्मुख न होने देने वाले तत्व के रूप में प्रस्तुत किया गया। तुलसी साहब ने 'मन कृत द्वैत वो राह न पाया'[2] द्वारा यह भाव ही व्यक्त किया है कि मन के आधीन जीवात्मा भेददृष्टि के कारण ब्रह्म से वियुक्त रहता है।

तुलसी साहब

तुलसी साहब ने मुख्यरूप से 'सुरति' का प्रयोग आत्मा या जीवात्मा के अर्थ में किया है--

(क) जब से सुरति आइ जग माई। बन्धन काल भई भौ आई ॥[3]

(ख) आई आई सखी सुलछ स्तुति लेन। भौसागर भई अति बेचैन ॥[4]

(ग) घट में सुरति आदि से आई। नाम निअच्छर अच्छ नाहीं ॥[5]

(घ) सुरति आदि घर छांड़ि कै। फिरै मनगुन की लार।
जगत जाल बिच फंस रही। क्यों कर उतरै पार ॥[6]

अन्यत्र तुलसी साहबने स्पष्ट शब्दों में सुरति को आत्म अथवा जीवात्मा कहा है—

(क) सुरति नाम आतमा सोई। सो अंदर हेरा नहिं कोई ॥[7]

(ख) जिव आतम सोइ सुरति कहाई। या को तेज जोति ठहराई ॥[8]

एक स्थल पर संत तुलसी ने सुरति का प्रयोग स्मृति या स्मरण के अर्थ में भी किया है—

१—महात्माओं की बानी, पृ० १९९।
२—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० २५।
३—वही वही, पृ० ९०।
४— ,, ,, ९०।
५— ,, ,, १२९।
६— ,, ,, ९२।
७—रत्नसागर, पृ० १४।
८—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १७३।

आधी रात फरक जब पाई। तब तसमे को सूरत आई ॥[1]

संत तुलसी ने वज्रयानी सिद्धाचार्यों के अनुसार सुरति का प्रयोग प्रेम क्रीड़ा के अर्थ में भी किया है-

आली सुरत संग कीन्हा। पिया वस रस पीना।
केल करत रस रतियां बिताई ॥[2]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि तुलसी साहब ने सुरति शब्द का आत्मा, जीवात्मा, स्मृति एवं प्रेम क्रीड़ा के अर्थों में प्रयोग किया है।

संत तुलसी ने सुरति-निरति का साथ-साथ प्रयोग नाथ-पंथी साधकों की पद्धति पर ही किया है। इसका सम्बन्ध सुरति शब्द योग से है। सुरति (आत्मा) का शब्द (ब्रह्म) से साक्षात्कार निरति है। इसी को ध्यान में रखकर तुलसी साहब ने 'नाही के समय में सुत निरताई जाई'[3] कहा है। वस्तुतः निरति सुरति की शब्दयुक्त अवस्था का द्योतक है। इसी को लक्ष्य करके सन्त तुलसी ने कहा है कि सुरति शब्द को देखकर निरत हो गई-

अधर उधर विच सुरति समानी। निरखा शब्द निरत अलगानी ॥[4]

अन्यत्र उन्होंने आकाश में सुरति के निरति होने की चर्चा द्वारा इसी भाव की पुनरावृत्ति की हैं-

राति और दिवसा छिन छिन वासा। सुरति अकासा निरति रही ॥[5]

घटरामायण में तुलसी साहब ने स्पष्ट कहा है कि 'सुरति की निरति साहिब के शब्द में है।'[6] इससे प्रमाणित हो जाता है कि तुलसी साहब के अनुसार सुरति का शब्दज्ञान उसकी निरति है। वस्तुतः संसारी आत्मा सुरति है, यही ब्रह्मज्ञान से निरति कहलाती हैं। हमने प्रारम्भ में ही यह लक्ष्य किया है कि इसी निरति को नाथपंथी निरवलम्ब या द्वैतमुक्त अवस्था कहते हैं एवं कबीर ने इसी को 'निरधार' कहा है। तुलसी साहब भी निरति के द्वारा जीवात्मा के

१—रत्नसागर, पृ० १३५।
२—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २१८।
३—शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २२१।
४—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ८७।
५—वही वही, पृ० ५९।
६—वही, प्रथम भाग, पृ० ४२।

द्वैतविवर्जन का बोध कराते हैं। निम्नलिखित उद्धरण में उन्होंने 'राह लये' द्वारा सुरति के निरति होकर निजरूप में अवस्थित होने का उल्लेख किया है-

सूरति सत सानी अगम समानी। जाइ निरानी राह लये ॥[1]

इस प्रकार तुलसी साहब के अनुसार 'सुरति' जीवात्मा है, निरति सुरति की मोक्षावस्था-बोधक शब्द है।

अजपा

राघवभट्ट ने 'शारदातिलक तंत्र' में 'वायवीय संहिता' से उद्धरण देते हुए जप के तीन प्रकार उच्च, उपन्गशु एवं मानस का उल्लेख किया है।[2] उच्च और उपन्गशु में बाह्यक्रिया है तथा मानस आभ्यान्तरिक क्रिया युक्त है।[3] इसके विपरीत जिस जप में किसी प्रकार की क्रिया न हो, उसे 'अजपा' कहते हैं। वस्तुतः अजपा स्वतः होने वाला जप है।

नाथमत

आकर्षणात्मक 'ह' और विकर्षणात्मक 'स' इन दो अक्षरों के योग से जिस हंस शब्द की उत्पत्ति होती है। उसी को योगशास्त्र में हंस मंत्र सोहं मंत्र अजपा मंत्र, अनाहत मंत्र तथा अजपा गायत्री[4] आदि कहा गया है। इसी का वर्णन करते हुए गोरक्ष पद्धति में कहा गया है कि श्वास हकार के द्वारा बाहर जाता है और सकार से भीतर आता है। इस प्रकार जीव 'हंस' मंत्र का सर्वदा जप करते हैं—

हकारेण बहिर्यानि सकारेण विशेतु पुनः।
हंस हसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥[5]

गोरक्षपद्धति में इसका महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि अजपा-गायत्री योगियों को मोक्ष देने वाली है, इसके संकल्पमात्र से योगी समस्त पापों से छूट जाता है। इसके समान कोई विद्या नहीं, इसके समान कोई जप नहीं, इसके समान कोई ज्ञान न पहले था और न भविष्य में होने वाला है—

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १०२।
२—शारदातिलक, की टीका १६।५४।
३—वही वही वही।
४—योगमार्तण्ड, श्लोक ३३।
५—गोरक्षपद्धति, १।४२।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्य: संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥[१]

गोरक्षनाथ की भाषा रचनाओं में भी 'अजपा' का उल्लेख प्राप्त होता है ।[२] 'गोरख बानी' में 'शून्य' में मन धारण करके अजपा जाप की चर्चा की गई है—

अजपा जपै सुंनि मन धरे, पांचो इंद्री निग्रह करे ।
ब्रह्म अगनि में होमे काया, तास महादेव बंदे पाया ॥[३]

निर्गुणमत

कबीर आदि निर्गुण सन्त-कवियों ने भी अजपा का वर्णन किया है। कबीर ने गोरक्षनाथ की भांति ही शून्य में अजपा की चर्चा की है–

अजपा जपति सुंनि अभिअंतरि, यहु तत जानैं सोई ॥[४]

अन्यत्र कबीर ने अजपा की व्याख्या करते हुए इसे जप का वह प्रकार माना हैं जिसमें हाथ और जीभ कोई क्रिया नहीं करती और मन पंगु अर्थात् अचंचल हो जाता है--

अजपा सुमिरन होत है सुन मंडल अस्थान ।
कर जिव्वा तहां ना चले मन पंगु तहं जान ॥[५]

नानक ने 'स्वास स्वासं प्रभु तुमहि धियावउं'[६] कह कर स्वास प्रश्वास के द्वारा सम्पन्न होने वाले अजपा की ही चर्चा की है । दादूदयाल ने 'तह बिन कर बाजे बैन, जिभ्याहीणे गावणे'[७] द्वारा इसी अनाहत जप का वर्णन किया है :

तुलसी साहब

तुलसी साहब ने भी पूर्ववर्ती सन्तों की भांति ही अजपा का वर्णन किया है। उन्होंने संक्षिप्त एवं सांकेतिक रूप से केवल चार पांच स्थलों पर

१—गोरक्षपद्धति, १।४४–४५ ।
२—गोरखबानी, पृ० ७,१०२,११६,११६ ।
३—वही, पृ० ७ ।
४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५९ ।
५—कल्याण साधनांक, पृ० ६०१–६०२ में उद्धृत ।
६—वही वही ।
७—दादू दयाल की बाणी, प्रथम भाग, पृ० ५१ ।

इसका उल्लेख किया है। अतएव उनकी रचनाओं में अजपा के लक्षणों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता है। पर कुछ संकेत अवश्य प्राप्त हैं जिनके आधार पर तुलसी साहब के अजपा सम्बन्धी मन्तव्य को प्रकाशित किया जा सकता है। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि अजपा में क्रिया तथा उच्चारण नहीं होता--

वंकनाल पल पल नल खोली, गति अजपा नहिं बोली हो।[1]

इसमें 'गति अजपा नहिं बोली' के द्वारा तुलसी साहब ने इस जप को क्रियावियुक्त बताया है। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि योगमत के अनुसार अजपा श्वास प्रश्वास के द्वारा सम्पन्न होने वाला स्वतः जप है जिसमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। अतएव तुलसी साहिब वर्णित अजपा का लक्षण योग शास्त्रसम्मत ही है।

अन्यत्र तुलसी साहब ने सुरति या जीवात्मा द्वारा अजपा जाप का उल्लेख किया है-

सुंदर सुख सन्मुख सूरज के, सूरति अजपा जपना।[2]

अजपा का यह लक्षण भी शास्त्रसम्मत है। इस प्रसंग के प्रारम्भ में ही 'गोरक्षपद्धति' के आधार पर हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि अजपा का जाप सब जीव सर्वदा करते रहते हैं। इसके लिए किसी प्रयत्न अथवा क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। उपर्युक्त उद्धरण में तुलसी साहब ने ब्रह्मानुभूति के प्रसंग में जीवात्मा द्वारा अजपा का वर्णन किया है। प्रायः इसी भाव को व्यक्त करते हुए दादू के शिष्य रज्जबदास ने कहा है-

मुख सों भजे सो मानवा, दिल सों भजे सो देव।
जीव सों जपे सो ज्योति में, रज्जब सांची सेव॥[3]

वस्तुतः इस उद्धरण में 'जीव सों जपे सो ज्योति में' द्वारा रज्जब ने अजपा के द्वारा ब्रह्मानुभूति का वर्णन ही किया है। संत तुलसी ने भी 'हाल मिले री आली अजपा रट में'[4] कहकर इसी विचार की पुष्टि की है कि अजपा द्वारा ब्रह्मानुभूति सहज सम्भव है।

१--घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३१।
२--शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १३३।
३--सर्वांगी, १९।२।
४--शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १३१।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्य: संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥[1]

गोरक्षनाथ की भाषा रचनाओं में भी 'अजपा' का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] 'गोरख बानी' में 'शून्य' में मन धारण करके अजपा जाप की चर्चा की गई है—

अजपा जपे सुंनि मन धरे, पाँचो इंद्री निग्रह करे ।
ब्रह्म अगनि में होमे काया, तास महादेव बंदे पाया ॥[3]

निर्गुणमत

कबीर आदि निर्गुण सन्त-कवियों ने भी अजपा का वर्णन किया है । कबीर ने गोरक्षनाथ की भांति ही शून्य में अजपा की चर्चा की है--

अजपा जपति सुंनि अभिअंतरि, यहु तत जानै सोई ॥[4]

अन्यत्र कबीर ने अजपा की व्याख्या करते हुए इसे जप का वह प्रकार माना है जिसमें हाथ और जीभ कोई क्रिया नहीं करती और मन पंगु अर्थात् अचंचल हो जाता है--

अजपा सुमिरन होत है सुन मंडल अस्थान ।
कर जिव्हा तहां ना चले मन पंगु तहं जान ॥[5]

नानक ने 'स्वास स्वासं प्रभु तुमहि धियावउं'[6] कह कर श्वास प्रश्वास के द्वारा सम्पन्न होने वाले अजपा की ही चर्चा की है । दादूदयाल ने 'तह बिन कर बाजे बैन, जिम्याहीणे गावणे'[7] द्वारा इसी अनाहत जप का वर्णन किया है :

तुलसी साहब

तुलसी साहब ने भी पूर्ववर्ती सन्तों की भाँति ही अजपा का वर्णन किया है। उन्होंने संक्षिप्त एवं सांकेतिक रूप से केवल चार पांच स्थलों पर

१—गोरक्षपद्धति, १।४४–४५ ।
२—गोरखबानी, पृ० ७,१०२,११६,११६ ।
३—वही, पृ० ७ ।
४—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५९ ।
५—कल्याण साधनांक, पृ० ६०१–६०२ में उद्धृत ।
६—वही वही ।
७—दादू दयाल की वाणी, प्रथम भाग, पृ० ५१ ।

इसका उल्लेख किया है। अतएव उनकी रचनाओं में अजपा के लक्षणों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता है। पर कुछ संकेत अवश्य प्राप्त हैं जिनके आधार पर तुलसी साहब के अजपा सम्बन्धी मन्तव्य को प्रकाशित किया जा सकता है। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि अजपा में क्रिया तथा उच्चारण नहीं होता--

बंकनाल पल पल नल खोली, गति अजपा नहिं बोली हो।[1]

इसमें 'गति अजपा नहिं बोली' के द्वारा तुलसी साहब ने इस जप को क्रियावियुक्त बताया है। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि योगमत के अनुसार अजपा श्वास प्रश्वास के द्वारा सम्पन्न होने वाला स्वतः जप है जिसमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। अतएव तुलसी साहिब वर्णित अजपा का लक्षण योग शास्त्रसम्मत ही है।

अन्यत्र तुलसी साहब ने सुरति या जीवात्मा द्वारा अजपा जाप का उल्लेख किया है-

सुंदर सुख सन्मुख सूरज के, सूरति अजंपा जपना।[2]

अजपा का यह लक्षण भी शास्त्रसम्मत है। इस प्रसंग के प्रारम्भ में ही 'गोरक्षपद्धति' के आधार पर हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि अजपा का जाप सब जीव सर्वदा करते रहते हैं। इसके लिए किसी प्रयत्न अथवा क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। उपर्युक्त उद्धरण में तुलसी साहब ने ब्रह्मानुभूति के प्रसंग में जीवात्मा द्वारा अजपा का वर्णन किया है। प्रायः इसी भाव को व्यक्त करते हुए दादू के शिष्य रज्जबदास ने कहा है-

मुख सों भजे सो मानवा, दिल सों भजे सो देव।
जीव सों जपे सो ज्योति में, रज्जब सांचो सेव ॥[3]

वस्तुतः इस उद्धरण में 'जीव सों जपे सो ज्योति में' द्वारा रज्जब ने अजपा के द्वारा ब्रह्मानुभूति का वर्णन ही किया है। संत तुलसी ने भी 'हाल मिले री आली अजपा रट में'[4] कहकर इसी विचार की पुष्टि की है कि अजपा द्वारा ब्रह्मानुभूति सहज सम्भव है।

१—घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ३१।
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १३३।
३—सर्वांगी, १९।२।
४—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १३१।

इनका अर्थ यह है कि काल से छूटने के लिए साधक को सुषुम्ना सम करनी चाहिए। प्राणवायु के प्रवेश से सुषुम्ना नाड़ी सम होती है। योगमत में यह अनेक बार कहा गया है कि साधक प्राण या पवन का सुषुम्ना में प्रवेश कराके काल के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसीलिए योग में सुषुम्ना को ब्रह्म नाड़ी कहा गया है। कबीर जब बंकनाल को सम करके आवागमन से मुक्त होने की चर्चा करते हैं तो उनका अभिप्राय सुषुम्ना द्वारा ब्रह्मानुभूति ही है।

अन्यत्र कबीर ने 'चंद सूर दोइ खंभवा, बकुंनालि की डोर'[1] कहकर इस प्रसंग को और भी स्पष्ट कर दिया है। इस प्रसंग में चन्द्र और सूर्य इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ हैं। इनके मध्य स्थित बंकनाल सुषुम्ना है जिसके द्वारा समाधि सिद्ध होती है। लगभग इसी पद्धति पर दरिया साहब (बिहार) ने भी वर्णन किया है। इसमें बंकनालि की डोर के स्थान पर सुखमनि लागलि डोरि है भी—

सत्त सुकृत दुनौ खंभा हो. सुखमनि लागलि डोरि।[2]

धर्मदास ने सुषुम्ना द्वारा पवन के ऊर्ध्वगमन को ध्यान में रखकर ही अपनी रचनाओं में बंकनाल को सीढ़ी कहा है—

धरती है मस्तूल तंबु असमान हैं।
नौ लख जरत मसाल, सीढ़ी बंकनाल है॥[3]

दरिया साहब ने 'सुखमनि लागलि डोरि' के साथ कबीर के अनुसार बंकनाल की डोरी खींचने की चर्चा भी की है—

(क) बंकनाल गहि खैंचे सूल।
चमके बिजुली मीती बहुत॥[4]

(ख) बंकनाल की डोरी खींचे, जोगी जुगुति बखाना।[5]

(ग) बंक नाल की डोरी खींचे, उलटि दुवादस नाधा॥[6]

१—कबीर ग्रन्थावली पृ० ९४।
२—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ३८।
३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४३।
४—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० २२।
५— ,, ,, ,, ४६।
६— ,, ,, ,, ४८।

अन्तिम उद्धरण में द्वादश पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में बांधने का उल्लेख स्पष्ट कर देता है कि यहां बंकनाल का प्रयोग सुषुम्ना के लिए किया गया है क्योंकि पवन सुषुम्ना मार्ग से ही परमपद में पहुंचता है।

तुलसी साहब

संत तुलसी ने भी बंकनाल का प्रयोग सुषुम्ना के अर्थ में किया है। मिम्नलिखित उद्धरण में प्राणवायु का साधक की विभिन्न क्रियाओं द्वारा बंकनाल या सुषम्ना के भीतर प्रविष्ट होना एवं सहस्रादल कमल तक पहुंचना उल्लिखित है—

स्वांसा धाइ बंक खुल खोले, सहस कंवल दल पाई।[1]

अन्यत्र उन्होंने बंकनाल के पथ से किंकिणी, बीन, शंख और शहनाई सुनने की चर्चा की हैं जी वस्तुतः सुषुम्ना—पथ में प्राण के प्रवेश करने पर साधक के नाद-श्रवण से मन्तव्य रखती है-

किंगरी बीन संख सह्नाई, बंक नाल की बाट।[2]

एक स्थल पर उन्होंने बंकनाल के पट या द्वार का पवन के द्वारा भेदे जाना वर्णन किया है-

इंगल पिंगल बिच पौन किवारी, बंकनाल पट फारि दिये॥[3]

यहां इड़ा पिंगला के मध्य स्थित बंकनाल सुषुम्ना के अवरुद्ध द्वार को खोलकर प्राण का ऊर्ध्वगमन वर्णित है।

एक स्थल पर तो तुलसी साहब ने स्पष्ट कहा है कि सुषुम्ना को बंक या बंकनाल समझना चाहिए—

इंगल पिंगल समीर से, सुखमनि बंक बिचार।[4]

इससे यह स्पष्ट हो गया कि तुलसी साहब भी बंकनाल का प्रयोग सुषुम्ना के परम्परागत अर्थ में ही करते हैं। पर बंकनाल का एक दूसरा अर्थ भी संत तुलसी की रचनाओं में प्राप्त है। उन्होंने बंकनाल का प्रयोग एक नहीं अनेक बार कुण्डलिनी के अर्थ में किया है। आगे के उद्धरणों पर विचार करने से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा—

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६

२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२१।

३— ,, ,, पृ० ११०।

४— ,, ,, पृ० ११२।

इनका अर्थ यह है कि काल से छूटने के लिए साधक को सुषुम्ना सम करनी चाहिए। प्राणवायु के प्रवेश से सुषुम्ना नाड़ी सम होती है। योगमत में यह अनेक बार कहा गया है कि साधक प्राण या पवन का सुषुम्ना में प्रवेश कराके काल के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसीलिए योग में सुषुम्ना को ब्रह्म नाड़ी कहा गया है। कबीर जब बंकनाल को सम करके आवागमन से मुक्त होने की चर्चा करते हैं तो उनका अभिप्राय सुषुम्ना द्वारा ब्रह्मानुभूति ही है।

अन्यत्र कबीर ने 'चंद सूर दोइ खंभवा, बकुंनालि की डोर'[1] कहकर इस प्रसंग को और भी स्पष्ट कर दिया है। इस प्रसंग में चन्द्र और सूर्य इड़ा और पिंगला नाड़ियां हैं। इनके मध्य स्थित बंकनाल सुषुम्ना है जिसके द्वारा समाधि सिद्ध होती है। लगभग इसी पद्धति पर दरिया साहब (बिहार) ने भी वर्णन किया है। इसमें बंकनालि की डोर के स्थान पर सुखमनि लागलि डोरि है भी—

सत्त सुकृत दुनौ खंभा हो. सुखमनि लागलि डोरि।[2]

धर्मदास ने सुषुम्ना द्वारा पवन के ऊर्ध्वगमन को ध्यान में रखकर ही अपनी रचनाओं में बंकनाल को सीढ़ी कहा है—

धरती है मस्तूल' तंबु असमान हैं।
नौ लख जरत मसाल, सीढ़ी बंकनाल है॥[3]

दरिया साहब ने 'सुखमनि लागलि डोरि' के साथ कबीर के अनुसार बंकनाल की डोरी खींचने की चर्चा भी की है—

(क) बंकनाल गहि खैंचे सूत।
चमके बिजुली मोती बहुत॥[4]

(ख) बंकनाल की डोरी खींचे, जोगी जुगुति बखाना।[5]

(ग) बंक नाल की डोरी खीचे, उलटि दुवादस नांधा॥[6]

१—कबीर ग्रन्थावली पृ० ९४।

२—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ३८।

३—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४३।

४—दरिया साहब की शब्दावली, पृ० २२।

५— ,, ,, ,, ५६।

६— ,, ,, ,, ४८।

अन्तिम उद्धरण में द्वादश पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में बांधने का उल्लेख स्पष्ट कर देता है कि यहां बंकनाल का प्रयोग सुषुम्ना के लिए किया गया है क्योंकि पवन सुषुम्ना मार्ग से ही परमपद में पहुंचता है।

तुलसी साहब

संत तुलसी ने भी बंकनाल का प्रयोग सुषुम्ना के अर्थ में किया है। निम्नलिखित उद्धरण में प्राणवायु का साधक की विभिन्न क्रियाओं द्वारा बंकनाल या सुषम्ना के भीतर प्रविष्ट होना एवं सहस्रादल कमल तक पहुंचना उल्लिखित है—

स्वांसा धाइ बंक खुल खोले, सहस कंवल दल पाई।[1]

अन्यत्र उन्होंने बंकनाल के पथ से किंकिणी, वीन, शंख और शहनाई सुनने की चर्चा की है जो वस्तुतः सुषुम्ना—पथ में प्राण के प्रवेश करने पर साधक के नाद-श्रवण से मन्तव्य रखती है-

किंगरी बीन संख सहनाई, बंक नाल की वाट।[2]

एक स्थल पर उन्होंने बंकनाल के पट या द्वार का पवन के द्वारा भेदे जाना वर्णन किया है-

इंगल पिंगल बिच पौन किवारी, बंकनाल पट फारि दिये॥[3]

यहां इड़ा पिंगला के मध्य स्थित बंकनाल सुषुम्ना के अवरुद्ध द्वार को खोलकर प्राण का ऊर्ध्वगमन वर्णित है।

एक स्थल पर तो तुलसी साहब ने स्पष्ट कहा है कि सुषुम्ना को बंक या बंकनाल समझना चाहिए-

इंगल पिंगल समीर से, सुखमनि बंक बिचार।[4]

इससे यह स्पष्ट हो गया कि तुलसी साहब भी बंकनाल का प्रयोग सुषुम्ना के परम्परागत अर्थ में ही करते हैं। पर बंकनाल का एक दूसरा अर्थ भी संत तुलसी की रचनाओं में प्राप्त है। उन्होंने बंकनाल का प्रयोग एक नहीं अनेक बार कुण्डलिनी के अर्थ में किया है। आगे के उद्धरणों पर विचार करने से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा—

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ६
२—शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० १२१।
३— „ „ पृ० ११०।
४— „ „ पृ० ११२।

जिस युग में तुलसी साहब का अभ्युदय हुआ, इतिहास में वह भारतीय राजनीतिक जीवन का अवनति काल माना गया है। इस समय देश अनेक स्वतंत्र सत्ताओं में विभाजित था। इनमें दिल्ली का मुगलराज्य वंश एवं पश्चिमी-दक्षिणी भारत के मराठे मुख्य थे। आन्तरिक संघर्ष द्वारा एवं पारस्परिक ईर्ष्या तथा द्वेष के कारण देखते--देखते मुगल और मराठों को अंग्रेजी शक्ति के संगठित नवोत्थान के सम्मुख नत होना पडा। धीरे धीरे प्रायः समस्त देश विदेशियों के आधीन हो गया। राजनीतिक जीवन के इस पराभव का प्रभाव देश के आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ा। देश की आर्थिक सम्पन्नना—विपन्नता में बदल गई। समाज के नियम अधिकाधिक कठोर होने लगे एवं सांस्कृतिक जीवन में अवनति आ गई। नूतन संस्कृति से सम्पर्क रखने वाले प्रदेशों में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे, किन्तु अधिकांश देश में एक प्रकार की जड़ता छा गई। यह जड़ता सर्वाधिक धार्मिक जीवन में प्रकट हुई। धर्म के क्षेत्र में आत्मविश्वास कम रह गया, प्रथा पालन अधिक। जनता कर्मकाण्ड एवं वाह्याचार पालन को ही धर्म का श्रेय एवं प्रेय समझ कर कर्म एवं आचार के मार्ग पर अन्धाधुन्ध चली जा रही थी। उसका गन्तव्य क्या है और कहां है, इसकी चिन्ता किसी को न थी। समस्त समाज संधान-विहीन साधना में पड़ा था। इसी समय सन्त तुलसी ने कर्मकाण्ड, एवं व्राह्याचारवियुक्त सहज धर्म मार्ग का प्रस्ताव जनता के सामने रखा। यह उनका काई नवीन मतवाद न था। पूर्ववर्ती सन्तों से यह सहज धर्म उन्हें विरासत में मिला था। उन्होंने ने केवल समय की आवश्यकता के अनुसार उस मन्द पड़ते लोक धर्म को पुनरुज्जीवित कर दिया। सहज, सरल लोक धर्म के इस पुनरुज्जीवन से तत्कालीन धार्मिक वातावरण की जड़ता यथेष्ठ दूर हुई। सन्त मत में विश्वास रखने वाला जनता का एक बड़ा भाग नये विश्वास से आश्वस्त हुआ। इसी से सन्त तुलसी के महत्व का अनुमान किया जा सकता है।

संत तुलसी की कृतियों की संख्या अधिक नहीं है। उन्होंने 'घटरामायण' 'रत्नसागर' और शब्दावली के अतिरिक्त अपूर्ण 'पद्मसागर' की रचना की। इन ग्रन्थों में उन्होंने अपने दार्शनिक, धार्मिक, एवं साधना सम्बन्धी विचारों को व्यक्त किया है। हम यह कह सकते हैं कि ग्रन्थों की संख्या अधिक न होने पर भी उनकी रचनाओं में वे समस्त दार्शनिक, धार्मिक एवं साधना सम्बन्धी तत्व आ गये हैं, जो निर्गुण काव्य के परम्परागत प्रतिपाद्य हैं। उन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत, माया कर्म—पुनर्जन्म, मन, काल, भक्ति, ज्ञान अवतार, जीवन मुक्ति आदि दार्शनिक विचारों को भली—भांति व्यक्त किया है। धार्मिक

विचारों में वाह्याचार एवं कर्मकाण्ड रहित सहज धार्मिक जीवन के आदर्श को उनकी वाणी ने पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनके ग्रन्थों में साधना के योग सम्बन्धी तत्व भी उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सन्त तुलसी की रचनाओं की संख्या अधिक न होने पर भी अध्यात्म के समस्त प्रसंग उनकी सीमा में आ गये हैं। इसने उनकी सीमा में असीम को व्यक्त करने की अद्भुत् सामर्थ्य का परिचय प्राप्त होता है।

सन्त तुलसी का काव्यादर्श सन्तों के परम्परागत काव्यादर्श का अनुयायी है। उनकी रचना का उद्देश्य दर्शन का निरूपण है। समस्त परिवर्तनशील, अनित्य नाम रूप के मूल से प्रतिष्ठित अव्यय-तत्व को प्रकाशित करने के निमित्त ही उनकी वाणी ने काव्य का रूप धारण किया है। अतएव काव्य के शास्त्रीय पक्ष पर उनकी दृष्टि नहीं रही है। उन्होंने तो प्रभु के यशोगान से ही परितृप्ति प्राप्त की है। रस-अलंकार एवं छन्द का सौन्दर्य प्रतिपादित करना उनका तथ्य नहीं है। भाषा को सजा-संवार कर सौष्ठव प्रदान करने में उनकी आस्था नहीं है। तथापि उनकी रचनाएं काव्य के कोमल स्पर्श से नितान्त वियुक्त नहीं हैं। उनकी श्रृंगार सम्बन्धी उक्तियां बड़ी प्रभावात्मक हैं। वियोग श्रृंगार के वर्णन में सन्त तुलसी ने गहरी भावुकता का परिचय दिया है। उनके काव्य का विरह सम्बन्धी अंश अनुभूति की उत्कटता की दृष्टि से निर्गुण काव्य में विशिष्ट स्थान रखता है, किन्तु उनकी कृतियों में प्राप्त काव्य तत्व प्रयास या चेष्टा का परिणाम नहीं है। यह तो स्वतः उत्पन्न सौन्दर्य है जो आत्मा और परमात्मा के मिलन-वियोग की कल्पना से उद्भूत हुआ है। इसके लिए न शास्त्राभ्यास वांछनीय है, न काव्यशास्त्र के नियमों का पालन। अन्तरालवर्तिनी प्रगाढ़ अनुभूति ही इसका आधार है।

दोष और न्यूनता कुछ न कुछ प्रत्येक व्यक्ति में होती है। यह स्वाभाविक भी है। सन्त तुलसी में भी दोष रहे होंगे। संभव है कि अभ्यास और अनुभव की कमी के कारण तुलसी साहब के अध्येता को उनके विचारों में जटिलता ज्ञात हो, संभव है कि तुलसी साहब ने शब्दों की तोड़-मरोड़ की हो। संभव है कि श्लिष्ट अर्थ के निमित्त उन्होंने शब्दों का मनमाना रूप गढ़ा हो। यदि दोष-दर्शन ही हमरा प्रतिपाद्य होता तो इसकी ओर उन्मुख भी होना पड़ता। पर आत्मदर्शन के प्रसंग में दोष-दर्शन का क्या सम्बन्ध ? हम तो यह यह जानते है कि सन्त तुलसी ने निर्गुण काव्य की परम्परागत भावना को पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ प्रकट किया है। इसी शक्ति ने उनकी रचना की दुर्बलताओं को आवृत कर रखा है।

काव्य का प्रयोजन लोकहित है। सत् काव्य का प्रयोजन निश्चय ही लोक कल्याण है। लोक कल्याण का अभिप्राय आध्यात्मिक अर्थ में अपवर्ग या मुक्ति है एवं लौकिक अर्थ में वर्तमान जीवन का योग-क्षेम है। निर्गुण काव्य की इन दोनों दृष्टियों से उपयोगिता है। एक ओर तो समस्त संसार की अनित्यता के प्रति व्यक्ति को उदासीन करके संत काव्य उसके मोक्ष का प्रस्ताव करता है. दूसरी ओर वर्तमान जीवन को सहज, सुन्दर एवं स्वाभाविक बनाने के निमित्त वह दया, अहिंसा, सत्य, सच्चरित्रता, प्रेम, भ्रातृभाव, सर्वजनीन एकता इत्यादि के आचरण पर ज़ोर देता है। सन्त तुलसी का काव्य भी लोक कल्याण की उपर्युक्त भावनाओं से युक्त है। उन्होंने इस असार संसार के मूल में निहित सार तत्व परब्रह्म को शब्द द्वारा प्रकाशित करके मुक्ति-पथ का निर्देश किया एवं सदाचार, न्याय, नीति, सत्य, अहिंसा इत्यादि के प्रति लोक का आवाह्न किया। सन्त तुलसी की लोक कल्याण सम्बन्धी भावना इतनी उत्कट है कि उन्होंने अपने काव्य के अनेक स्थलों पर कपट-धर्मियों के कपटाचरण का तीव्र एवं व्यंग्यमयी भाषा द्वारा अनावरण किया है। लोक कल्याण की भावना से ही प्रेरित होकर उन्होंने पुनः पुनः मानव मात्र की समानता का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः मनुष्य की समानता का सिद्धान्त लोक-कल्याण की भावना का मूलाधार है। इस प्रकार सन्त तुलसी के काव्य में लोक-कल्याण की भावना पूर्णरूपेण विद्यमान है। यही सन्तों का वह *मानवतावाद* है जिसने विद्वानों का ध्यान सर्वदा आकर्षित किया है। तुलसी साहब के काव्य में भी संतों का यह मानवतावाद पूर्ण प्रतिष्ठित है।

परिशिष्ट १

पूर्वजन्म-चरित्र का खण्डन

'घटरामायण' द्वितीय भाग के अन्त में 'पूर्व जन्म का हाल' शीर्षक के अन्तर्गत तुलसी साहब के पूर्व जन्म का वृतान्त प्रस्तुत किया गया है। यह वृतान्त निम्नलिखित है।

तुलसी साहब का पूर्वजन्म चरित्र

'घटरामायण' में प्रतिपादित पूर्वजन्म चरित्र के अनुसार—

(क) सम्वत् १५८९ भादों सुदी मंगल एकादशी को बुन्देलखण्ड में चित्रकूट से दस कोस पर यमुना नदी के किनारे राजापुर में इनका जन्म हुआ था।[1]

(ख) इनकी जाति कान्यकुब्ज ब्राह्मण थी।[2]

(ग) ये स्त्री के प्रेम में मग्न रहते थे।[3]

१—राजापुर जमुना के तीरा। जहं तुलसी का भया सरीरा॥
विधि बुन्देल खण्ड वोहि देसा। चित्रकोट बीच दस कोसा॥
सम्वत पन्द्रा से नावासी। भादौं सुदी मंगल एकादसी॥
—घटरामायण, द्वतीय भाग, पृ० १८६।

२—ज्ञान हीन रस रंग संग माता। कान्हकुब्ज बाम्हन मोरी जाता॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८६।

३—तिरिया वरत भाव मन राता। विधि विधि रीत चित्त संग साथा॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८६।

(घ) पर संत समागम की इच्छा भी विद्यमान थी।[१]

(ङ) सम्वत् १६१४ सावन सुदी नौमी को अर्द्धरात्रि में 'अगम का सौदा' हुआ।[२] अर्थात् इस तिथि को इन्हें ब्रह्मानुभूति हुई।

(ध) तत्पश्चात् लोक में प्रसिद्धि हुई और लोग दर्शनों को आने लगे।[३]

(छ) काशी निवासी हिरदे अहीर राजापुर में इनका सेवक था।[४]

(ज) हिरदे से आत्यन्तिक स्नेह होने के कारण ये स्वयं काशी नगर गए।[५]

(झ) काशी में सम्वत् १६१६ में पलकराय नानक पंथी के साथ इनकी गोष्ठी हुई।। पलकराय ने इनका मत ग्रहण कर लिया।[६]

१—एक विधी चित रहौं सम्हारे। मिलै कोइ संत फिरौं तेहि लारे।।
सन्त साथ मोहि नीका भावै। ज्ञान अज्ञान एक नहिं आवै।।
घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८६।

२—सम्बत् सोला सै थे चौधा। ता दिन भया अगम का सौदा।।
सावन सुदी नौमी तिथि वारी। आधी राति भई गति न्यारी।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८६।

३—ऐसे कइ दिन वीति सिराने। राजापुरी जगत सब जाने।।
लोग दरस कों नित नित आवैं। दरस भाव सबको उपजावैं।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८७।

४—हिरदे अहीर कासी का बासी। रहै राजापुर नौकर पासी।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८७

५—एक दिवस भइ ऐसी रीती। कासी गये बहुत दिन बीती।।
हमरा चित हिरदे में वासी। हम चलि गये नग्र जहं कासी।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८७।

६—सोला सै सोला में सोई। कातिक वदी पंचमी होई।।
आये पलकराग इकसंती। रहे कासी में नानक पंथी।।
गुष्टि भाव विधि उनसे कीन्हा। सुखी भये मारग को लीन्हा।।
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८८।

(न) सम्वत् १६१८ में इन्होंने 'घटरामायण' ग्रन्थ रचा।[1] इस निर्गुण मार्गी ग्रन्थ का काशी में बड़ा विरोध हुआ।[2]

(त) इस विरोध के कारण 'घटरामायण' को इन्होंने गुप्त कर दिया और इसके स्थान पर सम्वत् १६३१ में राम-रावण चरित्र का वर्णन करने वाली (सगुण) रामायण की रचना की। इससे जनता प्रसन्न हुई और विरोध शांत हुआ।[3]

(थ) इन्होंने वरुण नदी के तट पर सम्वत् १६८० श्रावण शुक्ला सप्तमी को शरीर त्यागा।[4]

उपर्युक्त 'पूर्व जन्म चरित्र' के मुख्य अंशों (क, ख, ग, त, थ) पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विवरण तुलसी साहब का पूर्व जन्म में गोस्वामी तुलसीदास प्रतिपादित करता है। तुलसी साहब के सम्प्रदाय में भी इनको पूर्व जन्म में गोस्वामी तुलसी दास का अवतार एवं सगुण रामायण (रामचरितमानस) का रचयिता माना जाता है।[5]

पूर्व जन्म चरित्र की परीक्षा

उपर्युक्त जीवन चरित्र की प्रामाणिकता पर विचार करते समय निम्नलिखित प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं—

१—घटरामायन ग्रन्थ बनावा। ताको विधि दिवस सब गावा॥
सम्मत सोलासै अठ्ठारा। उठी मौज ग्रन्थ कियो सारा॥
भादौं सुदी मंगल एकादशी। आरम्भ कियो प्रथम मन भासी॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८८।

२—पंडित भेष जात मिलि सारा। घटरामायन परी पुकारा॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८८।

३—ता से ग्रन्थ गुप्त हम कीन्हा। घटरामायन चलन न दीन्हा॥
जग में झगरा जाना भाई। रावन राम चरित्र बनाई॥
पंडित भेष जगत सब झारी। रामायन सुनि भये सुखारी॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८८।

४—सम्मत सोलासै असी, नदी बरुन के तीर।
सावन शुक्ला सत्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥
—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० १८८।

५—तुलसी संध्या वन्दन, पृ० १

१--क्या वास्तव में तुलसी साहब पूर्व जन्म में तुलसीदास के रूप में अवतरित हुए थे ?

२--क्या तब उन्होंने घटरामायण की रचना की थी ?

३--क्या घटरामायण के उपरांत सगुण रामाण (रामचरित मानस) प्रणीत की थी ?

'घटरामायण' के अन्तस्साक्ष्य से ही प्रमाणित हो जाता है कि तुलसी साहब का पूर्व जन्म चरित्र अप्रामाणिक और काल्पनिक है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा मन्तव्य सिद्ध हो जायगा।

१--'घटरामायण' वर्णित पूर्व जन्म चरित्र में तुलसी साहब को पूर्व जन्म में गोस्वामी तुलसीदास प्रचारित किया गया है। पर 'घटरामायण' ही में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि तुलसी साहब गोस्वामी तुलसीदास से भिन्न व्यक्ति है। 'घटरामायण' के एक स्थल पर तुलसी साहब ने कहा है कि 'समस्त संसार मुझसे कहता है कि 'तुलसीदास के राम' का आश्रय लो, किन्तु संतों सत्संग से मैंने एकमात्र परब्रह्म की उपासना ही की है--

मो को सब जगत कहत, तुलसी के राम टेक।
जाना निज एक अलेख संतन के लारा॥[1]

इस उदाहरण में मोको 'और 'तुलसी के राम' का प्रयाग सांकेतिक नहीं है, ये स्पष्ट सूचित करते हैं कि 'तुलसी साहब' और तुलसीदास भि व्यक्ति थे और तुलसी साहब ने स्वयं इस पृथकत्व का प्रतिपादन किया है। इससे यह भी प्रस्थापित हो जाता है कि पूर्वजन्म में तुलसी साहब को तुलसीदास विज्ञापित करना उनकी निजी कल्पना नहीं है, अपितु शिष्यों आदि की 'कार्य कुशलता' है।

२--पूर्व जन्म चरित्र में कहा गया है कि पूर्व जन्म काल में संत तुलसी ने पहले सन् १६१८ में 'घटरामायण' की रचना की, तत्पश्चात् सन् १६३१ में रामचरित मानस या सगुण रामायण प्रणीत की। तथाकथित पूर्ववर्ती रचना में परवर्तीरचना का उल्लेख अर्थात् 'घटरामायण' में 'मानस' की चर्चा मात्र इस कथन को अप्रामाणिकद्ध करती है कि प्रथम घटरामायण तत्पश्चात् सगुण रामायण लिखी गई। घटरामायण के अनेक स्थलों पर 'रामचरित-

---

१--घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ३१।

मानस और 'तुलसी के राम'[1] का खण्डन यह सिद्ध करता है कि 'घटरामायण' मानस परवर्ती रचना है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखि प्रसंग 'घटरामायण' को परवर्ती रचना प्रकट करते हैं:—

(क) पूर्व जन्म चरित्र में 'घटरामायण' का रचना काल सम्वत् १६१८ निर्दिष्ट हैं किन्तु घटरामायण में दरिया साहब का स्पष्ट उल्लेख है।[2] दरिया नाम के दो संत हुए हैं—दरिया बिहारी एवं दरिया मारवाड़ी। ये दोनों संत कवि दो विभिन्न प्रदेशों में एक साथ प्रकट हुये थे। इनका समय सम्वत् १७३१ से १८३७ के मध्य पड़ता है।[3] इस प्रकार ये दोनों कवि 'घटरामायण' के तथा-कथित रचना काल (सम्वत् १६१८) के बहुत पीछे हुए हैं। सन् १६१८ की कही जाने वाली रचना (घटरामायण) में परवर्ती सन्तों का पुनः पुनः उल्लेख यह सिद्ध करता है कि 'घटरामायण' तुलसी साहब के इसी जन्म की कृति है। 'पूर्व जन्म चरित्र' में रामचरित मानस के पहले इसके प्रणयन का प्रवाद नितान्त कल्पना है।

(ख) 'रामायण' में कबीर पन्थी ग्रन्थ 'अनुराग सागर' की चर्चा है। 'अनुरागसागर' का रचनाकाल सम्वत् १७५७ के निकट माना गया है।[4] इससे भी प्रमाणित होता है कि 'घटरामायण' ग्रन्थ सं० १६१८ में नहीं लिखा गया। वह सम्वत् १७५७ के उपरान्त की रचना है।

(ग) 'घटरामायण' में सिक्खों के दशम गुरु गोविन्दसिंह का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[5] गुरु गोविन्दसिंह का समय सम्वत् १७२३—१७६५ है।[6] यदि 'घटरामायण' वास्तव में सम्वत् १६१८ की रचना होती तो उसमें सौ वर्ष से भी पीछे हुए ऐतिहासिक पुरुष का उल्लेख संभव न था इससे यही सिद्ध होता है कि 'घटरामायण' सम्वत् १७६५ के उपरान्त लिखी गई।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व जन्म चरित्र के कथनानुसार 'घटरामायण' सम्बत् १६१८ की रचना नहीं है। इससे पूर्वजन्म

---

१ - घटरामायण, पृ० ३१,३२,४१,४२।
२—वही वही, पृ० ११।
३—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५७८ एवं सन्त कवि दरिया, पृ० ५।
४—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३९६।
५—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ०, १३५ एवं १७५।
६—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ३३३।

चरित्र का यह प्रवाद मिथ्या सिद्ध होता है कि यह कृति 'रामचरितमानस' के पूर्व लिखी गई है। वस्तुतः 'घटरामायण' तुलसी साहब के इसी जन्मकाल (सन् १७८८—१८४८ अर्थात् सम्बत् १८४५—१९०५) की रचना है जिसमें आवश्यकतानुसार पूर्ववर्ती व्यक्तियों और पूर्वरचित ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है।

३—'घटरामायण' के पूर्व जन्म चरित्र में कहा गया है कि पूर्वजन्म में तुलसी साहब ने 'रामचरितमानस' की रचना की थी। किन्तु 'घटरामायण' के अन्तर्गत ही कई स्थलों पर तुलसी साहब ने कहा है कि सगुण रामायण (रामचरितमानस) की रचना उन्होंने नहीं की है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरणों के रेखांकित अंशों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा कि स्वयं तुलसी साहब ने सगुण रामायण या मानस के कर्त्ता होने का प्रतिवाद किया है—

(क) मैं अति हीन दीन दारुनगति, घटरामायन बनाई।
रावन राम की जुद्धि लड़ाई, सो नहिं कीन्ह बनाई ॥[1]

(ख) घट रामायण माहिं अर्थ भेद अंदर सही।
रावन लंका राम, यह अकाम गति ना कही ॥[2]

(ग) दसरथ सीता नाहिं, भरत चत्रगुन ना कह्यो।
ये निरखो घट माहि बाहिर गति मति भरम है ॥[3]

(घ) नहिं राम अरु रावन यह गति पावन। अगुन सगुन गुन नाहिं कही ॥
कहि अवध कहानी अगम की बानी। वेद भेद गति नाहिं लई ॥[4]

उपर्युक्त उद्धरणों के रखांकित अंशों से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी साहब ने 'रामचरित मानस' के कर्ता होने का स्वयं प्रत्यख्यान किया है। संभव है कि नाम साम्य के कारण उनके जीवनकाल में ही उन्हें पूर्वजन्क में गोस्वामी जी का अवतार एवं मानस का कर्ता प्रचारित किया जाने लगा हो जिस कारण उन्होंने उपर्युक्त उद्धरणों में इस मिथ्या प्रचार का प्रात्याख्यान आवश्यक समझा।

१—घटरामायण, द्वितीय भाग, पृ० ७२।
२—वही, प्रथम भाग, पृ० ७२।
३—वही वही, पृ० ७२।
४—वही वही, पृ० २४।

पूर्व जन्म चरित्र अप्रमाणित

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'घटरामायण' के अन्त में तुलसी साहब के जिस पूर्व जन्म चरित का वर्णन है वह नितान्त काल्पनिक है। गणना से उसमें उल्लिखित तिथियाँ अशुद्ध सिद्ध हुई हैं।[1] यह तुलसी साहब का निजी कर्तृत्व नहीं है। उन्होंने तो स्पष्ट शब्दों में अपने को तुलसीदास से भिन्न प्रतिपादित किया है और पुनः पुनः कहा है कि सगुण रामायण उनकी रचना नहीं है। अतएव पूर्व जन्म चरित्र में उल्लिखित प्रवाद फैलाने के दोषी तुलसी साहब स्वयं नहीं हैं। यह अनुमान करना असंगत न होगा कि 'घटरामायण' का पूर्व जन्म प्रकरण प्रक्षेप है। यह उनके किसी अन्धश्रद्धालु शिष्य की कृपा ज्ञात होती है, जिसने अन्धश्रद्धा के आवेश में तुलसी साहब के नाम से पूर्व जन्म प्रकरण लिख कर 'घटरामायण' ग्रंथ के अन्त में जोड़ दिया। श्रद्धालु धर्मानुयायियों ने भी इस प्रवाद को धर्मवाणी का अंग समझ कर निकुंठ भाव से ग्रहण कर लिया। पर उपर्युक्त विवेचना से यह प्रमाणित हो गया है कि 'पूर्व जन्म प्रकरण' अप्रामाणिक एवं प्रक्षेप है। पं० परशुराम जी चतुर्वेदी,[2] डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल[3] एवं अन्य विद्वानों ने भी पूर्व जन्म चरित्र को प्रक्षेप माना है।

१—तुलसीदास, पृ० ५८।
२—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ६४८।
३—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ९०।
४—नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १५, पृ० ९२।

विवरण ही दिया है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी साहब की किसी भी रचना में 'आवा पंथ' अथवा उनके संतमत में दीक्षित होने के पूर्व इस पंथ से संबंध होने की कोई भी चर्चा नहीं है। अतएव तुलसी साहब और आवा पंथ से सम्बन्ध जोड़ना बहुत युक्तियुक्त नहीं ज्ञात होता। हम प्रारम्भ में कह चुके हैं कि तुलसी साहब के देहावसान के उपरांत उनके शिष्यों ने जिस पंथ की स्थापना की, उसे 'साहब पंथ' कहा जाता है। जीवन काल में तुलसी साहब ने पंथ स्थापना नहीं की थी।[2] इस आधार पर यह कहा जा सकता है किसी भी सूत्र द्वारा उनका आवा पंथ से से कोई भी सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता है।

१—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६४६।
२—'पंथ परिचय' परिच्छेद देखिए।

परिशिष्ट ३

विद्वानों से पत्र व्यवहार की प्रतिलिपियां

१—श्री गोविन्दसखा राम सरदेसाई के पत्र

Dear Mr. Mathur;

The information sought by you is as follows:—

Baji Rao Raghunath, the last Peshwa was born from Anandibai on 7th January 1775 at Dhar. Anandibai was married on 17-12-1755. She died on 12-3-1794. Amrita Rao, the elder adopted brother was adopted on 19-4-1764. He was Peshwa at poona from November 1802 and; 1803. Amrita Rao accepted British protection and a stipend of 8 lacs at the end of 1804 and proceeded to Benares where he died on 4-9-1824 leaving his state to his son Vinayak Rao. The only living decendents of the peshwa family exist at Barreilly in U. P. Please refer to my new History of the Marathas Vols. 2 and 3 with the copious indexes at end. Anandibai gave birth to two sons Baji Rao and Chimaji Appa; the later was born on 30-8-1784. He was posthumous son (the father having died on 11-12-1783.)

I have not found the names of Amrita Rao's wives. His first wife died in May 1803. Her son was Vinayak Rao who died in 1856. His wife's name was Saraswati Bai.

Baji Rao II had 11 wives. 5 married in the Deccan before 1818 and six more at Bithur after 1818. He died on 28 January 1851,

Chimaji Appa's first wife Sitabai died on 26 February 1809. The name of his second wife was Satyabhama. He went to Benares in 1819 after the fall of the Raj. He died at Kashi on 9 June 1830.

You can freely ask me for any details that you need. I will supply them to the best of my ability. I am now old 92 years and very weak and unbalanced in body.

Your's Sincerely,
Sd/- G. S. Sardesai.

P. Kamshet
Dist. Poona,
16-5-1957.

P. Kamshet, Dist. Poona 5 June 1957,

Dear Mr. Mathur,

Your letter of 26-5-57 to hand. I know nothing of Shyam Rao in the Peshwa's house having become a saint and become Tulsi Saheb of Hatharas. I have not at all come across such a person.

Yours Sincerely,
Sd/- G. S. Sardesai.

२— महन्त प्रकाशदास के पत्र

हाथरस
१।११।५६

सत्यनाम

श्री सतगुरु साहेब की दया, सकल संतन की दया, श्री बन्दीछोर साहेब की दया, श्री सूरस्वामी जी की दया, श्री गरीब निवाज साहेब की दया से लिखा शुभ स्थान हाथरस से श्री १०८ श्री महन्त संत, प्रकाशदास का श्री हरस्वरूप माथुर एम० ए० एल-एल० बी को सादर सत्यनाम स्वीकार हो। समाचार यह है कि आपका प्रश्न पत्र प्राप्त हुआ, विहार कर अत्यन्त संतुष्ट हुए। और हम आपके पत्रों के यथायोग्य उत्तर लिख रहे हैं। निम्नलिखित आपके प्रश्नों के क्रमानुसार उत्तर हैं—

१-श्री गरीबदास साहेब की समाधि तथा गोपालदास, चुन्नीदास महात्माओं की समाधि सन्त स्थान चक्रधारो में स्थित है।

२-श्री १०८ श्री मथुरादास साहेब तथा इनके गुरु श्री १०८ श्री दरसनदास साहेब ने अपनी कोई निजी वाणी प्रकट नहीं की हैं।

हमको यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि आप जैसे लेखक तथा इस विषय के अनुभवी विद्वान ने परम सन्त शिरोमणि श्री १००८ श्री तुलसी साहेब के विषय में तथा उनकी शब्द वाणी की ओर ध्यान दिया है। हमारे लिए जो भी सेवा इस कार्य में सहायतार्थ होगी हम कदापि करने से नहीं वंचित रहेंगे। तथा आपकी इस इच्छा को साहेब जी पूरा करें।

आपके शुभ चिन्तक
श्री १०८ श्री महंत संत प्रकाशदास
मन्दिर श्री १००८ श्री तुलसीदास साहेब
किला द्वार
हाथरस

२—

हाथरस
३१।१२।५६।

श्री सतगुरु साहेब की दया, सकल संतन की दया, श्री बन्दीछोर साहेब की दया से योग्य लिखा शुभ स्थान हाथरस से कानपुर को श्री हरस्वरूप माथुर को श्री १०८ श्री महंत संत प्रकाशदास साहेब का शुभाशीर्वाद। आपके दो पत्र प्राप्त हुए। तदनुसार दि० १०-११-५६ व २३-१२-५६ के।

मैने जो देवी साहिब का जीवन चरित्र आपको दिखाया था वह मुझे स्थान पर ही प्राप्त हुआ। मुझे नहीं पता कि यहां पर कौन महानुभाव दे गए हैं। अतः मुझे उस पुस्तक के मिलने का कोई पता नहीं मालूम है। आपके प्रश्नों के उत्तर—

१-श्री गिरधारी दास साहेब ने अपनी कोई वाणी प्रकट नहीं की तथा वह निर्ग्रन्थ वैरागी थे।

२-इनकी जाति, माता, पिता, जन्म स्थान के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। जो साधु होते हैं, वे गृहस्थ रहकर साधु कहलाने के अधिकारी कदापि नहीं होते। जो साधु होते हैं, उनकी जाति पांति कुछ नहीं होती। जाति तो संसारिक मनुष्यों के लिए है।

मैं यहां से ५-११-५६ को बाहर चला गया था और ३-१२-५६ को आया हूं। अतः जब ही आपके पत्र पढ़े हैं और उत्तर दे रहा हूं। आपके लिए जो कठिनाई हो पत्र द्वारा दूर करें।

आपका शुभ चिन्तक
श्री १०८ श्री महंत संत प्रकाशदास

३—

हाथरस
१७।४।५७

श्री पत्री योग लिखी शुभस्थान हाथरस से श्री १०८ श्री महंत संत प्रकाशदास साहेब का श्री हरस्वरूप जी माथुर को शुभाशीर्वाद। पत्र आपके प्राप्त हुए। पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। पहले पत्र में आपने दो प्रश्न पूछे थे उनका उत्तर निम्नलिखित है:—

१-साधुओं के चोला त्यागने पर उनकी समाधि स्थित की जाती है। उनका पवित्र शरीर अग्नि में प्रवेश नहीं किया जाता।

२-किसी नये महन्त के बनने के बारे में कोई प्राचीन नियम नहीं है कि नये महंत के गद्दी पर बैठने के समय कोई बड़ा उत्सव मनाया जावे। परन्तु आधुनिक परम्परा के अनुसार ऐसा होता अवश्य है।

दूसरे पत्र का उत्तर—

मैं अभी तो पन्द्रह दिन के अन्दर घूमने जाता रहूंगा। तत्पश्चात स्थान पर ही रहूंगा। यहाँ ३१ मई १९५७ को वार्षिकोत्सव (भंडारा) है। इसीलिए समय पर आप भी पधारिये तथा मैं भी २०-२५ दिन कहीं नहीं जाऊंगा। और यदि जाऊंगा भी तो एक दो दिन के लिए। यदि आपके सामने कोई बाधा उपस्थित हो तो पत्र व्यवहार से दूर करें। हम आप जैसे साहसियों की ऐसे कार्य में हर समय सहायता करने के लिए तत्पर हैं। आपको पत्रोत्तर देने में विलम्ब हुई क्योंकि मैं बाहर गया हुआ था।

आपका शुभ चिन्तक
श्री १०८ श्री महंत संत प्रकाशदास
मन्दिर श्री तुलसी साहेब,
किला द्वार
हाथरस

३—पंडित परशुराम जी चतुर्वेदी का पत्र

बलिया
१।८।५७।

प्रिय भाई,

अस्वस्थता के कारण पत्रोत्तर विलम्ब से देने का हार्दिक खेद है। तुलसी साहब अथवा आवा पंथ के सम्बन्ध में मुझे कोई नई सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। यह प्रसन्नता की बात है कि आप इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। मंगल कामना सहित—

शुभेच्छु
परशुराम चतुर्वेदी

———